राष्ट्रभारती
लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 579

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110003

मुद्रक :
दीप लैज़र प्रिंट्स / विकास ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रथम संस्करण : 1995
मूल्य : 175.00 रुपये

© श्री अरुण साधू

SHODH-YATRA
(Marathi Novel)
by Arun Sadhu

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition :1995
Price : Rs. 175.00

शोधयात्रा

एक

मन की सम्भ्रमावस्था में उलझा हुआ व्यक्ति अनिश्चितता की चरम सीमा पर पहुँचने पर कभी-कभी जाने-अनजाने झट से कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय कर लेता है। अपने दफ़्तर के वातानुकूलित कक्ष में बेचैनी से चहलक़दमी करते हुए श्रीधर ने भी अचानक एक निर्णय ले लिया—शायद यह जाने बगैर कि वह क्या कर रहा था। क्षण-भर के लिए वह दरवाज़े पर रुक गया और पीछे मुड़कर उसने अपने कमरे को एक बार अच्छी तरह देख लिया। उसके वैभव की, तेज और सफल कैरियर की सम्पन्नता और संयतता की साफ़-साफ़ झलक उसमें दिखाई पड़ रही थी। विशाल पॉलिश्ड टेबल, साथ में चार फ़ोन, पिछली तरफ़ वारहवीं सदी की यक्षिणी का बहुमूल्य शिल्प, दीवार पर आरा का कैनवास, ज़मीन पर विछाया हुआ क़ीमती क़ालीन, साथ में रखा मोटे फोमवाला नर्म सोफ़ा और कमरे के दूसरे छोर पर रखे टेबल और कुर्सियाँ और कमरे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक की काँच की खिड़की से नज़र आता समुन्दर, मैरीन ड्राइव की यातायात और मलवार हिल पर बड़ी शान से खड़ी ऊँची-ऊँची इमारतें। वह कमरा देश के औद्योगिक और आर्थिक स्पर्धा में वरिष्ठ अधिकारी का कमरा था। सफलता, सम्पन्नता और सत्ता की छाप उस कमरे पर थी और उज्ज्वल भविष्य के वारे में पूरा आत्मविश्वास भी।

क्षण-भर के लिए श्रीधर अपने कमरे को देखता रहा। उसकी निजी सचिव लोर्ना ने उसके टेबल के वीचोंबीच एक छोटी-सी फाइल रखी थी। वह फाइल उसकी विशाल कम्पनी के सर्वोच्च पद की कुंजी थी। खुद के वारे में शंका-कुशंकाओं से भरी टिप्पणियों के उसके लिखे और बाद में फाड़कर टोकरी में डाले हुए काग़ज़ भी वहाँ थे। वह सब श्रीधर ने क्षण-भर में अपनी आँखों में भर लिया और कमरे का दरवाज़ा झटके से खोलकर वह बाहर निकला, वापस कभी न लौटने के लिए।

श्रीधर जो कर रहा था उसके बारे में सोचना नहीं चाहता था। ऐसा भी नहीं कि वह सम्भ्रमित था। केवल आठ-दस वर्षों की छोटी-सी अवधि में अपने व्यवसाय के सर्वोच्च बिन्दु की तरफ़ बढ़नेवाले श्रीधर की जो प्रतिमा थी वह एक आत्मविश्वास से परिपूर्ण, पल-भर में महत्त्वपूर्ण निर्णय करने की क्षमता रखनेवाले युवा, धैर्यवान और कठोर अधिकारी की थी। उस दफ़्तर में किसी ने श्रीधर को आशंकित और

दुविधाग्रस्त इन्सान के रूप में कभी नहीं देखा था। लेकिन पिछला आधा घण्टा ···मात्र आधा घण्टा। उन तीस मिनटों में जैसे उसके पूरे जीवन-भर की समान्तर वेचैनी एकाएक तीव्रता से उफन कर ऊपर उठ आयी थी। मन में दवाकर रखी हुई अस्वस्थता का जैसे विस्फोट हुआ था।

दरअसल, सवेरे जब अपनी कम्पनी से मिले आलीशान फ्लैट में उसकी आँख खुली थी तब उसके मानस-पटल पर इस वेचैनी का नामोनिशान नहीं था। नौकर ने जब उसका नाश्ता खाने की मेज़ पर लगाया था तो उसी वक़्त श्रीधर की अपेक्षानुसार उसकी कम्पनी के चेयरमैन का दिल्ली से फ़ोन आया था।

"श्रीधर ?"

"गुड मॉर्निंग सर !"

"वेल डन श्रीधर। तुम्हारी ब्रीफ की वजह से हमारा काम हो गया समझ लो। कल रात ही वित्तमन्त्री से बात हो गयी।"

"कौन-सा काम, सर ? वित्तमन्त्री के साथ हमारे तीन काम हैं···"

सारी दुनिया जानती थी कि श्रीधर जिस स्वर में उसकी निजी सचिव लोर्ना से वात करता है, उसी स्वर में चेयरमैन से भी वोलता है। और शायद वित्तमन्त्री के साथ भी श्रीधर उसी लहजे में वोलेगा, इस आशंका ने उसके चेयरमैन की कई रातों की नींद उड़ायी थी। लेकिन अपनी ईमानदारी और कठोरता के लिए मशहूर मन्त्री महोदय को शायद श्रीधर का साफ़-सीधा अन्दाज़ भा गया था।

"तीनों काम···" चेयरमैन के आवाज़ से खुशी टपक रही थी।

"जापानी सहकार्य भी ?"

"ऑफकोर्स।"

"वधाई हो !"

"नहीं श्रीधर। वधाई तो मुझे देनी चाहिए तुमको। यह सब तुम्हारे ब्रीफ का कमाल है !"

"धन्यवाद !"

श्रीधर के सहज खुलेपन से चेयरमैन क्षण-भर के लिए दंग रह गये। लेकिन उसी समय उनका मन प्रशंसा से भर गया। इसी खुली निडरता ने श्रीधर को इतनी कामयावी दी थी।

"अच्छा। अव सुनो श्रीधर, हमारा लाइसेन्स लगभग साढ़े तीन सौ करोड़ का है। तुम जानते हो ह्वाट इट इन्व्हाल्व्ज। फार्च्युनेटली, यह वित्तमन्त्री कुछ अलग तरह का वन्दा है। इसीलिए कुछ खास प्रॉव्लम तो होगी नहीं। लेकिन मुझे तुम्हें बताने की आवश्यकता नहीं है···अन्य अफसर हैं। उसके अलावा इण्डस्ट्रीज़ और कॉमर्स मिनिस्ट्री के लोग हैं···।"

"आइ नो सर"'आज मैं रात की फ़्लाइट से वहाँ पहुँच जाता हूँ। हम बैठकर सब तय कर डालते हैं'"'"

"ठीक है, साथ में वह खन्ना वाली फाइल भी ले आना।"

"क्यों सर ?"

"जानते हो श्रीधर, तुम हमारी इतनी बड़ी कम्पनी के सबसे यंग मैनेजिंग डायरेक्टर बननेवाले हो।"

"लेकिन सर, वह तो बाद में देखा जा सकता है'"'"

"नहीं, वह भी अभी होगा। आज तुम वह फाइल लेकर ही आना। सब तुम पर निर्भर करता है। खन्ना को जल्दी से जल्दी निकालना है। बहुत परेशान किया है उसने।"

"ओ के'"ओ के'"'" क्षण-भर के लिए रुककर श्रीधर ने पूछा, "वित्तमन्त्रालय से कुछ और खबर ?"

चेयरमैन हँस पड़े। "बदल रहा है। सब-कुछ बदल रहा है'"छापे आदि दुबारा शुरू होने की कोई गुंजाइश नहीं है। पूरे देश की राजनीति में परिवर्तन आ रहा है'"'"

चेयरमैन बहुत खुश लग रहे थे। राजनीति में उनका सक्रिय सहभाग था इसीलिए वह खन्ना से पीछा छुड़ाना चाहते थे। श्रीधर के दिन की शुरुआत इस खुशखबरी से हुई थी। पिछले सात-आठ सालों से सफलता का भूत उसके सिर पर सवार था। सफलता'"सफलता'"और सफलता ! सत्ता, सामर्थ्य, सम्पत्ति, महत्त्वाकांक्षा उसे खींचकर आगे ले जा रहे थे। आठ वर्ष पहले उसने अपने कैरियर की शुरुआत 'आर्थिक सलाहकार' की हैसियत से की थी और अब उसकी बुद्धिमत्ता, कल्पनाशक्ति और कार्य-प्रवणता ने उसे उस बड़ी कम्पनी के सर्वोच्च स्थान के क़रीब पहुँचा दिया था। क़ामयाबी के इस एहसास ने ही शायद उस बेचैनी का छोटा-सा बीज उसके मन में डाल दिया था और फिर वही हुआ जो क्षितिज पर दाखिल हुए बादल के एक छोटे-से टुकड़े के घनघोर घटा का रूप धारण करने पर होता है। जब वह सफलता के नये चौखट पर खड़ा था, उसके मन-मस्तिष्क में छिपे सभी सनातन प्रश्न उमड़-घुमड़ कर उसे सताने लगे।

फ़ोन नीचे रखकर श्रीधर ने बायीं तरफ़ रखे अखबारों के प्रमुख समाचार देखे। पंजाब में कल के दिन और आठ हत्याएँ हुई थीं। देश न जाने किस तरफ़ जा रहा था ! हरियाणा में कम्पनी का एक और कारखाना लगाने की बात लगभग निश्चित हो रही थी। उसके बारे में पुनर्विचार करने के सन्दर्भ में एक बात श्रीधर ने मन-ही-मन सोच ली और वह उठ खड़ा हुआ। बाथरूम से जब वह बाहर निकला, तो हमेशा की तरह लोर्ना का फ़ोन आ गया।

"गुड मॉर्निंग लोर्ना, रात की दिल्ली की फ्लाइट बुक कर लेना।"

"यस सर...एक या दो ?"

"एक ही।" उसे महसूस हुआ कि उस तरफ शायद लोर्ना नाराज़ हो गयी है। अनायास उसने कह दिया, "ज़्यादा वक़्त नहीं है। कल ही वापस लौटना है।"

"यस सर...डायरी बता दूँ ?"

"हाँ।"

लोर्ना डायरी की एक कॉपी घर ले जाया करती थी। "साढ़े नौ बजे प्रोडक्शन टीम, दस बजे एकाउण्ट्स मैनेज़र, दस-पचास पर मार्केटिंग मैनेज़र, सवा ग्यारह बजे नायजेरीयन टीम और एक बजे ओवेराय में इकोलॉजी प्रोटेक्शन वाले श्री ग्रोवर।"

"हे भगवान्, यह 'इकोनट' आज कहाँ से आ टपका ?"

"सर, उन्होंने हमारे सुधागढ़ स्कीम के विरोध में हाईकोर्ट में अपील करने की धमकी दी है।"

"वास्टर्ड...पैरासाइट...लोर्ना, अगर तुम्हारे पास थोड़ा ज़हर हो तो लेती आना, उसे घोलकर पिला दूँगा।"

लोर्ना हँस दी और उसने दोपहर की गतिविधियाँ पढ़कर सुनायीं। श्रीधर का आधे से ज़्यादा काम वह ही किया करती थी। वैसे उसके फ़ोन से ज़्यादातर खुश होने वाला श्रीधर आज कुछ बेचैन-सा हो गया था। बूँद-बूँद से उसकी अस्वस्थता बढ़ती जा रही थी।

"हे भगवान् ! आज तो लगता है साँस तक लेने की फ़ुरसत नहीं मिलेगी," डायरी सुन लेने के बाद श्रीधर ने कहा।

"फिर भी मैंने राज्य के वित्तमन्त्री से मुलाक़ात के लिए समय बदलकर माँगा है।"

"फ़ाइन ! थैंक्यू, एक बात और। तोक्यो से अगर टेलेक्स आता है तो मुझे फ़ौरन मशीनरूम में बुला लेना। चाहे मैं किसी भी मीटिंग में रहूँ। शायद ग्यारह से पहले ही आ सकता है।"

"यस सर !"

"कुछ और ?" उसकी आवाज़ से श्रीधर भाँप गया था कि वह कुछ और भी कहना चाहती है। उसकी साँस के हर उतार-चढ़ाव को वह अच्छी तरह जानता था। लोर्ना कुछ क्षण चुप रही।

"कहो ना ?"

"मुझे कुछ बात करनी थी।"

"कुछ खास ?"

"सिर्फ़ पन्द्रह मिनट...लेकिन आज की आपकी व्यस्तता देखकर लगता है कि

शायद यह सम्भव नहीं होगा।''

''असम्भव कुछ भी नहीं होता'''' श्रीधर ने कहा। लोर्ना के लिए आधा घण्टा निकालना उतना मुश्किल तो नहीं था। थोड़ा-सा सोचकर उसने कहा, ''ऐसा करते हैं, शाम की मीटिंग के फ़ौरन वाद तुम मेरे साथ चलना। एयरपोर्ट जाने से पहले वात कर लेते हैं, ठीक है ?''

''ठीक है सर !''

श्रीधर ने फ़ोन रख दिया। फ़ोन रखने के वाद उसे लगा कि इस तरह अचानक उसे बात नहीं खत्म करनी चाहिए थी। उससे पूछ लेना चाहिए था कि वह किस विषय में वात करना चाहती है। हो सकता है, कुछ वहुत महत्त्वपूर्ण बात हो। ज़रूर कोई, वहुत वड़ी वात होगी, नहीं तो वह आज के दिन को देखकर उसका ज़िक्र नहीं करती। क्या कहना चाहती होगी वह ? बेचैनी की एक और विषैली बूँद उसके मन पर गिरी। श्रीधर ने कपड़े निकाले। जूते पहने, ब्रीफ़केस वन्द किया और ड्राइवर को सौंप दिया।

ड्राइवर गाड़ी चला रहा था और श्रीधर अखवार पढ़ रहा था। देश के किसी दूर के कोने में अपने किसी उद्योग की पुनर्रचना करते हुए किसी ने अपने कर्मचारियों को वड़ी संख्या में नौकरी से हटा दिया था। उनमें से दो परिवारों ने आत्महत्या की थी और अन्य पाँच सौ कर्मचारी वम्वई में मोर्चा साधने वाले थे। एक और कर्मचारी ने व्यवस्थापकीय संचालक के घर के सामने आत्मदहन करने की धमकी दी थी। इस सव मामले के लिए श्रीधर का अफसर जिम्मेवार वताया गया था।

यह पढ़कर श्रीधर हँस पड़ा। लेकिन अखवार के कोने में छपी खबर से उसके ठण्डे दिमाग़ को वेचैनी ने एक वार फिर छू लिया। एक सुन्दर, युवा हवाईसुन्दरी ने उपनगर के किसी होटल की वारहवीं मंज़िल से कूदकर आत्महत्या की थी। श्रीधर ने अखवार वन्द किया।

जव वह दफ़्तर पहुँचा तो लोर्ना ने वताया कि शशी का अभी-अभी फ़ोन आया था। उसने श्रीधर को उसे फ़ोन करने के लिए कहा था। यह तो चौंका देनेवाली वात थी। पिछले चार-पाँच सालों में शायद पहली वार शशी ने उसे अपनी तरफ से फ़ोन किया था।

''शशी को फ़ोन मिलाऊँ सर ?'' लोर्ना ने पूछा। लोर्ना उच्च शिक्षित अच्छी-खासी तनखाह पानेवाली सचिव थी। पिछले दो सालों से उन दोनों में दोस्ती भी थी। श्रीधर के वारे में वह सव-कुछ जानती थी। शशी का उस पर कितना अधिकार था, यह उसे अच्छी तरह मालूम था। लेकिन वह यह भी जानती थी कि श्रीधर शशी से कभी शादी नहीं करेगा और इसीलिए वह श्रीधर पर जान छिड़कती थी। बीतते हुए हर दिन के साथ उसके लिए वह अधिकाधिक वेताव हो रही थी।

उसके पाषाण-हृदय की गहराई में कहीं एक निर्मल नदी बहती है, यह वह समझ गयी थी और उसे श्रीधर की चिन्ता हो रही थी।

श्रीधर ने उसे एक बार ऊपर से नीचे तक अच्छी तरह देख लिया। थोड़ी देर सोचकर उसे इशारे से मना कर दिया। चेहरे पर आश्चर्य और चिन्ता के भाव दर्शाती वह बाहर चली गयी।

शशी का इतना महत्त्वपूर्ण फ़ोन किसलिए आया होगा—यह सोचकर उसका मन क्षण-भर के लिए विचलित हो गया था। लेकिन दूसरे ही क्षण उसने वह विचार अपने मन से निकाल दिया और अपने-आपको काम में जुटा दिया। सवा नौ पर लोर्ना को अन्दर बुलाकर उसने दो चिट्ठियों के जवाब पन्द्रह मिनट में दे डाले और फिर प्रोडक्शन प्लैनिंग टीम को अन्दर बुलाया। और फिर वह चक्र शुरू हुआ। जैसे-जैसे उस चक्र की गति बढ़ने लगी, वैसे-वैसे उसकी वह अजीब-सी बेचैनी भी बढ़ती गयी। बीच-बीच में जब कोई सन्देश लेकर लोर्ना अन्दर आती तो उसकी वह नज़र देखकर उसकी परेशानी और भी बढ़ जाती। बीच में दो बार उसके मैनेजिंग डायरेक्टर का फ़ोन भी आया। लेकिन वह उसने लेने से इनकार कर दिया। उसी बेचैनी में उसने शशी से फ़ोन मिलाने के लिए कहा। वह किसी ने नहीं उठाया। प्रोडक्शन प्लैनिंग, मार्केटिंग...यह मैं क्यों कर रहा हूँ ? किसके लिए ? इससे क्या हासिल होनेवाला है ? यह प्रतारणा है। सिर्फ़ अपने-आप से नहीं, दुनिया से भी। मैं इस दुनिया में क्या करना चाहता था और क्या कर रहा हूँ ? व्यर्थ है मेरी बुद्धिमत्ता, मेरा वाचन, मेरा अभ्यास और मेरी विद्वत्ता। दुनिया के हज़ारों-लाखों लोगों को जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा माल बेचकर उनके जेब से रुपया निकालना—क्या यही करने के लिए मैं पैदा हुआ हूँ ? मार्केटिंग की मीटिंग में उसे घिन आ गयी। उसकी कम्पनी के बनाये हुए किसी नये क्रीम को बेचने के लिए दूरदर्शन पर विज्ञापन देने के लिए एक-से-एक घटिया कल्पनाएँ विज्ञापन एजेन्सी का आदमी प्रस्तुत कर रहा था। श्रीधर वह मीटिंग बीच में ही छोड़कर उठकर चला आया। लंच के लिए जब वह ग्रोवर से मिलने गया, तब उसका मूड थोड़ा ठीक हुआ। ग्रोवर मज़ेदार हरफ़नमौला आदमी था। पर्यावरणशास्त्र के बारे में उसे रत्ती-भर ज्ञान नहीं था। उसे न जाने कैसे, किसी ने बम्बई की पर्यावरण दक्षता समिति का अध्यक्ष बना दिया था और अब वह श्रीधर की कम्पनी के खिलाफ कोर्ट में लड़नेवाला था। खाने के बाद आइस्क्रीम तक पहुँचने तक श्रीधर ने कम्पनी की तरफ़ से उसे पाँच-सात लाख रुपयों का आश्वासन दे दिया—ग्रोवर की किसी संस्था को चन्दा, दूसरे किसी एक स्कूल की इमारत के लिए चन्दा आदि। अब यह बात सुनिश्चित हो गयी कि कोर्ट का झमेला पीछे नहीं लगेगा।

सौदा तय हो जाने पर श्रीधर की उदासी और भी बढ़ गयी। उसे विश्वम्भर

की याद आयी। अब अगर इस वक़्त विश्वम्भर यहाँ होता तो मेरे मुँह पर थूक देता और मुझे चुपचाप अपना चेहरा साफ़ करना पड़ता। यशोधरा मेरी तरफ़ देखकर वही कड़ुवा हास्य करेगी। यह सब क्या हो रहा है ? क्या मैं नींद में कहीं चला जा रहा हूँ ? सफलता की जिस चोटी को मैंने हासिल किया है वह वास्तव में क्या है ? क्या यह भी कोई सफलता है ? इससे तो मेरा ड्राइवर अधिक सफल होगा। शशी ने क्यों फ़ोन किया था ? बिहार के उन पाँच सौ परिवारों पर क्या बीत रही होगी ? लोर्ना क्या कहना चाहती है ? बारहवीं मंज़िल से कूदकर जान देते हुए विनू के दिमाग़ में सिर्फ़ उसका अपना विचार था या किसी और का भी ? मेरे हाथों पर यह खून कैसा ? अ डैशिंग रायजिग कोल्ड ब्लडेड एक्जिक्यूटिव।

"लोर्ना, पन्द्रह मिनट किसी को अन्दर मत भेजना"—श्रीधर उससे नज़रें चुराकर अपने कमरे में घुसता हुआ बोला। अन्दर जाकर वह कुर्सी पर बैठ गया। उसकी टेबल पर एक नयी किताब पड़ी थी—'मैकीवेली ऐण्ड कॉरपोरेट पॉलिटिक्स'। वह उसी ने मँगवायी थी। लोर्ना ने वह लंच टाइम में जाकर खरीदी होगी। श्रीधर को अब यह सब सपना-सा लगने लगा। यह टेबल फूलदान, दीवारों पर लगे चित्र, सोफ़ा, सेलिंग···कौन समझ सकता है मेरे मन की स्थिति ? सिर्फ़ शशी समझ सकती है। लोर्ना क्या बताना चाहती है ? उसने इण्टरकॉम उठाया। उतने में फ़ोन की घण्टी बजी।

"सर, एम. डी. लाइन पर हैं।"

"लोर्ना, मैंने तुमसे सुबह भी कहा था कि···अच्छा दे दो।"

उसी क्षण जैसे श्रीधर में फिर से शक्ति का संचार हुआ। खन्ना की आवाज़ व्यथित, अगतिक और डरी-डरी-सी आ रही थी।

"तुम क्या करने की सोच रहे हो ?" खन्ना ने पूछा।

श्रीधर कटुता के साथ हँसा।

"मैं क्या कर सकता हूँ ! कम्पनी के हित में जो मेरा कर्त्तव्य होगा वह मुझे निभाना पड़ेगा ···"

एक क्षण के लिए शान्ति रही।

"लेकिन तुम सौम्य भूमिका भी ले सकते हो। सभी काग़ज़ात कमीशन के सामने पेश करना आवश्यक तो नहीं हैं···"

"मैंने कह जो दिया, मेरी भूमिका सिर्फ़ कम्पनी के हित में होगी।"

"इस मामले में तुम्हारी अपनी भूमिका भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण है···"

श्रीधर एक बार फिर हँस दिया।

"लेकिन काग़ज़ात उस बारे में कुछ नहीं कहते।"

"हे भगवान्···ओ माई गॉड !" खन्ना का स्वर अब और भी अगतिक और

विषादपूर्ण लग रहा था। "श्रीधर तुम जानते हो, तुम क्या कर रहे हो ? यह व्लैकमेल है। तुम किसी की ज़िन्दगी में ज़हर घोल रहे हो।"

"मैं मजबूर हूँ।"

"क्या तुम्हारा अपना विवेक यही कहता है, श्रीधर ?"

"मिस्टर खन्ना, मैं जब पहली बार आपसे मिला था तो आपने मुझे जो पहला पाठ दिया था, वह क्या आप भूल गये ?···अगर सफलता चाहते हो तो विवेक और नीतिमत्ता की कल्पनाएँ घर पर छोड़कर आया करो। वेल···आज मैं एक सफल आदमी हूँ···हा: हा: हा:····"

"तुम एक राक्षस हो !"

"हा··· हा··· हा:····"

फ़ोन रखने के वाद भी कुछ देर तक श्रीधर हँसता रहा। फिर उसका ध्यान साथ में रखे अखवार की तरफ गया। उसमें से विनू जुंर्शी की मुस्कराती हुई तस्वीर झाँक रही थी। उस मुस्कान में क्या वात थी ? श्रीधर चौंक गया। उसकी हँसी ग़ायव हो गयी। उसने अखवार को पलट कर रख दिया। और झट से इण्टरकॉम का बटन दवाकर लोर्ना को अन्दर बुला लिया।

'सर' कहती हुई लोर्ना कुछ ही क्षणों में उसके सामने खड़ी थी। श्रीधर उसे अचरज भरी निगाहों से देखता रहा मानो उसे पहली वार देख रहा हो। और फिर उसकी आँखें वड़ी हुईं। उसे लगा जैसे वह इस कमरे को भी पहली वार देख रहा है। लोर्ना सिर्फ़ खूवसूरत ही नहीं थी उसकी आँखों में वुद्धिमत्ता की भी झलक थी। किसी भी उच्च श्रेणी के सचिव में दुर्लभ सहज प्रेमभाव और ममतायुक्त अपनापन उसके चेहरे पर हमेशा दिखाई देता था। 'मल्टीनेशनल' के बड़प्पन से वह पूर्ण मुक्त थी। उसका साड़ी पहनने का ढंग वहुत शानदार था और हाथों में नोटवुक हमेशा मौजूद होती थी। श्रीधर को अपने आपसे घृणा होने लगी। उसकी आँखों के भाव पढ़कर लोर्ना काँप-सी गयी।

"सर, आप ठीक तो हैं ?" उसने चिन्तित होकर पूछा।

"वैठो"—श्रीधर टुकुर-टुकुर उसे निहार रहा था। लेकिन फिर भी वह उसे देख नहीं रहा था। उसकी नज़र लोर्ना के आर-पार चली गयी थी। इसके साथ मैं क्या करनेवाला हूँ ? इसके जीवन का क्या होगा ? यह प्रश्न आज पहली बार मेरे मन में क्यों उठ रहे हैं ? वह क्या कहना चाहती होगी ? मैंने इसके मन को जानने की कोशिश कभी नहीं की। श्रीधर सिर्फ़ देखता ही रह गया। लोर्ना को अजीव-सा लगने लगा।

"डिक्टेशन देंगे ? आगे की अपॉइण्टमेण्ट्स का क्या करूँ ?"

विना कोई उत्तर दिये श्रीधर ने दराज से क़ीमती सिगरेट निकाला और काँपती

हुई उँगलियों से उसे जलाया। नज़र उसी पर थी, लेकिन शायद वह कुछ भी नहीं देख रहा था। उसके दिमाग़ में उथल-पुथल हो रही थी।

"सच-सच बताइए, आप की तबीयत तो ठीक है ना ?" अब लोर्ना ने और भी अपनेपन से पूछा। श्रीधर स्तब्ध था। लोर्ना की नज़र झुक गयी।

"कॉफी लाऊँ ?"

"नहीं ···तुम जाओ।"

अनिच्छा से उठकर लोर्ना को बाहर जाना पड़ा । अरे, लेकिन उसे तो कुछ कहना था। इतने में फ़ोन की घण्टी बजी। खन्ना की पत्नी थी।

"श्रीधर, कुछ तो करो और मेरे पति को बचा लो"—वह सुबकती हुई जैसे-तैसे बोल रही थी। "मैं तुम्हारी बहन के नाते से झोली फैला रही हूँ···"

"लेकिन भाभी, मेरे हाथ में तो कुछ भी नहीं है !" न जाने कैसे श्रीधर की आवाज़ से सख्ती कम हुई थी।

"मैंने हमेशा तुम्हें अपने भाई की तरह माना है। इन्होंने भी। अब तुम इतना तो करो हमारे लिए ···इनकी इज़्ज़त की रक्षा करो। मैं ज़िन्दगी-भर तुम्हारा एहसान मानूँगी। मैं तुम्हारे क़दमों की धूल···"

श्रीधर बेचैन और गुमसुम। और वह तो अब फूट-फूटकर रोने लगी थी।

"नहीं तो...नहीं तो···तुम नहीं जानते वह क्या कर बैठेंगे। श्रीधर, मुझे बहुत डर लग रहा है। इस बेइज़्ज़ती को वह झेल नहीं पाएँगे। मैं जानती हूँ, श्रीधर···तुम ही उन्हें बचा सकते हो···नहीं तो···नहीं तो एक और हत्या का पाप तुम्हारे माथे पर चढ़ जाएगा···इतने निर्दय न बनो, श्रीधर···"

उस तरफ़ वह रो-रोकर बेहाल हो रही थी और इस तरफ़ श्रीधर आँखें फाड़-फाड़कर सुन रहा था, मानो अभी-अभी किसी सपने से जाग रहा हो। अजीब बेचैनी की महाकाय लहर अब उस पर टूट पड़ी थी।

यह क्या हो रहा है ?

श्रीधर ने जैसे-तैसे फ़ोन रख दिया और काफ़ी देर तक वह बुत बनकर बैठा रहा, जैसे उसकी संवेदना ही खो गयी थी। एक और हत्या का पाप।

श्रीधर ने कूड़े की टोकरी से फिर वह अखबार उठा लिया और अपनी दूसरी दराज़ की चाबी घुमाकर उसने उसके पुराने पेपर कटिंग्ज़ की कॉपी बाहर निकाली। कुछ भी न पढ़ते हुए उसने वह टेबल पर रख दी और आँखें मूँद लीं।

टेलीफ़ोन की घण्टी बजी। उस तरफ़ लोर्ना ने फ़ौरन फ़ोन उठाया। अपेक्षा के अनुसार चार-पाँच सेकेण्ड के अन्तर्गत टेलीफ़ोन की घण्टी बजी। श्रीधर ने उसे बजने दिया। कुछ देर बाद घण्टी रुक गयी। थोड़ी देर बाद इण्टरकॉम उठाकर श्रीधर ने लोर्ना से कहा, "लोर्ना, मैं अन्दर नहीं हूँ।"

"लेकिन सर, शशी का फ़ोन था···"

"मैं किसी के लिए भी यहाँ नहीं हूँ।"

"वह मिस्टर वर्मा के बारे में कुछ बताना चाहती थी।"

"मैं किसी के भी बारे में कुछ नहीं सुनना चाहता। मैं अन्दर नहीं हूँ। ओ. के. ?"

"ओ.के. सर।"

वर्मा ज़्यादा से ज़्यादा क्या करेगा। चला गया होगा फिर डिप्रेशन में···

अब श्रीधर से आँखें मूँदकर भी बैठा नहीं जा रहा था।

यह क्या हो रहा है ? मैं कौन था, अब कौन हूँ, और यह मैं क्या कर रहा हूँ? मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ क्या हैं ? क्या हासिल करना चाहता हूँ मैं ? और फ़िलहाल यह जो चल रहा है—क्या यही है मेरे जीवन का प्रयोजन ?

पूरे ज्वार में समुन्दर में उठने वाली विकराल लहर बदन पर पड़ने के बाद जो स्थिति होती है, उसका अनुभव वह इस हज़ार फनवाली प्रश्नों की महाकाय लहर के फूटने पर कर रहा था। माँ, बाबा, जगत, शशी, विश्वम्भर, धनंजय, यशोधरा और हज़ारों मनुष्य-समूह, उसके पढ़े हुए मोटे-मोटे ग्रन्थ उसकी आँखों के सामने घूमने लगे।

मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ? मेरे इस जीवन का अर्थ क्या है ? यह जो कुर्सी में विराजमान पाषाणहृदयी सफल उच्चपदस्थ है, क्या वही श्रीधर है ?

बेचैन अवस्था में वह कुर्सी से उठकर खड़ा हुआ। सिगरेट जलाकर वह कमरे में चहलक़दमी करने लगा। कुछ देर बाद जब उसकी उँगलियों में जलन हुई तो वह चौंककर सावधान हुआ। उसने निर्णय कर लिया था। वह नहीं जानता था कि यह निर्णय उसका है या किसी और का, लेकिन अब उसे क्या करना है, यह वह जान गया था।

श्रीधर कमरे के दरवाज़े तक आ गया। एक बार पीछे मुड़कर उसने कमरे को एक नज़र देख लिया। और फिर तड़ाक् से दरवाज़ा खोलकर वह बाहर निकला। सामनेवाली छोटी-सी केबिन में लोर्ना अपने छोटे-से टाइपराइटर पर काग़ज़ चढ़ा रही थी। वह उठकर खड़ी हो गयी। कुछ कहने के लिए उसके होठ खुले लेकिन उनसे शब्द नहीं निकले।

उसकी तरफ़ तो श्रीधर का ध्यान था ही नहीं। दोनों हाथ जेब में डालकर गरदन झुकाए वह उस स्तब्ध कारीडार से बाहर निकला।

उसके दोनों तरफ़ के अधिकारी और क्लर्क ठीक से बैठकर काम करने का आभास दिलाने लगे। श्रीधर कम्पनी में उभरता तारा था और बहुत जल्दी वह सर्वोच्च पद पर आरूढ़ होनेवाला था। इस बार आदरयुक्त एहसास उनकी आँखों में दिखाई

दे रहा था।

उसके आगे दौड़कर लिफ्ट का वटन दबानेवाले चपरासी को इशारे से मना करता हुआ वह लिफ्ट में अकेला घुस गया और नीचे आया। उस ऊँची इमारत के प्रवेश-कक्ष की सीढ़ियाँ उतरकर वह आगे निकला। दफ्तर की वर्दी पहनकर जल्दी-जल्दी उसकी गाड़ी की तरफ़ दौड़ने वाले ड्राइवर को भी उसने हाथ के इशारे से रोक दिया और खुद फुटपाथ तक चला आया। उसी वक़्त अरब महासागर से सैकड़ों मीलों की दूरी से भिरभिराती हुई तेज हवा की एक लहर सीधी उसके सीने पर आ टकरायी। उसके सँभाले हुए घने मुलायम वाल अस्त-व्यस्त हो गये। चमकते लाल पट्टेवाली उसकी क़ीमती रेशमी टाई जहाज़ के झण्डे की तरह उसकी गरदन के पीछे फड़फड़ाने लगी। जहाज़ की ही तरह तेज हवा को पेट में भर श्रीधर ने लम्बी साँस लेकर हवा को अपने अन्दर किया जो उसे वहुत अच्छा लगा। क्षणभर के लिए उसे लगा कि इसी हवा पर सवार होकर वह भिरभिराता कहीं चला जाय। उसके शायद न जानते हुए भी उसके मन ने जो निर्णय लिया था, उसकी उसे परवाह नहीं थी। अपने मूलभूत अस्तित्व के विषय में और कर्तव्यों की धार में उलटे-सीधे दाँव-पेंच लड़ाकर जो निर्णय करने पड़ते हैं, उनसे उभरनेवाले प्रश्न उसने क्षण-मात्र में मिटा दिये थे। अब वह उनके बारे में सोचनेवाला भी नहीं था, फिर भी कहीं-न-कहीं आशंका अपना सिर उठा ही रही थी। क्या यह पलायन है ? या कर्तव्य से मुँह मोड़ना है ? मेरा यह सम्भ्रम वहुत क्षुद्र है। कुरुक्षेत्र में दोनों सेनाओं के बीच खड़े अर्जुन की किंकर्तव्यविमूढ़ता कितनी भव्य और व्यापक थी और तुलना में उसके प्रश्न कितने क्षुद्र और टुच्चे थे। क्या इसको भी कभी युद्ध की संज्ञा दी जा सकती थी ? लोर्ना के पास दिल्ली का टिकट तैयार था। रात को अध्यक्ष के साथ भेंट और व्यूह-रचना। शेअर्स का वँटवारा जिसमें श्रीधर का अपना भी अच्छा-खासा हिस्सा था। कल कमीशन के सामने फाइल रखते ही खन्ना का फालुदा निश्चित था। अगर विनू जुत्शी की तरह खन्ना कूदकर अपनी जान देना चाहे तो दे सकता था, श्रीधर द्वारा प्रस्तुत सभी योजनाएँ लगभग मंजूर हो ही गयी थीं। कम्पनी का कायापलट होने वाला था। इससे वह अब विश्व की उच्चतम अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों में शामिल होनेवाली थी। और इस सफलता का शिल्पी श्रीधर था। व्यवस्थापकीय संस्कृति का भारत द्वारा खोजकर निकाला हुआ नया नायक। पूँजीवादी व्यवस्था का शक्तिशाली प्रतिनिधि। भारत में पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ें मज़बूत होने का सशक्त प्रमाण।

करोड़ों की उलट-फेर होनेवाली थी। सैकड़ों कर्मचारियों की कार्यकुशलता दाँव पर लगनेवाली थी। लाखों नागरिकों की जेब से पैसे निकलनेवाले थे। जिस साधन-सम्पत्ति पर सभी का एक-सा हक होना चाहिए, वह नयी ललक पैदा करनेवाले

माल के रूप में अमीरों के ड्राइंग रूम में दाखिल होनेवाली थी। उधर पंजाब में लोग मारे जा रहे थे, गुजरात में लोग एक-दूसरे का गला घोंट रहे थे, महाराष्ट्र में महिलाएँ घूँट-भर पानी के लिए मीलों चलकर जाती थीं, विश्वम्भर ने आदिवासियों पर अपनी ज़िन्दगी न्योछावर कर दी थी, शशी नेत्रहीनों के लिए स्कूल और परित्यक्ताओं के लिए आश्रम चला रही थी और इधर श्रीधर क्या कर रहा था ? ज़िन्दगी के कई मोड़ों से गुज़रता, ऊँच-नीच, ऊबड़-खाबड़ के बीच से निकलता वह यहाँ तक पहुँच गया था। उसका मार्ग कहाँ से ग़लत हो गया ? मात्र कर्तव्य करते हुए हालातों की टेढ़ी गली ने उसे यहाँ लाकर पहुँचाया था या अपने व्यवसाय के कठोर नीति-नियमों का अनुसरण करते हुए वह इस हास्यास्पद लड़ाई तक आ पहुँचा था ? क्या यह सही था ? इस क्षण उसे क्या करना चाहिए था ?

श्रीधर ने गरदन झटककर उन सब विचारों को मन से हटा दिया। उसने गले से टाई निकालकर ज़ेब में रख ली और सड़क पार कर वह समुन्दर की दीवार के बिलकुल क़रीब आ पहुँचा।

नरीमन पॉइण्ट की वह दीवार लगभग निर्मनुष्य थी। आसमान काले मँडराते बादलों से भर आया था। उफनाये हुए समुन्दर की सन्तप्त लहरें अपना आपा खोकर पूरी शक्ति के साथ उन दीवारों से टकरा कर ऊपर उठ रही थीं। किनारे पर लगाये छोटे-छोटे पर्जन्यवृक्ष के पौधे हवा के वेग का बहादुरी से मुक़ाबला कर रहे थे।

नमकीन लहरों के फटकारे बदन पर झेलता और हवा के दमघोंटू ताण्डव को सीने में उतारता श्रीधर किनारे पर खड़ा था। भरे समुन्दर को साक्षी रखकर आनेवाला निर्विकारपन उसे बहुत अच्छा लग रहा था। अपना अस्तित्व, महत्त्वाकांक्षाएँ, उलझनें, यह दुनिया और उसकी तमाम विकराल समस्याओं का बवण्डर और उसके बीचोंबीच अपने निरर्थक अस्तित्व का आग्रह और ज़िद—इन सबको भुलानेवाली उन्मनी निर्विकार अवस्था।

क्या यही समाधि अवस्था है ?

नहीं। यह प्रगाढ़ अज्ञानमूलक निर्विकार अवस्था तो केवल पाषाण-अवस्था है। जानवर भी ऐसे ही अज्ञानी और निर्विकार होते हैं।

समुन्दर की लहरों के साथ बेचैनी की एक और लहर श्रीधर पर टूट पड़ी।

यह सब क्या है ? आज तक मैं क्या कर रहा था ? किसलिए ? इसका क्या मतलब है ? मैं यहाँ क्यों खड़ा हूँ ? उस तरफ़ वाले फुटपाथ वृक्ष की ओट में सिर्फ़ प्लास्टिक से सिर ढाँककर एक भिखारन उस हवा में कँपकँपाती वहीं बैठी है।

श्रीधर को अपने गहरे अज्ञान और अतिसामान्य सोच पर शर्म आने लगी। आज तक मैंने कोई ज्ञान नहीं पाया। मेरी शिक्षा व्यर्थ है, मेरा वाचन और अनुभव बेकार है। शुरू-शुरू में पढ़े हुए मोटे-मोटे ग्रन्थ—काण्ट, नीत्शे, मार्क्स से लेकर गाँधी,

बुद्ध और उपनिषदों तक और वायविल, कुरान से लेकर भगवद्गीता तक—सबकुछ मानों सूखे पाषाण से निकलकर गुज़र गया है। दरिद्रता, दुःख, दैन्य, आदिवासी झुग्गी-झोंपड़ियों का जनजीवन, मरण, क्लेश, प्रेम आदि से मैंने कुछ नहीं सीखा। और इस राक्षसी, मारकाट के व्यवसाय से भी जीवन के वारे में कुछ समझ नहीं पाया। व्यर्थ है यह जीवन और यह शरीर। यह सव निरर्थक है। वह समुन्दर की दीवार के और भी क़रीव जा पहुँचा।

"ओए''मरना चाहता है क्या ? पीछे हट''हट पीछे।" रेन कोटधारी पुलिस दूर से चिल्लाया।

श्रीधर ने मुड़कर देखा।

उसे संशय की दृष्टि से घूरता हुआ वह पुलिसवाला उसके क़रीव आने लगा और उसके चेहरे के भाव वदलने लगे।

क्रीम की पॉलिश से चमकते हुए श्रीधर के क़ीमती जूते, महँगे सुरुचिपूर्ण कपड़े, कलाई पर वँधी विदेशी घड़ी, उसका वर्ण और वर्ग वतानेवाला साफ़-सुथरा चिकना-चुपड़ा चेहरा—इन सवको देखकर पुलिसवाला झेंप कर वोला—

"माफ करना साहव, यहाँ वहुत खतरा है। देखिए न, पानी कितना ऊपर आ रहा है। और ज़ोर से अगर कोई वड़ी लहर आये तो वस खींचकर ले जाएगी अन्दर। इसीलिए चिल्लाया…"

श्रीधर के वदन पर रोंगटे खड़े हो गये। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह यहाँ क्यों आया है। उसने उफनते हुए समुन्दर को देखा। लग रहा था कि अपनी असह्य वेचैनी से पीड़ित और वहुत सन्तप्त होकर वह उमड़-उमड़कर उठ रहा था। श्रीधर को समुन्दर से वहुत लगाव था। वेचैनी के क्षणों में वक़्त-वेवक़्त समुन्दर किनारे जा वैठना उसकी आदत थी। लहरों का गूढ़ खेल देखकर, सागर की भव्यता, गहराई और सामर्थ्य का अनुमान लगाते हुए वह उससे एकात्म हो जाता था। लेकिन वह तो वहुत पुरानी वात थी। जैसे-जैसे उसकी जिम्मेवारियाँ वढ़ने लगीं और समय का अभाव होने लगा, समुन्दर के साथ उसकी मुलाक़ातें कम होती गयीं। गाड़ी से आते-जाते या विमान से उड़ते हुए दृष्टि पड़ जाती या फिर कभी-कभार किसी को साथ लेकर अगर वह किसी समुन्दर-किनारे छुट्टी के दिनों में आराम करने जाता तो पानी में दूर तक घुस जाता था। तव तो उसे वहाँ से वाहर निकालने में लोर्ना थक जाती थी। श्रीधर के समुन्दर के प्रति पागल प्रेम का लोर्ना को हमेशा डर लगता था। विनू डरती तो नहीं थी लेकिन पिछले दो वर्षों से ऐसा कोई मौक़ा ही नहीं आया था। समुन्दर के वारे में सोचने तक की फ़ुरसत नहीं थी। लेकिन फिर आज अचानक वह सव महत्त्वपूर्ण काम छोड़कर वह यहाँ किसलिए आया था ? सिर्फ़ समुन्दर का खेल देखने ? आत्महत्या करने ? असम्भव। सच, ऐसा क्या हुआ है

मेरे साथ, जो मैं आत्मनाश की सीमा तक पहुँच चुका हूँ ? मैं इतना फिसल कैसे गया ? क्या मेरा यह शरीर-वस्त्र इतना जीर्ण हो चुका है ? या जीवन का अर्थ खो गया है ? मैं पागल तो नहीं हो रहा हूँ ? उसके विचार में आत्महत्या से बढ़कर पागलपन कोई नहीं था। मरने से जीना बेहतर है, यह सभी धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों का सर्वमान्य तत्त्व वह जानता था। लेकिन उसके पैर उसे यहाँ क्यों खींच लाये ? जीवन का अर्थ मैंने अपने हाथों से मिटा दिया है। यह विकृत महत्त्वाकांक्षाएँ, क्षुद्र मूल्यविहीन स्वार्थ, निरर्थक खोखली स्पर्धा, जान-बूझकर संवेदनशीलता का गला घोंटकर प्रयत्नपूर्वक कमाया हुआ पाषाण-हृदय—इन सवने मिलकर जैसे ज़िन्दगी का सुन्दर अर्थ निचोड़ दिया है, विलकुल उसी तरह से जैसे चालाक किरायेदार मकान-मालिक को छल-कपट से वाहर कर देते हैं। लेकिन क्या यह वदल नहीं सकता ? वदलना ही चाहिए। ज़िन्दगी इतनी फालतू तो नहीं है कि विलावजह उससे मुँह मोड़ लिया जाय !

क्षणभर उस पुलिसवाले ने सन्तप्त समुन्दर की तरफ़ देखा। काले-काले वादलों ने आसमान घेर लिया था। और क्षितिज पर गहरी सलेटी रेखाओं के पर्दे खिसकते हुए आगे वढ़ रहे थे। उसने उन्हें भयभरी नज़रों से देखा। क्षितिज की तरफ़ निर्देश करता हुआ वह ःः वड़ाकर वोला, "और वह देखिए साहव, वारिश इसी तरफ़ आ रही है। बड़ी ज़ोर से वरसेगी, देखना। आपके पास तो छाता तक नहीं है…"

उसकी तरफ़ कृतज्ञता से मुस्कुराता श्रीधर चलने के लिए तैयार होकर वोला, "धन्यवाद, हवलदार साहव, धन्यवाद। आप मेरी फिक्र न कीजिए। आत्महत्या करने का मेरा कोई इरादा नहीं है। और आप भी एक बात ध्यान में रखिए, आत्महत्या जैसी घिनौनी कोई चीज़ नहीं है। हमें मिला हुआ यह जीवन और यह देह मिटा डालने जैसा और कोई पाप नहीं है…"

उस तूफ़ानी हवा में उसका भाषण आदरयुक्त आश्चर्य से सुनता हुआ वह हवलदार थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा । और तव तक वारिश की एक ज़बरदस्त झड़ी ने समुन्दर को ढाँक लिया था। सारा आसमान स्याह-काला हो गया था।

"चलता हूँ साहव !" कहता हुआ हवलदार अपना रेनकोट सँभालता हुआ किसी छत की तलाश में खिसक गया।

वादल गरज रहे थे और समुन्दर में उफान आ गया था। वरसात की मोटी-मोटी वूँदों के पर्दे के पीछे क्षितिज ओझल हो गया था। ऊँची-ऊँची इमारतों का ऊपर का हिस्सा दिखाई नहीं दे रहा था। वरसात ने श्रीधर को सिर से पाँव तक भिगो दिया था।

ऐसी धुआँधार बरसात, रौरव नृत्य करने वाला समुन्दर और श्रीधर के मन में उठा तूफ़ान—उनमें जो तादात्म्य था, वह उसे लुभा गया। जेब में हाथ डालकर समुन्दर की दीवार के किनारे-किनारे से लहरों के तुषार और बारिश की फुहार को झेलता हुआ वह आगे बढ़ा।

समुन्दर को साक्षी रखकर भीगते हुए और अपने बारे में सोचते हुए श्रीधर को एक बात का एहसास हुआ कि लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो उसके जीवन में गिले-शिकवे की कोई जगह नहीं थी। उसकी महत्त्वाकांक्षा को बढ़ानेवाली और किसी को भी ईर्ष्यादायक लगनेवाली नौकरी और व्यावसायिक प्रतिष्ठा। क़रीबी मित्रों का जमघट और फिर शशी, जिसका मात्र अस्तित्व उसे दिलासा दिलाने वाला था। इसके बावजूद उसे इस तरह असन्तुष्ट, अधूरा, अतृप्त क्यों लग रहा था ? यह बेचैनी सिर्फ़ व्यावसायिक कर्तव्यों के अपरिहार्य उलझनों से तो उभरी नहीं थी। अपने आपको परस्पर विरोधी नीति विचारों के संघर्ष में पाकर संभ्रमित अवस्था में निर्णय लेने के कई प्रसंग उसके जीवन में कई बार आये थे। लेकिन ऐसे कई पेंचों से श्रीधर कभी विचलित नहीं हुआ था। यह असमाधान की बेचैनी कोई आज की बात नहीं थी। वह ऐसी तात्कालिक नैतिक पेचीदा प्रसंगों से थोड़े ही उभरती है ! श्रीधर की संवेदनाओं की आँखें पहली बार खुलने के बाद से यह बेचैनी उसे परेशान किये जा रही थी। रिक्तता, अपूर्णता, अधूरापन, असन्तुष्टता, निरर्थकता और मुनष्य के जीवन का प्रयोजन···?

इस वर्षा में भीगने के बाद भी उसके दिमाग़ में सुलगते अंगारे नहीं बुझे थे। अपनी कच्ची उम्र में श्रीधर ने मार्क्स से लेकर कृष्णमूर्ति के व्याख्यान और वेदों से लेकर गीतारहस्य तक कई गोते लगाये थे। उसकी आत्मा की तृष्णा अभी अमिट थी। इसके विपरीत राक्षसी महत्त्वाकांक्षा में पागल होकर वह यहाँ आ पहुँचा था। अब उसे वही महत्त्वाकांक्षाएँ क्षुद्र, बचकानी और अर्थहीन लगने लगी थीं। तो फिर चाहता क्या था ? पाँव के अँगूठे से लेकर सिर की नसों तक वेदना का तूफ़ान उठानेवाली यह विलक्षण बेचैनी अचानक कहाँ से आयी थी ? शरीर को सुखानेवाली और गले को जलाने वाली यह दग्ध तृष्णा कहाँ से आयी ? मैं क्या चाहता हूँ ? मुझे कहाँ जाना है ? क्या करना है ? और यह सब किसलिए ?

देखते-देखते वर्षा का ज़ोर बढ़ने लगा। मोटी-मोटी बूँदें काँच की तरह फूटकर सड़कों पर बिखरने लगीं। थोड़ी ही देर में पानी बहने लगा। वर्षा की ज़ोर से आवाज़ आने लगी। सिर पर, मुँह पर, हाथ पर कोड़ों की तरह फटकारे लगने लगे। अँधेरा तेजी से बढ़ने लगा और पूरी तरह भीगा हुआ श्रीधर काँपने लग गया। कुछ ही देर पहले उस हवलदार को भाषण झाड़ने से प्राप्त कृतज्ञ हल्कापन पलभर में जाने कहाँ चला गया और श्रीधर फिर से व्याकुल, जड़-उदास हो गया—उस बरसात

वाले सन्ध्या-समय जैसा। आत्मनाश का विचार तो उसने कव का झटक डाला था। लेकिन फिर इस निकम्मी ज़िन्दगी का किया क्या जाय ? क्या संवेदनाहीन अस्तित्व को ऐसे ही रहने देना चाहिए ? नहीं···नहीं···इस शून्यता को झटककर फेंकना ही होगा। पिछले पाँच सालों में जीवन-पट पर जो खचड़-मचड़ हुई थी उसे मिटाना ही होगा। लेकिन यह कैसे सम्भव है ? यह तो पलायन है। कर्तव्य से मुँह मोड़ना। हाः हाः हाः कैसा कर्त्तव्य ? सच अपनी वुद्धि पर मैंने यह कैसी पट्टी वाँध ली थी! यह पलायन नहीं मुक्ति है, उस भूत से जो सिर पर सवार हुआ था। यह सव मिटाकर नयी शुरुआत करनी होगी। उसके लिए यह पुराना जीवन तोड़-मरोड़कर फेंक देना होगा। नया जन्म लेना होगा। उसके लिए इस पुरानी ज़िन्दगी से पिण्ड छुड़ाना होगा। और यह संवेदनाविहीन निर्बुद्धता ? सब छोड़कर शरीर को अपार कष्ट दिये बग़ैर यह निर्विकारता दूर न होगी। आत्मपीड़ा की आग में वुद्धि पर जमी यह काई छूटकर बह जाएगी। और तभी आत्मा को नया तेज प्राप्त होगा और मेरे सनातन प्रश्नों के उत्तरों का आकलन सम्भव होगा। आत्मक्लेश के चक्र से जव तक शरीर को निचोड़कर नहीं निकाला जाता तब तक शरीर में और जीवन में घुसा हुआ यह नकारात्मक ज़हर बाहर नहीं निकलेगा और न ही आत्मा तक यह सनातन चिर वेदना की टीस पहुँच सकेगी।

श्रीधर चलता ही रहा। अब लहरें और ऊपर उठकर वर्षा के साथ दीवार के ऊपर से सड़क पर गिर रही थीं। जब हवा और तेज़ हुई तो वह समुन्दर से पीठ फेरकर दीवार से सटकर बैठ गया। पीछे से उस पर लहरों की वौछार हो रही थी। समुन्दर का नमकीन पानी आँखों में घुस रहा था। तूफ़ान अव उसकी पूरी ताक़त से घिरने लगा था। मरीन ड्राइव पर यातायात रुक गया था। पन्द्रह फीट की दूरी पर क्या है, यह भी दिखाई नहीं दे रहा था। इस आँधी-तूफ़ान के रौरव से पुलिस की एक जीप मन्द गति से आगे बढ़ रही थी। जैसे ही वह श्रीधर के पास आ रुकी तो वह उठकर खड़ा हो गया। जीप का आगे का शीशा उठाकर हाथ बाहर निकालकर पुलिस अधिकारी चिल्लाया, "चलो, भागो !" और जीप धीरे-धीरे आगे बढ़ गयी। पुलिस की कर्तव्यदक्षता को मन-ही-मन सराहते हुए श्रीधर आगे बढ़ा और उसने सड़क पार की।

मरीन ड्राइव से गुज़रकर चर्च गेट की तरफ़ जानेवाली सड़क पर आ पहुँचने पर श्रीधर को काफ़ी हल्का महसूस हो रहा था। मानो उसका इरादा पक्का हो गया हो। सड़क पर चलनेवाले लोग छाते तिरछे करते हुए बड़ी मुश्किल से आगे बढ़ रहे थे। श्रीधर ने घड़ी देखी। साढ़े पाँच बजे थे। दफ्तरों के बन्द होने का समय। वह ठिठक गया। उसके कई सहकर्मी पश्चिम रेलवे से यात्रा करने वाले थे। लोर्ना भी बान्द्रा में रहती है। चर्च गेट की तरफ़ जाना ठीक न होगा। उससे तो यह छोटा

रास्ता ठीक रहेगा। फुटपाथ पर लास्टिक के सहारे खड़ा एक सिगरेट का छोटा-सा ठेला था। तीन-चार लोग उसकी छत के नीचे खड़े थे। श्रीधर उसकी तरफ़ बढ़ा। बदन से पानी टपक रहा था, उसने वैसे ही सिगरेट जलाया। वे लोग उसे अजीब-सी नज़रों से देख रहे थे। यह वह जानता था।

उसके दफ्तर से इस तरह लापता होने से जो धूम मची होगी, उसका विचार आते ही वह क्षणभर काँप गया। लेकिन अगले ही क्षण उसे यह सब बड़ा ही रोचक लगने लगा। इतनी-सी देर में वह तटस्थता से पीछे मुड़कर देख सकता है, इस बात से उसे प्रसनन्ता हुई। सिर्फ़ लोर्ना जो कहना चाहती थी वह सुनना चाहिए था। उससे पूछ लेना चाहिए था। आधा घण्टा के बाद लोर्ना डर गयी होगी, परेशान हो रही होगी। उन सारी अपाइण्टमेण्ट्स का क्या होगा ? दिल्ली से न जाने कितने फ़ोन आ गये होंगे। रात का दिल्ली का टिकट लेकर रखा था। उससे पहले सैकड़ों चिट्ठियाँ लिखवानी थीं। पेपर्स तैयार करने थे। चेअरमैन और प्लानिंग मैनेजर के न जाने कितनी बार फ़ोन आ चुके होंगे। श्रीधर कहाँ है ? कहाँ गया है ? कब लौटेगा ? और लोर्ना हैरान होगी। श्रीधर हल्का-सा मुस्कुराया तब साथ में खड़ा आदमी उसे शक की नज़रों से देखने लगा। बालों से टपकता हुआ पानी और भीगे बदन को पोंछने का श्रीधर ने कोई प्रयास नहीं किया था। उँगलियों से गीली होती सिगरेट के वह बड़े मज़े से कश ले रहा था। उसके क़ीमती कपड़े पानी से भीगकर उसके बदन से चिपक गये थे। सिर से पानी टपक रहा था। आगे क्या करना है, इसकी कोई फिक्र नहीं थी। ड्राइवर और लोर्ना शायद उसकी प्रतीक्षा में आठ बजे तक बैठे रहेंगे। व्यर्थ इन्तजार क्यों करवाया जाय ? क्या लोर्ना से फ़ोन पर बता दूँ कि वह घर चली जाये ? उससे पूछा जा सकता है कि तुम्हें जो कहना था वह मैं उस वक़्त तो सुनना नहीं चाहता था। अब सुनने में कोई एतराज़ नहीं है। लेकिन अब वह समय टल गया है। रहने दो। लोर्ना को फ़ोन करने का मतलब होगा फिर उलझ जाना। गड़वड़ हो जाएगी। उससे तो अच्छा है कि शशी को समय पर फोन किया जाये। आज तो उसने भी न जाने कितनी बार फ़ोन किया है।

यह सब सोचते हुए श्रीधर काफी देर तक वहाँ खड़ा रहा और एक के बाद एक सिगरेट निकालकर पीता रहा। प्लास्टिक से बदन ढाँककर एक भिखारी उसके सामने आया तो जेब से जितने सिक्के निकले, उतने श्रीधर ने उसे दे डाले।

बरसात का ज़ोर कम पड़ते ही श्रीधर ने टैक्सी ले ली। अपने आप नहीं, पदपथ पर चलते हुए अचानक एक टैक्सी उसकी बगल में रुक गयी। बिना कुछ बोले ड्राइवर ने दरवाज़ा खोला और श्रीधर अनायास ही अन्दर बैठ गया। ऐसा वह क्यों कर रहा था, यह उसे पता नहीं था। घनी वर्षा को चीरती जब टैक्सी चल पड़ी तो श्रीधर ने देखा उस पार पदपथ पर वह प्लास्टिक की टोपीवाली भिखारन स्थितप्रज्ञता

से बरसात का आघात सहती हुई शान्ति से बैठी थी।

ड्राइवर को उसने क्या सूचनाएँ दीं यह वह स्वयं भी नहीं जानता था। बूढ़ा मियाँ भाई टैक्सीवाला चुपचाप पानी से रास्ता बनाकर आगे बढ़ता जा रहा था। श्रीधर उससे बेखबर था—न जाने टैक्सी उसे कहाँ से कहाँ ले जा रही थी ! बढ़ते हुए अँधेरे की वजह से और बारिश के धुँधलके से सब कुछ धूमिल सपने जैसा लग रहा था और गाड़ी के बाहर अनायास दिखाई देनेवाले दृश्य उसके मन की पीड़ा बढ़ा रहे थे।

पहले गरजता समुन्दर और लहरों के तुषार। फिर सँधी प्रकाश में बरसात से, गाड़ियों की लाइटों से और रंगबिरंगी निऑन साईन्स की रोशनी की वजह से चमकनेवाली सुन्दर सड़क और फिर बरसात में आगे बढ़ता हुआ शोरगुलयुक्त यातायात, पास-पास बने हुए मकान, उनकी खिड़कियों से आनेवाली बत्ती की रोशनी, छातों के आगे बढ़ते हुए जंगल, गन्दगी, कीचड़, नरक जैसी तीव्र दुर्गन्ध, भरी बरसात में फुटपाथ पर फटे-पुराने प्लास्टिक के टुकड़े ओढ़कर सोये हुए मस्त कलन्दर भिखारी।

एक जगह जहाँ बरसात का पानी थोड़ा-सा रुक गया था, वहाँ एक बस-स्टॉप का आसरा लेकर एक तीन-चार वर्ष की लड़की, अपनी गोद में रोते-चिल्लाते छोटे-से एक शिशु को लेकर खड़ी थी। फिर भी वह बारिश से पूरी तरह बच नहीं पा रही थी, आड़ी-तिरछी बरसनेवाली वर्षा उसे कहीं-न-कहीं से भिगो रही थी, जिसे वह लड़की निर्मम भाव से झेल रही थी।

फिर एक झुग्गी-झोंपड़ी, प्लास्टिक, बोरी की लोइयाँ, टिन—जो भी मिलता था—उससे बनाये हुए 'घर'। उस बरसात में भी उनके व्यवहार सहजता से चल रहे थे। घनी बस्ती से गुजरते हुए टैक्सी एक ट्रैफिक जाम में फँस गयी। अभी बहुत रात तो नहीं हुई थी। वर्षा का ज़ोर हल्का पड़ गया था। टैक्सी की अधखुली खिड़की से सड़क पर यातायात की और सम्भाषण की सम्मिश्र आवाज़ें कानों पर पड़ रही थीं।

"अबे. ओ सकीना···रुक जा···ज़रा, इधर-उधर देख के चलना, नहीं तो मर जाएगी।"

"देखो, आखिर तक पता नहीं चलता कि मैं कौन हूँ···समझे ?"

"फिर भी मैं माता जी से कह रही थी कि उसकी बतायी सभी बातों पर विश्वास···"

"हटो···हटो···ए टोकरीवाला !"

"सुन्दर···केवल अप्रतिम···यह मुझे पहले ही क्यों नहीं···"

"देखो भाय, इस दुनिया में हर एक को अपनी चाल से चलना पड़ता है···"

सम्भाषणों के कुछ टुकड़े श्रीधर को सुनाई दे रहे थे और श्रीधर आश्चर्य कर रहा था। यह सामान्य लगनेवाले लोग भी एक-दूसरे को वड़ी सहजता से विशाल और मूलभूत सत्य वता रहे थे। उनके एक-एक शव्द में गहरा अर्थ समाया हुआ था, वह सुनते हुए श्रीधर को बहुत अच्छा लग रहा था। ट़ैक्सीवाला विना कुछ बोले गाड़ी चला रहा था। एक जगह घुटने तक पानी था, उससे वचाकर उसने कुशलता से टैक्सी आगे निक़ाली। जमकर वारिश हुई थी। कितना पानी रुक गया था लेकिन इससे शायद किसी को कुछ विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ा था। सभी व्यवहार बड़ी सहजता से पूर्ववत् चल रहे थे। खाना बनाना, झगड़े, रोना-धोना, हँसना—कहीं कोई रुकावट नहीं थी। श्रीधर को आश्चर्य हो रहा था। एक जगह क़ाफी भीड़ इकट्ठी हुई थी। गम्भीर स्वरों में वातें और भाग-दौड़। ठनठनार्ती आनेवाली एम्वुलैंस। कीचड़, पानी और ख़ून से लथपथ एक लाश उठायी गयी। उसके दोनों हाथ निर्जीव अवस्था में लटक रहे थे। किसी का आक्रोश। और फिर यातायात। सड़क के वीच में छाता खोलकर हाथ में नोटबुक पकड़कर वाहनों के नम्बर लिखनेवाला हवलदार।

टैक्सी रुकी। वह क्यों रुकी यह श्रीधर नहीं जानता था। लेकिन वह रुक गयी। उसने न टैक्सी वाले को रुकने के लिए कहा था, न ही चलने के लिए। वहुत हल्की-हल्की वरसात थी और घना अँधेरा छा चुका था। सामने चर्चगेट स्टेशन था। श्रीधर नीचे उतरा तो उसे पता चला कि टैक्सी में उसकी वजह से काफी पानी भर गया था। श्रीधर ने पैण्ट की जेब से पूरी तरह भीगा हुआ बटुआ निकाला और टैक्सी ड्राइवर की तरफ़ देखा। वह भी उसी की तरफ़ देख रहा था। दोनों की नज़रें मिलीं। वूढ़ा ड्राइवर हल्का-सा मुस्कराया, मानो उसे आश्वस्त कर रहा हो—मैं जानता हूँ, तुम्हारी स्थिति क्या है। डरो मत। आगे बढ़ो। होता है ऐसा कभी-कभी। श्रीधर ने मुस्कराकर प्रतिसाद दिया और बिना कुछ सोचे-समझे बटुवे से दो नोट निकाले और उनकी तरफ़ देखे वगैर टैक्सीवाले को दिये। टैक्सीवाले ने कुछ न कहते हुए एक नोट वापिस किया और अपना मीटर घुमाकर वह चल दिया।

श्रीधर काफी देर तक उसकी दिशा में देखता रहा। और फिर जैसे हड़बड़ाकर होश में आकर उसने चर्चगेट की घड़ी देखी। बहुत देर हो गयी थी। अव स्टेशन के अन्दर जाने में कोई खतरा नहीं था, और अब एक आखिरी टेलिफ़ोन भी करना आवश्यक था।

श्रीधर सार्वजनिक टेलिफ़ोन के पास गया और उसने शशी का नम्वर मिलाया।

"कहाँ से वोल रहे हो ? दफ्तर से अचानक ग़ायव क्यों हो गये थे ? लोर्ना के न जाने कितने टेलिफ़ोन आ चुके हैं—तुम्हारी तबीयत तो ठीक है ?" उसकी आवाज़ पहचानते ही, अपनी आवाज़ तेज न करती हुई शशी ने कई सवाल कर डाले।

"बस यूँ ही तुम्हें फ़ोन कर रहा हूँ, शशी !"

"अरे, लेकिन तुम हो कहाँ ? मुझे लगा, तुम अवश्य वर्मा के घर गये होगे। मैंने लोर्ना को भी वही बताया। लेकिन पता चला कि पूरा शहर वहाँ पहुँच गया है, लेकिन तुम्हारा कोई अता-पता नहीं है।"

"क्या हुआ वर्मा के यहाँ ?"

शशी ने कुछ देर तक कुछ नहीं कहा।

"तुम नहीं जानते ? वर्मा ने कल रात नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर ली···आज शाम को ऐसी बारिश में उसका दाह-संस्कार हुआ।"

श्रीधर मौन रहा। यह थोड़ा-सा अनपेक्षित था। परसों ही तो वर्मा मिला था। बहुत खुश नज़र आ रहा था। सच तो यह था कि पुराने दोस्तों के उस गुट में से सिर्फ़ वर्मा से ही उसका सम्पर्क बना रहा था। शशी को तो वह शायद साल भर बाद फ़ोन कर रहा था। वर्मा सप्ताह में दो-तीन बार तो अवश्य ही मिलता था। इसलिए नहीं कि वह समव्यावसायिक थे बल्कि इसलिए कि उन दोनों के बीच बात ही कुछ और थी। वर्मा एक सफल व्यापारी था। उसका श्रीधर की बुद्धिमत्ता पर प्रगाढ़ विश्वास था इसलिए बार-बार वह ही श्रीधर से सम्पर्क बनाये रखता था। उसे अपने आध्यात्मिक अनुभव, आशा-निराशाएँ सब कुछ बताता रहता था और कल इस वर्मा ने अपनी जान दे दी, मुझसे सलाह किये बगैर ···

"श्रीधर, तुम सुन रहे हो न ?"

श्रीधर हँस पड़ा।

"बेवकूफ कहीं का।" उसने कहा।

"क्या कहा ? ऊँचा बोलो। ठीक से सुनाई नहीं दे रहा।"

"बेवकूफ···वर्मा बेवकूफ था।"

"तुम कहाँ से बोल रहे हो, श्रीधर ?"

"वर्मा सचमुच ही पागल था। खुद के बारे में सोचना उसे बहुत महँगा पड़ रहा था। ऐसे लोगों को तो ज़्यादा सोचना ही नहीं चाहिए।"

"लेकिन तुम दोपहर से कहाँ ग़ायब रहे श्रीधर ? तुम्हारे दफ्तर में कोहराम मचा हुआ है। लोर्ना अभी भी मुझे बार-बार फ़ोन करके पूछ रही है। अचानक तुम कहाँ ग़ायब हो गये थे ?"

श्रीधर की हँसी छूट गयी।

"तुम ठीक तो हो, श्रीधर ?"

"तुम कैसी हो ?" पूरे साल भर के बाद हाल पूछा जा रहा था।

"लेकिन तुम कर क्या रहे हो ? कहाँ हो ?"

"बाबा रे ! कितने गम्भीर सवाल कर रही हो ? वही अपने पुराने सवाल। मैं

कहाँ हूँ··· मुझे क्या करना है ? मैं किसलिए हूँ···मैं कौन···याद है न तुम्हें ? मुझे हँसी आ रही है शशी···"

"मुझे लगा, यह प्रश्न तुम कब के मिटा चुके हो।"

"मिटा देने पर भी वह पूरी तरह मिटते नहीं हैं। जब तक उनका पूर्ण आकलन नहीं होता, मन को चैन नहीं आता, शशी। अब तुम मुझे बताओ यह सब क्या हो रहा है ?"

"श्रीधर, तुम कहाँ से बोल रहे हो ? मुझे बताओ, मैं टैक्सी लेकर वहाँ पहुँच जाती हूँ। मुझे लगता है तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है।"

श्रीधर सिर्फ़ हँस पड़ा।

"तुम सुन रहे हो न, श्रीधर ?"

श्रीधर से अब हँसी रोकी नहीं जा रही थी। धीरे-धीरे वह छूटकर बाहर आने लगी और फोन पर वह ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा। उसके साथ वाले टेलिफ़ोन के सामने खड़ी महिला उसे सशंक नज़रों से घूरने लगी। और जल्दी-जल्दी बात खत्म कर वहाँ से चल दी।

"श्रीधर···श्रीधर··· तुम्हें क्या हो गया है ?"

शशी की आवाज़ से उसका संयम काफ़ूर होता मालूम पड़ता था।

श्रीधर ने फ़ोन रख दिया और अचानक उसकी हँसी भी ग़ायब हो गयी। उसे शशी पर थोड़ा-सा गुस्सा आया और अजीब भी लगा।

कम-से-कम उसे तो संयम बरतना चाहिए था, क्योंकि श्रीधर के ये प्रश्न उसके लिए नये नहीं थे, कम-से-कम शशी को तो उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए था। लेकिन वह भी अपनी जगह सही थी। लोर्ना की फोनाफोनी से शायद वह भी बौखला गयी थी। और ऊपर से बेवकूफ वर्मा की आत्महत्या। उसका भी उसे सदमा पहुँचा होगा। लेकिन वर्मा ने अपनी जान क्यों दे दी ? इस भँवाल से मुक्ति पाने के लिए आत्मनाश की सीमा तक पहुँचने वाले वर्मा के साहस की प्रशंसा करनी चाहिए या जीवन को पागल की तरह उखाड़ देने की उसकी भगोड़ी कायरता की निर्भत्सना करनी चाहिए ?

श्रीधर फ़ोन रखकर आगे बढ़ा, तब चर्चगेट की भीड़ के जत्थे उसके पास से गुज़र रहे थे। गीली और बत्तियों की रोशनी में जगमगाती भीड़।

चर्चगेट की घड़ी के आँकड़े बदल रहे थे, गाड़ियाँ आ-जा रही थीं। और बाहर की भीड़ लहरों में अन्दर आकर बिखर रही थी।

श्रीधर उस भीड़ को अपलक निहार रहा था, जैसे कोई नयी चीज़ पहली बार देख रहा हो। उसे जैसे नयी दृष्टि मिली थी।

दो

यह आश्चर्य, कौतूहल और जानने की इच्छा सीधे वचपन में ले जाती है। हल्काफुल्का वनाती है। कहाँ से आते हैं यह सव लोग और कहाँ जाते हैं ? क्या होते हैं उनके काम···उनकी आशा-आकांक्षाएँ, उनकी अभिलाषाएँ···उनके सपने, उनकी ज़िद, उनके दुख और उनकी शिकायतें ? उनका प्यार, नफ़रत···यहाँ से गुज़रनेवाला हर व्यक्ति अपने आप में एक दुनिया है। हर जान के पीछे इतिहास है, परम्परा है, उसका एक नाम है, परिवार है, कहीं पर उसका घर है, मित्र-परिवार है—इस तरह इस जीवन का दरिया बहता जा रहा है। इस विशाल जनसागर में मैं अणु मात्र भी नहीं हूँ। श्रीधर एक जगह खड़ा होकर किसी नन्हे बालक के कौतूहल से उस तीव्र गति से छितरती भीड़ निहार रहा था। हर आदमी का स्वतन्त्र अस्तित्व था, अलगपन था। हर किसी की हर वात अलग थी।

यह बालक जैसी उत्सुकता, कौतुहूल और जिज्ञासा, आसमान में वादलों की अठखेलियों को घण्टों तक देखते रहना, सितारों से लदे-फदे आसमान में स्वयं का खो जाना, नदी का उद्गम स्रोत ढूँढ़ने के लिए जंगल पार करना, रेलगाड़ी के इंजन के गतिशील सामर्थ्य को मन्त्रमुग्ध होकर देखते रहना, हाथ लगी हर चीज़ को खोलकर उसके अन्दर का भेद जानने की कोशिश करना और फिर कई क़िस्म के सवाल पूछकर माँ-बाप को परेशान करना। विशेष रूप से माँ को। श्रीधर और उसकी बड़ी बहन वृन्दा में होने वाली अनबन का सबसे प्रमुख कारण यह ही था। श्रीधर उससे सवाल कर-करके परेशान कर देता था। उसके पिता तो अक्सर दौरे पर हुआ करते थे। और ख़ास बात यह थी कि उसके सवाल सीधे-साधे लगते ज़रूर थे लेकिन वह इतने विचित्र होते थे कि उसकी माँ और वहन हैरत में पड़ जाती थीं। सवाल का जवाब अगर सन्तोषजनक न मिला तो उसे या तो गुस्सा आ जाता या वह सवालों की और भी लम्बी झड़ी लगा देता।

"माँ, ये फूल कैसे खिले ?" श्रीधर कभी आँगन में खिले फूलों को देखकर पूछ बैठता।

"अरे कल वहाँ जो कलियाँ थीं न, उनके फूल बन गये।" माँ बड़े दुलार से जवाब देती।

"कलियों के फूल कैसे बने ?"

"कैसे यानी ? कलियों के तो फूल बनते ही हैं।"

"लेकिन कैसे ?"

श्रीधर की माँ सुशिक्षित थी। बहुश्रुत थी। इसलिए वह अपनी तरफ़ से उसकी जिज्ञासा का समाधान करने की पूरी कोशिश करती थी। लेकिन श्रीधर उसके सामान्य ज्ञान के लिए चुनौतियाँ खड़ी कर देता था। उसके पिता तन्त्रज्ञ थे, विज्ञान के प्रेमी थे। माँ धार्मिक थी, श्रद्धालु। पिता भी उसके प्रश्नों का समाधान करने की कोशिश करते थे।

वृन्दा बुद्धिमान थी। श्रीधर से ग्यारह साल बड़ी थी। इसलिए वह भी अपनी तरफ़ से उसके प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करती। लेकिन वृन्दा भी श्रद्धालु थी। भूत-प्रेत से उसे डर लगता था। इसी वजह से उनके सवाल-जवाबों का अन्त मारपीट में होता।

"दीदी, क्या भूत सचमुच होते हैं ?"

"हाँ !"

"वह कैसे होते हैं ?"

"अलग-अलग क़िस्म के।"

"मतलब कैसे ?"

"वैसे ही।"

"तुमने देखे हैं कभी ?"

"हाँ।"

"कहाँ ?"

"यह जो बैठा है मेरे सामने।"

फिर झगड़ा। भागा-दौड़ी।

रातों में सितारों भरा आसमान देखकर श्रीधर की जिज्ञासा जाग उठती। बेसब्री से वह अपने माँ-बाप पर सवालों की बौछार करता। जैसे—

"बाबा, इन सितारों को क्या ठण्ड नहीं लगती ? वह दिन के उजाले में क्यों नहीं आते ? वह अँधेरे में क्यों रहते हैं ? वह दिन में नज़र क्यों नहीं आते ? क्या उन्हें कभी डर नहीं लगता ?" आदि।

श्रीधर के बाबा बड़ी सहनशीलता के साथ धीरे-धीरे उसे शास्त्रीय दृष्टि से सब कुछ समझाने की कोशिश करते।

लेकिन श्रीधर को पूरी तरह सन्तुष्ट करना बहुत मुश्किल था क्योंकि उसका कोई-न-कोई प्रश्न अनुत्तरित रह जाता।

"लेकिन बाबा, अगर यह चाँदनी उष्ण होती है तो वह हमें दूर से ठण्डी क्यों लगती है ?"

"क्योंकि वह बहुत दूर होती है।"

"उन्हें इतनी दूर कौन ले ग्या, वावा ?"
"अरे, ले जाने की क्या ज़रूरत है, वह तो शुरू से वहीं पर है।"
श्रीधर भाँप गया था कि उसके इस प्रश्न का समाधान उसके पिता के पास नहीं था लेकिन उनको मन-ही-मन माफ़ कर उसने अगला प्रश्न पूछा—
"बाबा, तारे किसने वनाये ?"
"इसमें भला वनाने की क्या वात है !"
"लेकिन वह कैसे बने ?"
कोई भी बात भगवान पर छोड़कर पलायनवादी जवाव देना श्रीधर के वावा का स्वभाव नहीं था। उन्होंने कहा, "तारे किसी को तैयार करने नहीं पड़ते, वह अपने आप बन जाते हैं।"
"जादू से ?"
"जादू से क्यों ? अपने आप।"
थोड़ा-सा झिझककर श्रीधर ने पूछा, "बाबा, क्या मैं अपने आप पैदा हुआ ?"
"नहीं रे। तू तो अपनी माँ के पेट से निकला···"
अब इस उत्तर से प्रश्नों की अच्छी-ख़ासी रेलगाड़ी निकलती है, यह श्रीधर जानता था। और कितनी ही बार उसने वह रेलगाड़ी माँ के सामने भी चलायी थी। अब श्रीधर अपनी दिशा वदलना नहीं चाहता था। उसने आगे पूछा, "वावा, इन तारों की माँ कौन है ?"
"तारों की कोई माँ नहीं होती।"
"तो वह कैसे बने ?"
अव उसके पिता को हार माननी पड़ी ।
"देखो श्रीधर, तुम बहुत पढ़-लिखकर बड़े बन जाओगे न, तो ये सब प्रश्न कितने कठिन हैं, यह समझ जाओगे। अब सो जाओ और खूब पढ़ो, सव समझ जाओगे।"
उस रात वह बाबा के पास खुले आसमान के नीचे सो रहा था। बाबा तो सो गये, लेकिन श्रीधर न जाने कितनी देर तक सितारों से खचाखच भरा आसमान देखता रहा। बाबा की बतायी सभी बातें उसे पूरी तरह समझ नहीं आती थीं। लेकिन वह आज जितना समझ पाया था, उससे उसे बेचैनी होने लगी थी। विश्व की महानता और अपनी नगण्यता के बीच का सम्बन्ध उसके नन्हे-से दिमाग़ को बहुत भारी पड़ रहा था। बाबा के पास होते हुए भी उसे न जाने कैसा डर लग रहा था, बहुत अकेलापन महसूस हो रहा था। यह बेचैनी, यह भयानक अकेलापन वह किसी के साथ वाँट नहीं सकता था, माँ-बाप के साथ भी नहीं। इसी बात का उसे डर लग रहा था और वह उदास हो रहा था। वैसे काफी देर तक आँखें खुली रखकर तारे

गिनता, वह जागता रहा।

दूसरे दिन सवेरे उनके रेलवे क्वार्टर में आनेवाली सूरज की किरनें और उनपर सवार होकर आये हुए चमकीले धूलिकणों को देखकर वह उत्तेजित होकर चिल्लाया—"बाबा, बाबा, दीदी, जल्दी यहाँ आओ। यह देखो दूसरी दुनिया। बाबा, इन तारों के भी क्या ग्रह होंगे ? और इतने से ग्रहों पर क्या हमारे जैसे लोग बस सकेंगे ?"

श्रीधर का बचपन यों ही जंगलों में बसे छोटे-छोटे गाँवों-कस्बों में बीता था। हरा-भरा जंगल, पेड़-पत्ते, रंग-विरंगे फूल, आकाश को छूने वाले पहाड़, नीला आसमान, सितारे, कल-कल बहते झरने, श्रीधर की जिज्ञासा का कोई अन्त नहीं था। इमारतें बनाने के काम में लगे मजदूरों की बस्ती भी उसके कौतूहल का एक खज़ाना था। उसके प्रश्न कहीं से भी शुरू हो सकते थे।

"माँ, ये औरतें इतना कठिन काम भला कैसे कर लेती हैं ?" या फिर "माँ, इनके पाँव में चप्पलें क्यों नहीं हैं ?" या "माँ, इनके घर इतने गन्दे क्यों हैं ?"

"बेटे, वह ऐसे ही रह सकते हैं, क्योंकि हर चीज़ के लिए रुपयों की ज़रूरत होती है"—माँ बताती।

"इनके पास रुपये क्यों नहीं हैं ?"

"बेटे, पैसे कमाने के लिए तेज़ दिमाग़ चाहिए, पढ़ाई-लिखाई चाहिए।"

"क्या इनके पास दिमाग़ नहीं है ?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं है ?"

"मैं क्या जानूँ ? शायद भगवान ने नहीं दिया।"

"माँ, क्या बाबा को भगवान ने तेज़ दिमाग़ दिया है ?"

"हाँ।"

"फिर बाबा को ही क्यों ? इन्हें क्यों नहीं ?"

"अब चुप भी बैठेगा या लगाऊँ एक थप्पड़।"

तीन

एक जगह खड़े रहकर श्रीधर के पैर दुखने लगे। आने-जाने वाले उसे शक की

निगाहों से देख रहे थे। रेलवे की पुलिस ने भी वहाँ से गुजरते हुए उसे घूरकर देखा। अब आगे बढ़ने के सिवा श्रीधर के पास कोई चारा नहीं था। भीड़ बहुत कम हो गयी थी और गाड़ियों की संख्या भी। श्रीधर अनायास ही चलता रहा। कपड़े वैसे ही भीगकर उसके शरीर से चिपके हुए थे। उसके चलते रहने में कोई उद्देश्य नहीं था। बाहर अभी भी वर्षा हो रही थी, जिसकी आवाज़ स्टेशन में सुनाई दे रही थी। अन्दर आनेवाले लोगों के कपड़ों और छातों से पानी टपक रहा था। स्टेशन का फ़र्श गीला हो गया था। भीड़ के साथ श्रीधर भी एक लोकल ट्रेन में चढ़ गया।

पिछले कई वर्षों में उसने लोकल ट्रेन से सफ़र नहीं किया था और द्वितीय श्रेणी के डिब्बे का रूप तो उसने आज तक अन्दर से नहीं देखा था। जब से वह बम्बई आया था, तब से कम्पनी द्वारा दी गयी टैक्सी या गाड़ियों में ही उसने सफ़र किया था।

उसने लोकल ट्रेन का वह डिब्बा अन्दर से अच्छी तरह देख लिया। वह सीट पर बैठ गया। साथ में बैठे आदमी ने जब उसे थोड़ा खिसकने के लिए कहा तो वह चुपचाप खिसक गया। उसके कपड़ों से अब पानी तो गिर नहीं रहा था, लेकिन वह अब भी गीले ही थे, जिसकी वजह से उसकी सीट भी गीली हो रही थी। लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि इसके बावजूद किसी को उसके वहाँ बैठने पर कोई आपत्ति नहीं थी। उसके गीले कपड़ों के सम्पर्क से उसके बिलकुल क़रीब बैठने वालों के कपड़े गीले हो रहे थे। दो-चार लोगों की नज़रों में उसने नाराज़गी ज़रूर देखी लेकिन किसी ने उसे उठने के लिए नहीं कहा।

"मेरा भारत महान्" हौले से मुस्कराते हुए श्रीधर ने अपने आप से कहा। मैं कौन से देश में, किन लोगों के बीच रह रहा हूँ— पेडर रोड स्थित वातानुकूलित घर, क्लब्ज, वातानुकूलित दफ्तर, पंचतारांकित होटलें, विमान यात्राएँ, विदेश में भी इसी वर्ग के लोगों के बीच। लन्दन में और न्यूयार्क में, उसने भूमिगत रेलवे में सफ़र कर वहाँ के सामान्य जनों के शरीर से आने वाली गन्ध का अनुभव किया था। जिज्ञासावश सोहो, हारलेम, ब्रुकलिन जैसी बस्तियाँ देखी थीं। लेकिन पिछले आठ वर्षों में उसने बम्बई की उपनगरीय गाड़ियाँ क्यों नहीं देखी थीं ? मैं खुद से बिछुड़ रहा हूँ, और लोगों से भी कभी-कभी अचानक ऐसी बातों का ज्ञान होता है। कॉलेज के दिनों में श्रीधर को पाश्चात्य देशों से शिक्षित होकर लौटने वाले युवकों पर तरस आता था। इनमें से बहुसंख्य युवक ऐसे ही भूले-बिसरे। बचपन में अँग्रेज़ी भाषा और उच्च वर्ग की कुण्ठा में पले हुए। पश्चिम में जाने के बाद उन्हें एहसास होता था कि उन्हें भी निम्नस्तरीय समझा जा सकता है। पाश्चात्य संस्कृति में और समाज में शामिल होने का असफल प्रयास करके भी नाकारे जाने पर खोटे सिक्के की तरह

वापस लौटने वाले। उस पराजय को छिपाने के लिए मगरूर, आधी-अधूरी अँग्रेज़ी संस्कृति का आश्रय लेने वाले। मातृभूमि की भाषा, संस्कृति और लोगों से अपरिचित, इसलिए आत्मज्ञान अधूरा। फलस्वरूप जीवन के और विश्व के बारे में भी अज्ञान। इसीलिए दया का पात्र बने हुए। ये युवक और मैं आज तक उसी अधपके वर्ग के बीच उठते-बैठते आये हैं। श्रीधर को अपने आप पर तरस आया। मैंने आज तक इस तरफ़ ध्यान क्यों नहीं दिया ? "दिस इज़ इण्डिया" सच्चाई तो यह है कि मैं इन्हीं लोगों के बीच पैदा हुआ हूँ, पल-पुसकर बड़ा हुआ हूँ। सामान्य से सामान्य लोगों के बीच उठा-बैठा हूँ। कष्ट भी सहे हैं। फिर यह यथार्थ को अनदेखा करना कैसा ? येस ···दिस इज़ इण्डिया ! लोग कितने दयालु और सहनशील होते हैं।

शायद श्रीधर के मुँह से कुछ शब्द निकल गये थे क्योंकि सामने बैठकर इण्डिया टुडे पढ़ने वाले आदमी ने चौंककर उसकी तरफ देखा। श्रीधर को अपने पागलपन पर हँसी आयी। उसे देखकर फिर उस आदमी ने 'इण्डिया टुडे' में आँखें गड़ायीं। श्रीधर फिर काफी देर तक अकारण ही खुद से मुस्कराता रहा। उपनगरीय रेल तेज़ रफ्तार से चल रही थी और वह हँस रहा था। क्या यह पागलपन की शुरुआत तो नहीं थी ? या अपने पिंजड़े को तोड़कर खुले आकाश में उड़ान भरने का हर्ष ?

उसे बहुत खुला-खुला और मुक्त लगने लगा था। जैसे सब बन्धन टूट गये थे, सब ऊपरी उपचार उतारकर फेंक दिये थे। इतना मुक्त लग रहा था कि अब शरीर से सारे कपड़े उतारकर फेंकने का और डिब्बे में नंग-धड़ंग बनकर नाचने का मन हो रहा था। लेकिन यह भी सच था कि श्रीधर पागल नहीं हुआ था इसीलिए वह अपनी स्वतन्त्रता के मुक्त प्रदर्शन से खुद को रोक सकता था। और फिर यह स्वतन्त्रता की भावना कितनी क्षणभंगुर है, यह भी वह अच्छी तरह जानता था। क्योंकि व्यक्तिगत बन्धनमुक्ति से वह भले ही उल्लसित हो रहा हो, लेकिन उसके मन को कुरेदने वाली, मन को विवर्ण करने वाली वह बेचैनी की जानलेवा वेदना अब और भी अधिक पीड़ा दे रही थी। बन्धन तोड़कर वह जीवन के कुछ अनचाहे अक्षर मिटा भले ही दे, लेकिन उससे भी पुरानी उस सनातन वेदना से वह कैसे मुक्त हो सकता था ?

उस बेचैनी की वेदना का इलाज़ करने के लिए पहला आवश्यक क़दम था स्वतन्त्रता···लेकिन सच, यह बेचैनी, यह साँस लेना मुश्किल कर देनेवाली अस्वस्थता आती कहाँ से है ? इस डिब्बे में बैठकर यह जो अन्य यात्री सफ़र कर रहे हैं, क्या इन्होंने कभी यह अनुभव किया है ? दरअसल, हर कोई इससे अनजान है। कदाचित् यह मेरी अप्रगल्भता, मूर्खता या बचकानेपन का लक्षण है। लेकिन कभी न भुलाने वाली यह गहरी बेचैनी मेरे सिर पर हमेशा के लिए सवार हो चुकी है···

श्रीधर को अच्छी तरह याद है, तब से यानी कि जब से उसे बचपन में कुछ

समझ आ गयी थी, तब से यह बेचैनी साये की तरह उसका पीछा कर रही है। बड़े होने पर आनेवाली परिपक्वता के सहारे उसने इस साये से पीछा छुड़ाने की भरसक कोशिश की है। लेकिन उम्र, समझ, शिक्षा और ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता गया, उसी के साथ-साथ इस साये की गहराई बढ़ती गयी और बेचैनी की वेदना भी। मन में उठनेवाले पीड़ादायक प्रश्न अधिकाधिक सरल और उसी की वजह से और भी गहरे और जटिल बनते जा रहे हैं।

श्रीधर के पिता रेलवे में इंजीनियर थे। उनका पूरा जीवन रेलवे के पुल और तत्सम चीज़ें बनाने में गया था। धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए वह कार्यकारी अभियन्ता के ओहदे तक पहुँचे थे। हर तीन-चार साल बाद दूसरे, नये स्थान पर तबादला। ज़्यादातर काम पहाड़ी इलाक़ों में हुआ करता था। मनमाड से शुरू होकर भुसावल, खण्डाला, इगतपुरी, दुर्ग, जबलपुर, राँची, मुगलसराय, गोहाटी, कुरसोंग रहते हुए अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर एक जगह से दूसरी जगह जाते हुए उनका अधिकतर जीवन बीता था। इसीलिए श्रीधर का बचपन रेलवे के सान्निध्य में बीता था। सुदूर तक फैले हुए पहाड़ी इलाक़ों में कैम्पस, बड़े-बड़े बँगले, अड़ोस-पड़ोस में रेलवे कर्मचारियों के परिवार और उनके बच्चे।

रात के अँधेरे में रेलवे यार्ड के इंजन की शण्टिंग की वजह से नींद का खुलना, इंजन के सेफ्टी वाल्व से निकलने वाली भाँप का घना धुआँ, उस स्याह काले धुएँ में तैरने वाले कोयले के सूक्ष्म तिनके, माँ-बाप के साथ प्रशस्त सलून में किया हुआ सफ़र और बीच में ही पहियों की गड़गड़ाहट से सलून के अँधेरे में चौंक कर उठ बैठना।

माँ कहती, पहिये चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं—

"किसलिए···पेट के लिए···किसके लिए···पेट के लिए।"

वृन्दा कहती—

"नहीं। किसलिए···खण्डाले के घाट के लिए···"

लेकिन नहीं, श्रीधर को पहियों के कहे हुए आगे के शब्द सुनाई कहाँ पड़ते थे? वह सोचता—यह इंजन का महाकाय रूप पहियों को खींचकर ले जाते हुए आक्रोश करता हुआ पूछता है—

"किसलिए ? किसलिए ? किसलिए ? किसलिए ?"

माँ को उसके प्रश्न का उत्तर भी सुनाई पड़ता था, 'पेट के लिए'। वृन्दा का सोचना कुछ और था। बचपन में उसके क्लास में पढ़ने वाला जगत कहता था—"अरे, उसमें कौन-सी ख़ास बात है, उत्तर वही होता है जो हम सोचते हैं—देखो, चाहो तो कह सकते हो, किसलिए ? मेरे लिए···किसलिए ?···तेरे लिए··· ···किसलिए ? माँ के लिए··· किसलिए ? देश के लिए। है न ? यही सुनाई देता है न ? लेकिन

नहीं। श्रीधर के लिए वह पहिये हरपल वेहोश आर्तता से एक ही सवाल बार-वार दोहरा रहे थे, और उनका उत्तर ढूँढ़ने के लिए बेतहाशा दौड़ रहे थे—

"किसलिए··किसलिए··किसलिए··किसलिए···"

कमाल की वात तो यह है कि अभी भी उन पहियों से कुछ भी जवाब नहीं मिलता। यह प्रश्न अनुत्तरित ही सही, लेकिन अव तक कहाँ थे ? या मैं इतने दिन रेल में नहीं वैठा इसलिए छुपकर कहीं बैठे थे ?

ट्रेन के रुकने और छूटने का भी श्रीधर को पता नहीं था। रात का समय होते हुए भी ट्रेन खचाखच भरी हुई थी। वह शायद 'फास्ट ट्रेन' थी। दिन भर की मेहनत के वाद थके-माँदे लोग अब विश्राम के लिए घर लौट रहे थे। किसी की आँखों में नींद भर आयी थी और कोई सोया हुआ था। कोई गप्पें हाँक रहा था तो कोई पढ़ रहा था। कोई झगड़ रहा था तो कोई युगल खुलेआम प्रणयलीला में मगन था। थकान भरे चेहरे और बोझिल नज़रें, और एक के वाद एक स्टेशन पीछे छोड़ते हुए पटरी पर दौड़नेवाले पहिये—इन सवको, तमाम दुनिया को चीख-चीखकर सवाल कर रहे थे—

"किसलिए··किसलिए··किसलिए··किसलिए···"

गाड़ी का डिव्वा खचाखच भरा हुआ था। खिसकते-खिसकते श्रीधर खिड़की के पास वाली सीट पर आ गया। बरसात के रुकने के वाद किसी ने खिड़की खोल दी थी। अब वाहर से आने वाली ठण्डी हवा श्रीधर के बदन में चुभने लगी। उस भीड़ में भी श्रीधर का वदन ठण्ड से काँपने लगा। लेकिन वह दोनों हाथ पास खींचकर वैसे ही वैठा रहा। लोगों को पहियों के सवाल शायद सुनाई नहीं दे रहे थे—

"किसलिए··किसलिए··किसलिए··किसलिए···"

ट्रेन तेज़ी से दौड़ रही थी और श्रीधर अपने कपड़ों की आर्द्रता को आज़माते हुए, डिव्वे को देख रहा था और वाहर का अँधेरा भी। प्रश्न पूछना आसान था। उत्तर वह नहीं जानता था। उसे सचमुच पता नहीं था कि ट्रेन कहाँ जा रही थी और न ही उसने किसी से जानने की कोशिश की थी। वम्वई की उपनगरीय गाड़ी में ठण्ड में सिकुड़ते हुए उसे ग्लानियुक्त नींद कब आयी, यह पता ही नहीं चला। उसकी आँख खुली तो वह विलकुल अकेला, उस स्थिर डिव्वे में औंधा पड़ा हुआ था। आसपास सर्वत्र निर्मनुष्य अँधेरा और शान्ति। शारीरिक वेदना की तीव्र लहर उसके सर्वांग से निकल गयी और उसने फिर से आँखें मूँद लीं।

दूसरी वार जव उसकी आँखें खुलीं तो उसे कोई ज़ोर-ज़ोर से हिला रहा था। सुवह हो चुकी थी। इंजन के शण्टिंग की वचपन की याद दिलाने वाली आवाज़ आ रही थी। उग्र दर्प नाक में घुस रहा था। गाड़ी शायद दूर के यार्ड में थी। जागते ही श्रीधर के मन में पहला विचार आया कि शशी को फ़ोन पर इस तरह परेशान

करना नहीं चाहिए था। लोर्ना भी न जाने क्या कहना चाहती थी ?

"ऐ, कहाँ से आये हो···उठो···उठो···"

हाथ में झाड़ू लेकर आया हुआ सफ़ाई कर्मचारी उसे जगा रहा था।

"अरे, देख सँभाल के !" उसके साथ आयी औरत फुसफुसायी, "कोई बड़ा आदमी दिखता है। उसके कपड़े और सूरत देख। खीसा-पॉकिट को हाथ न लगाना···"

श्रीधर उठकर खड़ा हुआ। उसने उन दोनों की तरफ़ कृतज्ञ नज़रों से देखा और वह मुस्कराया।

"बम्बई की अगली गाड़ी अभी चलेगी साहब···" वह कर्मचारी सलाम करता हुआ बोला, "वह उधर प्लेटफार्म है।"

श्रीधर ने जेब टटोली। बटुवा, घड़ी सब ठीक-ठाक था। उसने दस-दस रुपये दोनों को दिये और कूदकर वह गाड़ी से बाहर निकला। वह दोनों अब भी प्रश्नार्थक भाव से उसे घूर रहे थे।

"कुछ नहीं···कल ज़रा ज़्यादा ही पी थी।" श्रीधर ने कह दिया और वह चल पड़ा। बम्बई की पश्चिम उपनगरीय रेलवे का वह अन्तिम स्थानक था—विरार। अभी सूर्योदय नहीं हुआ था। एक उपनगरीय गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर लग रही थी। दो-तीन यार्ड में खड़ी थीं। एक मालगाड़ी की शण्टिंग चल रही थी। स्टेशन पर कुछ खास भीड़ नहीं थी। पूरब में दूर तक पर्वत नज़र आ रहे थे।

विना कुछ सोचे-समझे श्रीधर जाकर उस ट्रेन में बैठ गया। पहले उसमें बिलकुल भीड़ नहीं थी। लेकिन बाद में जल्दी-जल्दी लोग आने लगे। जैसे कि उनमें से हर किसी ने ट्रेन से अपाइण्टमेण्ट ले रखा हो। नौकरी-पेशा, घासवाले, सब्जीवाले, दूधवाले बीच वाली खुली जगह में डेरे डालकर बैठ गये। मछली की टोकरियाँ लेकर आनेवाली मछुआरा महिलाएँ जल्दी-जल्दी अन्दर घुसकर शोर मचाने लगीं। बस, एकाध मिनट में देखते ही देखते ट्रेन में भीड़ हो गयी। श्रीधर पहली बार उपनगरीय रेलवे की यातायात संस्कृति अचम्भित होकर देख रहा था।

गाड़ी का भोंपू बजा और हल्के से धक्का देकर गाड़ी चल पड़ी। उस धक्के से श्रीधर चौंककर जैसे होश में आया। गाड़ी बम्बई जा रही थी। मैं वहाँ क्यों जाऊँ ? फिर वही चर्चगेट, दफ्तर, लोर्ना, चेअरमैन···श्रीधर हड़बड़ाकर वहाँ से उठा, धक्के खाता हुआ जैसे-तैसे दरवाज़े पर पहुँचा। गाड़ी की गति बढ़ रही थी—

"ए···ए···बाबा···क्या कर रहा है···ए।"

एक महिला उसके हालचाल को देखकर चिल्लाने लगी थी। लेकिन श्रीधर ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। गाड़ी की रफ्तार का विचार न करते हुए ही वह नीचे कूद गया। चार-पाँच क़दम लड़खड़ाकर वह नीचे गिर गया। सिर में चोट आयी।

गाड़ी से सफ़र करने वाले अन्य यात्री क्षीण आश्चर्य से उसे देख रहे थे। उस निर्मनुष्य प्लेटफार्म के अन्त में वह अकेला खड़ा रह गया।

श्रीधर अब कुछ भी सोचना नहीं चाहता था। मन और सिर बिलकुल खाली होना चाहिए ···उसने प्लेटफार्म का एक चक्कर काटा और सामने नज़र आने वाले किसी रास्ते पर वह चल पड़ा। अब उसके कपड़े पूरे सूख गये थे। शायद बुखार हो रहा था, सिर में बहुत दर्द हो रहा था। कभी छींक आ जाती थी, वह दिशाहीन स्थिति में बस चला जा रहा था। शरीर को पूरी तरह थकाना था—निर्ममता से। अगल-बगल में बस्ती है या नहीं, कैसे लोग हैं, यातायात है या नहीं, इतना ही नहीं, पाँवों के नीचे रास्ता है या नहीं—इसका तक उसे होश नहीं था। वह खबर भी नहीं रखना चाहता था। रात को वर्षा की वजह से ज़मीन नर्म हो गयी थी। और आसमान साफ़-सुथरा, गहरा नीला था। सूरज निकलकर चमकने लगा था।

न जाने कब, शायद घण्टे-दो-घण्टे बाद, उसी दिन या फिर उसके अगले दिन वह उस भयानक ग्लानि से निकलकर होश में आया, तब भी दिन ही था। शरीर में कोई संवेदना ही नहीं थी और पेट में चूहे दौड़ रहे थे। जूते और पैण्ट कीचड़ से बुरी तरह सने हुए थे। आसपास सब उजाड़ था। बौना जंगल और छोटी-छोटी पहाड़ियों के चढ़ाव-उतार। एक छोटे से झरने के पास बैठकर उसने अंजुरी से पेट भर पानी पी लिया। उसी पानी से शरीर और कपड़े धोकर सिर्फ़ अन्दर के कपड़ों में, वह एक पेड़ से सटकर आराम से बैठ गया। जैसे अब इस दुनिया से उसे कोई लेना-देना नहीं था। पेट में भूख थी और कलाई पर समय और तारीख दिखानेवाली घड़ी। पैण्ट की जेब से निकाले उसके विजिटिंग कार्ड थे और डाईनर्स कार्ड, अपाइण्टमेण्ट्स की छोटी-सी डायरी थी। श्रीधर ने घड़ी समेत वह सब चीज़ें सामने बहते हुए झरने में फेंक दी। रह गये थे सिर्फ़ बटुवा, पेन और पहने हुए कपड़े। आख़िर मनुष्य की आवश्यकताएँ कितनी होती हैं ! उसके लिए कितनी ज़मीन चाहिए! सच, यह ऐसा मुक्त अस्तित्व कितना खुला और स्वतन्त्र है ! लेकिन दफ्तर, जिम्मेदारियाँ—क्या यह पलायन तो नहीं है···

श्रीधर ने गरदन हिलाकर उन ख्यालों को झटक दिया। फिर से उसे उन विचारों के दुष्ट भँवर में नहीं फँसना था। मन स्वच्छ और विचारमुक्त रखना था।

काफी देर बाद जब वह ग्लानि से फिर जागा तो शाम होने लगी थी। धूप से शरीर सूखकर लकड़ी जैसा हो गया था और कपड़े भी सूख गये थे। अब भूख की पीड़ा असह्य होने लगी थी। कुछ तो करना चाहिए था क्योंकि भुखमरी से वह मरना नहीं चाहता था। आकाश में सायंकाल के पक्षी मँडरा रहे थे। अभी-अभी सूर्यास्त हुआ था। आसपास मनुष्य बस्ती का कोई चिह्न नहीं था। उसने अनुमान लगाने की कोशिश की। लेकिन वह असम्भव था। विरार बम्बई से बहुत दूर तो नहीं था।

यह जगह ठाणा ज़िले के अन्दर ही थी। वहुत दूर से कहीं ट्रेन के गुज़रने की आवाज़ आ रही थी। भूख का कुछ इन्तज़ाम करना था। यह कितनी सीधी-सादी और समाधानकारक स्थिति थी।

श्रीधर उठा। उसने सूखे कपड़े पहने। मोजे और जूते भी और वह पल-पल बढ़ते हुए अँधेरे में चलने लगा।

काला आकाश जव तारों से उजला हो गया तो जंगल में दूर कहीं श्रीधर को टिमटिमाते दीये दिखाई पड़े। दूर से कहीं कुत्ते के भौंकने की आवाज़ आ रही थी। वह लड़खड़ाता हुआ उस दिशा में चलने लगा। चाँदनी की रोशनी में आसपास की चीज़ों को देखने का अभ्यास कई दिनों से छूट गया था। उसे वहुत सँभलकर चलना पड़ रहा था। उस स्थिति में भी तारोंभरा आकाश देखने में उसे वहुत आनन्द मिल रहा था। न जाने कितने सालों के बाद वह मर्क्युरी दीयों से अप्रदूषित स्वच्छ, शुद्ध आकाश देख रहा था। समय का तो पता नहीं था। काफी देर चलने के वाद जव वह पहली बत्ती के पास पहुँचा, उसका शक्तिपात हो चुका था। कुत्तों ने भौंक-भौंककर ज़मीन सिर पर उठा ली थी।

"कौन है···कौन है···" कहता हुआ लालटेन लेकर एक लंगोटीधारी आदिवासी झुग्गी से बाहर निकला। तब तक साथ वाली दो-चार झोंपड़ियों से कुछ और पुरुष बाहर आये। उन्होंने डाँट-फटकार कर उन कुत्तों को भगा दिया। गोवर से लिपे-पोते आँगन तक पहुँचते ही श्रीधर धप्प से नीचे वैठ गया। और उसके मुँह से एक ही शब्द निकला—"पानी"।

पन्द्रह मिनट में मामला सुलझ गया। साथ वाले जंगल में पक्षी निरीक्षण के लिए आये एक गुट में श्रीधर भी था। जंगल में राह भूलकर भटकते-भटकते वह वहाँ आ गया था। यह उसका स्पष्टीकरण उन सीधे-सरल लोगों को बिलकुल ठीक लगा। आधा घण्टा में बाजरे की रोटी और प्याज की सब्जी उसके सामने आयी। श्रीधर ने अकाल पीड़ित की तरह जितना हो सकता था, उतना खा लिया। उसके लिए आँगन में खटिया का प्रबन्ध हुआ और कम्बल का भी। कान में गुनगुनाते मच्छर और सिरपर फैला विस्तीर्ण सितारोंभरा आकाश। श्रीधर ने उस मुक्त हवा में लम्बी साँस ली, ऐसा आकाश वह पहले भी कई बार देख चुका था। बचपन में बाबा के साथ जंगलों के कैम्पों के खुले आँगन में, आकाश में आँखें गड़ाकर घण्टों तक सितारे गिनते रहना उसे अच्छा लगता था। पुणे के सिंहगढ़ के परिसर में भ्रमण करते हुए, उसके बाद शशी के साथ। एक बार यों ही विश्वम्भर के साथ आदिवासी आन्दोलन में शामिल होने के लिए धुले ज़िले के सतपुड़ा पर्वत के किसी भी नक्शे में न दिखाई गयी मोती खेत नाम की पहाड़ी पर बसी आदिवासी बस्ती में वह ऐसा ही कुटिया से बाहर सोया हुआ था, तब भी सिर पर ऐसे ही आकाश था। श्रीधर

को गहरी नींद आयी। भोर में किसी से कुछ कहे, वहाँ से चलते वक़्त उसने खटिया पर दस का नोट रख छोड़ा।

इसी तरह वह न जाने कितने दिन तक भटकता रहा। दिन भर जंगल में भटकते रहना— आगे-आगे चलते जाना—जहाँ तक हो सके पक्की सड़क को टालना—रात को ऐसी ही किसी आदिवासी वस्ती में दाखिल होना—वस्ती न मिले तो पत्थर पर सिर रखकर कहीं लेट जाना और भोर होते ही फिर आगे चल पड़ना। कहीं कुछ खाने के लिए मिले तो खा लेना, या फिर वैसे ही सो जाना—श्रीधर जैसे सम्मोहित होकर निरुद्देश्य, दिशाहीन भटक रहा था। सिर में विचारों का यन्त्र उसने बन्द कर डाला था। रात्रि का आकाश अव सुपरिचित हो चुका था। जंगल का भी अभ्यास हो चुका था। पशु-पक्षियों का तनिक भी डर नहीं लगता था। लगातार दो-तीन दिन खाने के लिए कुछ भी न मिलने की स्थिति में वह थक जाता था। उसके जूते घिसकर फटने लगे थे। कपड़ों को कई वार धोने के वाद भी उन पर मैल का पुट चढ़ गया था। दाढ़ी वढ़ रही थी।

एक रात दूर नज़र आनेवाले दीयों की वस्ती की तरफ़ देखते हुए उसे और दूर पर प्रकाश का एक तेजस्वी अंश दिखाई दिया। वह हिल रहा था, श्रीधर ऊँचाई पर खड़ा था। पह फौरन भाँप गया कि वह रोशनी का अंश रेल का इंजन है। पटरी से रेल गुजर रही थी। इस दृश्य ने उसे विचारहीन अवस्था से अचानक जगा दिया। वचपन से सँजोया हुआ हिमालय का आकर्षण अचानक जाग उठा। और उसे लगा—अरे, मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ ? मुझे तो इस समय हिमालय में होना चाहिए। उसने हिमालय के कई रूप देखे हैं। वचपन के तीन-चार साल उसने हिमालय की गोद में विताये थे। उस वक़्त भी वह हिमालय से काफी प्रभावित हुआ था। हिमालय में घूमने के उसने कई वार सपने देखे हैं। तो फिर अव यहाँ क्या कर रहा था ?

श्रीधर ने लम्वी साँस ली। उसके शरीर में उत्साह का संचार हुआ और तेज़ी से वह रेल की पटरियों तक पहुँचने के लिए रास्ता ढूँढ़ने लगा। उसे कोई जल्दी नहीं थी। वह दिशा जानता था। और हिमालय का अनामिक आकर्षण तो था ही…जो युगों-युगों से उसकी रगों में दौड़ता रहा था।

रात खत्म होते हुए उसे रेल की पटरी मिली। कुछ देर वाद स्टेशन भी। जो भी गाड़ी वहाँ से मिली, वह उसी में बैठ गया। आसपास जो भी था उससे वेखवर…उसको नशा हो गया था, उस वेहोश करने वाली लय का।

"किसलिए…किसलिए…किसलिए…किसलिए…"

चार

"किसलिए''क़िसलिए''किसलिए''किसलिए''''

ट्रेन के शौचालय में कानों को चेतनाशून्य करनेवाली कर्कशता से वही खड़खड़ाहट सुनाई दे रही थी और सामने जो धूमिल, गन्दा-सा शीशा था, उससे पीली मद्धिम रोशनी में एक अपरिचित व्यक्ति कुछ आश्चर्य से और जिज्ञासा से श्रीधर की ओर टकटकी लगाकर देख रहा था।

उसके गोल गालों पर और ठुड्डी पर दाढ़ी बढ़ने लगी थी। सिर पर जो घने बाल थे, वे अस्त-व्यस्त हो चुके थे। थकी हुई आँखों में लाली की झलक थी। सीधी नाक और किंचित् टेढ़ी भौंहें—उसके चेहरे को मर्दानी सुन्दरता दे रही थीं।

श्रीधर ने मुस्कराकर पूछा, "तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

उसने भी मुस्कराकर पूछा, "मैं भी तुमसे यही पूछने वाला था। कौन हो तुम ? और यहाँ क्या कर रहे हो ?"

अब श्रीधर थोड़ा-सा सकपकाया।

वह आदमी महाचालाक लग रहा था। इस तरह के मूलभूत प्रश्न करके उसने उसे अवाक् कर दिया था।

लेकिन श्रीधर ने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं। पहले कठिन प्रश्न को उसने अनसुना कर दिया और दूसरे प्रश्न का रुख सफ़ाई से बदलते हुए उसने कहा, "क्या कर रहा हूँ ! दिखाई नहीं देता ! यह शौचालय है।"

अब वह आदमी ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा। फिर श्रीधर को याद आया, यही प्रसंग उसके जीवन में पहले भी कई बार आ चुका है। ट्रेन के सलून के बाथरूम में बचपन में उसे शीशे में ऐसा ही एक अपरिचित लड़का उससे मिलता था, और उससे पूछता था, "हाय श्रीधर, कैसे हो तुम ?"

फिर श्रीधर के साथ उसकी काफी लम्बी-चौड़ी बात होती। माँ बाहर से चिल्लाती, "क्या कर रहे हो अन्दर इतनी देर से ?"

बाद में फिर स्कूल की छुट्टियों में पुणे से जहाँ भी बाबा का घर हुआ करता था, उस शहर आते समय भी रेल के लम्बे सफ़र में वह उसका हमउम्र लड़का न जाने कहाँ से उससे पूछने लगता—

"हाय श्रीधर, कहाँ जा रहे हो ? तुम खुश हो ?"

श्रीधर अब तक जान चुका था कि ये प्रश्न बहुत कठिन हैं और उनके उत्तर देना आसान नहीं है। जब गाड़ी के पहिये गला फाड़कर 'किसलिए''किसलिए''?' की धुन लगा रहे हों तो 'क्या तुम सुखी हो ?' जैसे प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जा

सकता है ! और अकेले दूर की यात्रा करते हुए छोटे श्रीधर के मन में उठनेवाली अज़ीव-सी वेचैनी—त्रिशंकु जैसी कहीं का भी न होने वाली अवस्था । वृन्दा के होते हुए, ऐसा कायम शून्य स्थान में रहने का एहसास दिलानेवाली वेचैनी की स्थिति हरगिज़ नहीं थी। वृन्दा चली गयी, और फिर धीरे-धीरे यह वेचैनी आने लगी। किसी के हमारे ज़िन्दगी से उठकर चले जाने का पहला कटु अनुभव वृन्दा ने दिया। मैट्रिक की परीक्षा के वाद वह घर पर थी। उन दिनों श्रीधर अपने पिता के साथ हिमाचल प्रदेश के किसी कैम्प में था। छुट्टियाँ खत्म होने पर उसके पिता उसको पुणे के कॉलिज में दाखिल कराने वाले थे। छुट्टियों में श्रीधर और वह काफी मौज-मस्ती करते थे। एक दिन वृन्दा को तेज़ बुखार चढ़ा और वह बिस्तरे से उठी ही नहीं। कैम्प के डॉक्टर ने जो भी दवाइयाँ दीं, उनसे कोई आराम न मिला। आखिर पिताजी ने एम्बुलेंस वुलाकर उसे अस्पताल में भर्ती कराने का इन्तज़ाम किया। लेकिन एम्वुलेंस के दरवाज़े पर खड़े होते ही उधर वृन्दा ने दम तोड़ दिया। उसकी मौत के वारे में श्रीधर को काफी देर बाद पता चला, लेकिन पता चलने के वाद जो उदास शून्यावस्था आ गयी थी, उसका कोई नाम न था। क्या हो सकता है प्रश्न का उत्तर ? स्वास्थ्य उत्तम है, शरीर में जोश है, खाने-पीने की कोई कमी नहीं है, किसी चीज़ की कोई कसर नहीं है, क्या इसका अर्थ यह है कि मैं खुश हूँ, सुखी हूँ ? फिर से भयानक खालीपन मुझे क्यों खाये जा रहा है ? उस हमउम्र लड़के के प्रश्न का भी उत्तर श्रीधर उससे नज़रें मिलाकर दे नहीं सकता था। फिर वह लड़का कडुवाहट भरी हँसी हँसता था। और कौन हो तुम ? इस प्रश्न का उत्तर हो भी क्या सकता था! श्रीधर को वह अब भी पता नहीं था। मैं 'मैं हूँ' जैसे उत्तर से तो वह गुरुघण्टाल मानने वाला नहीं था। 'मैं श्रीधर हूँ' जैसा उत्तर निरर्थक है। इसलिए किसी को भी असल में 'मैं कौन हूँ' इसका बोध हो ही नहीं सकता। मुझे भी अपने वारे में कुछ पता नहीं चलेगा। श्रीधर कौन है ? एक उच्चविद्याविभूषित, अत्यन्त सफल, तेजतर्रार व्यावसायिक प्रशासक। इतना ही काफी नहीं है। युवा, तेज़ी से उभरता हुआ, उद्योग व्यवसाय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान वनानेवाला, लोकप्रिय सितारा—राक्षसी आकांक्षाओं वाला। जिसकी सह्याद्रि कार्पोरेशन ने चार कम्पनियों को कच्चा चवा लिया था, उसके कर्मचारियों का कर्दनकाल, पंचतारांकित पार्टियों में सबको आकर्षित करने वाला मेहमान या मेजवान, अभ्यासू, विद्वान, चंचल, रसिक, निर्दय लेकिन फिर भी यह वर्णन कितना अधूरा है। शशी की नज़रों में श्रीधर क्या है और खन्ना की दृष्टि में ? चेयरमैन की दृष्टि में, लोर्ना की दृष्टि में, उसके सहकर्मियों की दृष्टि में, जगत की दृष्टि में और विश्वम्भर की दृष्टि में ? उसकी अपनी नज़रों में श्रीधर कौन है ? मैं कौन हूँ ? श्रीधर मुस्कराया। उसने उपनिषद पढ़े थे, कृष्णमूर्ति के भाषण सुने थे। गीता पढ़ी थी। लेकिन उसको सन्तोष नहीं

हुआ था। फिर वह शीशे में दिखाई देने वाले को कैसे सन्तुष्ट करता ? श्रीधर को उससे ज़्यादा ही अक्लमन्द बनने वाले उस आदमी पर गुस्सा आया।

उसकी तरफ तुच्छता का कटाक्ष फेंककर वह दरवाज़ा खोलकर बाहर निकला और डिब्बे में आ गया। दूसरी श्रेणी के अनारक्षित डिब्बे में पैर तक रखने की जगह नहीं थी। उस भरे डिब्बे में जैसे-तैसे वह अपनी जगह तक आ पहुँचा। उसकी जगह दरवाज़े के बिल्कुल साथ में थी और पूरी यात्रा में एक दाढ़ी वाला भिखारी उसकी गोद में गरदन रख कर ऊँघ रहा था, श्रीधर को कोई आपत्ति नहीं थी, उसने अपने पाँव फैलाकर उस भिखारी को और जगह दे दी।

सारा डिब्बा उस वक़्त गहरी नींद सो रहा था। कोई ज़मीन पर, कोई दरवाज़े पर तो कोई बीच वाले पैसेज में। वर्थ पर और सीट पर वैठे लोग भी अपनी-अपनी जगह पर ऊँघ रहे थे। गाड़ी के वदले हुए ताल पर श्रीधर ने खुद से पूछा, "यह क्या है ? मैं दुनिया को पीछे छोड़कर कहाँ जा रहा हूँ ? मैं क्या चाहता हूँ ?"

पहियों ने उसका प्रश्न अपनी लय में शामिल कर लिया—मैं कहाँ चला हूँ? कहाँ चला ···कहाँ चला···कहाँ चला···

पाँच

किसलिए··किसलिए··किसलिए··किसलिए ?

यह लय, यह नशा कितने साल पुराना, सम्मोहित करनेवाला और कितने गहरे और भयावह अनुभव इस नशे के साथ जुड़े हुए होते हैं।

यह कब की वात है ? नौवीं कक्षा में पढ़ते समय दीवाली की छुट्टी में वह घर लौट रहा था। पुणे से मनमाड, वहाँ से नागपुर, इसी तरह गाड़ियाँ बदलते हुए रेल-यात्रा का वह अभ्यस्त हो चुका था क्योंकि हर स्टेशन पर उसकी पूछताछ करने स्वयं स्टेशन मास्टर आते थे, उसकी हर ज़रूरत का ध्यान रखते थे, कण्डक्टर खाने का प्रवन्ध कर देता और उसका ख्याल रखता था।

राँची से एक और गाड़ी वदलकर वह व्याकुल शाम के वक़्त एक छोटे से स्टेशन पर उतरा था। यह बात 18-19 वर्ष पहले की है। माँ का देहान्त हुए दो ही महीने हुए थे।

वह लम्बी यात्रा। अँधेरी रात में छोटे-छोटे गाँवों के अँधियारे प्लेटफार्म, स्टेशन

पर सुनाई देने वाली रात की फुसफुसाहट, अलग-अलग स्टेशन के नाना तरह के दर्प, गाड़ी के डिब्बे में आने वाली सम्मिश्र बास, कोयले की, धुएँ की, यात्रियों के मैले कपड़ों की, खाने की और शौचालय की; इंजन की सीटियाँ और सायरन और बदलने वाली गाड़ियों के पहियों के बदलते प्रश्न—किसलिए··· किसलिए···

और फिर—

कहाँ चला···कहाँ चला···कहाँ चला···कहाँ चला ?

मन में जो जवाब था वह तो पहियों से निकलता ही नहीं था···

"माँ के पास···बाबा के पास··माँ के पास···बाबा के पास ···"

लेकिन इस बार न जाने क्यों वही मनहूस शब्द सुनाई दे रहे थे—

"माँ कहाँ···माँ··कहाँ ? माँ कहाँ··माँ कहाँ ?"

पहिये आक्रोश करते पूछ रहे थे। और नन्हे उदास श्रीधर को उसका उत्तर भी मालूम था। माँ अचानक कैसे चली गयी ! वह दुखी थी। हमेशा अकेली और उदास। बाबा कभी दौरे पर और दिन-रात काम में लगे हुए। बाबा एक उच्चस्तर के इंजीनियर थे। उनकी काम के साथ लगन पागल करने वाली थी। बननेवाला हर पुल, कल्व्हर्ट या रास्ता सर्वोत्कृष्ट ही होना चाहिए, यह उनका आग्रह हुआ करता था। उसके लिए वह प्राणों की बाजी लगाने के लिए भी तैयार रहते थे। बाबा स्वभाव से कठोर तो नहीं थे। यह भी नहीं कि वह परिवार वालों से प्रेम नहीं करते थे लेकिन उन्हें घर की अपेक्षा काम से अधिक लगाव था। वृन्दा के जाने के बाद तो माँ और भी अकेली और उदास हो गयी थी। और श्रीधर ? वह भी अकेला था। लेकिन उसको भी माँ के लिए खिंचाव जैसा आकर्षण नहीं था। क्यों नहीं था ? जब-जब श्रीधर को इस बात का एहसास होता था, वह चौंक जाता था। वह वृन्दा के साथ खेलता था, माँ की उसे ज़रूरत थी, उसके बिना उसे चैन नहीं आता था। बाबा का वह आदर करता था। बस, इतना ही। लेकिन आगे भी उसे किसके साथ लगाव था ? उसने किससे प्यार किया था ? शशी से ? नहीं। अगर शशी से प्रेम होता तो क्या वह भयानक शोकान्तिका होती ? कॉलेज में किसी गहन विषय की चर्चा के दौरान प्रोफेसर शास्त्री ने उससे बीच में अचानक पूछा था, श्रीधर क्या तुमने किसी से प्रेम किया है ? श्रीधर इस सवाल से हड़बड़ा गया था, अवाक् रह गया था।

"माँ कहाँ···माँ कहाँ···?" वह छोटी-सी पहाड़ी रेल घाटी में ऊपर चढ़ रही थी "माँ कहाँ, माँ कहाँ ?···"

गाड़ी ऊँचे पहाड़ों के पुलों से गुज़रते वक़्त होने वाली खड़खड़ाहट और टनेल में से जाते हुए उत्पन्न होने वाला शोर···

प्लेटफार्म पूरा का पूरा खुला और वीरान। पटरियों की संकरी लाइन घूमकर

अब उतार की तरफ़ बढ़ रही थी। स्टेशन ऊँचाई पर होने की वजह से आकाश और भी विशाल। सूर्यास्त कब का हो चुका था। श्यामल आकाश की हल्की लालिमा की किनारी। कुछ छितरे हुए बादल और धूमिल चाँदनी। ठण्डी हवा आयी।

उसके डिब्बे का कण्डक्टर श्रीधर का सामान लेकर नीचे उतरा और उसके पीछे-पीछे श्रीधर भी। श्रीधर का गला रुँध गया। उस पूरे प्लेटफार्म पर बस एक आदमी हाथ में लालटेन लेकर खड़ा था। श्रीधर के ट्रेन से उतरते ही वह दौड़कर उसके पास चला आया।

"श्रीधर बाबा क्या ?" पूछकर उसने उसका सामान उठा लिया। कण्डक्टर को विदा दी और जेब से सीटी निकाल कर ज़ोर से फूँक दी। भाप छोड़ता हुआ गाड़ी का इंजन धीरे-धीरे आगे बढ़कर घाटी उतरने लगा।

उसके आँखों से ओझल होने तक वह स्टेशन मास्टर लालटेन दिखाता खड़ा रहा और बगल में खड़ा श्रीधर उस शाम की उदास बेचैनी में आकण्ठ डूबा हुआ था और गले में फँसा जो कुछ था उसे बाहर आने से रोक रहा था।

बाबा आते तो अच्छा लगता, कम-से-कम इतना उदास तो नहीं होता। वह क्यों नहीं आये ?—माँ तो खैर अब कभी नहीं आएगी। वृन्दा को मरते हुए देखा। माँ कैसे मरी होगी ? रामी अब कहाँ होगी ? माँ कितनी अकेली थी। श्रीधर को लगा जैसे उससे कोई अपराध हो गया हो, उसका गला और भी रुँध गया। उस निर्जन स्टेशन की स्याह-श्यामल छाया ने उसकी उदासी और भी गहरी कर दी।

"चलो, बाबा···" स्टेशन मास्टर उसका बैग उठाकर बोला, और बीच-बीच में उसके बालों पर हाथ फेरता हुआ बोला, "बड़े इंजीनियर साब इन्सपेक्शन के लिए गये हैं लेकिन तुम फिकर न करो। किसी-न-किसी को वह तुम्हें लिवाने भेज ही देंगे। तब तक तुम मेरे पास रहो···नाश्ता-पानी कर लो···"

अँधेरे प्लेटफार्म के आखीर में दूर कहीं स्टेशन मास्टर का घर। रेलवे का क्वार्टर और आँगन में खड़ी स्टेशन मास्टर की पत्नी।

"उई माँ, कितना छोटा है बेचारा···बिन माँ का बच्चा···आ बेटा !"

श्रीधर को वह अपने घर के अन्दर ले गयी। प्रेम से उसको खिलाया-पिलाया। बड़ी वत्सलता से वह उसे देख रही थी, उसके बालों पर हाथ फेर रही थी। श्रीधर ने उसे कभी देखा नहीं था, क्योंकि बाबा के इस कैम्प पर वह पहले कभी आया नहीं था। पिछले दो साल से माँ बीमार चल रही थी। श्रीधर छुट्टियों में उससे और रामी से मिल आया था। बीमारियों में माँ अकेली ही रही होगी। हो सकता है यह औरत भी रामी के साथ उसकी सेवा करती रही होगी। बीच में ही कभी-कभी माँ के बारे में बोलते हुए उसका गला भर आता था और आँखों में आँसू भर आते थे, पल्लू से पोंछती हुई वह कहती, "देवी थी···वह देवी···बेचारी अकेली चली

गयी"सुख न मिला। क्या बताऊँ बेटे"तुम्हारी माँ हम सब की माँ थी। कोई मर्द अगर ज़्यादा पीने लग जाय तो उसकी औरत तुम्हारी माँ के पास पहुँच जाती थी। तुम्हारी माँ ऐसे आदमी को करारी झाड़ देती थी। चाहे औरत हो या मर्द, किसी की क्या मज़ाल थी जो तुम्हारी माँ के सामने कुछ मुँह से कहता। सबकी दु:ख-परेशानी में तुम्हारी माँ का आसरा। चली गयी बेचारी। दु:खी थी। इतनी अच्छी औरत"देखो जी, फूल-सा यह बच्चा, कैसा मुँह हो गया है बेचारे का ! बिन माँ का बच्चा। खा बेटा"दूध पीएगा ? नहीं"तो ये मिठाई खा ले "खा ले मेरे बच्चे। वहाँ क्या करोगे कैम्प में ? अब तो माँ भी नहीं है। क्यों जी इंजीनियर साब नहीं आये ? देखो न कहीं जीप नज़र आती है तो।"

श्रीधर ने कुछ भी नहीं कहा। वह गुमसुम था। उस औरत के इतना कुछ कहते हुए भी, उससे जवाब में कुछ न कहते बना। गला रुँधा हुआ था, इसलिए खाना भी मुश्किल था। बाबा आये ही नहीं। ताँगा लेकर जब उसे कैम्प लिवाने के लिए कोई आया था तब उसकी आँखों में नींद भरी हुई थी।

"और उस अँधेरी उदास रात में ऊबड़-खाबड़ रास्ते से वह ताँगे की सवारी। रास्ता शायद तीन-चार मील का था लेकिन श्रीधर को वह अब भी अच्छी तरह याद है। सैकड़ों मीलों का, युगों से चलता आया वह अँधेरे का सफ़र। नींद से भारी आँखों से श्रीधर आगे ताँगेवाले के पास बैठा हुआ था। पीछे रखा सामान और घोड़े की दुडकनी चाल। रास्ते में कई मोड़। चाँदनी में अस्पष्ट नज़र आनेवाले पहाड़। जहाँ बहुत चढ़ाव या ढलान रहती थी, वहाँ ताँगेवाला नीचे उतरकर चलने लगता। उस मद्धिम रोशनी में ताँगेवाले का चेहरा ठीक से नज़र भी नहीं आ रहा था। उस गहरी शान्ति में सिर्फ़ ताँगे की आवाज़ आ रही थी।

एक मोड़ पर रेलवे का फाटक बन्द था। ताँगा खड़ा रहा। बाहर घना अँधेरा और रात के कीड़ों की आवाज़।

"कितना समय है अभी गाड़ी के आने में ?"

"बस, आती ही होगी !"

ताँगेवाले ने गेटकीपर को आवाज़ दी। लेकिन कोई जवाब नहीं मिला। पूरी सड़क पर सिर्फ़ तीन ही प्राणी थे—श्रीधर, ताँगेवाला और उसका घोड़ा। श्रीधर की आँखें बार-बार बन्द हो रही थीं फिर भी वह जागृत रहने की कोशिश कर रहा था।

न जाने कितनी देर तक श्रीधर उस नि:स्तब्ध अँधेरे में त्रिशंकु की अवस्था में लटका रहा।

रेलवे फाटक के उस पार हिलने वाले वृक्षों के ऊपरी हिस्से, उन वृक्षों के घने अँधेरे में खो जाने वाली सड़क और पेड़ों के माथे पर चाँदनी से खचाखच भरा आकाश। काल जैसे स्थिर हो गया है।

नन्हे श्रीधर के बदन पर गूढ़ अस्वस्थता की एक भारी लहर आ पड़ी और उसकी नींद उड़ गयी। उसके बदन पर रोंगटे खड़े हो गये। यह डर नहीं था, बेचैनी थी। दूर से कहीं इंजन की सीटी सुनाई दी और मुड़-मुड़कर आनेवाली गाड़ी की रोशनी अँधेरे को चीरती हुई, बीच में कभी अदृश्य होकर फिर से उजागर होती हुई पास आने लगी। फिर इंजन की आवाज़। देखते-ही-देखते पटरियों से धीरे-धीरे खिसकता इंजन फस्स्…फुस्स् आवाज़ करता, उस जंगल की ठण्ड पर उष्णता के फव्वारे छोड़ता फाटक से आगे निकल गया और पीछे के डिब्बे गड़गड़ाते हुए जाने लगे।

"किसलिए…किसलिए ?"

"कहाँ चला…कहाँ चला…?"

और

"कौन तू…कौन तू ?"

कुछ क्षणों के लिए उस कोलाहल से सारा वातावरण हिलकर रह गया और ट्रेन के ओझल होने के बाद फिर उस सन्नाटे ने सृष्टि को घेर लिया।

मन्त्रमुग्ध होकर श्रीधर उस गाड़ी को देख रहा था, वह जैसे नींद से जाग गया।

गाड़ी के जाने के बाद भी कुछ देर तक कोई हलचल नहीं थी। श्रीधर ने मोटा स्वैटर पहन रखा था फिर भी उसे ठण्ड लग रही थी।

मैं कहाँ जा रहा हूँ ? मैं कहाँ हूँ ? यह कौन-सी अनजान जगह है और अजीब-सी दुनिया ? और मैं जहाँ जा रहा हूँ, वहाँ माँ कहाँ है ?

श्रीधर के सीने से ठण्डी, लम्बी आह निकली। उस अँधेरे जंगल का अजीब-सा गूढ़ तनाव वह अनुभव कर रहा था। माँ नहीं है। रामी क्यों नहीं आयी ? कम-से-कम बाबा को तो आना था, जिससे वह इस असह्य बेचैनी से तो बचता। श्रीधर को रुलाई छूट रही थी। बड़ी मुश्किल से उसने अपने आपको सँभाला। वैसे तो इस अँधेरे में वह चाहे जितना रो भी ले सकता था, लेकिन नहीं।

"चौकीदार ! ओ चौकीदार…"

कुछ देर बाद ताँगेवाले ने आवाज़ दी। उसका भी कोई उत्तर नहीं मिला। फिर वह बुड़बुड़ाता चौकीदार को ढूँढने के लिए अँधेरे में गुम हो गया। श्रीधर अकेला ही घोड़े के साथ रह गया।

काफी देर बाद ताँगेवाला चौकीदार को लेकर लौटा। फाटक खुला और फिर से यात्रा शुरू हुई।

रात कितनी बीत चुकी है यह जानने का कोई उपाय नहीं था। आगे की रात एक सपने के जैसी थी। उस पूरी, भयानक, स्वप्नवत् रात के स्मरण का एक मजबूत धागा और भी है—उसके गले में अटककर बैठी हुई वह तीव्र वेदनात्मक सिसकी।

वह रोना नहीं चाहता था।

आखिर ताँगा कैम्प पर पहुँच गया। पहाड़ के कठिन हिस्से में एक ऊँचे और बड़े पुल का काम चल रहा था, वहीं नदी किनारे यह कैम्प था। तम्बू और टिन के घर। दूर तक कर्मचारियों की झुग्गियाँ। दोनों तरफ़ पहाड़ से घिरी हुई नदी का पात्र लगभग सूखा पड़ा था। जगह-जगह पर लकड़ियों से आग जलायी गयी थी। एक बड़ी-सी आग की होली के इर्द-गिर्द पन्द्रह-बीस स्त्रियों का झुण्ड कोई लोकगीत गाता हुआ धीमी लय में नाच रहा था। एक ढोलकी वाला उनका साथ दे रहा था।

उस सुरीले, करुण, आर्त गीत ने श्रीधर के मन को छू लिया। वह अनुभव और वह दृश्य श्रीधर के मानस-पटल पर अंकित हो चुका है। वह गीत और वह दर्द-भरा स्वर...श्रीधर के लिए वह अविस्मरणीय है।

किसी ने उसे ताँगे से उतार लिया। एक तम्बू के सामने आग की बगल में उसे नर्म सोफे पर बिठाकर उसके बदन पर गर्म कम्बल डाल दिया था। और हाथ में गरम-गरम चिकन-सूप की एक थाली पकड़ा दी थी। उसके बाबा वहाँ भी नहीं थे। चम्मच से वह सूप पी रहा था और आँखों में भरी नींद को भगाकर सामने चल रहा लयबद्ध नृत्य वह अपलक निहार रहा था। न जाने उन स्वरों ने उसके ऊपर क्या जादू कर दिया था। वह औरतें बार-बार वही दो पंक्तियाँ गा रही थीं, उसी धुन में जिसका नशा उस पर चढ़ रहा था। और उसी नशे में उसे प्रतीत हो रहा था कि उसे काली गहरी खाई में धकेल दिया है। उस गीत की भाषा वह नहीं जानता था। एकाध शब्द कहीं सुना हुआ लगता था। लेकिन उन सुरों से, पदन्यासों से और उन स्त्रियों के अलापने से श्रीधर को उसका अपना अर्थ मिल रहा था और मन-ही-मन वह गीत गुनगुनाने लगा :

> हरे हरे जंगल में री मोर जैसे खो गया
> पीली-पीली धूप में री मन मेरा तरस गया...

उस अन्तहीन रात में बाबा की प्रतीक्षा में, माँ से बिछुड़ा श्रीधर न जाने कितनी देर तक जागता रहा।

बाबा तो आये नहीं। लेकिन उसे उतना ज़रूर याद है कि उन लयबद्ध सुरों से उसके रुँधे हुए गले को कुछ राहत मिली थी।

छह

"किसलिए''किसलिए''अज्ञात की खोज में''किसलिए '''किसलिए''''

गाड़ी की लय बदली। डिब्बे को झटका लगा और श्रीधर की नींद खुल गयी। उस झटके ने उसके विचारयन्त्र को चालना दी। लेकिन अब कोई रुकावट नहीं थी, अब उसके विचारों में तटस्थता आ गयी थी। कितने दिन हो गये दफ्तर को छोड़कर? पता नहीं। लेकिन अव तक दफ्तर में हलचल मची हुई होगी। लोर्ना को जवरदस्त सदमा पहुँचा होगा। वह क्या कहना चाहती थी? वह अवश्य ही कोई ज़रूरी बात होगी। शशी चिन्ता कर रही होगी। शायद चेअरमैन को दिल का दौरा पड़ गया होगा। उनकी और कम्पनी की करोड़ों रुपयों की योजनाएँ श्रीधर पर निर्भर करती थीं। खन्ना ने चैन की साँस ली होगी। कई अधिकारियों ने ऐन मौक़े पर उन्हें छोड़ जाने के लिए उसे कोसा होगा। ज़्यादातर लोगों की नज़रों में यह तो पलायन ही है। लेकिन वह लड़ाई तो मैं लड़ना ही नहीं चाहता था। वल्कि मैं यहाँ तक कैसे पहुँचा, यही आश्चर्य की बात है। यशस्वी, सर्जनशील, उद्योजक—प्रशासक। विश्वम्भर ने एक बार अपनी ज़हरीली स्पष्टता से कहा भी था, "इस व्यवसाय में तुम कभी सफल नहीं हो सकोगे। कुछ देर के लिए तुम्हें लगेगा कि तुम यशस्वी हो लेकिन अन्त में तुम्हें लगेगा कि यह तो तुम्हारी भयानक हार है। क्योंकि तुम्हारा मूल स्वभाव इस कैरियर के विरोध में है।" यह सुनकर श्रीधर को उस समय गुस्सा आया था।

जब विश्वम्भर तक यह खबर पहुँचेगी, वह हौले से मुस्कराएगा। और मन-ही-मन मेरे निर्णय का समर्थन भी करेगा।

और वह बेवक़ूफ़ वर्मा? मरने के बाद उसे पता चला होगा कि उसने व्यर्थ ही इतनी जल्दबाजी की। वर्मा था भी भावुक और अविचारी। जल्दबाज़ी में निर्णय करके फिर पछतानेवाला। एक तो वर्मा ने अपना दिमाग़ उस लुच्चे-लफंगे स्वामी विजयानन्द के पास गिरवी रख छोड़ा था और जब स्वामी ने उसके साथ धोखा किया तो वर्मा भटक गया। श्रीधर उसे बचा सकता था, जैसे उसने उसे पहले भी दो-तीन बार हताहत होने से बचा लिया था। कोई भी गुरु या सत्पुरुष चाहे कितना भी विद्वान् क्यों न हो, वह हमें पूर्ण ज्ञान या समाधान दे नहीं सकता, यह श्रीधर बहुत पहले जान चुका था। लेकिन वह सब वर्मा को समझाना बहुत मुश्किल था। अमीरी और धन्धे की व्याप्ति से उत्पन्न अच्छी-बुरी, योग्य-अयोग्य, पुण्य-पाप की परस्पर विरोधी कल्पनाओं से वर्मा बहुत परेशान हो चुका था। उसे मानसिक और आध्यात्मिक शान्ति की नितान्त आवश्यकता थी। एक गुरु से दूसरे महाराज तक

और एक वावा से दूसरे स्वामी तक वह तितली की तरह आध्यात्मिक चक्कर लगा रहा था। उनके वताये उपाय कर रहा था, उनको दान देने में काफी सारा रुपया लुटा रहा था और इसके वावजूद वह अधिकाधिक अगतिक वनता जा रहा था। असमाधान की सीमा तक पहुँचने के वाद निराशा और उद्विग्नता के भँवर में फँस जाता था। यह नहीं कि उसके सवाल वहुत मूलभूत और जटिल थे। लेकिन उसे सिर्फ़ एक सहारे की ज़रूरत थी। अगर उसे किसी एक प्रामाणिक गुरु का स्थायी आसरा मिलता, तो वर्मा न भटकता। भावुक होते हुए भी वर्मा वुद्धिमान था, और किसी भी वावा का ढोंग समझ लेने में या उसके प्रतिपादन की त्रुटियाँ जान लेने में उसे ज़्यादा देर नहीं लगती थी। वीच-वीच में वह मद्य और जुए का सहारा भी लेता था। लेकिन आखिर उसको आत्मघात का सहारा लेना पड़ा जो निरी मूर्खता ही थी। शायद मैं उसे वचा सकता था। अव वर्मा ज़रूर पछता रहा होगा।

श्रीधर मुस्कराया।

गाड़ी को एक और झटका लगा और उसकी गति धीमी हो गयी। शायद कोई वड़ा स्टेशन आ रहा था। डिब्बे में कुछ लोग अपना सामान समेटकर भीड़ में से मार्ग निकालकर दरवाज़े की तरफ़ वढ़ रहे थे। और वह दाढ़ीवाला गन्दा भिखारी निःशंकता से श्रीधर की गोद में सिर रखकर सोया पड़ा था।

अपना वैग लेकर दरवाज़े पर आये एक आदमी ने एक वार श्रीधर की तरफ़ देखा और फिर उसकी गोद में सिर रखकर सोये उस भिखारी की तरफ़ भी।

उसने कहा, "अजी, यह क्या है ? जगाइए उसे…"

फिर उसी ने उस भिखारी के कन्धे को ज़ोर से खींचा।

"अवे ओ गधे, उठ…साला कैसे सो रहा है…गन्दा…साला…"

लेकिन वह भिखारी इतनी गहरी नींद में सो रहा था कि उस पर इस झटके का कोई असर नहीं हुआ।

"ऊँ…ऊँ," कराहते हुए उसने अपनी दाढ़ी श्रीधर की जंघा में और भी गड़ा दी।

"ए…ए…" करता हुआ वह आदमी भिखारी को हिलाने लगा। "रहने दीजिए…रहने दीजिए वेचारे को…" श्रीधर ने धीरे से कहा, "वह गहरी नींद में सो रहा है।"

उस आदमी ने विचित्र नज़र से श्रीधर की तरफ़ देखा। उसकी तरफ़ देखकर श्रीधर अपनत्व से मुस्कराया।

साथ में वैठा हुआ आदमी वोला, "पागल लगता है।"

"तो क्या हुआ ?"

"अजी इसी से तो यह भिखारी हमारे सिर पर चढ़ जाते हैं और फिर चोरियाँ

करते हैं।"

श्रीधर ने दयालुपन से उस भिखारी को देखा। वह निःशंक होकर और विश्वास के साथ उसकी गोद में सिर रखकर सोया हुआ था। उसके चेहरे पर आत्यन्तिक कष्ट के, कुपोषण और आन्तरिक पीड़ा के गहरे घाव साफ़-साफ़ नज़र आ रहे थे लेकिन उसी के साथ नींद से मिलनेवाला समाधान भी मौजूद था। उसके धूल से सने घने बालों में हाथ फेरने का श्रीधर का मन किया। लेकिन हाथ उठा नहीं। ख्रिस्त, महात्मा गान्धी या बाबा आमटे बनने के लिए मानसिक और आधिभौतिक साहस की आवश्यकता होती है, यही सच है। सिर्फ़ करुणा से कुछ नहीं होता। और करुणा भी उस अपार सागर की तरह चाहिए जिसमें यह सब शारीरिक और मानसिक रुकावटें पूरी तरह घुल जायें।

गाड़ी के रुकने पर काफी सारे लोग उतरे। श्रीधर की तरफ़ देखकर मुस्कराते हुए वह दो आदमी भी उतरे। स्टेशन छोटा था। भीड़ भी नहीं थी। डिब्बा अब थोड़ा खुला लग रहा था क्योंकि दरवाज़े में सोनेवालों की संख्या घट गयी थी। इतने में एक युवा नूतन विवाहित जोड़ी हँसती-खिलखिलाती अन्दर आयी। बैठने की जगह नहीं थी इसलिए वह दोनों खड़े ही रहे। उस लड़की के वदन पर हल्दी के पुट अब भी नज़र आ रहे थे। उसने हाथ में उठाया बक्सा नीचे रखा और पति से कहा, "बैठो, जी !"

श्रीधर के सामने वाली सीट पर सफ़ेद दाढ़ीवाला एक बूढ़ा मुसलमान बैठा हुआ था। रात भर वह माला फेरता रहा था। स्टेशन आते ही जल्दी-जल्दी नीचे उतरकर प्लेटफार्म पर चटाई बिछाकर उसने नमाज़ पढ़ ली थी। गाड़ी शुरू हुई तब माला फेरते हुए आँखें मिचमिचाते हुए श्रीधर की तरफ़ देखकर उसने पूछा, "किधर जा रहे हैं साब ?"

यह तो श्रीधर भी नहीं जानता था। हिमालय की तरफ़...लेकिन कहाँ ? अब इसे क्या बताऊँ ?

"यही मालूम नहीं है, इसीलिए तो जा रहा हूँ।"

बूढ़ा थोड़ा-सा चौंक गया। लेकिन वह समझदार और विचारी लग रहा था। अब सँभलकर उसने पूछा, "कहाँ ?"

"यह मैं नहीं जानता।"

बूढ़ा मुस्कराया। अपना दूसरा हाथ सफ़ेद दाढ़ी पर फेरते हुए उसने कहा, "लगता है बेटा, तुम अपनी राह भूल गये हो..."

"मैं राह जानता ही नहीं चाचा...फिर यह कैसे कहूँ कि भूल गया हूँ ?"

बूढ़े ने क्षणभर के लिए आँखें मूँद लीं और फिर श्रीधर की तरफ़ ममत्व से देखकर बोला, "बेटा, लगता है तुम परेशान हो। तुम अल्ला के क़दमों पर अपने

आपको डाल दो। चाहे कहीं भी हो तुम्हारा अल्ला। मस्जिद में या मंदिर में···अल्ला तुम्हें शान्ति देगा।"

"यह आप कैसे कह सकते हैं ?"

"क्योंकि यही एक रास्ता है, वेटा। अगर उससे भटक जाये तो इंसान राह भूल जाता है। राह मत भूलो···अल्ला के पास रहो।"

श्रीधर क्षणभर के लिए चुप रहा। वह उस सहृदय बूढ़े को दुखाना भी नहीं चाहता था और चुप भी नहीं वैठना चाहता था। उसने कहा, "अल्ला कहाँ होता है, चाचा ?"

"मन्दिर में···मस्जिद में।"

"और अगर वहाँ भी न मिले तो ?"

"ऐसे कैसे कह सकते हो ? श्रद्धालु को वह अवश्य मिलता है। तुम श्रद्धा रखो और खोजते रहो। वह तुम्हें अवश्य मिलेगा। क्योंकि तुम खुद एक नेक और रहमदिल इन्सान नज़र आते हो।" उसकी गोद में सोये भिखारी की तरफ इशारा करते हुए उसने कहा, "वह तुम्हें अवश्य मिलेगा।"

"मैं कोशिश करूँगा···"

श्रीधर उस दयालु वूढ़े का मन दुखाना नहीं चाहता था। वह यह ज़ाहिर नहीं करना चाहता था कि जिस परमेश्वर की वह वूढ़ा वात कर रहा था, उस पर उसका विश्वास ही नहीं है। भगवान पर विश्वास पलायनवाद का सबसे बड़ा मार्ग है।

एक वार अगर उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर का अस्तित्व आप अन्धेपन से स्वीकार कर लेते हैं तो सारी दुनिया, ज़िन्दगी आसान हो जाती है। हर बात अगर परमेश्वर पर छोड़ दी जाए तो कोई भी सवाल करने की गुंजाइश नहीं रहती—आगे के सवाल पूछने की ज़रूरत ही कहाँ है ? विचारों में एक निश्चिन्तता आ जाती है, सुरक्षितता मिलती है। यह वूढ़ा उस निश्चित समाधान से सन्तुष्ट दिखाई दे रहा था। जग की तमाम बातें, अन्याय, दुख और क्रूरता का स्पष्टीकरण परमेश्वर के माध्यम से किया जाता है। लेकिन यह भी सच है कि भगवान पर बिलकुल अविश्वास दिखाकर पूर्ण अश्रद्ध होने के जो परिणाम होते हैं, उनका भी उसने पिछले कुछ वर्षों में विदारकता से अनुभव किया था। लेकिन उसके लिए भी कारण था। भगवान पर श्रद्धा भले ही न हो, अपने मूल्यों पर श्रद्धा होना बहुत आवश्यक है।

श्रीधर ने उस बूढ़े को तो नहीं बताया कि जब वह बहुत ही छोटा था तव से उसे 'परमेश्वर' की संकल्पना का अत्यधिक आकर्षण था। अपने बचपन के न जाने कितने वर्ष उसने उस भोली श्रद्धा में बिताये थे। लेकिन सच तो यह था कि वह श्रद्धा कभी नहीं थी। उस वाल-अवस्था में भी वह कुछ ढूँढ़ रहा था। श्रद्धा की, जिज्ञासा की खोज और परमेश्वर की भी।

सात

जब अच्छी तरह नहाकर, पीठ पर बाल खुले छोड़कर, शुद्ध घी का दीया जलाकर माँ पूजा करने बैठ जाती थी, तो श्रीधर को हवा में फैली हुई सुगन्ध बहुत अच्छी लगती थी। वह गुरुचरित्र का पाठ करती थी। साँझ की वेला में वह उसे रामरक्षा सिखाती। पिता के जल्दी-जल्दी होने वाले तबादलों की वजह से उसका उपनयन मात्र उपचार के रूप में किया गया था। उसके बाद के पूजा-पाठ वगैरह उसने कभी नहीं किये लेकिन गायत्री मन्त्र से वह काफी प्रभावित था।

कर्नाटक के किसी दूर के गाँव में उसके बाबा का तबादला हुआ था। उस गाँव में जो मन्दिर था उससे सुबह-शाम वेदघोष और आरती के बाद मन्त्र जागर सुनाई देता था, उसे उन शब्दों का अर्थ समझ में नहीं आता था, लेकिन उस गूढ़, घन-गम्भीर स्वरों की अमिट छाप उसके मन पर रहती थी।

बाबा का तबादला चाहे कहीं भी हो, श्रीधर के परिवार का सामाजिक स्थान हमेशा उच्चस्तरीय रहता था और उसका कारण उसके पिता का अधिकारी होना ही नहीं था बल्कि यह भी था कि वह ब्राह्मण थे। बाबा से भी उच्च पद पर ब्राह्मणेतर अधिकारी थे लेकिन उनसे बाबा का पलड़ा भारी रहता था। यह बात उसे बहुत रोचक लगती थी। उपनयन संस्कार के बाद जब पण्डित जी ने यह बताया कि अब वह ब्राह्मण बन गया है तो उसने उसका अर्थ पूछा था।

उत्तर में पण्डित जी ने कहा था—"अरे, इसका अर्थ है कि अब तुम्हें ब्राह्मणत्व की दीक्षा मिल गयी। अब तुम कोई भी वैदिक क्रियाकर्म कर सकते हो। अब तुम्हें यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। तुम्हें पितरों का श्राद्ध करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। गायत्री मन्त्र के उच्चारण का अधिकार प्राप्त हो गया है—समझे ?"

उपनयन का उपचार श्रीधर ने बड़ी गम्भीरता से लिया। बड़ों के बहुत कुछ कहने के बावजूद उन बातों पर विश्वास करने का उसका स्वभाव नहीं था लेकिन इस प्रकार के धार्मिक उपचारों में उसकी गहरी दिलचस्पी थी। शुरू के कुछ दिनों में वह इसी वजह से घर के देवी-देवताओं की आत्मीयता से पूजा करता था।

श्रीधर की माँ के आग्रह पर शास्त्रोक्त पद्धति से उसका उपनयन संस्कार हुआ था। मामा के न होने की स्थिति में उसने रेलवे के किसी सिपाही को वहाँ खड़ा कर दिया। मातृभोजन हुआ। मंगलाष्टक गाये गये। 'युव वस्त्राणि' कहकर उसकी कमर में डोरा डालकर रेशम की लंगोटी उसे पहनायी गयी। परिधान करने के लिए शुभ्र वस्त्र दिया गया। 'मित्रस्य चक्षुः' कहकर साधना के लिए मृगजिन दिया गया और

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्' का उद्घोष करके ब्राह्मण्य के प्रतीक रूप में उसे जनेऊ पहनाया गया।

फिर पण्डित जी ने उसे उपदेश दिया—

"तुम ब्रह्मचारी हो। मूत्रत्याग, शौच आदि के बाद आचमन करना। सन्ध्या, अग्निकार्य इत्यादि निश्चित समय पर करना। दिन में मत सोना। आचार्य की आज्ञा में वेदों का अध्ययन करना। अब आगे के बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करना। सुबह-शाम भिक्षा माँगना—अग्नि को समिधाएँ अर्पण करना।"

फिर उन्होंने श्रीधर को गायत्री मन्त्र पढ़ने का आदेश दिया।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि

धियो यो नः प्रचोदयात्।

श्रीधर ने उत्सुकता से और बहुत ध्यान से यह उपदेश ग्रहण किया और दूसरे दिन से माँ के पीछे सवालों की झड़ी लेकर पड़ गया।

"माँ, ब्रह्मचर्य क्या होता है ? उसे बारह साल कैसे पालना है ?"

"बहुत ज़्यादा बातें बनाते हो…"

"लेकिन पण्डित जी ने ही तो कहा है।"

"अरे, तुम विद्यार्थी हो न, तो विद्यार्थी ही रहकर आगे के बारह साल पढ़ते रहना। हम ब्राह्मणों के लिए शिक्षा ही सब कुछ है…तब तक विवाह नहीं करना।"

"क्यों ?"

"क्योंकि विवाह के बाद शिक्षा ठीक से हो नहीं पाती इसलिए…

"और हर रोज़ भिक्षा क्यों माँगनी है ? क्या इन सभी भिखारियों का उपनयन हो चुका है ?"

"नहीं रे, वह बात नहीं है। पहले उपनयन के बाद बालक आचार्य के आश्रम में विद्यार्जन के लिए जाते थे, उनका खर्चा कौन उठाये ? उन दिनों शिष्यवृत्ति जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। भिक्षा ही शिष्यवृत्ति थी और भिक्षा माँगने से विद्यार्थी विनम्रता सीखते थे —समझ गये ?"

आगे बड़ा बनने पर श्रीधर को जब माँ का यह स्पष्टीकरण याद आता, तब उसे लगता —भगवान पर श्रद्धा रखने वाली माँ काफी कर्मकाण्ड करती थी। धार्मिक और भोली-भाली होने के बावजूद उसकी सोच-समझ में बुद्धि प्रामाण्यवाद का सूत्र रहा करता था। उसके अनगिनत सवालों के जवाब देते-देते माँ ऊब जाती थी, परेशान होती थी, कभी-कभी उसे थप्पड़ लगाकर भगा देती थी, लेकिन उसकी कोशिश हमेशा किसी भी प्रश्न का व्यावहारिक रूप से सही-सही और तर्कपूर्ण समाधान देने की होती थी। यह सब माँ ने पता नहीं कहाँ से सीखा था।

इस सबके बावजूद वेद-उद्घोष के वह घन-गम्भीर स्वर उसके मन को छू लेते

थे और बचपन से उसके मन को कुरेदने वाली इस वेचैनी को भी इन गूढ़ सुरों से न जाने कैसा आराम मिलता था। उसकी जिज्ञासा सचेत रहती थी, लेकिन वह सूर बुद्धि पर जैसे कोई जादू चलाकर उसे आराम पहुँचाते थे—जैसे कि रेलवे इंजन की धड़कती धुन। हालाँकि जब वह बहुत छोटा था तब से उसे परमेश्वर और रेलवे के इंजन का एक-सा आकर्षण था और दोनों के बारे में एक-सी जिज्ञासा थी।

रेलगाड़ी और इंजन के साथ पलकर भी उनके बारे में श्रीधर की जो अथाह जिज्ञासा थी, उसमें कभी कमी नहीं आयी। इंजन का वह महाकाय राक्षस की तरह लगनेवाला काला, चमकदार फौलादी शरीर, धुआँ उगलनेवाली चिमनी, भाप के बादल, एक-दूसरे से जुड़कर साथ-साथ घूमनेवाले बड़े-वड़े चक्र और अन्दर के यन्त्र। उसे किसी भी इंजन के अन्दर घुसने की इजाज़त थी। वह इंजन-चालकों को प्रश्न पूछ-पूछकर परेशान कर देता था।

जब वह बहुत छोटा था—स्कूल में जाने से पहले वह दो-तीन वार खो चुका था। उसने माँ-बाप के होश उड़ा दिये थे।

एक बार रेल कहाँ जाती है, यह देखने के लिए वह अकेला ही गाड़ी में बैठकर चला गया और दूसरे दिन चार सौ मील की दूरी पर एक स्टेशन के प्लेटफार्म पर मिला।

अगली बार वह नदी का उद्‌गम स्थान ढूँढ़ने के लिए निकला और दो दिन और दो रातों के बाद जंगल में बुरी हालत में मिला। जंगली मधुमक्खियों ने काट-काटकर उसे बेहाल कर दिया था। इन्हीं कारणों से माँ हमेशा उसके लिए चिन्तित रहा करती थी।

स्कूल में भर्ती कराने से पहले माँ ने उसे कई चीज़ें सिखायी थीं। उसे रामरक्षा, गीता, विष्णुसहस्र नाम कण्ठस्थ करवाया। लेकिन स्कूल में भी अपनी जिज्ञासा और सवालों की बौछार से उसने शिक्षकों के नाक में दम कर दिया था। किसी भी प्रश्न के अन्त तक ले जाकर शिक्षक को निरुत्तर कर देना और फिर ग़ुस्सा दिलाना जैसे दिलचस्प खेल वह खेलने लगा। लेकिन इसी के साथ-साथ वह तेजी से सीख रहा था, समझदार और निपुण बन रहा था। माँ से, पिता से, शिक्षकों से, स्कूल से, मित्रों से, कामगारों से, कीर्तनों से, रेलवे कर्मचारियों से जितना भी ज्ञान मिल सकता था, वह मधुमक्षिका की तरह सोखता चला जा रहा था और उसकी सूझ-बूझ बढ़ती जा रही थी।

तबादले की एक जगह उसने कीर्तन में गोकुल के श्रीकृष्ण की कथा सुनी, जिसमें कृष्ण चोरी से मक्खन खाता है और यशोदा उसका कान पकड़कर उसका मुँह खुलवाती है।

कीर्तन से लौटते वक़्त श्रीधर ने माँ से पूछा, "माँ, जव श्रीकृष्ण ने मुँह खोला

तो उनके मुख में यशोदा ने क्या देखा, जानती हो ?"

"पता है, पूरा ब्रह्माण्ड देखा।"

"यानि कि क्या देखा ?"

"अरे, वह सब आध्यात्मिक बातें हैं, तुम्हें समझ में नहीं आएँगीं।"

"मैं बताता हूँ तुमको। ब्रह्माण्ड वगैरह कुछ नहीं। यशोदा को चमकने वाले धूलकण मिले श्रीकृष्ण के मुख में। धूप में चमकते धूलिकण देखे हैं न तुमने ?"

जब वह बहुत छोटा था तब वृन्दा ने उसे प्रश्नोत्तरों का एक खेल सिखाया था। प्रश्न पूछते-पूछते किसी को भी निरुत्तर करने वाला। प्रश्न कहीं से भी शुरू कर सकते थे। जैसे—

"अच्छा श्रीधर, बताओ तो, तुम कहाँ से आये ?"

"माँ-बाप के पेट से।"

"माँ कहाँ से आयी ?"

"अपनी माँ के पेट से..."

"उसकी माँ ?"

करते-करते आखिरी उत्तर यह आता कि "भगवान से" फिर और प्रश्न—

"भगवान कहाँ से आये ?"

"आकाश से।"

"और आकाश ?"

"... ... ..."

श्रीधर अपने साथियों के साथ यह खेल खेलकर उनकी खिल्ली उड़ाता था, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की भी। फिर भी यह सवाल उसे बेचैन करनेवाले लगते थे। सचमुच अन्तिम सवाल का सही उत्तर क्या है ? यह सोचकर वह हैरत में पड़ जाता।

लेकिन जैसे-जैसे उसकी सूझबूझ और आकलनशक्ति बढ़ने लगी, उसका चहचहाना कम होने लगा। वृन्दा के जाने के बाद तो वह बहुत ही परेशान हो गया। चलती-फिरती, बोलती, हँसती-गाती, कहानियाँ सुनाती, उससे प्रेम करने वाली वृन्दा दो-चार दिन बुखार से बीमार क्या हुई और चली गयी। उसका क्या मतलब था ? माँ और अन्य महिलाएँ रो क्यों रही थीं ? उसे दूसरे किसी के घर पहुँचाया गया था। वहाँ उसका मित्र था—अतुल। अतुल ने उसे कुछ ज्ञान देने की कोशिश की—वृन्दा चली गयी का मतलब है कि वह मर गयी।

"मर गयी यानी ?"

"मतलब अब श्मशान ले जाकर उसे जलाएँगे।"

"बाबा रे !" उसके रोंगटे खड़े हो गये और पहली बार उसे मरण की भयानकता

का अनुभव हुआ। उसे लगा कि अव अपने दोस्त के सामने वह रो पड़ेगा। डरते हुए उसने पूछा, "अरे लेकिन उसको जलन से कितनी पीड़ा होगी ?"

मित्र ज्ञानी वाबा की तरह मुस्कराया। "मरने के वाद कोई पीड़ा नहीं होती।"

"लेकिन मेरी बहन..."

"वह मर गयी, भगवान के पास चली गयी।"

"लेकिन वह तो यहीं पर है, घर में लेटी हुई है।"

अब अतुल भी मुश्किल में पड़ गया था। उसकी वालवयीन शब्द-सम्पत्ति उसे अपर्याप्त लग रही थी। वह शब्द ढूँढ़ रहा था। फिर उसने वही कहा, "नहीं, वह भगवान के पास चली गयी है।"

श्रीधर को इस गहन, विरोधाभासात्मक सत्य का आकलन नहीं हो रहा था। वह दंग होकर मौन रह गया था।

"यह देख मच्छर..." मित्र ने कहा। आसपास घूँ...घूँ करते हुए मच्छर मँडरा रहे थे। मित्र ने ताली वजाकर एक को मारा और अपना हाथ आगे बढ़ाकर दिखाया। उसकी हथेली पर एक मरा हुआ मच्छर था और उसका थोड़ा-सा रक्त।

"मर गया..." मित्र ने कहा।

"भगवान के पास चला गया ?" श्रीधर भुनभुनाया।

वृन्दा चली गयी तब वह कौन-सी जगह में रहते थे, यह श्रीधर को अच्छी तरह याद है। लेकिन वह सात-आठ वर्षीय वालतत्त्वज्ञ मित्र का नाम भूल चुका था। बाद में वह मित्र कहाँ चला गया ? न जाने उसका आगे क्या हुआ होगा ! कदाचित् वह अब एक बड़ा तत्त्वज्ञ बन गया होगा और सभी प्रश्नों के उत्तर बड़े आत्मविश्वास के साथ दे रहा होगा। श्रीधर की उस वालमित्र के वारे में जानने की बहुत इच्छा थी। लेकिन बाद में वह सब भूल गया। और फिर सालों बाद वह अचानक मिला। उसने अपने आप स्मरण दिलाया। लेकिन वह कितना बदल चुका था, आश्चर्य की वात थी।

वृन्दा के जाने के बाद श्रीधर गम्भीर बन गया। कच्ची उम्र में ही वह शान्त और अकेला हो गया। माँ से आक्रामक और परेशान करनेवाले प्रश्न करना उसने छोड़ दिया। वृन्दा की मृत्यु के बाद माँ की उदासी उसे अधिक तीव्रता से महसूस होने लगी थी। वह और भी श्रद्धालु बन गयी थी। और फिर श्रीधर को यह पता चल गया था कि प्रश्न पूछकर उसे विभिन्न विषयों के बारे में नयी-नयी जानकारी मिल तो सकती है, वस्तुस्थिति का आकलन भी हो सकता है लेकिन उससे उसके मन में जो शंकाएँ थीं उसका समाधान तो मिलना मुश्किल था। हमारे अन्तिम प्रश्नों के उत्तर माँ-बाप दे नहीं सकते, मित्र भी नहीं और शिक्षक भी नहीं। कदाचित् वह हमें अपने आप ढूँढ़ने पड़ते हैं।

वृन्दा की मृत्यु के वाद वावा ने माँ के साथ सोहवत के लिए रामी को वुला लिया। जिस दिन उसने रामी को पहली वार देखा, वह प्रसंग श्रीधर के लिए अविस्मरणीय था। वह रविवार की सुवह थी। स्कूल में छुट्टी थी। श्रीधर देर से उठा था। वह विस्तरे में उठ वैठा और उसने मच्छरदानी हटायी। घर विल्कुल शान्त पड़ा था। रविवार की सुवह उसका पहला काम होता था वँगले के पीछे फैले विस्तीर्ण खुलेपन में खेलना। गुल्लेर से तितलियों को मारने का प्रयत्न करना। कभी-कभार किसी तितली को लग भी जाती थी। फिर उसका मरने के पहले घायल अवस्था में तड़पना··वृन्दा के मरने के वाद वह कभी यह खेल खेल नहीं पाया था। उस दिन न जाने क्या सोचकर अपने वस्ते से गुल्लेर निकाली। वावा हमेशा की तरह घर पर थे ही नहीं। दवे पाँव अन्दर जाकर उसने देखा—माँ अपने पूजा-पाठ में लगी हुई थी। वह धीरे से वँगले के पीछे के वरामदे में आ गया और तितलियों के झुण्ड को देखने के लिए उसने नीचे नज़र डाली और उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी।

वरामदे की नीचेवाली सीढ़ी के पास एक आकृति वैठी हुई थी। उसके सिर के वाल सफ़ेद वादलों की तरह थे। उसका भयानक चेहरा सामने की ओर था। चेहरे पर आग में झुलसने के निशान थे। पीतवर्णीय सफ़ेद आँख तो लगभग पूरी ही वाहर आ चुकी थी। और वह आकृति अपनी मूली जैसे पतले और सूखे हाथों से थाल में कुछ चुन रही थी। सवसे विचित्र वात यह थी, उसकी पीठ ऊँट की तरह ऊपर आयी हुई थी और सिर पीठ के नीचे लटकता दिखाई पड़ रहा था। श्रीधर की आहट सुनकर वड़ी मुश्किल से उस आकृति ने अपना विद्रूप चेहरा ऊपर की तरफ़ उठाया और उस चेहरे पर अजीव-सी हँसी फैल गयी थी। अधजले होठों के शव्द फूटे थे, "आ। उठ गया श्रीधर वेटा ···"

श्रीधर के हाथ से गुल्लेर नीचे गिर पड़ी। और जव उसने स्वयं को दौड़ने की स्थिति में पाया, वह चिल्लाता हुआ घर के अन्दर घुस गया···"म···माँ···माँ ··· ···भूत···वहाँ एक भूत वैठा है···"

"अरे···अरे···क्या हुआ ? छू लिया न मुझे ! नहाना तो दूर अव तक मुँह भी नहीं धोया होगा।"

माँ की छुआछूत वहुत सख्त हुआ करती थी। पूजा करते वक़्त किसी का भी छूना उसे विल्कुल पसन्द नहीं था। वैसा होने पर वह फ़ौरन फिर से नहा कर गीले वस्त्र पहनकर पूजा करने वैठ जाती थी।

"भू त···भू···" श्रीधर चिल्लाया।

"चल···कहाँ है भूत ?" माँ ने उसे पास खींचकर थपथपाया।

"वहाँ वैठा है···पीछे की सीढ़ियों के पास···"

इतने में कमर से झुकी और पीठ पर बड़ा-सा कूवड़ निकली हुई रामी लटकती

गर्दन से दरवाज़े पर आ खड़ी हुई।

"वह···वह देख" श्रीधर ने चिल्लाते हुए माँ के आँचल में चेहरा छुपाया।

"डर गया, बच्चा।" रामी वोली।

"चल उठ, पागल कहीं का। इसमें डरने की क्या वात है···"

"यह तो हमारी रामी है···" माँ ने उसे वाहर निकालना चाहा।

"नहीं··नहीं··मैं नहीं जाऊँगा"—श्रीधर अब भी डरा हुआ था।

"रहने दो"—रामी ने प्यार से कहा। "वच्चे पहले ऐसे ही डरते हैं। और बाद में प्यार करते हैं।"

श्रीधर ने धीरे से माँ का आँचल थोड़ा-सा हटाकर देखा। रामी की भली आँखों से प्यार भरी हँसी उमड़-उमड़कर निकल रही थी और उसके मोटे-मोटे दाँत वाहर निकले हुए थे।

"चल-मूर्ख कहीं का"—माँ ने उसके सिर पर हल्के से मारकर कहा, "इससे डर रहा है ? अब क्या तू बच्चा है ? चल दूर हो जा। अव मुझे फिर से नहाना पड़ेगा। मुँह धो ले, जा।···"

उस दिन दिन-भर श्रीधर रामी की तरफ़ भयचकित नज़र से चोरी-चोरी देख रहा था और उससे दूर-दूर भागता था। उसकी आदत होने में तीन-चार दिन लग गये। लेकिन उसके वाद श्रीधर की रामी से खूब पटने लगी। रामी घर का सारा काम देखती थी। धान चुनना, झाड़ू-बुहारी, कपड़े, चौका-वर्तन कभी श्रीधर को स्कूल पहुँचाना। माँ सिर्फ़ खाना बनाती थी। कभी-कभी रामी श्रीधर के लिए खास उसके गाँव की चीज़ें बनाती थी। उसे जंगल के भूत, जानवर और देवी-देवताओं की कहानियाँ सुनाती। रामी हमेशा हँसमुख और खुश नज़र आती थी। रामी एक आश्चर्य थी। उसकी उम्र का अन्दाजा लगाना कठिन था। उसके नाते-रिश्ते का भी कोई नहीं था। उसकी कहानी माँ के मुँह से सुनकर श्रीधर को वहुत वुरा लगा—

"माँ, रामी ऐसी क्यों है ?"

"वेटा, वह कूवड़ी है। जन्म से ऐसी ही है।"

"लेकिन उसका चेहरा···"

"जला हुआ है। उसके आदमी ने खूब मारा···जलाया और फिर छोड़ दिया···"

"छोड़ दिया, मतलब ?"

"मतलव उसको अकेली छोड़कर वह कहीं भाग गया। लेकिन इन सब बातों से तुम्हें क्या लेना-देना !"

"क्या उसके माँ-वाप नहीं हैं ?"

"वह इसके वचपन में ही गुजर चुके हैं।"

"माँ, वह अकेली है ?"

"हाँ, बिल्कुल अकेली है बेचारी"—उसे पास खींचकर माँ ने कहा।

श्रीधर का मन पसीज गया। उसका रोने का मन हो रहा था। उसने देखा कि उधर माँ भी अपने आँसू पोछ रही थी इसलिए उसने भी अपने आप को सँभाल लिया।

अकेली रामी बिल्कुल अकेली ! न माँ-बाप, न भाई-वहन ! मेरे जैसा क़ोई बच्चा भी नहीं है उसका ! श्रीधर को बहुत आघात लगा। वह एक सवाल पूछना चाहता था लेकिन पूछे या नहीं, यही सोच रहा था। प्रश्न उसके मन में था लेकिन उसके उचित शब्द नहीं मिल रहे थे। रामी के भयावह जीवन की मात्र कल्पना से उसके शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते थे। रामी जीती कैसे है ? किसलिए ? वह उदास होकर चुपचाप माँ के पास बैठा रहा। इतने में अपनी टेढ़ी कमर पर हाथ रखकर रामी वहाँ आयी और कहने लगी, "चलो श्रीधर बाबा, नहाने कू···गरम पानी रखा है···चलो··· चलो।"

रामी और माँ घण्टों तक वातें करती रहती थीं। उन्हें सुनना श्रीधर को भी अच्छा लगता था। काफ़ी चीज़ें उसकी समझ में नहीं आती थीं। तब भी वह वहीं पर बैठा रहता था। फिर माँ उसे खेलने भेज देती थी।

"देख बाई, तू काहे को रोती है ?" रामी माँ के साथ बातें करते हुए अपनी गँवाड़ी भाषा में "अरी, क्यों री" कहती थी। "भगवान ने अच्छा लड़का दिया है। मर्द है, इत्ता बड़ा बँगला है—परमेसर के एहसान मान। नहीं तो मुझको देख ! कितने साल हो गये ऐसे जीते हुए, यह भी पता नहीं। मेरा कौन है दुनिया में ? कोई भी नहीं। माँ-वाप बचपन में ही चल बसे, आदमी ने मार-झाड़कर छोड़ दिया, शकल-सूरत ऐसी कि दूसरी शादी की तो गुंजाइश ही नहीं। अब क्या करूँ ? यह मनहूस शकल लेकर कहाँ जाऊँ ? जंगल में घूमती रही कि बाघ ही खा जाएँ··· साँप ही काट जाएँ, नदी में भी कूद गयी। लेकिन मैं मरी नहीं। पहाड़ पर जाकर महादेव के मन्दिर से नीचे कूदने की कोशिश की। भगवान के पास रोना रोयी। उसने कहा, 'रामी, रोती क्यों है ? मरने की बहुतेरी कोशिश की तूने। मरना आसान नहीं। तुम्हें यह शरीर निष्कारण तो नहीं दिया है। जा, वापस जा। लोगों की सेवा कर। शरीर को पाल-पोस। खुश रहकर जीना सीख ले। मैंने तुझे मरने नहीं दिया। मैं तुझे खिलाऊँगा, पिलाऊँगा। जा, वापस जा।' इसलिए बाई, मैं वापस आ गयी। अब तो बस जो मिले सो खाना, खूब मेहनत करना और मौत का नाम न लेना। मेरा वक़्त आएगा तो भगवान अपने आप उठा लेगा···"

रामी के आने से माँ ज़रा उल्लसित हुई थी। उसकी उदासी भी कम हुई थी लेकिन उसके साथ उसका पूजा-पाठ वहुत ज्यादा बढ़ गया था। माँ और रामी की निकटता में श्रीधर भी कुछ देर तक 'भगवान' की कल्पना से काफ़ी प्रभावित रहा।

रामी को भगवान मिला इस बात का उसे आश्चर्य ज़रूर होता।

"कैसा लगता है भगवान देखने में ?" वह रामी से पूछता।

"दिखाई नहीं देता।"

"लेकिन तुम्हें तो मिला था ?"

"मुझे तो उसकी आवाज़ सुनाई दी थी।"

"मुझे मिलेगा भगवान ?"

"किसी को भी मिल सकता है, लेकिन उसके लिए तपश्चर्या करनी होती है। यों ही नहीं मिलता वह…"

माँ के व्रत-उपवास और त्योहार के दान-धर्म चलते रहते थे। सावन में लक्ष बिल्वदल शिव जी को अर्पण करना, गणेश जी को एक-सौ इक्कीस दूर्वाओं की गिट्टी चढ़ाना, यह और इसके जैसे और कामों में श्रीधर बड़े अपनत्व से माँ की मदद करता था। पत्ते और फूल लाने के लिए जंगलों में दूर-दूर तक भटकता था। माँ की लायी कॉपियों में हाथ दुखने तक उसने राम नाम लिख डाला।

रामी ने कहा था कि भगवान सबको मिलता है। उसके लिए तपश्चर्या करना आवश्यक है। और माँ ने कहा था मन से भक्ति करो तो भगवान कृपा करता है और सब समस्याएँ खत्म होती हैं। माँ के पूजा-घर में बहुत सारी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ थीं। वह घण्टों तक उनकी पूजा करता रहता। आँखें मूँदकर उनकी करुणा का दान माँगता रहता।

अब भगवान की इतनी सेवा करने के बाद उनको भी श्रीधर के छोटे-मोटे कामों में मदत करनी ही चाहिए, ऐसी उसकी अपेक्षा थी। श्रीधर ने भगवान की परीक्षा लेने की सोची। बाबा कलकत्ता से श्रीधर के लिए कुछ किताबें लाये थे। लाने के बाद पता चला कि वह श्रीधर के तीसरी क्लास की नहीं चौथी क्लास की थीं। बाबा ने कहा, कोई बात नहीं। इन्हें रहने दे, दूसरी और ले आएँगे।"

दूसरे दिन पूजा करते समय श्रीधर ने भगवान के क़दमों में वह तीन-चार किताबें रख दीं। और पूजा हो जाने के बाद आँखें मूँदकर मन को एकाग्र करके गायत्री मन्त्र का जाप किया।

ॐ भूर्भूवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्
भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्।

काफ़ी जाप होने के बाद उसने मन को एकाग्र करते हुए भगवान से विनती की—"हे भगवान अगर तुम सचमुच हो तो आज की रात भर में यह चौथी कक्षा की किताबें तीसरी की कर दो।" उसके बाद भी कितनी देर तक ध्यान लगाये बैठा ।।

रामी ने कहा, "बाई देख तो···तेरा वेटा बड़ा जोगी बनेगा···"

माँ को भी अच्छा ही लगा। श्रीधर उलटे-सीधे प्रश्न करता है, यह तो वह जानती थी और इसीलिए उससे थोड़ी-बहुत डरती भी थी। अब उसका यह नया पागलपन देखकर उसे अच्छा भी लगा लेकिन कुछ अजीब भी।

प्रार्थना पूरी होने पर श्रीधर ने वहाँ से किताबें उठाकर अपने वक्से में रख दीं। दिनभर वह गुमसुम रहा। जव भी थोड़ा समय मिलता था, वह पालथी मारकर ध्यान मुद्रा में बैठ जाता और भगवान को मनाता रहता। दोपहर में वह एक पेड़ पर चढ़कर ध्यान करने लगा और जव रामी उसे लेने आयी तब कहीं नीचे उतरा। रात को सोते वक़्त भी यही प्रार्थना। यह उसका रहस्य था। कल किताबें बदलकर उसने सबको चौंका देने की सोची थी। रात भर नींद में भी वह इसी की धुन में था।

सवेरे उठते ही पहले उसने जल्दी-ज़ल्दी अपना बक्सा खोला और किताबें बाहर निकालीं। वह ज्यों की त्यों पड़ी हुई थीं। श्रीधर निराश हुआ और उसे क्रोध भी आया। भगवान कुछ ठीक नहीं है। जो किताबें तक वदल नहीं सकता वह कैसा भगवान ? उस दिन उसने पूजा भी नहीं की। माँ ने पूछा भी—"यह लड़का भी अजीव है, कल तो ध्यान लगाये बैठा था और आज इस तरफ झाँकने को राजी नहीं है"— ऐसा ही कुछ वह बुदबुदाने लगी। उसकी पूजा खत्म होते ही श्रीधर पूछ वैठा—"माँ, भगवान की पूजा क्यों करते हैं ?"

"उन्हें प्रसन्न करने के लिए।"

"प्रसन्न हुए तो क्या होगा ?"

"जो तुम माँगोगे वह दे देंगे। हमारी सब इच्छाएँ वही पूरी करते हैं।"

"और अगर पूजा नहीं की तो ? भोग नहीं चढ़ाया तो ?"

"वकवास मत करो। भगवान नाराज होते हैं। पाप चढ़ता है। भगवान सज़ा देते हैं।"

माँ ने रामी से कहा, "देखा, कल तो भगवान की भक्ति में पागल होने लगा था और आज देखो कैसी अभद्र वातें कर रहा है···"

"नहीं बाई जी, वह जोगी ही है"—रामी ने बड़े दुलार से साफ़-साफ़ कह दिया।

माँ की वात श्रीधर को जँची नहीं। लेकिन उसने वैसा नहीं कहा। भगवान से वह धोखा खाकर पूरी तरह निराश हो चुका था। भगवान क्रोध कैसे कर सकता है ? वह तो दयालु है ? क्या मूर्तियों को नहलाने-धुलाने से ही वह प्रसन्न होता है ? यह कैसे सम्भव है ? कटोरी भर दूध का भोग न चढ़ाने पर भगवान नाराज़ हो जाएँगे, यह सुनकर श्रीधर हैरान हो गया था। क्या भगवान इतना फालतू और क्षुद्र है ? स्कूल की कविता में तो लिखा है कि इस सृष्टि का भगवान ने निर्माण किया

है। चाँद, तारे, सूर्य, पहाड़, घाटियों, नदियों, समुन्दर, फूल-फल, पंछी, प्राणी, मनुष्य का निर्माण करनेवाला भगवान एक भिखारी जैसा भोग की आस लगाये वैठता है ? उसके गुण न गाने पर अगर उसे क्रोध आता है तो क्या वह क्षुद्र नहीं ? नहीं, नहीं। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? रामी ने कहा—भगवानं ने उससे वात की थी। उसे तो श्रीधर ने कभी पूजा रचाते हुए नहीं देखा था। श्रीधर बौखला गया था।

अपने इस असफल रहस्य के बारे में श्रीधर ने घर पर किसी को भी कुछ वताया नहीं था। लेकिन उसके मन में यह टीस हमेशा रही थी। भगवान के इस मामले का पता कैसे चले, यही उसकी समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन अगले दो-चार वर्षों में उसे नयी राह मिली और उसने ठान ली कि वह प्रयास में कोई कसर न रखेगा। उसका मार्गदर्शक था जगत। उस वक़्त श्रीधर छठी कक्षा का छात्र था और उसकी उम्र ग्यारह वर्ष थी।

उस वक़्त श्रीधर के बावा की पदोन्नति हुई थी और उनका तबादला उत्तर-पूर्व आसाम में हुआ था। लष्करी रेल के लिए सर्वेक्षण का जिम्मा उन्हें सौंपा गया था। माँ के साथ रामी भी थी ही। श्रीधर के अँग्रेज़ी माध्यम के स्कूल में तरह-तरह के बच्चे थे। उनमें से ज़्यादातर रेल-कर्मचारियों के या केन्द्र-शासकीय कर्मचारियों के थे। उनमें केन्द्र शासन के वरिष्ठ लष्करी अधिकारी का बेटा भी था, जो श्रीधर का सहाध्यायी था। उन दोनों में बहुत गहरी मित्रता थी। पंजाबी बाप और दक्षिण भारतीय माँ के इस लड़के का नाम जगत था। श्रीधर के प्रश्नोत्तरी के खेल में वह भी रुचि लेता था, जो उनके दोस्ती का एक प्रमुख कारण था।

वह जगह लश्करी कैम्प जैसी ही थी। हिमालय की पहाड़ियों में बसी। स्कूल एक ऊँची सपाट जगह में था। पीछे की तरफ़ हिमालय की पर्वतराशि। दूर कहीं सूर्य के प्रकाश में चमचमाते हिमशिखर। आसपास की पहाड़ियों में लामाओं के मठ थे। सुबह-शाम उनका शंखनाद और झाँजर की ध्वनि वातावरण में गूँजती रहती थी। स्कूल नया-नया खुला था और अनुशानबद्ध था।

जगत के साथ खेलते हुए एक दिन श्रीधर ने उसे वह कितावों वाली बात बता दी और कहा, "मैं तो भैया भगवान पर अब विश्वास नहीं करता।"

"हँ ? यह कैसे हो सकता है ?" जगत भी समझदार लड़का था।

"अरे भाई, अगर सचमुच भगवान होता तो क्या वह मेरी किताबें बदल न देता ?"

जगत सोच में पड़ गया। लेकिन फिर उसने कहा, "मैं तो भगवान में विश्वास करता हूँ। मेरी मम्मी भी हर रोज तिरुपति की पूजा करती है ..."

"तो फिर बता न; इतने से दूध से भगवान प्रसन्न कैसे होता है ? और वह

मुझसे प्रसन्न क्यों नहीं हुआ ?"

"भगवान प्रसन्न तो होता है, लेकिन उसके प्रत्यक्ष दर्शन के लिए बहुत लम्बी तपश्चर्या करनी पड़ती है।"

"यह तो हमारी रामी और माँ भी कहती हैं।"

"आसानी से होनेवाली नहीं, कड़ी तपश्चर्या करनी पड़ती है। हो सकता है तेरी तपश्चर्या कुछ कम पड़ गयी हो इसीलिए किताबें ज्यों-की-त्यों रह गयीं। तूने भक्त ध्रुव की कथा सुनी है ? मेरी मम्मी मुझे वह हमेशा सुनाती है।"

"हाँ, मेरी माँ ने भी मुझे सुनायी थी।"

"उसकी तरह तपश्चर्या करनी पड़ती है तभी भगवान के दर्शन मिलते हैं। ऐसे सीधे-सादे ध्यान धरने से क्या होगा !"

फिर भी श्रीधर का समाधान नहीं हुआ। उसने पूछा, "भगवान अगर दयालु है, और सब को प्रेम और ममता से देखता है तो फिर दुनिया में अमीर-गरीब का भेदभाव क्यों ? हम अभी छोटे हैं इसलिए कदाचित् हमें यह ठीक से समझ नहीं आता, लेकिन मुझे तो यह भोग से प्रसन्न होनेवाला भगवान अच्छा नहीं लगता। यह कैसा भगवान है ?"

"तू सिर्फ़ बातें बनाता है। तुझसे भगवान क्यों प्रसन्न होने लगे ? उसके लिए तपश्चर्या करनी पड़ती है...भक्त ध्रुव की तरह।"

चार दिन बाद श्रीधर ने जगत से वचन लिया कि वह किसी को नहीं बताएगा, और दूसरे दिन सुबह तपश्चर्या के लिए निकल पड़ने की अपनी योजना जगत के कानों में बता दी। अँगुलिनिर्देश से जिस पर्वत-शिखर पर बैठकर वह तपश्चर्या करनेवाला था, वह जगह भी जगत को दिखा दी। कम-से-कम छह महीने तक तो तपश्चर्या करनी ही पड़ेगी। इस अपने अन्दाज से भी उसने जगत को अवगत कराया। जगत ने गम्भीरता से उसे शुभ-कामनाएँ दीं लेकिन मन-ही-मन जगत सोच रहा था, श्रीधर बातें बना रहा है।

लेकिन दूसरे दिन जब पता चला कि श्रीधर स्कूल आया नहीं है, तो जगत सकपकाया। स्कूल के बहाने ही बाहर निकलकर श्रीधर उस पहाड़ की चोटी का रास्ता नापनेवाला था और शाम तक उसके तपस्या-स्थान के कम-से-कम आधे रास्ते तक पहुँचनेवाला था। जगत ने सोचा—हो सकता है, श्रीधर घर ही हो लेकिन रात में सोये हुए जगत को जगाकर उसके डैडी ने पूछा, "तुम्हारी क्लास में श्रीधर नाम का जो लड़का है, क्या तुमने उसे आज देखा था ? उसके लिए चारों तरफ खोज-वीन हो रही है। तुम्हारे प्रिंसिपल का फ़ोन है।"

अव जगत समझ चुका था। "नहीं तो" कहकर उसने सिर पर चादर ओढ़ ली और वह दंग रह गया। उसकी नींद काफ़ूर हो गयी। आधा घण्टा वाद वह उठकर

डैडी के पास गया और उसने उनको श्रीधर की गुप्त योजना सुना डाली। फिर आधी रात को शोध-पथक निकला।

श्रीधर उस रोज सुबह स्कूल जाने के बहाने घर से निकला, अव वह बड़ा हो गया था, इसलिए रामी को उसे स्कूल पहुँचाना नहीं पड़ता। निकलने से पहले माँ और रामी को देखकर उसके मन में खलवली-सी हुई लेकिन मन कड़ा करके वह निकल पड़ा। स्कूल की वर्दी, वूट-मोजे और कन्धे पर वस्ता। घर नज़र से ओझल होते ही उसने वह रोज़ की सड़क छोड़ दी और वह घाटी में उतरने लगा और सीधे गन्तव्य पर्वतशिखर की दिशा में उसने चलना शुरू किया। अव पीठ पर वस्ते का बोझ केवल अनावश्यक था, इसलिए उसे उतारकर वहीं छोड़ दिया। तपश्चर्या में भला किताबों का क्या काम ! परमेश्वर-प्राप्ति के लिए कड़ी तपस्या करनी थी, खाने के डिब्बे की भी वहाँ कोई जगह नहीं थी। सिर्फ तपश्चर्या एक पैर पर खड़ा रहकर करनी है या दोनों हाथ ऊपर करकर किसी शिला पर पद्मासन लगाकर करनी है, यह उसने नहीं सोचा था। और फिर तपस्या करते वक़्त ध्यान-योग के शिक्षक के बताये अनुसार प्राणायाम करना था या गायत्री मन्त्र का जाप करना था, जैसी छोटी-छोटी चीज़ों के वारे में उसने अभी सोचा नहीं था। लेकिन श्रीधर जव वाहर निकला था तव उसकी ज़िद और ईमानदारी में कोई खोट नहीं था। भगवान के वारे में असलियत का पता लगाकर वह इस अनिश्चितता को खत्म कर देना चाह रहा था। अगर भगवान केवल पूजा और भोग से प्रसन्न होनेवाला है, तो वह सच्चा भगवान है ही नहीं, इस अनुमान तक तो वह पहले ही आ चुका था। अव तपस्या के बाद भी भगवान प्रसन्न होते हैं या नहीं यही उसे देखना था। अगर भक्त ध्रुव की तरह नारायण उसे भी मिल जाते तो उनसे उसे काफ़ी सारे प्रश्न पूछ लेने थे। और इस पूजा-आरती भोग के विषय में भी अपनी स्पष्ट नाराजी व्यक्त करनी थी। वृन्दा को इतनी जल्दी क्यों उठा लिया ? रामी को इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है ? जैसे प्रश्न भी करने थे।

घाटी को पार करके श्रीधर जंगल में घुस गया। लेकिन थोड़ी ही देर में वह राह भुला वैठा। अपनी नज़रों के सामने रखी वह पर्वत की चोटी भी न जाने कहाँ अदृश्य हो गयी। जंगल में रास्ता भी मिलना मुश्किल हो गया। वह जंगल में भटकता रहा। जहाँ भी रास्ता मिले, उस ओर चलता गया। डेढ़-दो घण्टों के बाद उसके पेट में भूख की आग जल उठी। प्यास से गला सूख गया। लेकिन उसकी परवाह न करते हुए वह चलता रहा। बीच में एक बार हरी घास से सरसराते गुजरते किसी चमकदार काले साँप पर उसका पाँव पड़ते-पड़ते बच गया और विचित्र प्राणियों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। थोड़ी देर बाद पक्षियों का चहचहाना वन्द हो गया। अँधेरा छा गया। बादल गरज कर बरसने लगे। बिजली चमकने लगी। उस वक़्त उसे

परमेश्वर की जगह माँ-बाप और वृन्दा और रामी याद आने लगे।

लडखड़ाता हुआ, गीली घास पर जूतों को फिसलने से वचाता हुआ और हड्डी तक पहुँचनेवाली ठण्ड वरसात की मार को सहता हुआ श्रीधर एक लम्वी और कठिन चढ़ाई चढ़कर एक ऊँची-सी पहाड़ी के माथे पर आ पहुँचा।

वह किसी पर्वत का शिखर नहीं था। किसी पहाड़ी का सपाट माथा था। साँस लेने के लिए श्रीधर धम्म से एक पत्थर पर वैठ गया और थोड़ा विश्वास करते हुए आसपास देखने लगा।

वह पहाड़ी तीन दिशाओं से ऊँचे पर्वतशिखरों से घिरी हुई थी। सामने वाली घाटी से चढ़कर श्रीधर वहाँ आ गया था। पर्वतशिखर धुआँधार वरसात और कोहरे के पीछे अदृश्य हो गये थे। लेकिन सामने वाली घाटी के अन्दर काले वादल झाँक कर देख रहे थे। उससे परे जो सपाट प्रदेश था, उसपर सुनहरी धूप दिखाई दे रही थी। इधर कोड़े की फटकारों जैसी वर्षा की मार खाकर श्रीधर का वुरा हाल हो गया था। कानों को वहरा करने वाले वादल ऊँचे स्वर में गरज रहे थे और दसों दिशा में कल्लोलपूर्ण प्रतिध्वनि जगाती विजलियाँ कड़क कर चमक रही थीं। क्षणमात्र के लिए एकाध पर्वतशिखर वादलों का पर्दा हटाकर वाहर झाँकता और फौरन आँख से ओझल हो जाता। सामने वाला सपाट प्रदेश तो पूरी तरह वादलों से ढँक गया था।

कुछ देर वाद श्रीधर को चारों तरफ़ से वादलों और वर्षा की मोटी धाराओं ने पूर्णतः घेर लिया। गर्जनाओं से गूँजते हुए स्याह-सफ़ेद आकाश में वह अकेला ही लटक रहा था, ऐसा उसे प्रतीत होने लगा।

ग्यारह वर्षीय श्रीधर भय और विस्मय से कुण्ठित होकर प्रकृति का यह ताण्डव देख रहा था। पंचमहाभूतों का ऐसा रौद्र रूप उसने शायद ही कभी देखा हो। वह डरा नहीं था लेकिन भय से विस्मित ज़रूर हो गया। उसी वक़्त उसे लगा कि भगवान को ढूँढ़ना कोई आसान काम नहीं— यही नहीं, शायद भगवान की हम जो कल्पना करते हैं वह वैसा है ही नहीं।

भगवान कुछ और ही है। विकराल निसर्ग ताण्डव के वीच वैठे श्रीधर के नन्हे से दिमाग़ में उस अवस्था में भी विचारों के आवर्तन घूम रहे थे। उसे लगा कि भगवान की उसकी खोज व्यर्थ है। और वह उदास हो गया। मेरे इस तरह अचानक ग़ायव होने से माँ डर गयी होगी, रामी भी स्तम्भित होकर रह गयी होगी, यह सोचकर श्रीधर का रोना निकल गया। उसे अकेला लगने लगा। ध्रुव की तपश्चर्या से उसका मन उजड़ गया। यहाँ तक की ध्रुव पर भी उसे सन्देह होने लगा। मुझे भगवान के पास नहीं जाना। मुझे माँ और वावा, रामी, जगत के पास जाना है। मुझे नहीं चाहिए भगवान। लेकिन श्रीधर के लिए अव वापसी भी मुश्किल थी।

वरसात के रुकने तक तो वह वहाँ से हिल नहीं सकता था। वह वैसा ही स्तम्भित होकर वहाँ काँपता हुआ वैठा रहा। बीच-बीच में उसका रोना भी निकल जाता था। वरसात और ठण्ड उसकी हड्डियों तक पहुँच गयी थी।

काफी देर के बाद वर्षा रुक गयी। हवा ने बादल और कोहरे को भगा दिया। डूबते हुए सूरज की लालिमा में हरी-भरी पृथ्वी नहा रही थी। साथ वाले पर्वतों से कई मार्गों से सैकड़ों जलप्रपात कलकल आवाज़ करते हुए नीचे गिर रहे थे।

दो पत्थरों के बीच एक सुरक्षित जगह देखकर ठण्ड से काँपता श्रीधर ज़मीन पर लेट गया और वेसुध-सा पड़ा रहा।

अगले दिन दोपहर में शोधपथक को वह वेसुध ही मिला। उसे तेज़ बुखार था। न्यूमोनिया के इलाज़ के लिए उसे पन्द्रह दिन अस्पताल में और एक महीना घर पर बिस्तर में विताना पड़ा।

जब तक वह वीमार था तब तक उससे किसी ने कुछ पूछा नहीं। लेकिन वुखार उतर जाने पर जब माँ ने पूछा कि वह कहाँ था तो उस स्थिति में भी उसने चालाकी से कहा कि बर्फ का शिखर देखने गया था। रामी बड़े जतन से उसकी देखभाल कर रही थी। लेकिन अपनी निराशा श्रीधर किसी के साथ वाँटना नहीं चाहता था। अस्पताल में अपने ॱाँ-बाप के साथ जव जगत फूल लेकर उससे मिलने आया, तो श्रीधर उसकी तरफ़ देखकर रहस्यमय अन्दाज से मुस्कराया। वह सव देखकर उसके माँ-वाप बहुत खुश होकर देख रहे थे—

"ओह, यही है वह वहादुर लड़का—जगत का दोस्त !" उसके गालों में चुटकी भरकर जगत की माँ ने पूछा, "उस पहाड़ में किधर गया था वेटा ?"

श्रीधर ने कोई उत्तर नहीं दिया। समझदार लड़के की तरह वह सिर्फ़ धीरे से मुस्कराया।

वड़ों को आपस में बातें करते मगन देखकर श्रीधर ने धीरे से जगत से पूछा, "तुमने किसी से कहा तो नहीं ?"

जगत ने गर्दन हिलाकर 'ना' कहा। जगत जानता था कि उसने अपने पिता को वताया अवश्य था लेकिन बड़े भी कुछ बातें गुप्त रख सकते हैं।

"क्या हुआ ? भगवान मिला ?" जगत ने पूछा।

श्रीधर गूढ़ता से हँसा और वड़ों की तरह वोला, "तुम नहीं समझ पाओगे, बहुत वड़ी बात है।"

जगत सोचता रहा। उसके मन में श्रीधर के प्रति सम्मान और भी बढ़ गया था।

"प्रॉमिस", जगत ने कहा, "जब तुम्हें दिखाई देगा तो तुम मुझे अवश्य वताओगे।"

आठ

"किसलिए···किसलिए···किसलिए···किसलिए···"

"कहाँ चला···कहाँ चला···कहाँ चला···कहाँ चला ···"

गाड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रही थी। बाहर का वीरान प्रदेश पीछे हटता जा रहा था। दिन तेज़ी से ऊपर चढ़ रहा था। और अब यह सामने बैठा हुआ बूढ़ा कह रहा था कि अल्ला के पास जा। कहाँ है वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी परमेश्वर—करुणा का महासागर ? कौन-सी है वह महाशक्ति जो इस विश्व का व्यवहार चलाती है ? क्या यह सब अन्ध कार्यकारणभाव है ? इस जग में यह मानवी व्यवहारों का जाल है, युद्ध, अकाल, दैन्य, दरिद्रता, अमीरी, क्रूरता, दया, करुणा, अन्याय, विषमता, शोषण··· और मैं भी इतना अन्धा कैसे वन गया?

पिछले आठ-दस वर्षों में यह प्रश्न अचानक बुझ गये थे या मैंने जान-बूझकर उन्हें भुला दिया था। जिनकी परमेश्वर में श्रद्धा है वह इस तरह बेचैन नहीं होते। फिर माँ इतनी दुखी क्यों थी ? और जो पराकोटि के स्वार्थी होते हैं, वे भी इन प्रश्नों से दूर रहते हैं। मैं भी वैसा ही बन गया था।

"आपको आप का परमेश्वर मिला है, चाचा ?"

श्रीधर ने एकाएक पूछा।

वूढ़ा शान्त परिपक्वता से मुस्कराया। बड़ी श्रद्धा से उसने वह माला मस्तक और आँखों से लगाकर एक रेशमी थैली में रख दी और समझदारी के स्वर में वह बोला, "परमेश्वर पर श्रद्धा होनी चाहिए, बेटा। और वह है ही। इसलिए उसके मिलने न मिलने का कोई सवाल ही नहीं उठता। श्रद्धा रखने की कोशिश करो। सुखी होओगे। श्रद्धा बिना जीवन पानी बिना छटपटाती मछली की तरह है। श्रद्धा न हो तो ज़िन्दगी भर वह वेचैनी सहने की ताक़त रखो। श्रद्धा के बिना जीवन बहुत निरर्थक और दुखी हो जाता है, बेटा। उसी की शरण में जाओ। श्रद्धालु बनो, भक्ति करो···"

बूढ़ा और भी बहुत कुछ बोलता रहा। वह ज्ञानी लग रहा था। उसने सिर्फ़ कुरान का पठन नहीं किया था। वह गीता और बाईबल भी जानता था और उसे हिन्दुस्तान की राजनीति भी मालूम थी।

"देख बेटा, ऐसे बेचैन मत रहो !" बूढ़ा अत्यन्त शान्त लेकिन भावुक स्वर में कह रहा था, "सैंतालीस में हमारे देश के टुकड़े हो गये। हिन्दू-मुसलमानों के दंगे हुए, हत्याएँ हुईं, लाखों परिवार उजड़ गये। प्रतिशोध की भावना ने इन्सान को शैतान बना दिया। यह कैसा बदला है ? यह सब धर्म के नाम पर हुआ। कोई भी अल्ला ऐसी निर्दयी बर्बरता नहीं सिखाता। अब बेटा, अगर उस काण्ड से बचे यह

लाखों लोग अगर तुम्हारी तरह श्रद्धाविहीन होते तो क्या होता ? वह पागल हो जाते, खून की और नदियाँ वहतीं। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। क्योंकि इन सवकी अपने-अपने अल्ला पर, परमेश्वर पर श्रद्धा थी। मेरे बीवी-वच्चों की जलती लाशें देखने की नौबत मुझ पर आयी। मेरा पड़ोसी, पंजाव से भागकर आया हुआ हिन्दू—आँखों के सामने उसकी माँ-वहनों पर अत्याचार हुए। लेकिन हम पागल नहीं हुए, श्रद्धावान कभी पागल हो नहीं सकता।"

श्रीधर मनःपूर्वक सुन रहा था। डिव्वे में प्रविष्ट हुए उस नये-नवेले दम्पती को अब भी बैठने की जगह नहीं मिली थी। वह नवयुवक दूल्हा अपनी नयी-नयी दुल्हन के कानों में कुछ फुसफुसा रहा था और वह शर्म के मारे लाल हुई जा रही थी। अपने कन्धों से लिपटता उसका हाथ वार-वार हटा रही थी। कुछ देर बाद उस आदमी ने श्रीधर की तरफ़ देखा और उस भिखारी को भी।

"यह कौन लगता है आपका ? कोई भी नहीं न ? तो फिर उठाते क्यों नहीं उसे वहाँ से ? ए, उठ···उठ यहाँ से। बेशर्म हैं साले। अव्वल तो विना टिकट यात्रा करते हैं और ऊपर से आराम से पैसेंजर लोगों की गोदी में सिर रखकर खर्राटे भरते हैं···अबे, उठ न साले ···"

अब की बार वह भिखारी हड़वड़ाकर जाग गया। शर्मिन्दा होकर एकदम पीछे खिसक गया। फिर एक हाथ उठाकर सलाम करते हुए माफ़ी माँगने लगा। "माफ करना, साब, माफ करना ···", और फिर अपनी पोटली लेकर हटकर जा वैठा। श्रीधर की सीट के पास एक तरफ़ से कुछ जगह बन गयी थी। वह आदमी लपककर वहाँ आ बैठा। और फिर अपनी पत्नी से बोला, "तू भी बैठ जा टीन के बक्से पर।"

श्रीधर को उस पति-पत्नी पर तरस आ गया। वह अपनी जगह छोड़कर खड़ा हुआ।

"आप दोनों यहाँ बैठ जाइए···मेरा क्या है···खड़ा भी रह लूँगा।"

उस महिला के ना-ना करते हुए भी श्रीधर उठा। पति के आग्रह पर वह महिला उसके पास जाकर बैठ गयी। बूढ़े बाबा ने शरारत भरी मुस्कान से श्रीधर की तरफ़ देखकर सिर हिलाया।

गाड़ी तेज़ चल रही थी। एक फौलादी बक्से के एक कोने में बैठकर श्रीधर पहियों की गति का अनुमान लगा रहा था। उसके चेहरे पर ठण्डी हवा आ रही थी। श्रीधर को झपकी आ रही थी, और फिर अचानक उसे याद आया, पिछली सारी रात वह सोया नहीं था।

फिर नींद के पहले आनेवाला वह हमेशा का भयानक सपना—

श्रीधर एक लम्बी अँधेरी गुफा से गुज़र रहा है। उस गुफा का कोई अन्त ही

नहीं है। फिर भी हर रोज़ श्रीधर अपने सपने में ज़िद करके इस गुफा में जाता ही है क्योंकि वह जानता है कि यह अँधेरी गुफा कहीं-न-कहीं खत्म होगी और उसे दिन का उजाला वहाँ मिलेगा। श्रीधर उस सुरंग में लड़खड़ा रहा है, गिर रहा है, लेकिन चलता ही जा रहा है। कभी-कभी वह गुफा बहुत सँकरी बन जाती है, बौनी बन जाती है, तब श्रीधर को घुटने टेककर बच्चे की तरह दुडके चलना पड़ता है। कभी-कभी वह विवर इतना सँकरा बन जाता है कि श्रीधर को कीचड़ में से पेट के वल आगे खिसकना पड़ता है। कभी-कभी उस गुफा की दीवारें इतनी पास आ जाती हैं कि श्रीधर का दम घुटने लगता है फिर भी वह आगे बढ़ता जाता है।

आज भी वही सपना आ रहा था। फ़र्क़ इतना ही था कि गुफा की दीवारों में वह बिल्कुल धँस चुका था। दीवार का दबाव बढ़ता ही जा रहा था और उसी वक़्त उसे वह गम्भीर आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। "श्रीधर···श्रीधर···श्रीधर···" यह आवाज़ किसकी है ? वृन्दा की, माँ की, शशी की या रामी की या किसी और की ? उस विवर में चारों तरफ़ से सिमटकर, दम घुटते हुए भी तनिक भी विचलित न होते हुए श्रीधर यही सोच रहा था कि यह आवाज़ किसकी है ?

गहरी नींद से श्रीधर को उस बूढ़े ने जगाया और गर्म दूध का एक गिलास उसके आगे बढ़ाया। श्रीधर ने वह जल्दी-जल्दी गटक डाला। उसे भूख लगी थी लेकिन कुछ करने को मन नहीं हो रहा था।

गाड़ी तेजी से आगे वढ़ रही थी। अब बाहर चिलचिलाती धूप थी। अन्दर भी गर्मी लग रही थी। सामने वाले पति-पत्नी एक-दूसरे के कन्धों पर सो रहे थे। भिखारी नज़र नहीं आ रहा था और वूढ़ा आँखें मूँदकर फिर वही माला फेर रहा था।

गाड़ी कहाँ जा रही है ? अव अचानक श्रीधर ने जानना चाहा। अब तक किसी से पूछने का ख्याल नहीं आया था और न ही इच्छा हुई थी। अव गाड़ी के पहियों का "कहाँ चला ?···कहाँ चला ?" यह प्रश्न एकदम व्यवहारी लगा।

"चाचा, सो गये क्या ?" उसने पूछा।

बूढ़े ने आँखें मिचमिचायीं और मुस्कुराकर उसकी तरफ देखा।

"कहाँ जा रहे हैं आप ?"

"मैं ? मैं कहीं नहीं जा रहा हूँ"— वूढ़े ने शरारत भरा जवाब दिया—"मैं स्थिर हूँ, मेरी बुद्धि 'उस' के चरणों में स्थिर है, इसीलिए कहीं जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।"

फिर श्रीधर ने हँसकर कहा, "आप का कहना भी सही है। लेकिन इतना तो बताइए कि यह गाड़ी जा कहाँ रही है ?"

"हाँ, ऐसे पूछो। यह गाड़ी दिल्ली जा रही है, वहाँ से अम्बाला और फिर जम्मू। मैं मथुरा उतर जाऊँगा।"

श्रीधर को सोचते हुए देखकर बूढ़े ने कहा, "उतरोगे मथुरा ? मेरा घर है। तुम हिन्दुओं के काफ़ी मन्दिर हैं। स्नान करने के लिए यमुना नदी है। उतरोगे ?"

श्रीधर ने गर्दन घुमाकर 'नहीं' कहा।

"तो फिर क्या करने का इरादा है ? क्या सोचा है ? तुम कुछ भी न सोचकर निकल पड़े हो, इतना तो मैं समझ गया हूँ। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन आगे की तो सोचनी पड़ेगी न ? इसीलिए कहता हूँ, मथुरा उतर जाओ। तुम्हारी सब व्यवस्था कर दूँगा। मेरा घर काफ़ी बड़ा है, परिवार है, चलोगे ?"

"अभी कुछ तय नहीं किया, चाचा। और कुछ तय करना भी नहीं है। कुछ तय नहीं करना है यही बस तय किया है। यहीं लुढ़कते-लुढ़कते कहाँ तक जा सकता हूँ, इतना तो पता चले। सोच कर भी बहुत-सी बातें नहीं होतीं।"

गाड़ी नदी की सूखी तराई से गुजर रही थी। बूढ़े ने कुछ देर तक फिर आँखें बन्द कीं। हाथ में माला फेरता रहा और फिर आँखें खोलकर पूछने लगा, "अब बताओ, सचमुच चाहते क्या हो ? मैं तो अभी तक जान नहीं पाया।"

"सच कहूँ चाचा ? यह तो मैं भी नहीं जानता। आपकी भाषा में कहूँ तो मुझे भी उस अल्ला के पास ही जाना है। लेकिन मेरा परमेश्वर नास्तिक है। अश्रद्ध है। मैं इस बेचैनी को धो डालना चाहता हूँ। इस असमाधान से शरीर में जो आग लगी है, उसे बुझाना चाहता हूँ। आप सुखी हैं, चाचा। क्योंकि आपकी अपने परमेश्वर पर गहरी श्रद्धा है। आप ही ने कहा था न, कि श्रद्धाविहीन आदमी पानी के बिना छटपटानेवाली मछली की तरह है। वही मेरी अवस्था है। चाहो तो यह समझ लो कि मैं श्रद्धा की खोज में हूँ। मैं अपने सवालों के जवाबों की खोज में हूँ, इसीलिए भटकता फिर रहा हूँ। कहाँ जाना है यह तय नहीं किया। क्या करना है इसका भी पता नहीं है। शान्त-मार्ग से बस ऐसे ही चलते जाना है…"

"तुम फकीर हो…" बूढ़े ने कहा और वह सोचने लगा। फिर थोड़ी देर बाद अचानक वह पूछ बैठा, "बीवी-बच्चे ? माँ-बाप ?"

"कोई नहीं है।"

बूढ़े ने लम्बी साँस ली।

"ठीक है। खुदा की मर्ज़ी। जाओ। मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा। तुम्हें अपना मार्ग खुद ढूँढ़ना पड़ेगा। श्रद्धा चाहिए, इतना ज़रूर कहूँगा। लेकिन श्रद्धा नहीं है तो उसे कहाँ से लाना है और कैसे अपनाना है, यह तो मैं बता नहीं सकता। एक बात अवश्य कहूँगा। रोज़ सुबह और शाम को भगवान के रूप को याद करने की कोशिश करना। तुम हिन्दुओं के लिए तो यह काफी आसान है। आपके तो तरह-तरह के बत्तीस कोटि भगवान है। भगवान की मूर्ति तुम आँखों के सामने ला सकते हो। हमारा अल्ला निर्गुण, निराकार है—आपके हिन्दू तत्त्वज्ञान के जैसा। फिर भी हमारे

असंख्य मुस्लिम भाइयों को श्रद्धा रखने में कोई कठिनाई नहीं होती। तुम सिर्फ़ अपने परमेश्वर की कल्पना करो। धीरे-धीरे श्रद्धा उत्पन्न होगी और तुम्हारी सब समस्याएँ खत्म होगीं। लेकिन अपना खयाल रखना। पैसे-वैसे हैं पास में ? नहीं तो यह सौ रुपये रख लो। मेरे पास इस वक़्त इतने ही फालतू हैं। आजकल पैसों के बिना कुछ नहीं होता।"

"नहीं‥नहीं‥ चाचा, आप रहने दीजिए, मेरे पास हैं।"

"ठीक है, लेकिन शरमाओ नहीं। तुम्हारे जैसे पढ़े-लिखे बन्दे को परमेश्वर की तलाश में इस तरह भटकने का मन होता है, यही मुझे बहुत बड़ी बात लगती है। लो, रख लो यह पैसे…"

"नहीं…नहीं…यह देखिए…" कहकर श्रीधर ने अपनी जेब से नोटों से भरा वटुआ उसे निकालकर दिखाया। बूढ़ा हँस दिया।

श्रीधर की जेब से चाबियों का गुच्छा भी निकला, जिसमें उसकी गाड़ी की, घर की, दफ्तर की दराज की, कमरे की ऐसी कई चाबियाँ थीं।

क्या ज़रूरत है इन चाबियों की ? यह जताने के लिए कि हम उन वस्तुओं के मालिक हैं ? इन वस्तुओं के मालिक हम हैं, यह हमें अपने आपसे जकड़कर रखने की समर्थता रखती है। इस मलकियत से क्या होता है ? किसे सुख मिलता है ? उल्टा अपने 'अहं' पर एक-एक चाबी संवेदन-हीनता के पुट चढ़ाती है। क्या प्रयोजन है इन चाबियों का जो अपना शोषण करती हैं और औरों का भी करने के लिए प्रवृत्त करती हैं ?

यह चाबियाँ अब तक जेब में क्यों रहीं ? इसी का उसे आश्चर्य हुआ। उस दिन मैंने अपनी पहचान मिटाने के लिए सारे काग़ज़ात फेंक दिये थे, खुद को अच्छी तरह पोंछ निकालने के लिए। इन चाबियों को क्यों रहने दिया ? शायद मेरे अन्तर्मन में उस राक्षसी श्रीधर का कुछ अंश अब भी बाकी है, उस श्रीधर की यह सड़ी हुई खाल पूरी तरह से उखाड़कर फेंक देनी है।

गाड़ी फिर एक बार गड़गड़ाहट के साथ किसी नदी के पुल पर से गुज़रने लगी। उस नदी के पात्र में भरपूर पानी था। श्रीधर ने हाथ बाहर निकालकर चाबियों का गुच्छा बाहर फेंक दिया। फिर उसे किंचित् समाधान की हँसी आयी। अब मैं पूरी तरह मुक्त हुआ। मेरे जीवन के उस काले काल-खण्ड से मुझे बाँधकर रखनेवाली कोई चीज़ अब नहीं रही। सिर्फ़ मेरी स्मृति। स्मृति कभी मिटायी नहीं जा सकती। कदाचित् उससे कुछ सीखना सम्भव हो। अपने अपराध भी मिटा देना मुश्किल होगा लेकिन उनका परिमार्जन अवश्य हो सकेगा।

बूढ़ा उसे अच्छी तरह देख रहा था। उसने कुछ कहा नहीं। लेकिन उससे श्रीधर की आँखें मिलीं तो श्रीधर ने उन आँखों में सब कुछ समझ जाने वाली मुस्कान

पायी। आसपास अब वड़े शहर के चिह्न नज़र आने लगे थे। गाड़ी की गति धीमी हो गयी। बूढ़े ने अपना सामान समेटा। उसका स्टेशन आ चुका था। कुछ भी न कहकर सिर्फ़ मुस्कान से उसने श्रीधर से विदा ली।

नौ

"कुडघम···कुडघम···कुडघम···कुडघम···"

"पडघम···पडघम···पडघम···पडघम···" पहिये बोल रहे थे।

किसलिए ? किसलिए ?···अज्ञात की खोज में···"

"कहॉ चला ? कहाँ चला ? अज्ञात को जानने···"

जाने कितनी देर श्रीधर यह अपने आपसे कह रहा था। मन और विचारों को बन्द रखने के लिए, तालवद्ध गुनगुनाने से कितनी मदद मिलती है, यह वह जानता था। सिर्फ़ रटते रहना। कभी-कभी अनायास ही वह यों रटने में मगन हो जाता था। जैसे दारू के नशे में संवेदना-सुन्न हो जाएँ या मन्त्र-जागर से विचारशक्ति कुछ देर के लिए रुक जाए तो कुछ राहत-सी मिलती है, इसी तरह की निरर्थक तालवद्ध गुनगुन। गाड़ी ने रफ्तार बढ़ायी तो उसके रटने की भी रफ्तार अपने आप बढ़ गयी।

श्रीधर को अपनी बचकानी हरक़तों पर हँसी आने लगी। पहियों के ताल पर प्रश्न पूछना और उसमें अपने आपको खो बैठना। यह भी मानवीय जीवन का प्रतीक ही था। बहकती वास्तविकता से दूर भागने के लिए, सारे भ्रम झटककर दूर हटाने के लिए ऐसा मन्त्र-पठन करना किसी नशीले पदार्थ का सेवन करने के जैसा ही होता है।

बावा के तबादले के एक गाँव में श्रीधर का स्कूल दो-ढाई मील दूर था। रास्ता जंगल और पहाड़ी से गुजरने वाला। शाम को स्कूल से लौटते वक़्त उसे लेने के लिए रेलवे का कोई आदमी या रामी आ जाती । लेकिन सुबह श्रीधर को अकेला ही जाना होता। यह यात्रा उसे बहुत अच्छी लगती थी। किसी एक गाने की पंक्ति को याद करके दोहराते-दोहराते चलते रहना कितना मज़ेदार हुआ करता था। और फिर वह गीता कण्ठस्थ कर रहा था। क़दमों के ताल पर गीता के श्लोक मुखरित करते हुए उसके शरीर का रोम-रोम पुलकित हो उठता था। पूरा अर्थ समझ न आते हुए भी श्लोक समझ में आते। इन्हीं श्लोकों से श्रीधर वेद और उपनिषद् के वाचन

की ओर मुड़ गया था। लेकिन वह काफी बाद में भक्त ध्रुव जैसी तपस्या करके भगवान का दर्शन पाने की श्रद्धा खत्म होने के बाद। कुछ दूर तक चलना हो और क़दम तालबद्ध पड़ रहे हों तो उससे भी आत्मिक सन्तोष मिल सकता है, इस बात का उसे पता चला। एक···दो···तीन···चार···पाँच···छह···सात ···आठ···यह जुगत उसने जगत को भी सिखायी थी। लेकिन जगत का स्वभाव कुछ और था। वह खूब खेलता था। दौड़-धूप, उछल-कूद उसे बहुत पसन्द थी। वह श्रीधर की तरह दिमाग़ी क़सरतों में हर समय उलझे रहना नहीं चाहता था। फिर भी दोनों में अच्छी-ख़ासी दोस्ती थी।

वह दोनों 1962 के चीन-भारत युद्ध-काल में बिछुड़ गये। जगत के डैडी को तुरन्त सीमा पर जाना पड़ा। चीनी सेना हिमालय से नीचे उतरने लगी तो कोहराम मच गया। जगत की माँ उसे साथ लेकर कलकत्ता चली गयी और श्रीधर के बाबा ने उसे उसकी माँ और रामी के साथ जबलपुर भेज दिया, माँ के किसी रिश्तेदार के पास। चीनी सेना के नीचे उतरने की सम्भावना को लेकर अफवाहें उड़ रही थीं। जगत की माँ डर गयी थी। सीमा से भारतीय सैनिकों के हताहत होने की खबरें आ रही थीं। जगत के पिता आर्मी में मेजर थे और जब सीमा पर तनाव बढ़ गया तब उन्हें सीधे युद्ध के इलाक़े में ही भेज दिया गया था।

"अगर मेरे डैडी युद्ध में मारे गये तो मैं भी लड़ाई के मैदान में कूद जाऊँगा"—जगत ने आखिरी वाले दिन कहा था। श्रीधर के उस तपस्यावाले अनुभव के बाद दोनों परिवारों में काफी मित्रता हो गयी थी। श्रीधर की माँ जगत की माँ का सामान बाँधने में मदद कर रही थी, श्रीधर को जगत को देखकर आश्चर्य हुआ। जगत खेल-कूद में अव्वल था और पढ़ाई में भी ठीक-ठाक था। स्कूल में देशभक्ति के पाठ दोनों ने पढ़े थे। सेना में दाखिल होकर देश के लिए लड़ना तो श्रीधर को भी अच्छा लगता। लेकिन इस तरह लड़ते हुए मर जाने की वह सोच भी नहीं सकता था और यहाँ तो जगत अपने पिता की मौत की सम्भावना का विचार कर रहा था। उसकी माँ भी उसी डर से रोती रहती थी।

"लेकिन तुम्हारे डैडी मरेंगे नहीं," श्रीधर ने कहा था।

"यह तुम कैसे कह सकते हो ? मुझे तो पता चला है कि वह बिल्कुल युद्ध-स्थल तक पहुँच गये हैं। वह जगह बर्फ़ से पूरी तरह ढँक चुकी है और पिछले चार दिनों से मेरे डैडी लापता हैं।"

श्रीधर के रोंगटे खड़े हो गये थे, उसे जगत का प्रशंसायुक्त डर भी लगा था। दूसरे दिन जगत और उसकी माँ चले गये। हफ्ते भर बाद श्रीधर और उसकी माँ ने भी स्टेशन छोड़ दिया था। उसी दिन खबर आयी कि उस बर्फ़ में गाड़े गये जवानों में जगत के पिता भी थे। श्रीधर को बहुत बुरा लगा था। जगत के पिता के मरने

का दुख भी हुआ। और फिर लड़ते वक़्त तथा दुश्मन का मुक़ाबला करते वक़्त नहीं, बल्कि बर्फ़ की आँधी में बर्फ़ तले दबकर मर गये—इस बात से उसका मन दुःख से भर गया था।

कुछ दिनों बाद जबलपुर में उसे जगत का पत्र मिला था। उसने बड़े गर्व के साथ लिखा था, "मेरे डैडी देश के लिए लड़ते-लड़ते शहीद हो गये। सेना में दाख़िल होने का मेरा निर्णय अब लगभग पक्का हो चुका है। तुम क्या करने की सोच रहे हो ? मैंने अभी माँ को अपने निर्णय से अवगत नहीं कराया है, क्योंकि डैडी के लिए वह अब भी रो रही है। मैं अपने मामा के पास कलकत्ता आ पहुँचा हूँ। मामा का कहना है, मुझे यहीं रहकर पढ़ना है। लेकिन माँ नाना जी के पास मद्रास जा रही है। उसका आग्रह है कि मैं भी उसी के साथ वहाँ रहकर पढ़ूँ। तुम क्या करने वाले हो, ज़रूर बताना।"

श्रीधर ने तो अब तक भविष्य के बारे में सोचा ही नहीं था। महीने भर बाद आकर बाबा उसे माँ और रामी के साथ वापस ले गये थे। अब उनका तबादला आसाम हो गया था। श्रीधर और भी गुम-सुम और अकेला होने लगा था। भगवान पर से उसकी श्रद्धा पूरी तरह उठ चुकी थी। खेलने के लिए कुछ खास मित्र नहीं थे। कहानियाँ सुनाने के लिए रामी थी और माँ का स्वास्थ्य भी दिन-ब-दिन खराब होता जा रहा था। उसके इस तरह घुट-घुट कर उदास रहने का कारण भी समझ में नहीं आ रहा था। इसके लिए वृन्दा की मौत ही एक मात्र कारण नहीं था, क्योंकि वृन्दा के होते हुए भी वह कम उदास नहीं रहती थी। बाबा के दौरों और व्यस्तता की उसे आदत-सी हो गयी थी। उसके कोई रिश्तेदार नहीं थे। उसके माँ-बाप बचपन में ही गुज़र चुके थे। और उसकी मौसी ने उसका ब्याह कर दिया था। अब वह मौसी भी नहीं रही थी। उसके सगे-सम्बन्धियों का अभाव उसे हमेशा खलता था। श्रीधर के बाबा ने तो लड़कर पहले ही घर छोड़ दिया था, जिसकी वजह कोई नहीं जानता था। उनके कितने भाई-बहन थे, इसका तक पता नहीं था, क्योंकि सम्बन्ध ही पूरी तरह टूट चुके थे। बाबा के मुँह से कभी किसी का नाम नहीं सुना था, न ही कभी किसी रिश्तेदार की चिट्ठी आयी थी।

लेकिन फिर भी यह रिश्ते-नातों का अभाव श्रीधर की माँ की उदासी का एकमात्र कारण हो नहीं सकता था। माँ की कोई घनिष्ठ सहेली भी नहीं थी। रामी के आने के बाद उसे बोलने-चालने के लिए कोई मिल गया। कभी-कभी रामी माँ के साथ घण्टों बातें करती रहती थी। श्रीधर के खेलकर लौटने के बाद भी उनकी गप्पें चलती ही रहती थीं और फिर माँ उसे बाहर भगा देती, यह कहकर कि बड़ों की बातें नहीं सुनते। कभी-कभी माँ रोती हुई भी दिखाई देती थी और फिर रामी का टूटी-फूटी हिन्दी में समझाना सुनाई देता था। "रोने से क्या फायदा। जरा मेरी ओर देख,

मैं कैसे काट रही हूँ यह माटी मिली जिन्दगी। आदमी ने छोड़ तो न दिया है तुमको ? सोने-जैसा तो बच्चा है तेरा। और फिर खुलेआम तो शौक नहीं करता तेरा मर्द। चलने दे, जो भी चलाना चाहता है···बड़ा अफसर है, कोई लल्लू-पंजू तो नहीं—तू क्यों रोकर अपनी जान सुखाती है···" आदि।

फिर श्रीधर की माँ के आँसू निकलते और वह दृश्य देखकर श्रीधर भी उदास हो जाता था।

रामी माँ का सहारा बन गयी थी और एक तरह से गुरु और तत्त्वज्ञ भी। रामी की उम्र का तो अनुमान लगाना मुश्किल था ही, उसका रूप-रंग पुरातन लगता था। श्रीधर को लगता था कि वह सौ साल की होगी। रामी के बारे में श्रीधर को लगने वाले इस कौतूहल का कभी कोई समाधान नहीं मिला। रामी दिखने में भयानक थी, सात जगह झुकी हुई थी, उसका चेहरा विद्रूप था, हाथ जोड़ों की सूजन से टेढ़े-मेढ़े हो चुके थे। हथेलियाँ रूक्ष और खुरदरी थीं, इतनी कि जब वह पीठ पर हाथ फेरती तो लगता कि नाखून से खुजला रही है। इसके बावजूद रामी ममतामयी थी—कभी उदास, दुःखी नज़र नहीं आती थी। वह किसलिए जी रही थी ? उसकी ज़िन्दगी का प्रयोजन क्या था ? माँ से वह इतना प्रेम क्यों करती थी ?

श्रीधर के पिता के तो जैसे पाँव में पहिये लगे हुए थे, कभी आसाम में तो कभी उत्तर बंगाल में उनके तबादले होते रहते थे। कभी-कभी छह-छह महीनों तक वह परिवार को उसी जगह छोड़कर अकेले ही नये स्थान पर चले जाते थे। फिर घर पर सिर्फ़ श्रीधर, माँ और रामी रह जाते। उसके बाद 1965 का भारत-पाकिस्तान युद्ध शुरू हो गया था।

बंगाल में नक्सलवादियों का आन्दोलन जोर-शोर से चल रहा था, इसलिए अस्थिरता बढ़ गयी थी। आखिरकार माँ के आग्रह पर श्रीधर को पाँचगनी के स्कूल के छात्रावास में भर्ती करा दिया गया था। उसे पहुँचाने माँ और बाबा खुद वहाँ आये थे। माँ की इच्छा थी कि श्रीधर को पूना में ही रखकर पढ़ाया जाये। इतना ही नहीं, श्रीधर की खातिर वह स्वयं भी वहाँ घर बसाने के लिए राजी थी। लेकिन बाबा ने इस प्रस्ताव का कड़ा विरोध किया था। पाँचगनी जाते वक़्त उन्होंने पूना में उतरना कुशलता से टाल दिया था।

माँ और रामी से दूर जाने के बाद श्रीधर का, भगवान से जितना भी सम्पर्क था, वह छूट गया। पाँचगनी के स्कूल में श्रीधर को सत्र के बीच में ही प्रवेश दिलाया गया था। लेकिन उसे ऐसे ही कानवेण्ट सदृश स्कूलों में पढ़ने की आदत थी। देश के अन्य भागों से आये बच्चों के बीच उठने-बैठने से उसका आत्मविश्वास बढ़ गया था। जंगल, पहाड़ और बरसात से भी वह अच्छी तरह परिचित था। इसलिए श्रीधर उस नये वातावरण के साथ आसानी से घुलमिल गया। उसका ध्यान अधिकाधिक

क्रीड़ा और वाचन में लगने लगा। विज्ञान विषय में उसकी रुचि पैदा हो गयी। चीन-युद्ध के वाद वह समाचार-पत्र देखने लगा था, अव विभिन्न समाचार-पत्र वह देखने-पढ़ने लगा। और सवसे रोचक वात तो यह थी कि अव भी जगत के साथ उसका पत्र-व्यवहार चल रहा था। जगत कलकत्ता से मद्रास, वहाँ से फिर वंगलोर और फिर दिल्ली मामा के पास पढ़ने के लिए चला गया। भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान वह एन.सी.सी. में भर्ती हुआ। श्रीधर के पाँचगनी जाने के वाद जगत ने लिखा :

"मैट्रिक के बाद तुम क्या करना चाहते हो, यह तो तुमने कभी लिखा ही नहीं। शायद तुम डॉक्टर या प्रोफेसर बनोगे। मेरा निश्चय कायम है। हमारी एन.सी.सी. के दोनों कैम्पों में निशानेवाजी में मेरा पहला क्रमांक आया। 26 जनवरी की परेड के संचालन के लिए बेस्ट कैडेट के रूप में मेरा चुनाव हुआ है। (उसकी फ़ोटो संलग्न है)।

मम्मी अव भी तुम्हारे लिए पूछती रहती है। तुम्हारी चिट्ठी के वारे में पूछती रहती है। हॉस्टल में तुम्हारा मन लग जाता है ? अकेलापन तो महसूस नहीं होता ? मामा यहाँ केन्द्र सरकार में अधिकारी हैं। उनका बड़ा वँगला है। दो बड़े ममेरे भाई हैं, एक छोटी वहन है। इसलिए मन लगना आसान है। मैंने तुम्हारी हिमालय की तपस्या की वात उन्हें बतायी थी। वह वहुत हँसे, लेकिन वह सब तुमसे मिलने के इच्छुक हैं। तुम्हारी वह खोज क्या अव भी ज़ारी है ? इस बारे में तुमने कभी कुछ नहीं लिखा। मैं भी जानने के लिए उत्सुक हूँ।

माँ ने दो महीने पहले दूसरी शादी कर ली है। अव वह बंगलोर रहती है। मेरे नये डैडी बहुत अच्छे हैं। लेकिन मेरा आर्मी में भर्ती होने का विचार उन्हें पसन्द नहीं है। उनका वंगलोर में एक कारखाना है।

तुम्हारा मित्र
जगत"

हॉस्टल के बच्चों के साथ श्रीधर अच्छी तरह घुलमिल गया था। फिर भी बचपन की उसकी वह सनातन अकेलेपन की बेचैन करने वाली दाहक संवेदना और भी तीव्र हो गयी थी। उसके मन में चुभनेवाली टीस अब भी क़ायम थी। उसने जगत को लिखा :

"अगर खोज के बारे में पूछो तो वह सब मैंने छोड़ दिया है। इन दिनों मन पढ़ाई में लगा रखा है। जमकर पढ़ाई किये बिना कुछ भी नहीं पाया जा सकता। अब पढ़ाई ही मेरी तपश्चर्या है। जो मैंने किया था, वह पागलपन नहीं था। उस दिन पर्वत पर मैंने जो दृश्य देखा वह, हम जिसे परमेश्वर कहते हैं, उससे कहीं अधिक भव्य था। अभी हम उम्र में छोटे हैं। खूब-खूब पढ़कर ज्ञान पाना है। लेकिन

उससे पहले मुझे यह लगने लगा है कि वरदान देने वाला, पूजा से सन्तुष्ट होनेवाला, चार हाथों वाला, चमत्कार का सामर्थ्य रखनेवाला और इन्सान की तरह लगनेवाला ईश्वर है ही नहीं। ईश्वर शायद प्रकृति है। तुमने सुना है न, इस वर्ष मनुष्य चाँद पर जाने वला है···क्या तुमने हमारे विश्व के वारे में पढ़ा है ? पढ़ो तो सिर चकराने लगता है। पूना गया था तव डॉ. जयन्त नार्लीकर के व्याख्यान सुने। जिसमें अपनी सूर्य-माला जैसी कोटि-कोटि मालाएँ हैं, ऐसी आकाशगंगा और ऐसी अनन्त आकाशगंगाएँ, जो एक-दूसरे से दूर-दूर भाग रही हैं—हमारा विश्व ऐसा है। इसमें हम कितने नगण्य हैं। लेकिन अगर हम इस दुनिया में हैं तो हमारी ज़िन्दगी का कुछ अर्थ होना चाहिए। मुझसे तुम पूछते हो कि मैं आगे क्या करने की सोच रहा हूँ। मैंने अभी कुछ तय नहीं किया। वावा चाहते हैं, मैं इंजीनियर बनूँ क्योंकि वह खुद इंजीनियर हैं। मेरे मार्क्स अच्छे आते हैं। इंजीनियर बनना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन मुझे वाचन में अधिक रुचि है। मेरा झुकाव आध्यात्मिक वाचन की तरफ़ है। हम स्कूल में वाईवल पढ़ते हैं। मैंने अव अतिरिक्त वाचन भी शुरू किया है। मेरी मातृभाषा मराठी है, जो यहाँ आने के बाद काफी सुधर गयी है। मैं गीता, वेद पढ़ना चाहता हूँ, इसलिए संस्कृत की पुस्तकें घर लाकर सीखने की कोशिश कर रहा हूँ। यहाँ के स्कूल में भी संस्कृत नहीं है। संस्कृत का मुझे वचपन से चाव है। वचपन में सीखे मन्त्रों का उच्चारण करना मुझे वहुत अच्छा लगता है। उनका पूरा अर्थ समझ नहीं आता, इस वात की शर्म भी आती है। जो बातें समझ में नहीं आतीं उन्हें समझने की कोशिश करना यह मेरी वचपन से आदत रही है, तुम तो खैर जानते ही हो।

तुम्हारा मित्र
श्रीधर

और हाँ, माँ की चिट्ठी नियमित रूप से आती रहती है, लेकिन इन दिनों उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं चल रहा।"

दस

रेलवे के द्वितीय श्रेणी के प्रतीक्षा-गृह में काफी भीड़ हो गयी थी। मध्यरात्रि का समय था। सैकड़ों यात्री जहाँ कहीं जगह मिली, विस्तर फैलाकर सो रहे थे। कुछ

परिवार अपने सामान पर नज़र रखते हुए गप्पें हाँक रहे थे। कुछेक साथ में लाया खाना निकालकर खा रहे थे। आवारा युवकों की एक टोली ताश की बाज़ी लगाकर बैठी हुई थी। सोये हुए यात्रियों से मार्ग निकालते भिखारी, पुलिस और चायवाले चक्कर काट रहे थे। रेलवे के प्रतीक्षालय में कोयला, मलमूत्र और अन्न की सम्मिश्र तीव्र गन्ध नाक में घुस रही थी।

श्रीधर को इनमें से किसी चीज़ का पता नहीं चल रहा था। वह लगभग पूर्ण रूप से चेतनाशून्य अवस्था में एक खम्भे से टिककर अधखुली आँखों से सामने का दृश्य देख रहा था। लेकिन सच्चाई तो यह थी कि वह कुछ भी नहीं देख रहा था। उसकी आँखों में कोई भाव नहीं था, जैसे दृष्टि खो गयी हो। वह कौन सी स्टेशन पर कब और कैसे उतरा, यह भी नहीं जानता था। उस श्रद्धालु बूढ़े मुसलमान के गाड़ी से उतर जाने के बाद उसने अपने आपको गाड़ी की ताल में भुला दिया था। 'कहाँ चला···कहाँ चला···किसलिए ···किसलिए?' स्टेशन आ रहे थे, जा रहे थे। लोग चढ़-उतर रहे थे। गाड़ी में खचाखच भीड़ होती जा रही थी। बीच में एक वीरान जगह में कितने ही घण्टों तक गाड़ी रुकी रही। कोई दुर्घटना हुई दिखाई दे रही थी। लोग परेशान नज़र आ रहे थे। खचाखच भरे डिब्बे में कुछ महिलाएँ और बच्चे रो रहे थे। लेकिन श्रीधर को किसी भी बात की सुध नहीं थी। वह अपनी जगह पर आँखें मूँदकर समाधिस्थ-सा होकर बैठा हुआ था। काफी देर बाद गाड़ी चल पड़ी। दुर्घटना-स्थल से गुज़रते हुए रेल की पटरियों के किनारे-किनारे सफ़ेद चादरों से ढके हुए शव दिखाई दिये। अगले स्टेशन पर खान-पान के लिए लोगों ने काफी हुड़दंग मचाया। अगले किसी स्टेशन पर गाड़ी रुकी और डिब्बा खाली हुआ। फिर भी श्रीधर उसी स्थिति में बैठा हुआ था। किसी झाड़ूवाले ने आकर उसे नीचे उतरवाया। श्रीधर यों नीचे उतरा जैसे नींद में चल रहा हो। प्लेटफार्म पर समाचार-पत्रों की दुकान की तरफ़ उसकी नज़र गयी और अनायास ही उसके क़दम उसकी ओर मुड़ गये।

श्रीधर ने टाइम्स ऑफ इण्डिया का अंक उठाया। वहाँ के नौकर के कुछ भुनभुनाने पर जेब में हाथ डालकर कोई एक नोट निकाला और उसे थमाकर चल पड़ा। उस नौकर के चेहरे पर आश्चर्य और हैरत के भाव थे, उन्हें अनदेखा किया और खुले पैसे वहीं पर छोड़ दिये। वैसे उस नौकर का भुनभुनाना भी अपनी जगह ठीक ही था क्योंकि अब श्रीधर का हुलिया देखने लायक हो गया था। उसके बाल अस्त-व्यस्त, धूल से सने हुए थे। दाढ़ी काफ़ी बढ़ चुकी थी। और जो कपड़े पहन रखे थे वह बहुत ही मैले-कुचैले लगने लगे थे। गाड़ी की भीड़ में बूट खो गये थे और उसका व्यक्तित्व अब पुलिस का ध्यान आकृष्ट करने वाला हो गया था।

खबरें देखने का तो सवाल ही नहीं था। यन्त्रवत् उसने छोटे विज्ञापन वाला

पन्ना निकाला और वही देखने लगा। कुछ ही क्षणों में उसे जो चाहिए था वह विज्ञापन दिखाई पड़ा। उसने निर्विकार मन से अखवार वन्द किया और उस पर बैठ गया। उसकी चेतनाशून्य अवस्था में उस विज्ञापन ने कुछ चेतना लाने का आंशिक प्रयास किया था। और उसने उस अखबार का अंक खरीदकर वह विज्ञापन ढूँढ़ निकाला। इसी से यह स्पष्ट था कि वह विज्ञापन उसे अपेक्षित लगा था और उसे अखवार में देखकर निश्चित रूप से अच्छा लगा ।

"प्रिय श्री, तुम कहाँ हो ? तुम्हारी सवको वड़ी ज़रूरत है, चले आओ…" एस वस। इतना ही विज्ञापन, वह भी आज ही के अंक में है और वह अंक उसके हाथ लगा है, इस वात का उसे थोड़ा आश्चर्य हुआ। और इतने वर्षों के वाद भी शशी ने वह काम किया था जिसका उसे सुखद आश्चर्य भी हुआ। वह काल की गति जानना नहीं चाहता था। वह पूर्णतः स्थल-काल-निरपेक्ष होना चाहता था। अपने चरवीयुक्त, गर्विष्ठ जीवन की खाल उतारकर खुली आँखों से इस दुनिया और जीवन की तरफ़ देखने का वही एक मार्ग था। लेकिन इस स्थल-काल-निरपेक्ष समाधि अवस्था में भी कुछ यादें उसे इस तरह जकड़कर रख सकती हैं, इसका उसे आश्चर्य और दुख हो रहा था। शशी के वन्धन के प्रभाव ने उसे चकरा दिया था। उसके इस तरह अचानक ग़ायव होने से उसकी कम्पनी ने, चेयरमैन ने क्या किया होगा, यह जानने में श्रीधर को कोई दिलचस्पी नहीं थी। लोर्ना ज़रूर हिल गयी होगी। लेकिन यह अपेक्षा क्यों है कि शशी को मेरी तलाश करनी चाहिए ? सच, पिछले आठ-दस वर्षों में हम एक-दूसरे से इतने दूर जा चुके हैं फिर भी यह अपेक्षा क्यों है ? सव कुछ भुलाकर भी जान-बूझकर उत्सुकता से मेरा अखबार खरीदना और वह विज्ञापन ढूँढ़ निकालना। सच तो यही है कि इतने सालों के वाद भी मैं शशी को भूला नहीं हूँ। ऐन क्रायसिस के वक़्त वस उसी का स्मरण होता है। शशी की सोच को मैं अपने मन से हमेशा के लिए निकाल नहीं पा रहा था, क्या वह शशी के रूप से मिल रहा है ? और शशी के साथ विताया जो आत्यन्तिक यातना का कालखण्ड था, तव मैं क्या इस भावना को समझता था ? क्या शशी की स्मृति उस स्थल-काल-निरपेक्ष अवस्था तक मुझे कभी पहुँचने नहीं देगी ?

कुछ-कुछ ग्लानि में होने की वजह से विचारों के अस्पष्ट प्रवाह श्रीधर के मन से निकल रहे थे लेकिन उनका उसकी चेतनाशून्य अवस्था पर कोई परिणाम नहीं हो रहा था। और एक अस्पष्ट विचार श्रीधर को बड़ा मज़ेदार लग रहा था। उसके इतने खोये-खोये होने के बावजूद उसकी जेव में वटुआ अपनी जगह पर था। कई वार उसने वह वाहर निकाला था। भीड़ में सबको उसके अन्दर भरी नोटों की थप्पी दिखाई दी थी। लेकिन अव तक वटुआ जैसा-का-तैसा था। रुपये किसी ने चुराये नहीं थे। इस दुनिया में अधिकतर लोग सज्जन हैं। चोरों की संख्या वहुत ही कम

है। रेलवे की भीड़ में भी ज़्यादातर लोग अच्छे ही होते हैं। हम ही जग को चोरों की नज़र से देखते हैं। मैं भी न जाने क्यों इस बटुवे को साथ-साथ लेकर घूम रहा हूँ ?

श्रीधर के शरीर में लगी अगन बढ़ती ही जा रही थी। क्या वह उस कालखण्ड में उन घोर पापों के पायश्चित्त का यज्ञ था ? या फिर पिछले अनगिनत दिनों के उपवास से और शरीर को दी गयी यातनाओं से आयी यह केवल शारीरिक चेतनाशून्यता थी। उस बूढ़े द्वारा दिया हुआ दूध का गिलास भर उसे याद था। उस बात को कितने दिन हो गये ? उसके बाद पानी का एक गिलास तक पीया हुआ उसे याद नहीं था। श्रीधर को भूख की कोई संवेदना नहीं थी। उस भूख से और यातनाओं से शरीर को निचोड़कर उसके शरीर से वह ज़हर बाहर निकाल देना था। विचारों की विकृति को साफ़ करके पिछले जीवन के पापों से छुटकारा पाना होगा, सुस्ती को झटक डालना होगा, इन साफ़-सुथरे वस्त्रों पर ही नया जीवन का आरम्भ करके कुछ सीखना सम्भव होगा। उसके बिना इस जग के रहस्य का आकलन हमें हो नहीं सकता, जीवन की थाह का पता चल नहीं सकता, जीवन का प्रयोजन और अर्थ नहीं समझा जा सकता।

श्रीधर की हल्की-सी आँख लग गयी। शंका, कुशंका, प्रश्न और उत्तरों का गुत्थमगुत्था उसके दिमाग़ पर हावी था। उसके निग्रह को तोड़कर शशी का विचार फिर भी मन में आ ही गया। इस अनिश्चितता के चक्रव्यूह में इस क्षण शशी के साथ की उसे नितान्त आवश्यकता महसूस हुई। उसे उसकी आवश्यकता न होते हुए भी शायद मुझे उसकी कोमलता का पुरुषी संरक्षण करना चाहिए और उसे भी मुझ पर अपने भावनात्मक रक्षण के प्रेम का छत्र रखना चाहिए। इसी से वह अस्वस्थता दूर होगी, ऐसा भी उसे लगा। किसी विरही प्रेमी की तरह उस अर्धनिद्रा की अवस्था में शशी का नाम उसके मुँह से हल्के से बाहर निकला और उसका शान्त, मन्द और हँसमुख चेहरा उसकी नज़रों के सामने आकर चला गया। उस प्रक्षुब्ध निद्रावस्था में उसकी बन्द आँखों के सामने से वृन्दा, माँ, रामी, प्रोफ़ेसर शास्त्री, जगत, विश्वम्भर, धनंजय, शशी, सुलभा, जुत्शी, लोर्ना और कई अनगिनत चेहरे एक ही क्षण में धुँधलके से तैर गये। प्रेम और जीवन, प्रेम और श्रद्धा, प्रेम और आशा आदि का अन्योन्य सम्बन्ध, निष्प्रेम, एकाकी जीवन की अमानुष क्रूरता और विकृति के बारे में भी कई विचार तेजी से उसके अन्तर्मन को छूकर चले गये। उसकी यात्रा कितनी दूर तक, तनावयुक्त और टेढ़ी-मेढ़ी हुई थी। तूफ़ान में नौका उलझ गयी थी। लेकिन कोई बात नहीं, शशी का गहन साथ उसकी नौका की पतवार में नयी जान भर सकता है। उसकी यात्रा को नयी दिशा दे सकता है। कल, परसों, नरसों···कभी तो किनारा मिलेगा।

ग्यारह

निद्रितावस्था में कुलवुलाते हुए श्रीधर को किंचित् जागृत अवस्था का जब पता चला तव उसके शरीर में दाह हो रहा था। भूख भी अधिक सता रही थी। साथ ही उसे वार-वार ग्लानि का अनुभव भी हो रहा था। वह किसी गुफा में खिसकता हुआ आगे वढ़ रहा था। लेकिन यह गुफा ठण्डी-अँधेरी नहीं थी। उस विवर में चारों तरफ़ तप्त पाषाण थे। उष्णता से सारा शरीर दहक रहा था। धूमिल गरम वायु से दृष्टि अँधेरी हो गयी थी और दिमाग़ सुन्न हो गया था।

उसी अर्ध-सचेत अवस्था में नज़र के सामने के धुएँ से उसे एक आकृति अस्पष्ट-सी दिखाई देने लगी। सिर पर जटाएँ, अस्त-व्यस्त दाढ़ी। गेहुएँ वर्ण के चेहरे पर भस्म की रेखाएँ। लालिमायुक्त आँखें, कमर के ऊपर का स्थूल शरीर निर्वस्त्र । छाती और कन्धे पर भी भस्म के पट्टे। वह कौन है और उसकी तरफ़ क्यों देखकर मुस्करा रहा है, यह श्रीधर की समझ में नहीं आ रहा था। उस वैरागी ने श्रीधर के सामने एक काग़ज़ पर पूरी और सव्ज़ी रखी थी।

''ले वेटा, खा ले''—उसने आज्ञा दी।

श्रीधर ने एक पूरी और सव्ज़ी खायी।

वैरागी के साथ एक महिला भी थी, जो श्रीधर को वारीक़ी से देख रही थी। ''भगवान की तलाश में हो ?'' उसने पूछा।

श्रीधर ने सिर्फ़ सुन्न नज़र से उसकी तरफ़ देखा। उस वैरागी ने सामने किया हुआ दूध का प्याला उसके होठों से लगाया और 'क्या हो रहा है' यह समझने के पहले ही उसकी आगे वढ़ायी हुई चिलम भी श्रीधर ने हाथ में लेकर मुँह से लगायी। उसे ज़ोर की खाँसी आयी और फिर सारी दुनिया ही उसकी आँखों के सामने गोल-गोल घूमने लगी।

आगे की यह यादें आधी-अधूरी और एक-दूजे में मिल जाकर गोल-गोल घूमकर असम्वद्ध मण्डल वनानेवाली थीं। एक मण्डल से जैसे दूसरा मण्डल अलग किया नहीं जा सकता और जवरन करने से तीसरा ही फूट निकल रहा था। अस्त-व्यस्त दाढ़ी और जटाधारी, मैला केशरी वस्त्र पहने हुए वह वैरागी पहले तो उसकी तरफ़ देखकर मुस्कराता है, फिर उसकी मुद्रा कठोर होती है और वह विकट हास्य करने लगता है। श्रीधर की आँखों के सामने कुछ तेज के पुंज चमक रहे हैं, जैसे दिमाग़ में कोई विस्फोट हो रहा हो। वैरागी के साथ वाली महिला श्रीधर की पीठ थपथपा रही है। उस चिलम के धुएँ से उसके फेफड़ों में भी विस्फोट होने जैसा लगता है। प्रतीक्षागृह में जो अन्य लोग थे, वह आँखों के सामने तेजी से घूम रहे हैं—और

फिर उन्हीं के बीच फ़र्श पर लाठी ठोंककर वजानेवाला पुलिसवाला।

"ए···चलो···टिकट है···? नहीं है तो भागो··· यहाँ नहीं ठहरना है···चलो उठो···"

फिर नीली-जामुनी ठण्डी धूप में से नंगे पाँव चलना। पाँव के तलुवों में वर्फ़ की जलन। श्रीधर को सँभालने के लिए एक तरफ़ वह महिला और दूसरी तरफ़ वह वैरागी। एक अँधेरी कोठरी। श्रीधर के फेफड़ों में वार-वार होने वाला वह विस्फोट। अव उसकी आँखों के सामने दूधिया रंग की फ़िल्म-सी जम गयी है। उस दमघोंटू अँधेरी कोठरी में दिन और रात के वीतने तक का पता नहीं चलता। वैरागी, वह औरत और वीच-वीच में आने-जाने वाले असंख्य लोग—उनके चेहरे आपस में मिलते-टकराते हुए और कमरे में जैसे हमेशा के लिए जब्त किया हुआ वह धुआँ, श्रीधर स्थिर, सुन्न और जागृत अवस्था की सीमा-रेखा पर वन्दिस्त, जैसे कभी न खत्म होने वाले सपने में अटका पड़ा हो। उस सपने से बाहर निकलने की उसकी कोई इच्छा नहीं और न ही इस वात की संवेदना। वह तो जैसे सारी विचारशक्ति और इच्छाशक्ति खो वैठा है। क्या वह यही चाहता था ? और फिर इस ग्लानि में से कुछ-कुछ सुनाई देनेवाला कोहराम । वही नंगे पाँवों का सफ़र। धूप में वदन सूखता जा रहा है और वदन में जैसे विजली के वार-वार झटके लग रहे हैं। दिन का उजाला और सूर्य-किरण तीर की तरह आँखों में चुभ रही है। श्रीधर की इस सुन्न मनःस्थिति में जैसे इस उष्ण धक्के से एक दरार-सी हो गयी है, और इस दरार से झाँककर वह विस्मय से दुनिया को देख रहा है। वीच में ही कहीं सुनाई देनेवाली वस की घर्र···घर्र···अव पास में न तो वह दाढ़ी वाला वैरागी है और न ही अनिश्चित चेहरेवाली ममतामयी महिला। श्रीधर अकेला ही वस में वैठा हुआ है। यह कौन-सी यात्रा है, इतनी लम्वी और गोल-गोल घूमती हुई और भयानक चढ़ाव-उतारों वाली ? श्रीधर के खाली पेट में मतली-सी हो रही है। उसकी भी दाढ़ी और जटाएँ वढ़ गयी हैं। शरीर पर कौन-से मैले-कुचैले, फटे हुए चिथड़े पहने हुए है, इसका भी ध्यान नहीं। दाढ़ी के वालों में भी मिट्टी भर गयी है। हाथ के नाखून वढ़ गये हैं, मैल से काले हो गये हैं। कलाई और हाथों की नसें फूल गयी हैं और शरीर में जड़ शक्ति और चेतना के खोने जैसा हल्कापन। बस घुर्र-घुर्र करती चलती जा रही है। दिन और रात आते-जाते हैं।

श्रीधर की यात्रा ज़ारी ही है। अब वह जानलेवा ठण्ड में ठिठुर रहा है। ऊपर नीला अम्वर और दूर कहीं बर्फ़ का मुकुट धारण किये हुए शिखर। मैं कौन हूँ, कहाँ और किसलिए जा रहा हूँ—इस बात का कोई पता नहीं। तेजगति से घूमने वाले चक्र में बैठने पर आने वाला चक्कर और फिर अचानक समुद्र-तल में फेंके जाने जैसी घनेरी, ठण्डी शान्तता। इतनी शान्ति कि जैसे वह मर चुका है। अरे लेकिन

मैं तो मरना नहीं चाहता था ! यह इस तरह निरर्थक, निरूद्देश्य मरने का अर्थ है पूर्ण पराजय। नहीं, नहीं, इस समुद्रतल से ऊपर आकर मुझे पृष्ठभाग पर आना पड़ेगा, फेफड़े भर-भरकर मुक्त साँस लेनी होगी, फेफड़े आक्रोश कर रहे हैं। प्राणवायु के लिए दुनिया बुला रही है—जीने के लिए ऊपर आना होगा···ऊपर आना होगा। श्रीधर जी-जान से हाथ-पैर मारकर ऊपर आने की कोशिश कर रहा है। लेकिन उसके तन-वदन में अव ताक़त कहाँ है ! उँगली तक उठाने से पूरे तन-बदन में वेदनाओं का तूफ़ान उठता है। इस घनेरी, ठण्डी शान्ति में अनन्त काल तक पड़े रहने का मोह श्रीधर को जकड़कर रख रहा है। फिर भी इस मोह को तोड़कर अपार वेदनाओं का सामना करते हुए ऊपर पहुँचना ही है···ऊपर पहुँचना ही है।

बारह

ऐसी घनी शान्ति का अनुभव श्रीधर ने पाँचगनी के स्कूल में रहते वक़्त एक वार किया था। श्रीधर स्कूल में और छात्रावास में सबसे अशक्त और नाज़ुक लड़का था। स्कूल के लड़के और व्यायाम शिक्षक उसका हमेशा मज़ाक उड़ाते थे। ईशान भारत में होते हुए भी उसकी यही स्थिति थी। लेकिन उस वक़्त घर का सहारा हुआ करता था। पाँचगनी में वह वेहद अकेलापन महसूस कर रहा था। उसकी क्लास जंगलों में, पहाड़ों पर सैर के लिए जाती थी। श्रीधर अकेला भटकने से बिलकुल डरता नहीं था। लेकिन वहाँ के स्पर्धात्मक वातावरण में, उन लड़कों की गुण्डागर्दी के सामने वह जल्दी थक जाता था।

एक वार क्लास की सैर के वक़्त कुछ लड़के एक तालाब में उतरे। श्रीधर किनारे पर वैठकर मज़ा ले रहा था। वह तैरना नहीं जानता था। और बच्चे आग्रह कर रहे थे;, चिढ़ा रहे थे, मज़ाक उड़ा रहे थे। इस तरह के चिढ़ाने में धनंजय माहिर था। विश्वम्भर चुपचाप तैर रहा था। विश्वम्भर के शान्त स्वभाव की वजह से उन दोनों में काफी मित्रता हो गयी थी। धनंजय धींगा-मुश्ती में प्रवीण था। इसी छेड़खानी के दौरान किसी ने पीछे से श्रीधर को उठाकर पानी में डाल दिया। श्रीधर के शोर मचाने तक वह पानी में गिर भी चुका था और उसके नाक-मुँह में काफी पानी चला गया था। तड़फड़ाता, पानी गटकता, श्रीधर सतह के नीचे चला गया और उस घनी शान्तता ने श्रीधर को एकदम लपेट लिया। उसे लगा कि वह मर चुका है, नहीं तो

यह सारा शान्त-शान्त क्यों है ? वह तो मरना नहीं चाहता था।

जाहिर है, श्रीधर मरा नहीं था। साथ खड़े शिक्षक और धनंजय ने उसे पानी से वाहर खींच निकाला। पैर पकड़कर गोल-गोल घुमाकर उसकी छाती से पानी निकाल दिया। अन्य प्रथमोपचार किये और दो मिनट में श्रीधर को होश आ गया। दूसरे दिन धनंजय को सजा की तौर पर छात्रालय के किसी कमरे में बन्द करके रखा गया क्योंकि उसी ने श्रीधर को पानी में धकेला था। धनंजय ने वाद में उससे माफी माँगी और तब से उन दोनों में काफी मित्रता हो गयी। माँ की मृत्यु के बाद कुछ ही दिनों के बाद यह घटना हुई थी इसलिए श्रीधर ने प्रधानाध्यापक से अनुरोध किया था कि यह बात उसके पिता को न बतायी जाये, जिसे प्रधानाध्यापक ने फ़ौरन मान लिया।

माँ की मृत्यु से उदास हुए श्रीधर ने चुपचाप निश्चय किया कि आइन्दा वह ऐसा नहीं बना रहेगा। अपने समवस्यकों से वह किसी भी वात में पीछे नहीं रहेगा। पढ़ाई में तो वह सबसे आगे था ही। उसने अब अपने शरीर की तरफ़ भी ध्यान देने का निश्चय किया। उसने सुबह जल्दी उठकर दौड़ना, सूर्य नमस्कार, सुबह-शाम स्कूल के जिमखाने में जाना शुरू कर दिया। उसने अपना आहार बढ़ाया। नियमित रूप से शहद, दूध और अण्डे खाने लगा। कुछ ही दिनों में उसके चेहरे पर नयी ताज़गी नज़र आने लगी, उसमें स्नायु भरते नज़र आये। उसकी लम्बाई बढ़ने लगी। क्लास की फुटबाल की टीम में उसका चयन हो गया। दौड़ने की स्पर्धाओं में वह हिस्सा लेने लगा। उसने धनंजय से तैराक़ी सीखने की कोशिश भी की।

यह तो कहा नहीं जा सकता कि माँ के मरने का श्रीधर को सदमा पहुँचा क्योंकि उस वक़्त उम्र कम होने के बावजूद वह काफी समझदार बन चुका था। वृन्दा की मौत उसने अपनी आँखों से देखी थी। उस घटना के बाद काफी वर्ष बीत चुके थे। लेकिन वह स्मृति अव भी ताजा थी। मौत अब उसके लिए कोई नयी बात नहीं थी और आजकल माँ काफी बीमार चल रही थी। उसकी देखभाल के लिए रामी थी ही। छात्रावास में आने के बाद जो दो लम्बी छुट्टियाँ पड़ी थीं, उनमें जाकर वह माँ से मिलकर भी आया था। दोनों समय वह बिस्तरे में ही थीं। आखिरी भेंट में तो उसकी वापसी के वक़्त माँ के आँसू निकल आये थे। रामी भी रो रही थी। माँ जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी। अपने अशक्त हाथ श्रीधर के गालों पर फेरकर अपना जीवन भर का मितभाषीपन न छोड़ते हुए उसने बस इतना ही कहा, "सँभल के चलना बेटा, मेरे जाने के बाद तुम बिलकुल अकेले होगे ...."

श्रीधर कहना चाहता था—अकेला क्यों, बाबा हैं, रामी है और माँ कहाँ जाने की बात कर रही है ? उसका गला भर आया। लेकिन वह रोया नहीं। उसको प्रणाम करके वह चुपचाप बाबा के साथ चल पड़ा था। आजकल माँ की चिट्ठियाँ

भी वहुत छोटी-छोटी आती थीं। अपनी तरफ से वह नियमित रूप से चिट्ठियाँ डालता रहता था। पिछले दो महीनों में तो माँ की कोई चिट्ठी नहीं आयी थी। हर महीने वावा उसके स्कूल के खाते पर रुपये भेजते थे, साथ में छोटा-सा पत्र भी। अपने पिछले पत्र में उन्होंने लिखा था कि माँ की हालत वहुत बिगड़ चुकी है और उसे कलकत्ता के अस्पताल में दाखिल कराने का इरादा है।

इसीलिए उस दिन सवेरे-सवेरे जव स्कूल के प्रधानाध्यापक का चपरासी उसे वुलाने छात्रावास आया तो पहले तो श्रीधर को आश्चर्य हुआ लेकिन जव तक वह प्रधानाध्यापक के वँगले तक पहुँचा तवतक वह मन-ही-मन समझ चुका था कि क्या हुआ होगा। अव वह मानसिक रूप से तैयार था। प्रधानाध्यापक की पत्नी ने गम्भीर चेहरे से, लेकिन कुछ अधिक ही अपनत्व से, उसका स्वागत किया तो उसे आश्चर्य नहीं हुआ था। उसको छुप-छुपकर शोधक नज़रों से देखते हुए उसने उसे खिलाया-पिलाया। उसकी पढ़ाई के वारे में पूछताछ की। नाइट-सूट पहने हुए प्रधानाध्यापक वाहर के कमरे में आये। पहले उन्होंने अपनी पत्नी से पूछ लिया कि श्रीधर को ठीक से खिलाया-पिलाया है या नहीं ? फिर उसे खुद के सामने विठाकर उन्होंने पूछा, "तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है, श्रीधर ?"

"ठीक चल रही है, सर।"

अव उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह कैसे वात छेड़ें। उन्होंने इधर-उधर देखा, उनका उद्देश्य जानकर उनकी पत्नी भी पास आकर बैठ गयी। फिर सकुचाते हुए उन्होंने कहा, "श्रीधर, माय वॉय, यू आर यंग एण्ड यू आर आल्सो ब्रेव,…आरण्ट यू !"

श्रीधर ने सिर्फ गरदन हिलायी और वह फीकी हँसी हँसा।

"श्रीधर, मुझे रात एक तार मिला। वहुत बुरी खवर है।" प्रधानाध्यापक रुके और सहारे के लिए अपनी पत्नी की तरफ देखा। फिर वोले, "तार तुम्हारे पिताजी का है।" फिर एक कठिन क्षणभर की शान्ति…"खबर वुहत बुरी है…तुम्हारी माँ क्या वहुत अस्वस्थ थीं ?"

श्रीधर ने फिर गरदन हिलायी। खवर वह जान चुका था। मन में कुछ उमड़-उमड़कर आ रहा था लेकिन वह पराये घर में रोना नहीं चाहता था। उसने अपने गले में अटका कुछ प्रयत्नपूर्वक दवा रखा। वह गुमसुम बैठा रहा। प्रधानाध्यापक की पत्नी उसे विचित्र नज़रों से घूर रही थीं। फिर भी वह रोया नहीं। उनके आग्रह पर उसने सुवह का खाना वहीं पर खाया। दिन भर क्लास के सभी वच्चे उससे अत्यन्त सहानुभूति का वर्ताव कर रहे थे। शाम को प्रार्थना के बाद प्रधानाध्यापक उसका हाल पूछने छात्रावास आये। उन्होंने कहा, "ब्रेव्हो श्रीधर ! तुम सचमुच वहादुर लड़के हो।"

चार-पाँच दिनों में उसके पिता उसे मिलने आनेवाले थे; वह आये ही नहीं। उन्होंने कह भेजा कि वह महीने भर बाद आएँगे और फिर उन्होंने श्रीधर को ही वहाँ ले आने की व्यवस्था की। एक अत्यन्त दुर्गम जगह पुल का बड़ा कठिन काम तेज गति से चल रहा था और वहाँ से उसके बाबा का निकलना मुश्किल था। लम्बी यात्रा। शाम के वक़्त का वह पहाड़ी स्टेशन। उस अँधेरे में ताँगे में की हुई यात्रा। पुल बाँधने के काम पर स्त्री-कामगारों का वह गाना और नाच। बाबा दूसरे दिन सवेरे मिले। रामी भी वहाँ नहीं थी। वह कहाँ चली गयी, यह भी वह नहीं जानते थे। बाबा ने माँ की मृत्यु के बाद कैम्प बदला और रामी जैसी आयी थी, वैसी ही लौट गयी। श्रीधर की ज़िन्दगी से हमेशा के लिए चली गयी। उसकी अपनी ज़िन्दगी की में जो पहेली थी, उसे वैसी ही अपने साथ ले गयी।

तेरह

आत्यन्तिक जीवन तृष्णा से हाथ-पैर मारता हुआ श्रीधर बहुत प्रयासों के बाद साँस लेने के लिए जब पानी की सतह पर आया तब स्याह काले, स्वच्छ आकाश में अनगिनत तारे आराम से चमक रहे थे। सारा जग शीतल और शान्त था। प्रचण्ड उत्पात करने वाली भयानक आँधी के बाद चारों तरफ़ शान्ति फैलने का अनुभव हो रहा था। और नज़र के सामने वह भव्य आकाश। श्रीधर को अभी पता नहीं चल रहा था कि वह ठाणे के पास की आदिवासी बस्ती में है या विश्वम्भर के साथ सतपुड़ा के किसी जंगल में। शरीर थका हुआ था। धीरे-धीरे उसे को स्थल-काल का बोध होने लगा। उसे पता चला कि वह खुले आकाश के नीचे एक रस्सी की खटिया पर पड़ा है। और ठण्ड से बचने के लिए शरीर पर एक ऊनी ब्लैंकेट है। हवा में हल्की-हल्की ठण्ड है। —मतलब यह कि मैं जिन्दा हूँ। तब अभी जो देखा था, क्या वह एक डरावना सपना था ? अब मुझे ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए। लेकिन कौन से ईश्वर को ? निसर्ग के, इस भव्य, प्रगाढ़ आकाश के ? जीवन रहस्यमय ही सही, सुन्दर है और मैं मरा नहीं, अभी जीवित हूँ। यह कितनी अच्छी बात है !

जगने के बाद श्रीधर को कुछ हलचल हुई होगी। क्योंकि उसके बगल में कुछ आहट सुनाई देने लगी थी। दूर कहीं झाँझर की तालबद्ध आवाज़ स्पष्ट सुनाई दे रही

थी। कहीं से दीर्घ शंखध्वनि भी सुनाई दे रही थी। एक बूढ़ा श्रीधर की खटिया के पास आया और लालटेन ऊपर उठाकर उसे देखकर बोला, "अरी, ओ देख। लगता है यह जाग गया है।"

"आप ही देखें।" अन्दर से स्त्री की आवाज़ आयी। "न जाने कैसे-कैसे लोगों को रास्ते से उठाकर ले आते हो···भिखारी, चोर उचक्के···"

'शू:' उस आदमी ने उस स्त्री को डपटा, और फिर श्रीधर से नम्रता से पूछा, "महाशय, अब आप ठीक हैं ?"

श्रीधर ने गरदन हिलायी और फिर उठकर बैठने का प्रयास करने लगा।

बूढ़े ने उसका कन्धा हल्के से दबाया, और उसे फिर लेटा दिया।

"आप उठिए मत···" उसने मृदुता से कहा, "आप बहुत थके हुए हैं···" आप को आराम की आवश्यकता है।"

"मैं···मैं कहाँ हूँ ?" श्रीधर ने पूछा ।

"वह मैं बाद में बताऊँगा। आप सुरक्षित हैं। आप अभी विश्राम कीजिए। कुछ ही देर में गृहस्वामिनी आपके श्रमपरिहार के लिए भोजन तैयार कर देगी···।"

"मैं यहाँ कैसे आया ?"

"आप, यहाँ से नजदीक़ एक यात्रास्थल है, वहाँ आये हुए थे। एक तथाकथित वैरागी ने और उसके साथवाली स्त्री ने आपको नशेवाले पदार्थ देकर लूट लिया और राह में छोड़ दिया···।"

श्रीधर ने हाथ जोड़कर कहा, "मैं आपका आभारी हूँ !"

"ऐसा कहकर आप मुझे लज्जित न करें। उपकार अगर किसी के हैं तो परमेश्वर के हैं ।"

ऐसा कहकर वह सज्जन वहाँ से निकल गये।

श्रीधर ने अगल-बगल में देखा। उसकी खटिया एक खुले आँगन में थी। आँगन से लगकर ही घर की दीवार थी। घर एक-मंज़िला और पक्का था। प्रशस्त आँगन में फ़र्श लगे हुए थे और उसके चारों तरफ दीवारें थी। आँगन के बीच में एक तुलसी वृन्दावन। एक ओर छोटे से मन्दिर के गुम्बद जैसी आकृति उस अँधेरे में दिखाई दे रही थी। घर के दरवाज़े से और खिड़की से बाहर के अँधेरे को काटनेवाली प्रकाश-किरणें अन्दर आ रही थीं। दूर कहीं से शंखध्वनि और झांझर की आवाज़ अब अधिक स्पष्टता से सुनाई दे रही थी। इतने दिनों की चेतनाशून्यता के बाद तप कर तेज हुए सुवर्ण की तरह श्रीधर की मानसिक और शारीरिक संवेदनाएँ अधिक प्रखर हो गयी थीं। उस हवा में उसे सुदूर के हिमशिखरों का सान्निध्य नज़र आ रहा था और उस अपरिचित घर से आनेवाले अन्न के स्वाद से उसकी क्षुधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी।

कुछ देर बाद श्रीधर की आँखें खुलीं तो वह वृद्ध सज्जन लालटेन से उसके चेहरे पर प्रकाश डाल रहे थे। उनके साथ लम्बे काले बालोंवाली, माथे पर बड़ी बिन्दी लगाये, सुस्वरूप गृहस्वामिनी। उसके हाथ में भोजन की थाली थी। ग्लानि से बाहर निकलते हुए श्रीधर ने एक ही वाक्य सुना।

"मैंने कहा न तुम्हें, यह किसी लफंगे का चेहरा नहीं है।"

उसे उठा हुआ देखकर बूढ़ा चुप हो गया। औरत ने खटिया के पास एक छोटी-सी मेज़ रखी थी और बगल में तश्तरी। उसने थाली मेज़ पर रख दी।

बूढ़े ने कहा, "आप खाना खा लें। अन्न रसपूर्ण और पाचक है।"

हाथ और मुँह धोने के लिए वह आदमी गरम पानी भी लाया था। इतना रसपूर्ण, गरम और सात्त्विक अन्न श्रीधर ने जाने कब से नहीं ख़ाया था। दरअसल, न जाने पिछले कितने दिनों में उसे कुछ भी खाया हुआ याद नहीं था। उस दयालु महिला ने बड़े प्यार से श्रीधर को रोटियाँ, साग और दाल खिलायी। श्रीधर ने भी बहुत ज़्यादा तो नहीं खाया, लेकिन जो भी खाया, मन से खाया और हाथ धोने पर कुछ भी न कहना अशिष्ट होगा इसलिए उसने कहा, "आपका धन्यवाद करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।"

उस बूढ़े गृहस्थ के बगल में उनकी पत्नी भी तब शाल ओढ़कर बैठी हुई थी। बोली, "अतिथि महोदय, हमें लज्जित न करें। हमने तो बस अपना कर्तव्य किया है। हर रोज़ अतिथि के भोजन से पहले भोजन न करने का इस घर का रिवाज़ है। आज सवेरे उपवास पड़ा।"

"लेकिन इस तीर्थस्थान में अतिथियों की कमी तो नहीं होनी चाहिए।"

"वह तो सही है लेकिन कभी-कभी अतिथि न मिलने की वजह से कई दिनों तक उपवास करना पड़ता है। विशेष रूप से जाड़े के दिनों में—यह हमारी गृहस्वामिनी का व्रत है।"

श्रीधर ने कृतज्ञता से गृहस्वामिनी की तरफ देखा। वह बोलीं, "अतिथि महाशय बहुत थके हुए नज़र आ रहे हैं। उनके कुछ दिन बड़े कष्टों में गुजरे हुए लगते हैं। हमारी प्रार्थना है कि आज का दिन वह यहीं विश्राम करें।"

श्रीधर ने कुछ भी न कहते हुए कृतज्ञता से स्वीकार करते हुए गरदन हिलायी। हवा में ठण्ड बढ़ रही थी। और अब चारों तरफ नीरव शान्ति थी। शंखध्वनि रुक गयी थी। उन महाशय ने कहा, "आपके वेष से नहीं, लेकिन हम यह जान चुके हैं कि महाशय किसी अच्छे घराने के पुरुष हैं। इस वक़्त शरीर कृश लग रहा है और कान्ति म्लान है लेकिन आपका ख़ानदानी तेज छुपाये नहीं छुप रहा। सच है न ? आप कहाँ से आये हैं और कहाँ जा रहे हैं, इसका अगर पता चले तो अच्छा होगा। उस पाजी बैरागी के चंगुल में आप कैस फँस गये ?"

श्रीधर ने हँसकर धीमे स्वर में कहा, "मैं एक सीधा-सादा यात्री हूँ, फिलहाल बस इतना ही मानकर चलिए। यथासमय मैं अपना परिचय दूँगा ही। उस वैरागी के चंगुल में मैं कहाँ और कैसे फँस गया, यह तो मुझे ठीक से याद नहीं। लेकिन हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि वह वैरागी लुच्चा था। मेरे पास बहुत सारे रुपये थे। मैं अब तक मुक्त भटका हूँ। रेलवे प्लेटफार्म पर सोया हूँ, भीड़-भड़क्के में घूमा हूँ, लेकिन मेरा एक भी पैसा चोरी नहीं हुआ। अब देखता हूँ कि इस वैरागी ने मुझे अकिंचन कर छोड़ा है। इतना ही नहीं कुछ मादक पदार्थ खिलाकर मेरे स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचायी है। मुझे अकिंचन होने का उतना बुरा नहीं लगा बल्कि समाधान ही लगता है; क्योंकि अब मैं पूर्ण रूप से मुक्त हो गया हूँ। हाँ, विषाद है तो मात्र इसी बात का कि वैरागी ने मुझको लूटा है।"

"ओह !" यजमान दम्पती ने एक साथ कहा।

"यह तो जग की रीत है।" उस महिला ने कहा, "भरोसा करना ही है तो सामान्य जनों का करना चाहिए, क्योंकि वह सहसा धोखा नहीं करते। इन वैरागियों ने तो धर्म के नाम पर कालिख पोत दी है। इनके जत्थे, लूटनेवालों की टोलियों से कम तो नहीं हैं । गुण्डागर्दी करते हैं, दान की जबरदस्ती करते हैं। चरस, गाँजा के नशे में रहते हैं···छीःछीः।"

"सभी वैरागी और गुसाई वैसे नहीं होते। कुछ सच्चे साधक भी होते हैं लेकिन कुछ लोग इसी में फँसकर रह जाते हैं। फिर इस बात को कैसे भुलाया जा सकता है कि यह भी साधना का एक मार्ग है ?"

"यह भी कोई मार्ग हुआ ?" उस महिला ने तुनककर प्रश्न किया। "यह कौन-सी पुस्तक में लिखा है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए चरस लो, गाँजा पिओ, मद्यपान करो और नंगा नाच दिखाओ ? पिछली बार प्रयाग के उस नंगे गुरु ने जो हुड़दंग मचाया था, उसे क्या आप भूल गये ? यह भी क्या धर्म सिखाता है ?"

सज्जन मन्द मुस्कराये और फिर श्रीधर की ओर मुड़कर बोले, "आस्तिकों में भी नास्तिक होते हैं, यह उसी का उदाहरण है। वैसे देखा जाय तो हिन्दू धर्म की यही एक मज़ेदार बात है। मोक्षप्राप्ति के या परमेश्वर-साधना के सैकड़ों मार्ग उपलब्ध हैं। आप जो चुनना चाहें, चुन लीजिए। और ये मार्ग आपको किसी भी अधिकृत ग्रन्थ में दर्शाये नहीं गये हैं। ये अपने आप परम्परा से विकसित होते आये हैं। चाहें तो आप भी कोई नया मार्ग स्थापित कर सकते हैं। कुछ अघोरी शाक्तपन्थी उपासक कौन-से मार्ग से जाते हैं, यह तो आप जानते होंगे ? हमारे उत्तरप्रदेश में तो इन अघोरी पन्थों का बहुत ही प्रचार हुआ था।"

उसी वक़्त किसी अमेरिकन इंजीनियर का मत-प्रदर्शन श्रीधर को याद आया। वह इंजीनियर स्कॉलर था और उसकी भारत में रुचि थी। एक पार्टी में बातों-बातों

में उसने कहा था, "आपका हिन्दू धर्म बहुत अजीब धर्म है। मनुष्य को अत्यन्त ढोंगी, स्वार्थी, लुच्चा और मतलबी बनानेवाला और कोई धर्म नहीं होगा, कोई अन्य धर्म मनुष्य को इतना आलसी, निर्बुद्धि और चेतनाहीन नहीं बनाता होगा। आपका धर्म प्रतिगामी; लालची, पूँजीवादी है, भौतिकवाद की तरफ़दारी कर सकता है। अत्यन्त क्रूर शोषण का समर्थन कर सकता है। आप शैतान की भी बेझिझक पूजा कर सकते हैं। कोटि-कोटि लोगों को आपके धर्म ने रेंगनेवाले कीड़ों की तरह बना दिया है। सच तो यही है कि आपका यह विचित्र धर्म ही आपके देश की और समाज की अधोगति का कारण है।

यह नहीं कि उस अमेरिकी सज्जन को मद्य का नशा चढ़ा था। वह जो भी कह रहा था, सच्चे मन से कह रहा था। मद्य की वजह से उसकी ज़बान ज़रा खुल गयी थी, बस बात इतनी ही थी। लेकिन वेंकटेश्वरन, जो पार्टी में था, बहुत बुरा मान गया। हर महीने में एक बार शंकराचार्य के दर्शन करने के लिए जाने का उसका नियम था और साल भर में एक बार तिरुपति भी। वह फैशनेबल सूट पहने हुए था लेकिन उसकी भौंहों के बीच लगा चन्दन का अस्पष्ट छोटा-सा टीका साफ़-साफ़ नज़र आ रहा था।

"यू अमेरिकन्स···व्हाट डू यू नो आफ हिन्दूइज़्म ?" वेंकटेश्वरन अपनी आवाज़ चढ़ाकर दाक्षिणात्य उच्चारण में बोला, "क्या तुमने वेद पढ़े हैं ? उपनिषद् पढ़े हैं ? अगर नहीं पढ़े तो तुम्हें हिन्दू धर्म पर बोलने का कोई अधिकार नहीं है। पहला अणुस्फोट देखा तो ओप्नहायमर को, जो सहस्र सूर्यों की कल्पना सूझी, वह वेदों से है, क्या यह जानते हो तुम ? आधुनिक विज्ञान में विश्व की उत्पत्ति और उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में संकल्पनाएँ, जड़ और चिद्शक्ति की आइंस्टाईन द्वारा कल्पित एकरूपता—इन सबका सूत्र रूप में वेदों और उपनिषदों में उल्लेख है, यह भी तुम जानते हो ?"

वेंकटेश्वरन उत्तेजित होकर न जाने क्या-क्या कहता रहा। उसकी बात जब खत्म हुई तो गोरे इंजीनियर ने शान्त स्वर में कहा, "माफ कीजिए जो मैंने आप लोगों का दिल दुखाया। वेदों और उपनिषदों में कितना उच्चकोटि का तत्त्वज्ञान बताया गया है, यह मैंने सुन रखा है, लेकिन मैं इस सैद्धान्तिक तत्त्वज्ञान की बात नहीं कर रहा हूँ। धर्म केवल तत्त्वज्ञान नहीं है। धर्म का अर्थ है सामाजिक जीवन के नियम, सामाजिक नीतिमूल्य, पारिवारिक नीतिमूल्य और व्यक्ति और समाज के मूल्यों का पारस्परिक सम्बन्ध। इस दृष्टि से अगर आपके धर्म को देखा जाय तो आप ही देखिए कितना गम्भीर विरोधाभास मिलता है। नहीं तो आप लोगों के धर्म में यह जाति-भेद जैसी विकृत संस्था कैसे पैदा होती ?"

वेंकटेश्वरन उस दिन बहुत भड़क उठा था। सात्त्विक सन्ताप से वह आग-बबूला

हो गया था। मद्य और सात्त्विक सन्ताप का कॉकटेल पंचतारांकित होटल से शब्दशः उठाकर श्रीधर की गाड़ी में रखना पड़ा था। दूसरे दिन दफ्तर में वेंकटेश्वरन ने शान्त स्वर में श्रीधर से कहा, "तुम जानते हो, कल मुझे इतना गुस्सा क्यों आया था ? इसलिए नहीं कि कोई गोरा आदमी हम पर दोषारोपण कर रहा था, बल्कि इसलिए कि उसके बोलने में बहुत ही तथ्यांश था।"

श्रीधर ने उस दम्पती से कहा, "मुझे लगता है हिन्दूधर्म का तत्त्वज्ञान बहुत प्रगाढ़ है। लेकिन दैनन्दिन जीवन में जो नीतिमूल्यों के अतिरेक की विविधता और कर्मकाण्ड घुसा है, उससे इस तत्त्वज्ञान में ग्रहण लग गया है। यह विविधता आत्यन्तिक प्रयोगक्षम भूमिका से उभरी होगी। विश्व की भव्यता के सामने मनुष्य की क्षुद्रता, अनन्तकाल की संकल्पना में मानव-जीवन की क्षणभंगुरता—यह अत्यन्त उदास कर छोड़नेवाली एवं भयचकित करनेवाली बातें हैं। बेचैन कर छोड़नेवाली संकल्पनाओं से मुक्ति पाने के आत्यन्तिक आवेग से ही प्रयोगात्मक विविधता मोक्ष-साधन में और परमेश्वर की उपासना में आयी होगी, ऐसा लगता है..."

"आप तो बड़े ज्ञानी है, महानुभाव !"— उन सज्जन ने कहा। वह महिला विचारों में उलझी हुई मालूम पड़ती थी क्योंकि वह चुपचाप रही। कुछ समय स्तब्धता में बीता। फिर उन सज्जन ने कहा, "आपसे चर्चा करने में बहुत आनन्द आएगा। लेकिन अब आप विश्राम कीजिए।आप थके हुए हैं। अरे हाँ, मैं अपना परिचय देना तो भूल ही गया था। मैं लक्ष्मीदास। ब्राह्मण हूँ। उपासना की है। लेकिन अब वह सब छोड़कर इस तीर्थस्थल में धार्मिक पुस्तकों की दुकान चला रहा हूँ। यह गृहस्वामिनी, शारदामाई—इन्हें सब माई कहकर बुलाते हैं..."

"बस हो चुका !" माई ने कहा, "रात काफी हो चुकी है और ठण्ड बढ़ती जा रही है। उन्हें सोने दीजिए। उनका पलँग अतिथिघर में लगा दीजिए।"

साथ वाले कमरे में श्रीधर के सोने का प्रबन्ध किया गया था। ठण्ड काफी बढ़ चुकी थी। श्रीधर ने गर्म कम्बल ओढ़ लिया। निद्रा के अधीन होने से पहले उसने अपना मन निग्रह के साथ खाली किया। शशी तक का विचार बाहर निकाल दिया और कुछ ही क्षणों में वह सो गया।

चौदह

श्रीधर ने उस दम्पती से सच्चे मन से बात की थी। उसने अपनी ही व्यथा और

वेचैनी के बारे में उन्हें दताया था। वही सनातन बेचैनी, जो उसके जन्म लेते ही शुरू हुई थी। पाँचगनी के स्कूल में जिस वेचैनी को आकार मिला था, उसकी धार तेज हुई थी। छात्रावास में जो अकेलापन था, वही उसकी एकमात्र वजह नहीं थी। उस तरह के अकेलेपन का तो वह वचपन से अभ्यस्त था। और उस अर्थ में छात्रावास में अकेलापन था भी नहीं। कमरे में चार पलंग होते थे। उसमें श्रीधर के साथ धनंजय भी था। विश्वम्भर ऊपरवाले कमरे में था। आसपास छात्र ही छात्र थे। स्कूल में तो दच्चों का हुड़दंग हमेशा ही वना रहता था। फिर भी जंगलों में अकेले घूमने का अभ्यस्त श्रीधर वहाँ कुछ खोया-खोया-सा रहता था।

पाँचगनी या महाबलेश्वर का निसर्ग तो उसे कुछ खास बेचैन करनेवाला नहीं लगता था। वह कमाल की वेचैनी आसाम या पूर्वांचल के हिमालय के रौद्र गम्भीर निसर्ग ने उसे कब की दी थी। पाँचगनी का निसर्ग रम्य था, देवदार और लीची के विशाल वृक्ष, टेबललैण्ड पर बसन्त में खिलनेवाले चित्रविचित्र फूल, महाबलेश्वर से नज़र आनेवाली सह्याद्रि की अकराल-विकराल पर्वतराशि, दूर से नज़र आनेवाला प्रतापगढ़ का किला और तीन महीने बादलों और बरसात का साम्राज्य। घर पर जब बरसात रुकने का नाम नहीं लेती थी और रात-दिन अँधेरा छाया रहता था तो श्रीधर को यह उदास बेचैनी काटने को दौड़ती थी। उस स्थिति में वह माँ से या रामी से चिपका रहता था और अपनी बेचैनी को भगाने की कोशिश करता था। पाँचगनी में यह तो सम्भव नहीं था। कोहरे के घने बादल इकट्ठे होते और बारिश की खत्म न होनेवाली झड़ी लग जाती तो श्रीधर सहारे के लिए किसके पास जा सकता था? बादलों के गरजने से या बिजली कौंधने से तो श्रीधर को डर नहीं लगता था, लेकिन उनमें उसे वह अथाह उदासी देने का सामर्थ्य थी।

स्कूल में विज्ञान के अध्ययन ने उसकी इस बेचैनी की धार को और भी तेज कर दी। पृथ्वी के इर्द-गिर्द घूमनेवाला चाँद, सूर्य के इर्द-गिर्द घूमनेवाली पृथ्वी या अन्य ग्रह, इन जैसे असंख्य सूर्योवाली आकाशगंगा और अन्तरिक्ष ऐसी करोड़ों आकाश-गंगाएँ। यह चकरा देनेवाला ज्ञान वह नहीं चाहता था। उसी दौरान उसके विज्ञान-शिक्षक ने एक बड़ी दूरबीन से छात्रों को ग्रहदर्शन कराया। दो चन्द्रमावाला मंगल, नौ चन्द्रमा वाला विशाल गुरु और रहस्यमय पर्वतों से भरा पड़ा शनि। उसके न जाने विना ही, यह प्रचण्ड ग्रहपिण्ड आकाश में नियमित रूप से संचार कर रहे थे। यह नियम समझ लेना सम्भव था लेकिन कैसे, यह उसे मुश्किल लग रहा था। इस अहसास से श्रीधर के मन में अपनी क्षुद्रता का बोध गहरा होता जा रहा था और उसकी अस्वस्थता को आकार प्राप्त हो रहा था।

श्रीधर के सिर पर शरीर संवर्धन का भूत सवार हो गया। उसने समवयस्कों के बीच मज़ाक का विषय न बनने की ठान लेने के साथ-साथ यह भी देखा था कि

लम्बे-चौड़े शरीर के हट्टे-कट्टे बच्चे अधिक आत्मविश्वास के साथ रहते हैं। मैं भी अगर शरीर-संवर्धन से, स्नायु में समर्थता और कद की लम्बाई बढ़ाता हूँ तो मुझमें भी वह आत्मविश्वास पैदा हो सकता है और यह बेचैनी देनेवाले उदास प्रश्न पीछे पड़ सकते हैं। ऐसी उसे आशा थी। उसे किसी गुरु या मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं थी। स्कूल के ग्रन्थालय की पुस्तकों की मदद से उसने खुद अपने लिए एक शरीर-स्वास्थ्य का कार्यक्रम बनाया था। भोर में वह छात्रावास से बाहर निकल जाता और दौड़कर तीन-चार मीलों का चक्कर लगा लेता, उसके बाद व्यायामशाला में कसरतें···कुछ महीनों तक उसने योगाभ्यास का भी शिक्षण लिया। दूध, पानी, अण्डे, शहद और सब्जियों की नियमित खुराक उसने शुरू की थी। उसके शरीर पर नया तेज़ दिखाई देने लगा था, स्नायु पुष्ट होने लगे थे। लम्बाई तो बढ़ ही रही थी। अपने आपमें एक नया आत्मविश्वास उसे जागृत होता मालूम पड़ा था। अपने पत्र में उसने जगत को लिखा था :

"शरीर को दुर्लक्षित मत रखो। मैंने तो शरीर-संवर्धन के लिए कुछ ठोस प्रयत्न करने का निश्चय किया है। शरीर ही हमारे अनुभवों का माध्यम है। उसके स्वस्थ होने से कई सवाल हल हो जाते हैं। प्रश्नों पर विजय पाने के लिए नया आत्मविश्वास मिलता है। तुम भी अपना ख्याल रखना, तुम तो सेना में जाने की सोच रहे हो, शरीर को स्वस्थ रखना, तुम्हारे लिए अत्यावश्यक है।"

श्रीधर ने अपने पत्र में कुछ आसान और प्रभावी व्यायाम के प्रकार जगत को बताये थे। वह जब कुछ करने की ठान लेता था तो उसे कर ही छोड़ता था। इर्द-गिर्द की कठिनाइयों को तीर की तरह चीरकर वह अपने उद्देश्य की तरफ़ बढ़ता जा रहा था। और तब कोई भी बात करने की सोच लेता था तो वह उसे असम्भव है या असाध्य है जैसा विचार भी उसके मन को नहीं छूता था।

जब वह मैट्रिक की क्लास में पहुँचा, तब उसका कसा हुआ शरीर मँजे हुए खिलाड़ी की तरह शक्तिशाली, लचीला और वेगवान हो चुका था। उसका दिमाग़ भी तेज हो गया था। जैसे शरीर सामर्थ्य का प्रभाव दिमाग़ में बढ़ता जाता है, उसी प्रमाण में दिमाग़ में बेचैन करनेवाले सवालों को काबू में लाने की क्षमता भी बढ़ती जाती है—इसका उसने अनुभव किया और बड़ी सहजता से मैट्रिक की परीक्षा दी। छुट्टियों में हर वर्ष की तरह बाबा के पास जाने की जगह उसने छात्रों के एक गुट के साथ दक्षिण भारत की यात्रा कर पुणे के कॉलेज में अपना दाखिला लिया। और वहाँ छात्रावास में चला गया। वह कला शाखा में आ गया था। विश्वम्भर ने पुणे में कोई और कॉलिज ढूँढ़ लिया था, उसने इंजीनियरिंग करने की सोची थी। श्रीधर के पिता भी चाहते थे कि श्रीधर भी सिविल इंजीनियर बने लेकिन उन्होंने इस बात के लिए उस पर कोई ज़ोर या दबाव नहीं डाला था और न ही ज़्यादा आग्रह किया

था। श्रीधर ने उन्हें लिखा था :

"विज्ञान विषय में मुझे अच्छे अंक मिले हैं लेकिन मैं कॉलेज में विज्ञान लेकर इंजीनियरिंग करना नहीं चाहता। विज्ञान के लिए मेरे मन में कौतूहल अवश्य है, उसका उपशम मैं पुस्तकें पढ़कर कर सकता हूँ। मैं भाषाओं का अभ्यास करना चाहता हूँ। अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र, तत्त्वज्ञान आदि में मुझे बहुत रस मिलता है। मैं इन सबको पढ़ना चाहता हूँ। मेरा यह आत्मविश्वास है कि अच्छे अंक पाकर मैं विज्ञान शाखा की तरफ जा सकता हूँ लेकिन वहाँ मेरा मन नहीं लगेगा इसलिए फिलहाल कला शाखा का ही चयन किया है..." जगत को भी कैम्ब्रिज स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा में अच्छे अंक मिले थे और उसने दिल्ली के एक उच्च कॉलेज में कला शाखा में प्रवेश लिया था। सेना में अधिकारी बनने का उसका निश्चय कायम था।

जगत ने लिखा था, "इस कॉलेज के अधिकतर छात्र उच्च सेना के या सरकारी अधिकारियों के बच्चे हैं। सबके ध्येय लगभग तय हैं। कोई लश्कर में जाता है, कोई सेना में तो कोई वायुसेना में। आई. ए. एस. और आई. एफ. एस. की तमन्ना रखनेवाले भी अनेक हैं। कॉलेज में सभी विषय पढ़ाये जाते हैं, यहाँ तैयारी करवाने में कोई कसर नहीं छोड़ते। इस साल हमारे कॉलेज के छात्रों में से तेरह आई. ए. एस. बने, उन्नीस लड़कों को देहरादून की मिलिटरी अकादमी में प्रवेश मिला है और सात लड़के खडकवासला के नेशनल डिफेन्स अकादमी के लिए चुने गये हैं, यह हमारे कॉलेज का रिकार्ड है। इसीलिए अगले वर्ष अगर मेरा चयन हुआ और मैं देहरादून जाता हूँ तो मुझे आश्चर्य नहीं होना चाहिए। मुझे अब भी वे 1962 के दिन याद आते हैं। हमारे कैम्प से ट्रक भर-भर कर सैनिक हर रोज़ मोर्चे पर भेजे जा रहे थे। मेरे डैडी की वह रोबदार वर्दी अब भी मुझे याद है। एन. सी. सी. की वर्दी में वह समाधान नहीं मिलता। शरीर उस हरी वर्दी के लिए तरसता है। और युद्ध होता है तो मैं युद्ध-क्षेत्र में जाना चाहूँगा। तोपों का ढनढनाना, कानों के पास से बन्दूक की गोलियों का सूँ-सूँ करते निकलना और इनके बीच में अपने सैनिकों के साथ शत्रु के पोस्ट पर टूट पड़ना-जैसे सपने मैं आज भी देखता हूँ। मम्मी मेरे सेना में जाने के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन उनका विरोध कर मैं सेना में अवश्य जाऊँगा, यह तुम अच्छी तरह जानते हो। मुझे बहुत आश्चर्य हो रहा है कि तुमने अभी तक अपने भविष्य के बारे में क्यों नहीं सोचा ? अपना ध्येय निश्चित कर अभी से उसे पाने के प्रयास शुरू कर देना चाहिए। हाँ, वैसे तो तुम्हारी बात ही कुछ और है, तुम तो कभी भी संन्यासी बन सकते हो। क्या अब भी तुम वह पागलपन उसी तरह मन में लिये फिर रहे हो ? मुझे ज़रूर बताना। कुछ नया समझ में आये तो वह भी मुझे अवश्य बताना।

लेकिन अपना वह सनातन पागलपन श्रीधर ने कुछ देर के लिए दिमाग़ में वन्द कर रखा था। उस काल में वह आरोग्य-साधना से तो प्रभावित था ही, लेकिन पुणे लौटने के वाद उसका क्षितिज भी तेजी से विस्तृत हो रहा था। उसने दौड़ने, तैरने और कसरत का दिनक्रम भी बड़े सुनियोजित ढंग से ज़ारी रखा था। उसी के साथ-साथ पुणे के ग्रन्थालयों पर भी आक्रमण किया था। कॉलेज के विविध सांस्कृतिक कार्यक्रमों में उसकी रुचि वढ़ने लगी थी, वह परिचर्चाओं में चमकने लगा था। पुणे के विभिन्न युवक-आन्दोलनों की तरफ भी उसका आकर्षण वढ़ने लगा था। उसका वृत्तपत्रों का वाचन भी वढ़ गया था। संस्कृत और अँग्रेज़ी की सहायता से वह प्राचीन संस्कृत वाङ्मय पढ़ने लगा था और उससे कुछ आनन्द भी पा रहा था। लेकिन इसी के साथ-साथ आसपास की दुनिया में चल रहा तीव्र जीवन-संघर्ष भी उसका मन विचलित कर रहा था। कॉलेज के छात्रों के वीच उस दौरान नयी खलवलियाँ मची हुई थीं। नक्सलवादी आन्दोलन दूर होने के बावजूद उसका गहरा असर छात्रों पर हो रहा था। देश-भक्ति, देश-प्रेम जैसे सिक्के अब पुराने सिक्कों की तरह निष्प्रभ हो चुके थे। विहार और महाराष्ट्र में वहुत वड़ा अकाल पड़ा था। लोग वड़ी संख्या में शहर की तरफ भाग रहे थे। झुग्गी-झोंपड़ियों की संख्या वढ़ रही थी। 1965 के भारत-पाक युद्ध में जो आधी-अधूरी विजय मिली थी, वह नहीं के वरावर थी। प्रधानमन्त्री शास्त्री का देहान्त हो चुका था, इन्दिरा गान्धी प्रधानमन्त्री के पद के लिए चुनी गयी थीं। देश का सूत्र उन्हीं पुराने लोगों के हाथ में था। देश पर जैसे संकट की छाया पड़ गयी थी। वेकारों की सूची वढ़ती जा रही थी। देश के रसातल को जाने की निराशा का स्वर सर्वत्र निकल रहा था। वम्वई में शिवसेना का ज़ोर था। पुणे में 'युक्रांद', 'मागोपा' जैसे गुट उभर रहे थे। अन्धश्रद्धा विरोधी आन्दोलन अपने पूरे जोश में था।

श्रीधर इस कोलाहल को ध्यानपूर्वक देख रहा था। छात्रावास के होटल के सामने चाय के कप रखकर दोस्तों की चर्चाओं में घण्टों तक मगन रहता था। जमकर तर्क-वितर्क करता था, टीका-टिप्पणी कर रहा था और उस नशे में अपनी मूलभूत वेचैनी को भूल जाने की कोशिश भी कर रहा था।

"हमारा देश ही ऐसा कोहरामवाला, ग़ैरजिम्मेवार और अनुशासनहीन है। आमूलाग्र क्रान्ति के सिवा उसके सुधरने की कोई गुंजाइश नहीं है।" विश्वम्भर कह रहा था। वह इंजीनियरिंग का छात्र अवश्य था लेकिन उसने अपनी वैचारिकता ज़ारी रखी थी। आजकल वह मार्क्स, एंगल्स आदि पढ़ने लगा था और उनसे सम्मोहित-सा हो गया था।

"यह तुम कैसे कह सकते हो ? अभी स्वतन्त्रता मिले पूरे वीस साल भी नहीं हुए। अभी तो काफी कुछ करना वाकी है।" धनंजय ने कहा।

"लेकिन वहुत कुछ होने के पहले ही हम पूँजीवाद की चपेट में आते जा रहे हैं।"

"उसमें क्या बुराई है ? पूँजीवाद उतना तो बुरा नहीं है। अमेरिका को देखो, योरोप को देखो ···मैंने तो सुना है कि पूँजीवाद उन्नति के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है।"

"सहायक तेरा सिर।" विश्वम्भर ने तैश में आकर कहा। "देखो तुम अमेरिका और इंग्लैण्ड की बात मत करो। वहाँ का पूँजीवाद कितना विकृत है, शायद तुम अभी पूरी तरह जानते नहीं हो। उसके लिए तुम्हें थोड़ा अध्ययन करना पड़ेगा। हमारे देश के सम्बन्ध में जानते हो पूँजीवाद का मूलाधार क्या होता है ? फायदा, नफाखोरी, स्पर्धा, धन का लालच···रुपया कमाने के लिए कण्ठशोष ही व्यक्ति का ध्येय वन जाता है। हमारे देश में, जहाँ सत्तर प्रतिशत जनता अत्यन्त दरिद्र है, वहाँ इस तत्त्वज्ञान से कितना भयानक हाहाकार मच रहा है, उसे देखो···"

"लेकिन स्पर्धा तो कोई वुरी चीज़ नहीं है ?"

"अरे भाई, लेकिन जिनके पास स्पर्धा में उतरने की ताक़त ही नहीं है, जो अधमरे हैं, वह क्या करें ? वैसे ही मर जायें ? जो सुवह-शाम दूध, अण्डे, मुर्ग़ा खाता है वह अमीरज़ादा और जिसकी सारी ज़िन्दगी कुपोषण की लपेट में झुलसती है, ऐसा कर्मदरिद्री अभागा क्या इन दोनों में एक मील दौड़ने की होड़ लग सकती है ? हमारे जैसे देश में सभी साधन और सम्पत्ति जनता के हाथ में सौंपकर उसका विनियोग होना चाहिए।"

"दैट इज़ कम्युनिज़्म !" एक और छात्र चिल्लाया। "नहीं, कभी नहीं। हिन्दुस्तान में साम्यवाद कभी नहीं आना चाहिए। वह वड़ी जालिम व्यवस्था है। लाखों लोग मारे जाते हैं। ज़रा-ज़रा-सी वात पर जेल की हवा···नहीं···हरगिज नहीं।"

"वेटे, अगर तू नहीं जानता कि साम्यवाद क्या है तो तुझे उसके वारे में नहीं वोलना चाहिए।" सिगरेट जलाते हुए विश्वम्भर ने शान्ति से कहा, "जा वेटे, जा, अव घर जा। तेरी माँ राह देख रही होगी···या शायद तुझे आधी चड्डी पहनकर संघ की शाखा में जाना होगा···है न ? जा···"

उन दोनों की हाथापाई रोकते हुए श्रीधर और धनंजय के नाक में दम आ गया। धनंजय को साथ जुड़कर काम करने लायक दो आन्दोलन मिले—युवक क्रान्ति दल और अन्धश्रद्धा उन्मूलन आन्दोलन। श्रीधर धनंजय के साथ उसकी चर्चाओं में जाता था, उसके साथ-साथ वह विश्वम्भर के अभ्यास वर्ग में भी हाज़िरी लगाता था। लेकिन इन सब गतिविधियों, चर्चाओं में हिस्सा लेते समय वह मन-ही-मन जानता था कि उसकी रुचि सैद्धान्तिक चर्चा में है, उसे समझने की उत्सुकता है लेकिन प्रत्यक्ष आन्दोलन में सक्रिय सहभाग उसके बस की बात नहीं है।

"इसका कोई अर्थ नहीं है।" विश्वम्भर कहता। विचार और कर्म में जब तक मेल नहीं होता तब तक समाज का सर्जनशील विकास नहीं होता। तुम साफ़-साफ़ कह क्यों नहीं देते कि तुम्हें अपना भविष्य बनाना है। और फिर भविष्य बनाना कोई बुरी बात तो नहीं है !"

"तुम जानते हो विश्वम्भर, मैं इस तरह के भविष्य बनाने में विश्वास नहीं करता।"

"तो फिर तुम करना क्या चाहते हो ? मैं तो नहीं कहता कि किसी को पढ़ाई आदि छोड़-छाड़कर आन्दोलन में खुद को झोंक देना चाहिए। यह वह समय भी नहीं है। मैं स्वयं भी अपनी पढ़ाई पूरी करनेवाला हूँ। हमें सर्वरूप से स्वतन्त्र होकर ही अस्तित्व का सामना करने के लिए तैयार होना चाहिए। उसी से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। कैरियर भी बनाना नहीं चाहते तो तुम कर ा क्या चाहते हो ?"

"वही तो मैं नहीं जानता।" श्रीधर ने कहा। दरअसल, उसे कहना था कि मेरा झुकाव अध्यात्म की तरफ है। मुझे केवल पढ़ना है, जग को जानना है। विश्वम्भर को विषमता, अन्याय और शोषण से जितनी चिढ़ है, वैसी ही मुने भी है। विश्वम्भर उसे दूर करने के लिए लड़ने वाला है। वह अन्याय और विषमता को मिटाना चाहता है। यह सब मुझे भी ठीक नहीं लगता। मुझे भी विश्वम्भर के संघर्ष में हिस्सा लेना चाहिए। लेकिन मेरी अपनी उत्सुकता है, इस भयानक असन्तुलन के पीछे जो कारण है उसे जानने की। मेरे सभी प्रयास उसी दिशा में हैं।

विश्वम्भर श्रीधर की अस्वस्थता को जानता था। पाँचगनी के स्कूल के दिनों से वह श्रीधर को क़रीब से जानता आया था। उसकी मूलभूत उदासी, उसका अबोल एकाकी स्वभाव वह जानता था। पुणे के कॉलेज में आने के बाद श्रीधर अपने इस स्वभाव में परिवर्तन लाने के लिए जो प्रयास कर रहा था, उससे भी वह भलीभाँति परिचित था। इतना ही नहीं, वह उसे उसके लिए बढ़ावा भी देता आया था, लेकिन श्रीधर की वेदना की गहराई वह जानता नहीं था।

महत्प्रयास से दिमाग़ में गाड़कर रखे हुए श्रीधर के इन अस्वस्थ प्रश्नों का लावा एक दिन अचानक बाहर फूट निकला। पूरे दिन भर श्रीधर कॉलेज और पढ़ाई में लगा रहा था। अन्तिम लेक्चर खत्म होने के बाद वह घण्टे भर ग्रन्थालय में बैठकर बाहर निकला। हररोज़ के होटल के अड्डे पर जा बैठा। वहाँ पर कोई भी नहीं था। धनंजय किसी सभा में चला गया था। विश्वम्भर का कोई अता-पता नहीं था। बाहर शाम ढल चुकी थी। श्रीधर कुछ भी न करते हुए सुस्त ‸ठा रहा। आधा-पौन घण्टा बाद उसे बोरियत होने लगी और वह बाहर निकला तो अचानक ज़ोर से आँधी आयी और बादल गरजने लगे। अँधेरा छा गया। पाँच मिनट बरसात की झड़ी आकर चली गयी और आकाश शान्त हो गया। सड़कें बहुत ज़्यादा भीग गयीं। आधा-अधूरा

भीगा श्रीधर किसी छत के नीचे खड़ा था। ऊपर से अब भी पानी तड़तड़ टपक रहा था लेकिन बाहर तेजी से छँटनेवाले बादल कुछ आखिरी बूँदें बरसा रहे थे।

"माफ कीजिए साहब, थोड़ी-सी मदद चाहिए थी।" पूरी तरह भीगा, मैली शर्ट और फटा हुआ पैजामा पहना हुआ एक गँवार आदमी बहुत दीन होकर उससे कह रहा था। बहुत कृश होने की वजह से उसकी उम्र का पता लगाना कठिन था। उसके गाल की हड्डियाँ अन्दर की तरफ धँस चुकी थीं। उसके बगल में एक उसी के उम्र की महिला पल्लू से सिर ढँककर खड़ी थी। उसका पेट फूला हुआ था। वह काफी भीग चुकी थी, और संकोचवश श्रीधर की तरफ आँख उठाकर नहीं देख पा रही थी, दोनों नंगे-पाँव थे। उस आदमी के हाथ में एक मैला-सा थैला था और उस महिला के हाथ में एक गठरी।

श्रीधर ने प्रश्नार्थक मुद्रा से देखा।

"हम आज ही सोलापुर से यहाँ आये, साहब। हम कोई भिखारी नहीं हैं।" अपने हाथ में जो थैला था, उसे थोड़ा ऊपर उठाकर दिखाते हुए वह युवक बोला, "वहाँ तो खाने-पीने के लाले पड़ गये हैं—इसलिए जीने के लिए बाहर निकल पड़े, कभी पैदल तो कभी रेल से।"

श्रीधर की प्रतिक्रिया का अन्दाज लगाने के लिए वह युवक क्षण भर रुका, श्रीधर उससे नजरें बचा रहा था। उसे भीतर ही भीतर संकोच-सा हो रहा था।

"यहाँ बड़ी उम्मीद से आया था कि पुणे में हमारे गाँव की तरफ के लोग होंगे। सवेरे से ढूँढ रहा हूँ लेकिन पता ही नहीं चल रहा, बड़ी मुश्किल में फँस गया हूँ साहब...साथ में यह मेरी पत्नी इस अवस्था में..."

श्रीधर ने उसे आगे कुछ बोलने न दिया। जेब से दस का नोट निकालकर उस आदमी को थमा दिया और चुपचाप उसकी तरफ न देखते हुए वह अँधेरे में तेज़ रफ़्तार से चल पड़ा। बरसात से भीगे पड़े फर्ग्युसन रोड पर अँधेरे में से उसने बेचैनी से एक चक्कर लगाया और फिर विमनस्क, विचारहीन स्थिति में वह जब छात्रावास लौट आया, तो देखा कि उसी के कमरे का दरवाज़ा खटखटाते हुए एक पोस्टमैन खड़ा है।

"अन्दर कोई नहीं है। क्या है ?" श्रीधर ने पूछा।

"तार है साहब। श्रीधर... ?"

"मैं ही श्रीधर हूँ, लाइए..." श्रीधर ने पोस्टमैन को कुछ पैसे पकड़ाये और कुण्डी खोलकर, अन्दर आकर उसने बत्ती जलायी। यह उसके जीवन का दूसरा तार था—

"तुम्हारे पिता का पिछले शनिवार देहान्त हो गया। शरीर रखने की स्थिति में नहीं था। विधिवत् दाह-संस्कार कर दिया गया। आगे की व्यवस्था के लिए फ़ौरन

चले आओ।"—प्रमुख अभियन्ता।

तार हाथ में लिये श्रीधर सुन्न होकर अपने बिस्तर पर बैठा रहा। पहले उसे लगा इसमें सुन्न होनेवाली क्या बात है ? यह तो केवल परम्परा के प्रभाव से निकली प्रतिक्रिया है। माँ के साथ जैसे उसका घनिष्ठ भावनात्मक नाता था, वह बाबा के साथ कहाँ था ? बचपन में जब भी बाबा घर पर रहते थे, कभी-कभार उसे कहानियाँ सुनाते थे, या उसके प्रश्नों के सहनशील, सन्तुलित उत्तर देते थे। लेकिन बाद में वह उससे कटते गये। माँ इतनी दुखी और विरक्त क्यों हो गयी थी ? उसके और रामी के बीच वह कौन-सा रहस्य था ? —यह श्रीधर आखिर तक जान नहीं पाया था। लेकिन उसे यह हमेशा लगता आया था कि माँ की उस उदासीनता के लिए बाबा ही जिम्मेवार थे। और माँ के न रहने के बाद जब वह उनसे मिलने गया था तब का सूना खालीपन। उस रात जब उसे बाबा की सख्त ज़रूरत थी, वह आये ही नहीं। और उस वक़्त लौटते हुए बाबा जब रामी को छोड़ने आये थे, तब उन्हें गेस्ट हाउस में मिलने जो सुन्दर महिला आयी थी, वह कौन थी ? वह मुझसे इतने प्यार से क्यों पेश आ रही थी ? इसमें कोई सन्देह नहीं था कि बाबा ने उसकी पढ़ाई की बहुत अच्छी व्यवस्था करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। पाँचगनी में तो एक तारीख से पहले ही प्रधानाध्यापक के पास उनका मनीऑर्डर पहुँच जाता था। बाद में पुणे में भी उन्होंने बैंक में खाता खोल दिया था, जिसमें हमेशा पर्याप्त रुपये जमा रहते थे। उसे रुपयों की कमी तो कभी महसूस ही नहीं हुई। आगे-आगे वह उससे कटते जा रहे थे और दोनों के बीच अजीब-सी दूरी आ गयी थी लेकिन बाबा ने रुपये-पैसों को लेकर कभी चिन्तित होने नहीं दिया।

पलंग पर बैठकर सोचते हुए श्रीधर को एहसास हुआ कि बाबा की मृत्यु से उसे भाविक आघात नहीं पहुँचा है, कुछ और ही हुआ है। वह जो कुछ और ही था, वह क्या था, यह वह शब्दों में बता नहीं सकता था। माँ की मृत्यु और फिर बाबा की । बहन भी नहीं रही। कोई रक्त सम्बन्धी नहीं बचा, इसलिए क्या इन्सान को इतना बेचैन होना चाहिए ? लेकिन नहीं, प्रश्न केवल रक्त के नाते का नहीं है, जीवन का है, अस्तित्व के रहस्य का है। अब किनारा टूट चुका है, इस अथाह-अनन्त सागर में मेरी नौका अब बिलकुल अकेली है। मेरी जड़ें कट गयी हैं। पिछले तीन-चार वर्षों के लिए प्रयत्नपूर्वक शान्त रखे उसके दिमाग़ में जैसे किसी ने आग लगा दी थी।

श्रीधर ने तार मेज़ पर रखा। अब उसे सोचने के लिए मुक्त हवा की ज़रूरत थी। वह वैसे ही बाहर निकल पड़ा। रात हो चुकी थी। शाम की बरसात से धुली हुई सड़कें अब सूखने लगी थीं। हवा में सुखद ठण्ड थी। यातायात वाली सड़कें टालकर श्रीधर पैदल चल पड़ा, दिशाहीन अवस्था में मस्तिष्क में विचारों का तूफ़ान

और निरभ्र आकाश में स्वयं तेज़ से चमकने वाले अनगिनत सितारे। विचारों के आवर्त में फँसे श्रीधर को यह तक पता नहीं चला कि वह पुणे से बाहर सिंहगढ़ के निर्जन रास्ते पर चल रहा है।

जन्मदाता माँ और बाप दोनों चले गये ! अब मैं क्या शेष बनकर बचा हूँ ? बाबा के जीवन का क्या अर्थ था ? माँ के जीवन का क्या प्रयोजन था ? केवल मुझे जन्म देना और फिर घुट-घुट कर मर जाना ? अब मेरे जीवन का क्या अर्थ है? मेरे जन्म लेने का क्या उद्देश्य है ? मैं और मेरे आसपास के सब लोग किस चीज़ के पीछे भाग रहे हैं ? यह विश्व और यह जीवन एक विराट् सूनापन है और कुछ भी नहीं, ऐसा उसे प्रतीत होने लगा।

कुछ दिन पहले उसने डॉ. जयन्त नारलीकर के विश्व की उत्पत्ति पर भाषण सुने थे, और उन्हें सुनकर दंग रह गया था। इतने व्यापक, अनन्त और अपरिमित विश्व के सन्दर्भ में मेरे जीवन का , अस्तित्व का और कर्मों का क्या अर्थ है ? कोटि-कोटि वर्ष पहले हुआ पृथ्वी का जन्म, सूर्य-माला का पुरातन अस्तित्व और तारा-मण्डल की हज़ारों प्रकाश वर्षों तक दूर-दूर फैली हुई भव्यता। और ऐसे न जाने कितने तारा-मण्डल ? मेरे लिए एक छोटा-सा कीड़ा जो महत्त्व रखता है, विश्व के सन्दर्भ में मेरा अस्तित्व उससे भी छोटा है। सच, इस विश्व में मेरा क्या प्रयोजन है ? सजीव सृष्टि का निर्माण अगर ऐसी ही रासायनिक और आधिभौतिक प्रक्रियाओं से होता है तो फिर हमारे मन में यह 'मैं' की भावना कहाँ से आती है ? मेरे शरीर में यह जो 'मैं' है, वह क्या है ? यह क्रोध, लोभ, द्वेष, स्पर्धा, लाचारी, हिंसा, युद्ध, रक्तपात—यह सब क्या है ? किसलिए ? और हम भी इस क्षुद्र जीवन में इतना रस क्यों लेते हैं ? विश्व की व्याप्ति के सन्दर्भ में अपने जीवन की क्षुद्रता का पूर्ण ज्ञान रखने वाले महान् शास्त्रज्ञ, विद्वान्, पण्डित और समझदार लोग किस सामर्थ्य से इस भयानक क्षुद्रता को सहते हैं ? और वह भी अपने इस 'मैं'पन का क्या अर्थ लगाते हैं।

उस रात रातभर श्रीधर पागलों की तरह भटकता रहा था। कृष्णपक्ष की रात के उस घने अँधेरे में भी शहरी बत्तियों से दूर बहुत दूर काले-स्याह आकाश में बहुत छोटे-छोटे तारे साफ़ नज़र आ रहे थे और श्रीधर की कल्पनाशक्ति प्रकाश की गति की तेजी से वहाँ तक पहुँच रही थी।

एक खुली जगह में औंधे लेटकर चमचमाते सितारों से लदे उस आकाश को देखते हुए श्रीधर उलटे-सीधे विचारों के आन्दोलनों में गोल-गोल घूम रहा था। कभी उसे लगता था कि वह आकाश के जितना ऊँचा है और उसने चाँदनी को अपनी मुट्ठी में बन्द कर लिया है तो कभी अपनी नगण्य, अर्थविहीन अस्तित्व की परमक्षुद्रता का एहसास पाकर वह भूला-भटका-सा हो रहा था। उसे लगा कि यह जो प्रश्न वह

पूछ रहा है, वह तो सनातन प्रश्न है। सभी विचारवन्तों ने वह पूछे हैं—स्वयं से, एक-दूसरे से और अपने-अपने गुरु से। फिर भी इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल पाया है। 'मैं कौन ?' इस प्रश्न को तो उपनिषदों में कितनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है ! 'अहं ब्रह्मास्मि।' कितनी सुन्दर कल्पना ! हम सब उसी परमतत्त्व का हिस्सा हैं। मैं यानी यह ब्रह्माण्ड, मैं यानी यह आकाशगंगा, मैं यानी यह सूर्य, चन्द्र, तारक, यह पृथ्वी, फूल, फल, पक्षी, नदी—कितनी भव्य कल्पना ! लेकिन वह अपने मन का समाधान कर नहीं सकती । मन की चुभन और प्रगाढ़ वेचैनी, दूर कर नहीं सकती। व्यवहारी जग के मानवीय व्यापार का समाधान नहीं कर सकती। अगर यह ब्रह्माण्ड इतना भव्य, दिव्य और विशाल है तो यह विकृतियाँ कहाँ से आयीं ? ये भयानक असन्तुलन कैसे निर्मित हुए ? आम लोगों के हिस्से आनेवाला दुख और मुट्ठी भर लोगों को मिलनेवाला सुख, ग़रीबी अमीरी, विषमता, अन्याय, क्रूरता, शोषण यह सब क्या है ? मैं तो इसे अभी तक समझ नहीं पाया। मुझे अधिकाधिक अभ्यास करना आवश्यक होगा, अध्ययन करना होगा। मैं निरा अज्ञानी हूँ। यह अज्ञान का अन्धकार मुझ ही को दूर करना है। मुझे ही पहले अपने आपको समझना होगा। मुझमें जो 'मैं' है उसका कुछ महत्त्व तो अवश्य है। क्योंकि अगर हम न होते, तो हमारे लिए इस जग का अस्तित्व ही क्यों होता ? इसका मतलब यही है कि इस प्रचण्ड, असीम विश्व के अस्तित्व जितना ही आकार अपने 'मैं'पन का है। लेकिन मनुष्य मरता है तव क्या होता है ? उसका 'मैं'पन कहाँ जाता है ? यह 'मैं'पन जिसको आत्मा की संज्ञा दी जाती है यह क्या चीज़ है ? मेरे बिना जग चल सकता है लेकिन जग के बिना मेरा कोई अस्तित्व नहीं, यह कैसी पहेली है, इसे मुझे समझ लेना चाहिए। उसके बिना इस भयानक बेचैनी को भगाने का कोई उपाय नहीं है···

वहुत देर तक श्रीधर ऐसा ही सोचता हुआ, खुले आकाश के नीचे लेटा रहा। बीच-बीच में एकाध चमगादड़ उसके सिर का चक्कर काट जाता था। रात में जंगली जानवरों की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं।

और फिर चन्द्रोदय हुआ, भोर की शीतल हवा चलने लगी, और पक्षी जागने लगे तव कहीं श्रीधर उठकर खड़ा हुआ और धीमी गति से शहर की तरफ चल पड़ा।

श्रीधर छात्रावास में लौटा तो दिन निकल चुका था। उसके कमरे में धनंजय और विश्वम्भर वैठे मिले। कमरा विश्वम्भर की सिगरेटों के टुकड़ों से भरा पड़ा था।

"यह क्या, कहाँ था इतनी देर ?" अपने गुस्से को जब्त करते हुए धनंजय ने पूछा। "तार तो देख लिया लेकिन तू ग़ायब था। इसलिए विश्वम्भर के पास पूछने,

परिग्रहण संख्या

चला गया। सोचता रहा कि तू कहाँ होगा ?"

"अब आ तो गया न ? ...ठीक है।"

नया सिगरेट जलाते हुए चैन की साँस लेते हुए विश्वम्भर ने कहा, "धनंजय बहुत डर गया था..."

"डरा तो नहीं था। लेकिन हैरान ज़रूर था। यहाँ यह तार पड़ा हुआ था और तेरा कोई पता नहीं लगा, क्या पता किसी गाड़ी में बैठकर चल पड़ा होगा तो तेरा सामान भी...।"

"सॉरी यार। यों ही भटकता फिरा...विचारों के साथ बहता..."

दोनों मित्रों ने अपनी-अपनी तरफ से शोक जाहिर किया। "कब जाओगे ? वह कहाँ थे ? उम्र क्या थी ?" आदि पूछ लिया। श्रीधर विषण्णता से मुस्कराता बोला, "माफ करना, मैंने तुम लोगों को चिन्ता में डाल दिया। तार आया और एकदम जीवन-मरण, जीवन के प्रयोजन और निरर्थकता के बारे में सवाल मग्निक में उठ खड़े हुए, इसलिए बाहर निकल पड़ा...।"

"दॅट इज़ टिपीकली इण्डियन..."

कुछ देर तक स्तब्धता—

"सॉरी, मुझे इस वक़्त यह नहीं कहना चाहिए था।" थोड़ा सँभलकर विश्वम्भर ने कहा। "मुझे लगता है तुम वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से दुनिया की तरफ देखते हो इसलिए कह रहा हूँ—बुरा न मानना। या यह भी न समझना कि मैं कुछ विकृत बक रहा हूँ। सच कहता हूँ...कहूँ ? ...जब तुम्हारी यह खबर मुझे मिली तो मुझे किंचित् ईर्ष्या हुई...सॉरी बुरा तो नहीं मान रहे हो न तुम ? मुझे अपनी बात पूरी करने दो। मेरा यह मतलब था कि अब तुम सच्चे अर्थ से स्वतन्त्र हो गये हो। कोई भी परम्परा का, प्रेम या रिश्ते का पाश अव तुम्हें जकड़कर रख नहीं सकेगा। अब तुम्हारा भूतकाल पूरी तरह मिट चुका है। अब तुम यानी सिर्फ़ तुम और यह जग। मैं ठीक से बता नहीं पा रहा हूँ मैं जो कह रहा हूँ उसे किसी अन्य या विकृत अर्थ में मत लेना प्लीज। कैसे बताऊँ, तुम्हें ठीक से समझा पाऊँगा कि मैं क्या सोचता हूँ ?...मेरी ही बात लो ! हमारा घर परिवार बड़ा है। मेरी छह बहनें और दो भाई हैं, माँ-बाप हैं, दादाजी हैं, एक विधवा बुआ हैं। उन सबसे मैं सचमुच बहुत प्यार करता हूँ। एकाध साल घर केरल में जा नहीं पाया तो जाने के लिए तड़पता रहता हूँ...मैं अपने चाचा-चाची की वजह से यहाँ आया। वह भी मुझे अपनी सन्तान जैसा ही प्रेम करते हैं। हमारे नाते-रिश्तेदारों का परिवार विस्तृत है। सम्बन्ध बहुत स्नेहपूर्ण हैं..." विश्वम्भर रुका। उसने लम्बी साँस ली और श्रीधर को घूरता हुआ बोला, "इस सबके वावजूद, मैंने कहा कि मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है... अब तुम समझ गये कि मैं कहना क्या चाहता हूँ ?"

श्रीधर की मुस्कराहट में गहरी मित्रता की समझ थी। वह खिड़की के बाहर देखता रहा। खण्डाला की घाटी हरीभरी रम्य वनश्री पीछे जा रही थी। गाड़ी सह्याद्रि उतर कर बम्बई के समुन्दर की दिशा में तेजी से जा रही थी···

किसलिए···किसलिए···किसलिए···किसलिए···?

पन्द्रह

हफ्ते भर में श्रीधर बाबा लक्ष्मीदास के मठ से ऐसे घुल-मिल गया जैसे सालों से उसका वही दिनक्रम रहा हो। अपने बारे में कुछ भी न कहते-सुनते हुए भी दूसरे दिन से श्रीधर जैसे उन्हीं के परिवार का एक सदस्य-सा बन गया था। कुछ ही दिन पहले ही···या शायद उस बात को महीने हो गये थे, मैं नरीमन पॉइण्ट के एक टावर के उन्तीसवें मंज़िल के वातानुकूलित कमरे में बैठकर जेट युग में और पंचतारांकित संस्कृति में उठ-बैठ रहा था··· और फिर सब त्यागकर मस्तकलन्दर की तरह भूखे-पेट दर-दर भटक रहा था···और अब इस मध्ययुगीन तीर्थस्थल में मठ के यात्री की तरह रह रहा हूँ—इसका आश्चर्य करने तक की भी फुरसत श्रीधर को नहीं मिली। उस मठ में वह पूरी तरह समा गया था। भोर में, सूर्योदय से पहले प्रहर में उठकर वह बाबा लक्ष्मीदास के साथ ठिठुरती ठण्ड में घर से डेढ़ मील के अन्तर पर, गहरी घाटी से बहनेवाली अलकनन्दा पर नहाने के लिए और फिर प्रातः के आह्निक के लिए चला जाता था। बाबा ने ही श्रीधर को धूतवस्त्र और दो कुर्ते दिये थे। श्रीधर की दाढ़ी अब घनी और लम्बी हो गयी थी, जटाएँ स्वच्छ और सस्य-श्यामल हो गयी थीं।

गंगा के ठण्डे पानी से समूचे शरीर में बिजली दौड़ जाती थी। फिर दिन भर शरीर में वह चैतन्य की बिजली खेलती रहती थी। न जाने कितने सालों बाद श्रीधर ने बहती नदी में उल्लास से नहाना शुरू किया था। यह आनन्द अवर्णनीय था। स्नान के उपरान्त बाबा वहाँ के एक पाषाण पर आसनस्थ होते और कुछ देर तक ध्यान-धारणा करते। पहले दिन श्रीधर बाबा का ध्यान खत्म होने तक वहीं ठिठुरता बैठा रहा। दूसरे दिन से उसने भी साथ वाले प्रशस्त पत्थर पर बैठकर पद्मासन लगाया और प्राणायाम की शुरुआत की। बरसों बाद वह प्राणायाम की ओजस्वी शान्ति के आनन्द का पुनरानुभव कर रहा था। जब तक वह मठ वापस लौटते,

सूर्योदय हो चुका होता था और शारदामाई की पहली आरती खत्म होकर अन्य आरतियों की शुरुआत हो चुकी होती थी और मठ में आने-जाने वालों का ताँता लग गया होता।

स्नान से लौटने पर बाबा लक्ष्मीदास अपनी पोशाक पहनते। पूजा और कर्मकाण्ड में उनकी कोई आस्था नहीं थी। वह सब उन्होंने माई को सौंप रखा था। प्रातःकाल की ध्यानधारणा उनका वज्रनियम था। ठण्ड में जब हिमपात शुरू हो जाता तो उस स्थान के अधिकतम लोग नीचे के गाँवों की तरफ प्रस्थान कर जाते थे लेकिन बाबा मठ नहीं छोड़ते थे। इतना अवश्य होता था कि उन पाँच महीनों के लिए अलकनन्दा का स्नान छूट जाता था। स्नान के बाद उनकी पोशाक थी —मलमल की धोती, ऊपर बण्डी और उसके ऊपर बन्द गले का कोट और खास उत्तरप्रदेशीय पगड़ी। उसके बाद ठीक एक घण्टे तक बाबा भविष्य बताते थे। उस वक़्त उनके पास बहुत लोग आते थे। भविष्य के बारे में जानने की उत्कण्ठा रखनेवालों के लिए शायद बाबा का नाम बहुत महत्त्व रखता था, क्योंकि उनके पास आनेवालों में गरजमन्द, त्रस्त, गृहस्थी से तंग सामान्य जनों के साथ-साथ बड़े व्यापारी, लश्कर के अधिकारी, बम्बई के सिने-जगत् के सितारे, दिल्ली के और दूर-दूर के राजनीतिक नेता, उद्योगपति भी बड़ी संख्या में होते थे। उनकी आव-भगत के लिए कुछ नौकर भी रखे थे। माई भी देखभाल करती थी। बाबा एक समय एक ही व्यक्ति को कमरे के अन्दर बुलाते थे। फिर चाहे वह व्यक्ति कितना अदना, फटीचर क्यों न हो, औरों को बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। भविष्य बताने के लिए उन्हें दस मिनट से ज़्यादा समय नहीं लगता था। एक घण्टा समाप्त होने के बाद तुरन्त बाबा बाहर निकलते। जिनकी बारी नहीं आती उन्हें दूसरे दिन जल्दी आकर अपना क्रम पहले से सुरक्षित करना पड़ता। भविष्य बताने के लिए सिर्फ़ यही एक घण्टा। उसके बाद दिनभर कोई भी कितना भी जोर मारे, वह कुछ नहीं बताते थे। बड़े लोगों की मोटी दक्षिणा के लालच का उन पर तनिक भी असर नहीं होता था, बड़ी नम्रता से बाबा उन्हें लौटा देते। जिन्हें भविष्य जानना होता था, उन्हें उसी नियोजित वक़्त में आकर बाबा से मिलना पड़ता, और दक्षिणा भी मात्र एक रुपया लगती। भूत-भविष्य सुनकर बाबा के सामने नोटों का ढेर लगाने वाले भी होते थे लेकिन बाबा एक रुपये से अधिक दक्षिणा स्वीकार नहीं करते थे। जो अधिक देना चाहे, वह मठ की अन्य पेटियों में डाले, या माई को एक आदमी के एक समय के भोजन का सामान दे दे। बाबा हाथ देखकर, चेहरे से, या जन्मपत्री देखकर भविष्य बताते, जो भी जानना चाहता उसका भूतकाल भी बताते। वह कोई गण्डा या तावीज नहीं देते थे, और न ही ग्रहशान्ति के कोई उपाय बताते थे। लेकिन उनका भविष्य अचूक होता है, ऐसी उनकी ख्याति थी।

भविष्य वताने के वाद नाश्ता आदि से निवृत्त होकर बावा काम के लिए चले जाते । उनकी धार्मिक पुस्तकें, ग्रन्थ और सन्त साहित्य वेचने की दुकान थी। यात्रास्थल में दुकान होने की वजह से आमदनी भी कुछ खास नहीं होती थी, जिसमें वावा को विशेष रुचि नहीं थी। दुकान के अन्य नौकरों पर नज़र रखते हुए वह अपना स्वाध्याय करते थे। पहले वह उत्तरप्रदेश के किसी जिले में बहुत अच्छी वकालत करते थे, ऐसा सुना था। मध्यम उम्र में प्रथम पत्नी का स्वर्गवास हो गया, दूसरा विवाह किया, सांसारिक ज्ञान प्राप्त किया और फिर सब छोड -छाड़ कर यहाँ आ वसे थे।

श्रीधर के लिए सुवह कोई काम नहीं हुआ करता था—वह माई की छोटे-मोटे कामों में मदद करता था। वस, इतना ही मालूम होता था कि माई को ऐसे काम करवा लेने की आदत है! भोजन का समय होने पर वह घर से वावा के लिए भोजन दुकान पर ले जाता । या कभी दुकान में रखी पुस्तक पढ़ने लगता या सामनेवाली पहाड़ी में मुक्त संचार कर वापस लौटता। बावा और माई की कोई सन्तान नहीं थी। दोनों मठ में रहते थे। विना कुछ कहे, हफ्ते भर में श्रीधर उनके पुत्र-जैसा हो गया था।

माई का कहना था कि आज तक वावा ने ऐसे अनेक 'पुत्र' घर में लाकर उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया था, उनमें से एक तो अच्छा-खासा चोर निकला था। वह घर से चाँदी के वर्तन लेकर भाग गया था। दूसरा कोई पक्का उचक्का था। उस पर कई डाके और वलात्कार के जुर्म के आरोप थे। पुलिस आकर एक दिन उसे वहाँ से गिरफ्तार कर ले गयी थी। एक ने तो घर में चोरी-छिपे मादक पदार्थों का अम्बार लगा रखा था, जिस दिन वावा को पता चला, उन्होंने उसे घर से बाहर कर दिया। ऐसे कई अनुभव हुए थे। उनमें से कुछ सीधे-सादे भी थे जो युवावस्था में ही घर छोड़कर हिमालय के आकर्षण से वहाँ आये थे। वह भी कुछ ही दिन रुककर ऊब कर भाग जाते। माई का कहना था कि बावा को लोगों की कोई परीक्षा नहीं थी। किसी पर भी दया दिखाकर वह खुदही मानो संकट को बुलावा भेजते थे।

यह सुनकर श्रीधर ने हँसकर उनसे पूछा, "माई, क्या मैं भी आपको ऐसा ही चोर-लफंगा लगता हूँ ?"

"पता नहीं···अभी तो सीधे-सादे लगते हो।" माई मीठी मुस्कान के साथ बोली।

वाबा लक्ष्मीदास विरक्त थे लेकिन सन्तान न होने का दुख माई को बहुत था, ऐसा लगता था। उसके लिए उनके प्रयास अब भी जारी थे। उसी के लिए वह कई उपवास, व्रत-नियम करती रहती थी। नाश्ता करके बाबा के दुकान चले जाने पर वह फिर से दूसरी वार स्नान कर दीर्घ पूजा में बैठ जाती थी और पाठ करती थी, उसके वाद ही वह रसोई में जाती थी।

श्रीधर को इस दम्पती के लिए आदरयुक्त कौतूहल निर्मित हुआ था। एक दिन दुकान में वावा का मिताहार होने के वाद वातों-वातों में श्रीधर ने पूछा, "वावा, जो मैं पूछने जा रहा हूँ उसे अन्यथा न लेना। मेरा प्रश्न सीधा-सादा है। क्या आप सन्तुष्ट हैं ?"

वावा ने मृदु नज़र से उसे देखा। क्षणभर आँखें मूँद लीं और स्मित हास्य करते हुए वह वोले, "क्या मैं तुम्हें सन्तुष्ट नज़र नहीं आता ?"

श्रीधर सकपकाया। फिर सँभलकर वोला, "आपकी दिनचर्या से, शान्त स्वभाव से और आपकी विरक्ति से तो आप मुझे पूर्ण सन्तुष्ट नज़र आते हैं।"

श्रीधर का वहुत सँभालकर दिया हुआ उत्तर वावा सर्वार्थ से समझ गये थे।

"फिर तुम मुझसे यह क्यों पूछ रहे हो ?"

वावा का वाक्य प्रश्नात्मक नहीं वल्कि उद्‌गारवाचक है, वह श्रीधर समझ चुका था। इसलिए थोड़ी देर वह चुप वैठ रहा और फिर किंचित् आवेग से उसने पूछा, "वावा, आपके विचार में पूर्ण समाधान किस चीज़ से प्राप्त हो सकता है ?"

"मृत्यु से..." वावा ने तत्काल उत्तर दिया।

श्रीधर दंग रह गया।

"यह मत समझो कि मैं तुम्हारा मज़ाक़ उड़ा रहा हूँ..." वावा ने गम्भीरता से कहा, "अत्यन्त प्रतिभावान महापुरुष ही जीते हुए भी पूर्ण सन्तुष्टता तक पहुँच सकते हैं और ऐसे महापुरुष इतिहास में कभी-कभार जन्म लेते हैं। वाकी हम-तुम-जैसों को तो अपने निरन्तर असमाधान के साथ समझौता करने में यश प्राप्त होता है तो उसी में सन्तोष मानना पड़ता है।"

बावा मितभाषी थे। हर शब्द नाप-तौलकर वोल रहे थे। कुछ पूछे बिना वह इतनी गम्भीर चर्चा स्वयं कभी न छेड़ते थे।

"वावा ! परमेश्वर, मोक्षप्राप्ति, तपस्या, परमेश्वर-पूजा, कर्मकाण्ड क्या इन सव में आप का विश्वास है ?"

"एक ही समय में इतने सारे प्रश्न मत पूछ डालो और इन सभी का उत्तर मैं दे चुका हूँ।" वावा ने शान्ति से कहा।

"फिर यह दुकान ? यह धर्मग्रन्थ, यह तीर्थस्थल...यह सव किसलिए ?"

"मन की शान्ति के लिए..." वावा ने कहा। इस स्थल की शान्ति विलक्षण है।" फिर वह ठण्डी-सी आह भरकर वोले, "और माई के समाधान के ख़ातिर।"

इस छोटे से सम्भाषण ने श्रीधर की वावा की तरफ देखने की दृष्टि वदल डाली। उसने देखा था कि वावा तीर्थस्थल के देवालय में कभी दर्शन के लिए नहीं जाते। यही नहीं, मठ में माई ने जो छोटा-सा मन्दिर बनाया था, वावा को वहाँ के देवों को भी नमस्कार करते हुए उसने कभी नहीं देखा था। घर की पूजा-अर्चा उन्होंने सव

माई पर छोड़ रखी थी। बाबा उस अर्थ नें नास्तिक नहीं थे, लेकिन मूर्तिपूजक भी नहीं थे।

"और जो इस कायम असन्तोष के कड़ुवे सच को झेल नहीं सकते उन्हें भक्ति-मार्ग स्वीकारना चाहिए। झूठे समाधान का वह एक आसान मार्ग है।" बाबा ने कहा।

श्रीधर को अचानक विश्वम्भर की याद आयी। बाबा और विश्वम्भर के विचारों में यहाँ काफी साम्य था। फर्क केवल इतना था कि बाबा भक्तिमार्ग बता रहे थे, उस जगह विश्वम्भर साम्यवाद पर जोर रहा था। और दूसरा महत्त्वपूर्ण फ़र्क यह था कि विश्वम्भर का साम्यवाद में विश्वास था, जबकि बाबा का भक्तिमार्ग में विश्वास नहीं था। उल्टे, भक्तिमार्ग को वह झूठे सन्तोष का मार्ग मानकर चल रहे थे। विश्वम्भर का कहना था कि स्वयं को पूर्ण तरह से भूलकर लोगों के भले-बुरे के लिए जीवन समर्पित करना—यही श्रेष्ठ मानव-धर्म हो सकता है। श्रीधर को वह ट्रेन में मिला मुसलमान बूढ़ा भी याद आया। उसका भी कहना यही था कि अल्ला पर पूरा भरोसा रखो, सारे रास्ते साफ़ नज़र आएँगे। विश्वम्भर की कल की क्रान्ति में जो आस्था थी, वही आस्था उस बूढ़े की खुदा में थी। लेकिन श्रीधर को लगा कि ऐसी तुलना करना बहुत अटपटा है। विश्वम्भर पर यह अन्याय होगा। विश्वम्भर को यह जग जैसा है, वैसा रहने नहीं देना था। मनुष्य जग को बदल सकता है या समाज अच्छे के लिए बदल सकता है, इस पर उसका अटल विश्वास था। अन्याय, विषमता, अत्याचार का निर्मूलन करने का प्रण उसके तत्त्वज्ञान में था। एक समय वह भी था, जब श्रीधर भी इस तत्त्वज्ञान से गहरा प्रभावित था। अब भी यह प्रभाव उसके विचारों पर कायम था। बीच के वह भूकम्पमय, विकृत आठ-दस साल छोड़कर। श्रीधर को लगा, फिर वह उसी चक्र से गुज़र रहा है। पुणे में छात्र-अवस्था से निकल कर नये कैरियर में कूद पड़ने तक वह ऐसे ही चक्र से गुजरा था। अभ्यास, अध्ययन, अन्धश्रद्धा-निर्मूलन और फिर पिता की मृत्यु के बाद अध्यात्म, बड़े तत्त्वज्ञों के भाषण, विश्वम्भर के साथ आन्दोलन, मार्क्सवाद, वाचन···

सोलह

अपने पिता का अस्थिविसर्जन श्रीधर ने कलकत्ता में ही गंगा में किया। आसाम की

कोई भयानक दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी थी—दूसरे दिन छिन्नविच्छिन्न स्थिति में मृत देह मिली थी। रेलवे के कर्मचारियों ने श्रीधर का अच्छा ध्यान रखा। बाबा ने भी अपने स्वभाव से विसंगत एक काम कर रखा था। अपनी आकस्मिक मृत्यु के ठीक एक महीने पहले उन्होंने मृत्युपत्र तैयार कर रखा था। उनका कोई घर नहीं था, तमाम ज़िन्दगी रेलवे द्वारा दिये गये बंगलों में गुजरी थी। इसीलिए उनकी कुछ खास चीज़ें नहीं थीं। नौकरी में की हुई थोड़ी-बहुत बचत उन्होंने बैंक में रखी थी। मृत्यु के बाद मिलने वाला प्राविडेण्ट फण्ड और अन्य फायदे भी सीधे बैंक में जाएँगे, ऐसी व्यवस्था उन्होंने कर छोड़ी थी। हर महीने श्रीधर के पुणे बैंक में पाँच सौ रुपये जमा करने का बैंक को आदेश दिया था और इसके अलावा काफ़ी रक़म वह छुट्टियों और पढ़ाई के लिए छोड़ गये थे। और उम्र के इक्कीसवें साल में श्रीधर के हाथ बाक़ी सारी रक़म आने वाली थी। मौक़ा पड़ने पर प्रधानाध्यापक की सिफारिश पर और भी रुपया मिल सकता था।

बाबा की यह पूर्ण व्यवस्था देखकर श्रीधर दंग रह गया। इसकी उसने कोई अपेक्षा नहीं की थी। रेलवे के वकील को साक्षी रखकर उसने सैकड़ों काग़ज़ों पर हस्ताक्षर किये और वह बम्बई लौटने की तैयारी करने लगा। उस वक़्त रेलवे व्यवस्थापन के एक अधिकारी सिन्हा ने पूछा, "वैसे ही वापस जा रहे हो ? तुम्हारे बाबा के सामान की व्यवस्था कौन करेगा ?"

सिन्हाजी ने जो मदद की थी, उससे यह साफ़ जाहिर हो रहा था कि वे उसके बाबा के नजदीकी दोस्त थे।

"उसमें क्या देखना है…?" श्रीधर ने अनिश्चित स्वर में कहा। बाबा का सामान आदि देखने की श्रीधर की इच्छा नहीं थी। सिन्हा को सुनकर आश्चर्य हुआ।

"नहीं, नहीं। यह कैसे हो सकता है ? तुम्हारे बग़ैर उस सामान को कौन हाथ लगा सकता है ? मैंने उनके बंगले में ताला लगा रखा है"—श्रीधर की अनिच्छा को भाँपते हुए नाराज़गी के स्वर में वह बोले, "मैं जानता हूँ कि इस जग में तुम अकेले हो…तुम्हारे कोई रिश्तेदार नहीं हैं। मैं तुम पर कोई ज़बरदस्ती तो कर नहीं सकता। लेकिन वह मेरा दोस्त था, अपने जन्मदाता की बची हुई चीज़ें तुम देख लो, जो चाहो वह रख लो और बाक़ी चीज़ें अपने हाथ से और लोगों में बाँट दो, ऐसा मुझे लगता है । इसीलिए मैं यह सब कह रहा हूँ, अपने पिता का स्मृतिचिह्न समझकर कुछ जतन करके रखना चाहिए, क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता ?"

श्रीधर को वैसा लग नहीं रहा था। भूतकाल को पूर्ण रूप से भुलाकर नया जीवन शुरू करने की विश्वम्भर की कल्पना उसे अच्छी लगी थी। लेकिन सिन्हाजी का मन रखने वह चला गया। उन्होंने ही उसे टिकट ला दिया। रेलवे के नेटवर्क से फोन किये। श्रीधर के हाथ में चाबियाँ पकड़ायीं। वहाँ के कर्मचारियों की मदद

से उसने वह सुनसान बँगला खोला।

उसकी अपेक्षा से वावा का सामान काफ़ी ज़्यादा था। फर्नीचर रेलवे का था। लेकिन रसोई भरी-पूरी पड़ी थी। अनाज, आटा, मसाले और बंगाली अचार। वर्तन साफ़-सुथरे और ठीक से सजाकर रखे हुए थे। प्यारा-सा टी-सेट था, खाने की मेज़ थी।

"खाना कौन वनाता था ?" उसने पूछा। उसके साथ रेलवे का एक चपरासी था और उसकी मध्यमवयीन पत्नी।

"मौसी आती थी।" उस महिला ने कहा।

"मौसी ?" श्रीधर को पूछने का मन हुआ। लेकिन उसने अपने आपको रोक लिया। कुछ देर वाद आहिस्ता से उसने पूछा, "मौसी क्या यहीं पर नहीं रहती थी ?"

"नहीं जी। महीने में, हफ्ते-दो हफ्ते में आती थी। साव का वहुत-बहुत ख्याल रखती थी।"

श्रीधर ने अपनी सौम्य उत्सुकता को दवाकर रखा। वावा के कमरे में अभियान्त्रिकी पर वहुत-सी पुस्तकें थीं। ट्रंकों में काफी सारे काग़ज़ात थे।

श्रीधर ने सव ध्यान से देखे। लेकिन कहीं भी अलग से पत्र या अपेक्षित कोई नाम या पता नहीं मिला। उसने चैन की साँस ली। तस्वीरें देखीं और अलग से रख दीं। वह साथ ले जानी थीं। कितना भी चाहने पर भी पुराने पाश पूरी तरह से तोड़े नहीं जा सकते, यही सच था। यह विचार मन में आने के वाद श्रीधर को यह भी याद आया कि माँ की कई साड़ियाँ थीं और काफी सारे जेवर भी थे। माँ के जेवर तो उसे अच्छी तरह याद आ रहे थे। वावा ने उनका क्या किया ? वह चीज़ें वहुत ढूँढ़ने पर भी उसे वहाँ नहीं मिलीं। उसे उन चीज़ों का लालच तो नहीं था, यहाँ से वह कुछ भी ले जाना नहीं चाहता था, फिर भी इस रहस्य को लेकर उसे जिज्ञासा हो रही थी, और अब यह रहस्य हमेशा के लिए उसका पीछा करेगा, इसका खौफ़ भी लगने लगा था।

स्टेशन मास्टर की मदद से वरामदे में कुछ लोगों को इकट्ठा कर, श्रीधर ने बहुत सारा सामान और वावा के कपड़े बाँट दिये। यह करते समय उसे पता चला कि उसके बावा यहाँ के कर्मचारी और मज़दूरों में काफ़ी लोकप्रिय थे। वहुत सारी महिलाएँ आँसू रोक रही थीं। पुरुष भावुक हो रहे थे।

सब के चले जाने के बाद उस चपरासी की पत्नी से श्रीधर ने पूछा, "मौसी आखिरी वार कव आयी थी ?"

"चार दिन पहले, साव के जाने के चार दिन पहले। "वाद में तो उन्होंने ही सव क्रियाकर्म किये, साव।"

"क्रियाकर्म ?"

"हाँ, साब। शान्ति-पाठ किया। दान-धरम, पुरोहितों को भोजन जिवाया..."

"मौसी अपने साथ कुछ ले गयी थी ?"

"नहीं तो।" उस महिला ने तुनककर कहा। मौसी से शायद उसे बहुत लगाव था।

यह सब होने के बाद कलकत्ता लौटकर सिन्हा जी को एक बार मिल लेना भी आवश्यक हो चुका था। सिन्हा अब रिटायरमेण्ट की उम्र तक पहुँचे हुए बुज़ुर्ग आदमी थे। पुरानी फ़ैशन का कोट-टाई, आधी पैण्ट, स्थूल, थुलथुला शरीर, सफ़ेद होती चली घनी मूँछें और गंजा सिर। आँखों में भरी थकान।

"हो आये ?" उन्होंने आस्था से पूछा।

"हाँ, सर..."

"अच्छा लगा ना ? मैंने सुना तुमने सब कुछ दानधर्म में दे डाला। गुड ब्वॉय। गुड वैल्यूज़। क्रियाकर्म का क्या करोगे ! न जाने तुम्हारा इन सब में विश्वास है या नहीं...तुम आजकल के नौजवानों..."

"क्रियाकर्म आदि तो पहले ही हो चुके हैं सर..."

"मतलब ? मैं नहीं समझा..." सिन्हा जी ने पूछा।

श्रीधर चुप रहा। उसने सिन्हा जी के कक्ष के चारों ओर नज़र दौड़ायी। कुछ क्षण तक उसकी नज़र रेलवे के जालवाले हिन्दुस्तान के बड़े नक्शे पर गयी। फिर उसने धीरे से पूछा, "वह कौन थी सर...मौसी ?"

सिन्हा जी दंग रह गये। कुर्सी के हाथ पर रखा तौलिया उठाकर उन्होंने अपने सिर से पसीना पोंछा और श्रीधर से नज़रें चुराते हुए वह बोले, "तुम क्या कह रहे हो ? मेरी समझ में नहीं आया।"

"क्या उन दोनों ने विवाह कर लिया था ?" श्रीधर ने अपनी नज़र स्थिर रखकर पूछा।

"देखो श्रीधर, यह सब तो मैं नहीं जानता। तुम्हारा बाप मेरा दोस्त ज़रूर था लेकिन उसके व्यक्तिगत जीवन से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। सच, तुम मुझसे कुछ भी न पूछो।"

अब उन्होंने श्रीधर से नज़रें मिलायीं। श्रीधर उठा। दरवाज़े से निकलते हुए रुका और बाहर निकलने से पहले मुड़कर बोला, "मैं सिर्फ़ उस महिला को सान्त्वना देना चाहता था।"

सत्रह

श्रीधर कलकत्ता से पुणे लौटा, एक बड़ा प्रश्नचिह्न लिये। पिछले तीन-चार वर्षों में उसने जो मन का सन्तुलन बनाये रखा था, वह पूरी तरह बिगड़ गया था। विश्वम्भर और धनंजय से चर्चा करके भी उसे समाधान नहीं मिल रहा था। अब वह मन की शान्ति के लिए अधिकाधिक पढ़ाई करने लगा। योगा की कक्षा में नाम लिखाकर प्राणायाम करने लगा। गुरु के, बाबा के, कीर्तनकारों के प्रवचन सुनने जाने लगा।

एक दिन सुबह योगाभ्यास के बाद जब वह छात्रावास पहुँचा, तब उसके कमरे में एक प्रौढ़ वय के सज्जन बैठे मिले। श्रीधर को लगा वह धनंजय से मिलने आये होंगे।

"तू श्रीधर है न ?" उन्होंने उसकी तरफ देखकर पूछा। श्रीधर को लगा, उसने उन्हें कहीं देखा है। उसने गरदन हिलायी। उन सज्जन ने आँखों से चश्मा उतारा, जेब से रूमाल निकाला और आँखें पोंछने लगे। श्रीधर की समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। तब तक धनंजय नहाकर कमरे में लौट आया। श्रीधर ने इशारे से उससे पूछा। धनंजय ने कन्धे उठाकर 'ना' का इशारा किया और वह कपड़े पहनने लगा।

थोड़ी देर आँखें पोंछने के बाद उन सज्जन ने नाक साफ़ की। चश्मा पोंछकर आँखों पर रखा और वह धीरे से बोले, "तुम्हारा बाप, मेरा बड़ा भाई था…" थोड़ी देर रुककर कहा, "सगा।"

श्रीधर आश्चर्य से उनको देखता रहा। कुछ हताश होकर। अब यह नाता अचानक कहाँ से आ धमका ? अपने बचपन में उसने सुना ज़रूर था कि उसके पिता के दो भाई हैं, लेकिन बाबा के मुँह से कभी उनका नाम नहीं सुना था। माँ कभी-कभी उनके बारे में छीटाकशी करती, लेकिन वह कहाँ हैं, क्या करते हैं, इस बात का कोई पता नहीं था। बचपन से बाबा घर छोड़कर जब निकले थे, उन्होंने अपने नाते पूरी तरह से काट डाले थे और अब यह चाचा सामने खड़ा था। मेरे जन्मदाता का सगा भाई…उसी कोख से निकला…इससे मेरा क्या रिश्ता होना चाहिए ?

"विनायक का बेटा पुणे में ही है, यह मैं नहीं जानता था। यह पत्र परसों आया, उससे पता चला और मैं यहाँ चला आया…" चाचा रूखेपन से बोल रहे थे। श्रीधर की तरफ बारीकी से देख भी रहे थे।

"आप पुणे में ही रहते हैं ?" श्रीधर ने जैसे-तैसे पूछा।

"हाँ…विनायक ने तो तुम्हें बताया नहीं होगा।" उसके पिता को उनके प्रथम

नाम से बुलानेवाला यह पहला ही आदमी श्रीधर देख रहा था। चाचा ने आगे कहा, "मुझसे रहा न गया इसीलिए आ गया। कर्तव्य समझकर।"

उनकी बातों से अनिच्छा और दवाकर रखा हुआ तिरस्कार साफ़ नज़र आ रहा था। श्रीधर को समझ में नहीं आ रहा था कि वह अब क्या करे, क्या वोले। यह तो किसी नये ज़ख्म के खुलने जैसी बात हुई। दोनों आमने-सामने चुप्पी साधकर बैठे हुए थे। श्रीधर बेचैन। उस सामने बैठे सज्जन के साथ रक्त सम्वन्ध वह भी नहीं चाहता था। चाचा ने भी उसे नहीं पूछा कि श्रीधर कैसे रह रहा था ? माँ का क्या हुआ ? पिता का अन्त कैसे हुआ ? अब वह क्या करने वाला है ? जैसा कुछ...कुछ भी नहीं।

थोड़ी देर बाद उसी रूखेपन से चाचा ने पूछा, "तुमने तेरहवीं, श्राद्ध वगैरह तो किया ही नहीं होगा ?"

श्रीधर ने नकारात्मक गरदन हिलायी।

"मैंने यही सोचा था।" चाचा ने उलाहना देते हुए कहा। "अगले मंगलवार उसे गुजरे तिथि अनुसार महीना होता है। कर्तव्य समझकर मुझे श्राद्ध करना होगा। यह पता ले लो। सवेरे पहुँच जाना।"

श्रीधर ने कुछ नहीं कहा।

"किसी को तो यह कर्तव्य निभाना ही होगा, नहीं तो वेकार ही कुछ और खड़ा हो जाएगा। मैं यह समझकर चलता हूँ कि तुम पहुँच जाओगे..."

चाचा उठकर खड़े हुए। उन्होंने पैरों में चप्पलें सरकायीं। उनकी उम्र पचास के आसपास होगी। उम्र में बावा से साल-दो साल कम होंगे। चश्मा उतारने पर वह बावा के जैसे ही लगते थे। सिर्फ़ बाबा लम्वे थे, तगड़े थे और उनका रंग भी साँवला था। सारा जीवन खुले आसमान के नीचे विताने से शायद उनका वर्ण और भी साँवला हो गया था। चाचा गेहूँवर्णी थे। पुरानी पद्धति के कपड़े पहने हुए थे।

दरवाज़े की तरफ मुड़ते हुए उन्होंने कहा, "दक्षिणा, ब्राह्मण-भोज और दानधर्म आदि सब मिलाकर बारह सौ रुपये खर्चा है, जिसमें तुम्हारा भोजन भी शामिल है। मैंने सब हिसाब जोड़ रखा है। आते हुए बारह सौ रुपये लेते आना।"

"मैं नहीं आऊँगा, आप मुझपर निर्भर न रहें।" श्रीधर ने शान्त स्वर में कहा। चाचा चौंक गया। धनंजय जो अपनी पुस्तकों की अलमारी के साथ खड़ा था, वह भी उनकी तरफ देखने लगा।

"तुम्हारे बाप की आत्मा का प्रश्न है यह।" चश्मा पोंछते हुए सख़्ती से चाचा बोले।

"मेरा इन चीज़ों में विश्वास नहीं है।"

"बाप की तरह ही हो..." चश्मा फिर से नाक पर चढ़ाता हुआ चाचा

भुनभुनाया। फिर कडुवे स्वर में बोला, "जैसी तुम्हारी मर्ज़ी। मुझे तो सब करना ही होगा। अपना कर्तव्य मैं नहीं भुला सकता। ठीक है। विनायक ने सब तोड़ ही दिया था। यह आखिरी धागा था"'अब मेरा-तुम्हारा रिश्ता खत्म'""

दरवाज़े से निकलकर कारिडॉर में ताड़-ताड़ चपलें बजाता चाचा निकल गया।

श्रीधर नहाने की तैयारी में लग गया।

"ग्रेट।" धनंजय ने कहा, "मैंने नहीं सोचा था कि इतने बड़े भावनात्मक दबाव को तुम टाल सकते हो !"

"भावनात्मक दबाव ?" श्रीधर ने तुच्छता से कहा, "मेरा चाचा कहलाने वाले इस गृहस्थ के शब्दों में तुम्हें भावना का कोई अंश भी नज़र आया ?"

"मैं तुम्हारे सम्बन्ध जानता नहीं। लेकिन यह चाचा तुझे पहली बार मिल रहा था, यह मैं समझ गया था। लेकिन मैं तो तुम्हारी भावनाओं की बात कर रहा था, उसकी नहीं।"

"यहाँ मेरी भावनाएँ कहाँ हैं ?"

थोड़ी देर रुककर धनंजय ने कहा, "अगर तेरी जगह पर मैं होता तो मैं चला जाता, उसे टाल न पाता।"

"और तुम अपने आपको बुद्धिवादी, विज्ञाननिष्ठ समझते हो ?"

"यहाँ बुद्धिवाद और विज्ञाननिष्ठा का कोई सम्बन्ध नहीं है।" धनंजय ने ज़रा-सा चिढ़कर कहा। विज्ञाननिष्ठा उसकी कमज़ोरी थी। अन्धश्रद्धा निर्मूलन आन्दोलन का वह एक सक्रिय कार्यकर्ता था। इसलिए उसकी विज्ञाननिष्ठा या बुद्धि-प्रामाण्यवाद पर सन्देह की आँच तक वह सह नहीं पाता था। "मैंने यह तो नहीं कहा कि पितरों को शान्ति पहुँचाने तुम वहाँ जाओ। यह सब झूठ है"'पाखण्ड है—यही तो मैं चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ। मेरा कहना बस इतना है कि तुम्हारी अभी की यह जो रक्त-सम्बन्धहीन स्थिति है, उसमें एक अपनेपन का नज़दीकी नाता जुड़ना सम्भव था। शायद मैं यह मौक़ा छूटने नहीं देता।"

श्रीधर ठहाका मारकर हँस पड़ा। उसकी हँसी में उपहास और लापरवाही का मिश्रण था।

"इस तरह हँसो मत।" धनंजय ने कहा। "तुम्हें लगता होगा कि तुम्हारा चाचा कठोर और अव्यवहारी है लेकिन वह बिल्कुल ही रूक्ष और भावनाहीन नहीं है। उसे तुम्हारे बाबा के लिए और तुम्हारे लिए भी कुछ तो लग रहा था जो उसे यहाँ खींच लाया। अरे, उसका भी क्रोध एकदम पुराना है, बीस वर्षों का। लेकिन उस क्रोध में भी अन्दर की आत्मीयता छिपी थी। मुझसे पूछो तुम। मैं तटस्थ बनकर देख रहा था। वह तुम्हारे पास आने का प्रयास कर रहा था और तुम उसे दूर धकेल रहे थे"'"

"यह सब बकवास है।" श्रीधर को भी गुस्सा आया था। कुछ अपने आप

पर और कुछ धनंजय पर।

"तुम ऐसे कैसे कह सकते हो, श्रीधर ?" अब धनंजय के स्वर में थोड़ी-सी उत्कटता आ गयी थी, जिससे श्रीधर को आश्चर्य हुआ। धनंजय वैसे धींगामुश्ती में पटु था। भावनाशीलता उसका विषय नहीं था। उसके बचपन में ही उसके माँ-बाप ने तलाक लिया था। इसीलिए तबसे उसे छात्रावास में रहना पड़ा था। माँ-बाप ने दूसरी शादियाँ कर ली थीं, उस सबके बावजूद धनंजय की खुशमिज़ाज़ वृत्ति पर कोई आँच नहीं आयी थी। उसे किसी ने दु:खी नहीं देखा था। माँ और सौतेला बाप तथा बाप और सौतेली माँ दोनों बीच-बीच में उससे मिलकर जाते थे, उसके लिए चीज़ें भेजते थे, एक-सा प्यार भी करते थे। इसीलिए मेरे दो-दो माँ-बाप हैं और उनमें असली कौन है, यही शक होने लगता है, ऐसा वह मज़ाक़ में और बड़े गर्व से कहता था। उसके दोनों तरफ भाई, बहन थे। वह भी उससे मिलने आते थे। छुट्टियों में वह कभी इस तरफ तो कभी उस तरफ चला जाता था। धनंजय कठोरबुद्धि एवं प्रामाण्यवादी बनता जा रहा था। लेकिन फिर भी उसे लोगों से प्यार था। इसीलिए अपने आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के बीच वह काफ़ी लोकप्रिय था।

"तुम ऐसे कैसे कह सकते हो श्रीधर ?" उसने कहा, "शायद तुम्हारी कोई चाची होगी, चचेरे भाई-बहन···। शायद कोई रिश्ता बन सके···"

धनंजय अचानक रुक गया, और गम्भीरता से श्रीधर का चेहरा घूरते हुए खुली उत्कृष्टता जताता बोला, "मुझे एक बात का हमेशा आश्चर्य लगता आया है, श्रीधर। तुम्हारे किसी के साथ प्यार या अपनत्व का कोई सम्बन्ध है भी सही ? नहीं है। यह ज़रा अजीब है, तुम्हें नहीं लगता, किसी से प्यार करूँ? हम लोग तो खैर मित्र हैं बस, लेकिन उससे अधिक कुछ ? तुम्हें तुम्हारी माँ से प्रेम था ? बाबा से ? मुझे नहीं लगता तुमने कभी किसी से प्रेम किया है···मुझे नहीं लगता जीवन में तुम कभी किसी से प्रेम कर पाओगे···।"

श्रीधर का मुँह काला पड़ा गया। उत्तर में वह कुछ कह नहीं पाया। धनंजय से नज़रें बचाकर वह वैसा ही बैठा रहा। धनंजय ने जल्दी-जल्दी बूट मोजे पहने और कुछ कहे बगैर श्रीधर की तरफ एक नज़र देखकर वह कमरे से बाहर निकल गया।

श्रीधर बहुत देर तक अनिश्चितता से कुर्सी पर बैठा रहा। धनंजय की बातों पर उसे आश्चर्य भी हो रहा था और थोड़ा गुस्सा भी आ रहा था। लेकिन एक तरफ यह भी लग रहा था कि धनंजय ने जो भी कहा है, उसमें काफी तथ्यांश है। और इस सोच से उसके शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये थे, अपने निष्प्रेम एकाकी जीवन के विचार से। बाबा का तो चलो ठीक है, लेकिन क्या माँ से भी मुझे प्रेम नहीं था ? वृन्दा की यादें धुँधली पड़ रही हैं, लेकिन क्या मुझे उससे भी प्रेम नहीं

था ? धनंजय जो कह रहा है, उसमें सत्यांश है। यह भयानक, जानलेवा तटस्थता और निर्विकारता कहाँ से आयी है ? विचारों में खोये-खोये ही उसने स्नान किया और धीरे-धीरे अपना जीवनपट देखा। धनंजय की वात के सन्दर्भ में वह अपने सम्वन्ध जाँचकर देखने लगा; नहाकर, कपड़े पहनकर जव वह कुर्सी पर वैठ गया तो उसे भयानक और उदास लग रहा था।

रात को उसने जगत को लम्वा-चौड़ा पत्र लिख डाला :

वावा की मृत्यु के साथ उस जग से मेरे सभी नजदीकी पाश अव टूट चुके हैं। वचपन की तुम एकमात्र कड़ी हो और तुमसे भी सम्पर्क है सिर्फ़ पत्र के माध्यम से।

हमें मिले कितने वर्ष हो गये ? आठ साल ! आज मुझे यहाँ भयानक अकेलापन लग रहा है। वावा की मृत्यु का इससे कोई सम्वन्ध नहीं। फिर भी ऐसा लग रहा है। यहाँ मेरे काफ़ी अच्छे दोस्त हैं। पढ़ाई ठीक चल रही है और पैसों की कोई कमी नहीं है। लेकिन यह सव शून्यवत् लगता है और फिर मैं अपने आपसे पूछता हूँ कि मैं किसलिए जी रहा हूँ ? पुराने प्रश्न फिर से उभरकर सामने आ रहे हैं। तुम मुझे पागल कहोगे। लेकिन तुम जानते हो, वचपन से ये प्रश्न मेरा पीछा कर रहे हैं। जिनके पीछे ये प्रश्न नहीं पड़ते वह तुम्हारे-जैसे लोग सचमुच भाग्यवान हैं।"

जगत ने उत्तर में लिखा :

"मुझे तुम पर हँसी आती है। तुम्हारी शायद ज़्यादा पढ़ाई नहीं हो रही है और काफ़ी समय खाली मिलता है इसलिए तुम यह सव सोचते रहते हो। यहाँ अकादेमी में सुवह से रात तक हमें रगड़ते हैं। इसलिए नींद भी क्या वढ़िया आती है। सोचने का समय ही कहाँ मिलता है ! अगले महीने पासिंग आउट परेड है। कहते हैं कि उसमें प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी आनेवाली हैं। आय एम सो एक्साइटेड। पूछो, क्यों ? इस वर्ष के सर्वोत्तम कैडेट के रूप में मुझे चुना गया है और वह मेडल प्रधानमन्त्री खुद मेरे सीने पर लगाएँगी। मेरा अभिनन्दन तो करो···हमारी आर्मी में श्रीमती गाँधी के लिए वहुत आदर है। वाहर उनपर वहुत कुछ टीका-टिप्पणी होती है, ऐसा अखवारों से लगता है। लेकिन यहाँ उन्हें लोग चाहते हैं। अरे, लेकिन मैं तो वस अपने ही वारे में लिखता जा रहा हूँ। परेड के लिए मम्मी और डैडी भी आएँगे। ममी तुम्हें हमेशा याद करती हैं। अरे हाँ, मेरी छोटी वहन···जिसे तुमने देखा नहीं है, इसी साल केम्ब्रिज पास हुई। पासिंग आउट के वाद पोस्टिंग से पहले मैं एकाध महीना छुट्टी पर दिल्ली जा रहा हूँ। उस वक़्त तुम वहाँ क्यों नहीं आते ? अगर हम एक-दूसरे से मिलते न रहे तो किसी दिन पहचानना भी मुश्किल हो जाएगा। और पत्र न भेजे तो भूल भी जाएँगे।"

अठारह

हिमालय की गोद में, कलकल वहती अलकनन्दा के तीर, थरथंराती ठण्डी हवा में एक दिन भोर में हमेशा की तरह प्राणायाम करते हुए श्रीधर को अपनी वन्द आँखों के सामने दोनों भौंहों के वीच में एक-दूसरे के अन्दर गोल-गोल घूमने वाले तेजोवलय नज़र आने लगे। अंग थरथराने लगा और शरीर फूल की तरह हल्का होकर आकाश में तैर रहा है, ऐसा प्रतीत होने लगा। मुँदी हुई पलकों के नीचे नीला-जामुनी रंग। उसके केन्द्र से एक तेजस्वी विन्दु निकलता और धीरे-धीरे उस विन्दु का गोल-गोल घूमने वाले तेजोवलय में रूपान्तर हो जाता। वह चक्र तेज गति से फैलता और जामुनी आकाश में जा मिलता। तव तक दूसरे तेजस्वी विन्दु से फैलता वलय और भी तेजी से आगे बढ़ता। उस तेजस्वी सुन्दरता के मोह से श्रीधर मोहित हो चुका था और यही अवस्था अनन्तकाल तक रखने का उसे मोह हो रहा था। आखिर बड़े कष्ट से और अनिच्छा से उसने अपनी एकाग्रता भंग की और धरती पर आकर आँखें खोलीं। सामने चिन्ताग्रस्त लक्ष्मीदास बाबा खड़े थे और ऊँचे पर्वत शिखरों के पीछे से सूरज काफ़ी ऊपर आ चुका था। श्रीधर के आँखें खोलने के बाद बावा ने अपने धुले हुए वस्त्र कन्धे पर डाले, कमण्डलु उठाया और आह भर कर वोले, "चलो, वेटा श्रीधर, समय बहुत हो गया है।"

उनके स्वर में नाराज़गी थी। श्रीधर को अपराध-बोध हुआ। वापसी में बावा ने कुछ नहीं कहा। वह चिन्तामग्न और अपने ही विचारों में उलझे हुए दिखाई दे रहे थे।

यहाँ हिमालय की गोद में इस तीर्थस्थल में आने के वाद वावा के साथ अलकनन्दा में प्रातःस्नान और वाद का प्राणायाम—इनमें श्रीधर को रस आने लगा था। योगासनों का और प्राणायाम का शास्त्रोक्त शिक्षण उसने पहले भी लिया था। लेकिन वाद में समझ में आया कि मन अस्वस्थ और चंचल हो तो सच्चे अर्थ से प्राणायाम करना असम्भव है। पिछले साल इस वेचैनी का झटका लगने के बाद श्रीधर ने शान्ति-सम्पादन के लिए प्राणायाम का प्रयोग कर देखने की जी-जान से कोशिश की थी। लेकिन जब बेचैनी में बदन जलता है, तब प्राणायाम केवल साँस का एक व्यायाम भर रह जाता है—पद्मासन लगाकर, श्वासोच्छ्वास लेना।

साँस के अंक गिनते हुए घड़ी की ओर ध्यान जाता। दफ्तर के मिलने-जुलने वालों की गड़वड़ और समय का अभाव, चेअरमैन का फ़ोन, खन्ना की फाइल, लोर्ना का प्रश्न, अगले हफ्ते में जापान का दौरा, केमिकल्स यूनिट का कम उत्पादन जैसे विचार आते रहते थे। फ़ोन निकालकर रख देने पर भी बेचैन-सा वना रहता। जाने

कव यह उपचार खत्म हो, ऐसा लगता रहता। उसमें कोई आनन्द नहीं आता था।

अव प्राणायाम से लगाव हो गया था। पहले दिन उस ठण्डे पाषाण पर पद्मासन लगाकर उसने हिमशिखरों से आनेवाली ठण्डी हवा साँस भर-भरकर अन्दर खींची तो उसके तन पर रोमांच खड़े हो गये। कुछ देर जल्द श्वसन से अपने फेफडे साफ़ कर श्रीधर ने मन एकाग्र किया। चित्त स्थिर किया। आँखों की दोनों पुतलियाँ नासिकाग्र पर केन्द्रित कीं । नेत्र अर्धोन्मीलित किये। दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अँगूठे के तल में टिकाकर करांगुलि और दूसरी उँगली तान ली। अँगूठे से दाहिनी नासिका दवाकर वायीं नासिका से श्वास लिया। फिर दोनों नासिकाएँ दवाकर कुम्भक, दाहिनी नासिका से उपवास, वाध्य कुम्भक और वैसा ही उलट चक्र, प्रयत्नपूर्वक उसने श्वास के अंक वढ़ाने शुरू किये। मस्तक और आँखों की नसें तानकर वह मन की आँखों के सामने तेज के चक्र ढूँढ़ने लगा।

पाँच-छह दिन में उसका प्राणायाम का अभ्यास बढ़ गया। यहाँ सर्वत्र नीरव शान्तता थी। फ़ोन नहीं था। दफ्तर के काम के वारे में विचार-चक्र नहीं था। लोर्ना का आकर्षण नहीं था और न शशी का विचार। पाँच-छह दिनों में उसके श्वसन और उच्छ्वास में काफ़ी समतोल प्रस्थापित हुआ। श्वास की गति अधिक धीमी और शान्त हुई। उच्छ्वास तो समझ में आने न आने जैसा मद्धिम आने लगा। श्वास का चौगुना कुम्भक सहजता से होने लगा। अन्तःकुम्भक के समय तो उसका शरीर सुख से थरथराने लगा, और आज तो अन्तःकुम्भक के क्षण उसकी समाधि ही लग चुकी थी। आखिर में लक्ष्मीदास वावा को ही उसके कन्धे को छूकर इस समाधि से उसे जगाना पड़ा था।

उस दिन अपने ज्योतिष कथन के समय में वावा ने श्रीधर को अपने कमरे में वुला लिया। हमेशा की तरह बावा ने उसे अकेले ही अन्दर बुलाया। कुछ क्षण टकटकी लगाकर उसके चेहरे को देखते रहे और फिर उन्होंने उसकी दोनों हथेलियों को ग़ौर से देखा और कुछ क्षण आँखें मूँदकर वह स्तब्ध बैठे रहे। फिर कुछ न कहते हुए उन्होंने श्रीधर को वाहर जाने का इशारा किया और दूसरे भक्त को अन्दर वुलाया। श्रीधर दुविधा में पड़ गया था।

माई ने कहा, "भाई, वड़े भागवान हो।"

"क्यों ?"

"अरे, उन्होंने खुद बुलाकर तुम्हारा भविष्य देखा।"

"उसमें क्या खास बात है ?"

"क्या खास वात है, पूछ रहे हो ? इतने वर्षों से उन्हें देखती आयी हूँ, पहली वार उन्होंने किसी को अपने आप अन्दर वुलाया है। अपनी पत्नी का भविष्य भी उन्होंने कभी नहीं देखा। तुममें उन्होंने अवश्य कोई-न-कोई वात देखी है। क्या कहा

उन्होंने ?"

"कुछ भी नहीं।"

"पूछा नहीं ? पूछे बिना वह बताते नहीं है। बाद में पूछना। बताएँगे।"

उस दिन बाबा का भोजन पहुँचाकर श्रीधर दूर तक टहलने चला गया। यह अब उसका दैनिक कार्य बन चुका था। हिमालय का यह भाग सुन्दर था, घूमने के लिए आसान था। सर्वत्र चरवाहों की और भेड़-वकरियों की पगडण्डियाँ थीं। ठीक से चलो तो भटकने का डर नहीं था। ऐसे मुक्त भटकने से उसके चेहरे पर एक ताजगी आ गयी थी। उसकी बेचैनी खत्म हो गयी थी। लेकिन उसने अपनी दाढ़ी और केश सँभालकर बनाये रखा था। ज्योतिष जाननेवालों में से एक बड़े उद्योग के एक अधिकारी का उसकी तरफ ध्यान गया। श्रीधर ने उसे फ़ौरन पहचान लिया। क्षणभर के लिए उसे लगा कि वह अधिकारी भी उसे पहचान लेगा। लेकिन श्रीधर के केश और दाढ़ी ने उसे वचा लिया। भविष्य सुन लेने पर वह अधिकारी ढूँढ़ता हुआ श्रीधर के पास आया।

"आपको कहीं देखा है ?"

"अशक्य !" श्रीधर ने आत्मविश्वासपूर्वक कहा, "जन्म से यह तीर्थस्थल छोड़कर मैं कहीं नहीं गया हूँ।"

वह अधिकारी बार-वार श्रीधर की तरफ देखता हुआ चला गया। उस रोज़ भटकता हुआ श्रीधर अपने आपको खो वैठा और मठ वापस लौटने के लिए रात हो गयी।

भोजन के बाद वावा ने कहा, "कुछ तन्त्र-मन्त्र आता है ?"

"नहीं तो···" श्रीधर ने आश्चर्यपूर्वक कहा।

"तो फिर हठयोग के पीछे कैसे पड़ गये ?"

"हठयोग ! नहीं तो ! मैं कहाँ पीछे पड़ा हूँ ?"

"मैंने आज तुम्हें प्राणायाम करते देखा था। वह सीधा-सादा प्राणायाम तो नहीं था। गुरु कौन है तुम्हारा ?" बाबा अब अधिक गम्भीर हो चुके थे।

"कोई भी नहीं, मैं पुस्तकों से और योग की कक्षाओं में सीखा हूँ। वह सही प्राणायाम नहीं था तो क्या था ?"

बाबा मौन रहे। कुछ क्षण विचारमग्न रहे और फिर उन्होंने पूछा, "तुम अपना भविष्य जानना चाहते हो?"

"नहीं"—श्रीधर ने स्पष्टता से कहा।

"ठीक है," बाबा ने आँखें बन्द कर कर कहा, "परसों तुमने सन्तुष्टि, अन्तिम सन्तोष की बात की थी, इसलिए पूछा। आज तक मैंने तुमसे कुछ भी नहीं पूछा था। अब पूछता हूँ। मैं तुम्हारा भूतकाल अच्छी तरह जानता हूँ। लेकिन मैंने अव

तक तुमसे पूछा नहीं है कि यहाँ क्यों आये ? किसलिए आये ? तुम्हारा उद्देश्य क्या है ? तुम क्या साधना करना चाहते हो ?"

श्रीधर को महसूस हुआ कि यह प्रश्न पूछने के पीछे बाबा के मन में कोई दुविधा नहीं है, बल्कि उसके लिए चिन्ता है, प्रेम है।

विचारपूर्वक उसने कहा, "इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है, बाबा। क्योंकि यही प्रश्न मैं अपने आपसे भी करता रहता हूँ और उनके उत्तर मैं नहीं जानता । सच तो यह है कि यह और ऐसे ही प्रश्नों की खोज में मैं बाहर निकल पड़ा हूँ। लौकिक दृष्टि से जल्दी-जल्दी सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए भी मैं अन्दर से बेचैन था। यह सब क्या चल रहा है। किसलिए ? ऐसा मुझे हमेशा लगता रहता था। मेरे जीवन का उद्देश्य क्या पैसा कमाकर सफल होना ही है ? एक दिन बीच में ही मैंने सब का सब छोड़ दिया, जहाँ पाँव ले गये वहाँ भटकता रहा—जो मिली उसी गाड़ी में जा बैठा और यहाँ आ पहुँचा। सम्भवतः उस बैरागी और उसकी साधिन मुझे यहाँ ले आयी। और मुझे लूटा भी···।"

"पत्नी, बच्चे, माँ-बाप ?" बाबा ने पूछा।

"कोई नहीं ?"

"ठीक···ठीक। मैंने यही सोचा था, वह ठीक ही है···" बाबा ने आह भरकर कहा। उसे ध्यान से देखते हुए वह बोले, "ऐसे वह कौन से सवाल हैं जो तुम्हें बेचैन करते हैं ?"

अब श्रीधर सोच में पड़ गया। क्योंकि वह खुद भी ठीक से नहीं जानता था ? और जो भी प्रश्न हमेशा उसकी जुबाँ पर आते हैं वह इतने सादे और क्षुद्र होते हैं कि वह औरों को हास्यास्पद लग सकते हैं। लेकिन बाबा ममतामय और समझदार थे। एक संयत सूझ-बूझ उनमें हमेशा महसूस होती थी। उनके सामने अपने मन का सब कुछ बोल डालने में कोई हर्ज़ नहीं है, ऐसा उसे लगा और उसने कहा, "बाबा, मैं खुशहाली में पला। भौतिक सुखों की मुझे कभी कोई कमी नहीं थी। अभी भी मैं एक बड़ी कम्पनी में उच्च पदस्थ अधिकारी हूँ, मतलब यह सब छोड़ने के पहले था। थोड़े ही वर्षों में कम्पनी में जो सर्वोच्च स्थान है उसे पाने की मैं क्षमता रखता था। लेकिन वह सब करते हुए कितना कुछ करना पड़ता है। लौकिक यश पाना, यह सबसे बड़ी अनैतिक बात है, बाबा। वह मैंने पूरी तरह पा लिया। फिर मेरी आँखें खुलीं। खुद के ही पापों की पट्टी पढ़कर मैं दंग रह गया। और वह सब किसी को भी कुछ भी न बताते हुए वहीं पर छोड़ दिया और सड़क पर आ गया। कारण यह अस्वस्थता, यह बेचैनी ! बचपन से ही मैं किसी चीज़ की तलाश में हूँ। किसकी ? यह तो मैं ठीक से कह नहीं सकता। भगवान की, अज्ञात की, उस चित् शक्ति की, शान्ति की, सन्तोष की या सुख की, यह मैं जान नहीं पाया।"

श्रीधर रुका और उसने साँस ली। "अब भी मैं यह ठीक से बता नहीं पा रहा हूँ।" इस बात का उसे आश्चर्य हुआ क्योंकि श्रीधर की व्यावसायिक सफलता का रहस्य उसकी अचूक अभिव्यक्ति का सामर्थ्य था। कम-से-कम शब्दों में अपनी बात अत्यन्त प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करना उसकी खासियत थी, लेकिन यहाँ वह खुद को क्या कहना है, यह सोचे-समझे बिना ही न जाने कितना कुछ बोलता जा रहा था। उसने प्रयत्नपूर्वक अपना मन और मस्तिष्क साफ़ किया और अब अपने शब्दों को नाप-तौलकर बोला, "मेरे प्रश्न आध्यात्मिक हैं। अस्तित्व का अर्थ, इस विश्व के अस्तित्व का अर्थ, जीवन का प्रयोजन आदि से सम्बन्धित हैं। पुस्तकों में लिखे उत्तर जानता हूँ लेकिन अभी उनका ठीक से आकलन न होने से परेशान हूँ।"

लक्ष्मीदास बाबा काफ़ी समय तक विचार-मग्न रहे और फिर आह भरकर बोले, "मैं तुम्हारी कोई मदद कर सकता हूँ, ऐसा मुझे नहीं लगता। परसों ही मैंने अपने समाधान का तत्त्वज्ञान बताया। उससे अधिक मैं कुछ बता नहीं सकता। एक बात अवश्य जानता हूँ कि हठयोग तुम्हारी खोज का मार्ग हो नहीं सकता। वह तुम्हें स्वयं ही ढूँढ़ना पड़ेगा या किसी सिद्धजनों से पूछना पड़ेगा। इन पर्वतों पर बहुत सारे साधु पुरुष, योगी और सिद्धजन रहते हैं, ऐसा सुनता हूँ। मुझे तो ऐसा ज्ञानी अब तक नहीं मिला। तुम्हें अगर मिलता है तो तुम उससे अपने लिए मार्ग पूछ लेना। मैं कुछ कह नहीं पाऊँगा। मैं तो एक सामान्य आदमी हूँ।"

उत्तर में श्रीधर ने कुछ नहीं कहा। उसने असंख्य बाबा और कई गुरु देखे थे। सिद्ध पुरुष और ज्ञानीजनों के प्रवचन सुने थे लेकिन अपनी इस अकेलेपन की यात्रा में किसी का कुछ भी उपयोग नहीं होता, यह वह जान चुका था।

उन्नीस

बाबा की मृत्यु के बाद एक काल-खण्ड ऐसा आया था कि श्रीधर गुरु, बाबा, स्वामी और महाराजों के पीछे पड़ गया था। अन्धश्रद्धा से नहीं, लेकिन कौतूहल से, अधिक जानने की प्रामाणिक इच्छा से और खुला मन लेकर उसने कई प्रवचनों के अनुभव लिये। इसकी शुरुआत मज़ाक़ और उपहासपूर्ण वृत्ति से विभिन्न जगहों के भोंदू बाबा और पोंगा पण्डितों के ढोंग के चोगे उतारकर उनकी असलियत जनता के सामने लानेवाले धनंजय के आन्दोलन से हुई। धनंजय की संघटना के विज्ञान, बुद्धि

प्रामाण्यवाद, अन्धश्रद्धा आदि विषयों पर अभ्यास वर्ग होते थे। उसी के साथ-साथ संघटना के कुछ विशिष्ट कार्यकर्ता जान-बूझकर ऐसे स्वामियों के प्रवचनों में या दर्शनसभाओं में जाकर, प्रश्न पूछकर सुनियोजित ढंग से उन्हें हैरान करते थे।

एक शाम धनंजय श्रीधर को अपने साथ एक समारम्भ में ले गया। वह गुरुपूर्णिमा की रात थी और समारम्भ का हाल खचाखच भरा हुआ था। पुणे के उच्चभ्रू समाज की महिलाएँ मूल्यवान वस्त्र-आभूषण पहनकर उस भीड़ में शामिल हुई थीं। हाल भर में जगह-जगह पर गुरु महाराज की तस्वीरें लगायी हुई थीं। गले में मोटे-मोटे हार पहने गुरु महाराज मुलायम गद्दे और मखमली चादरों से सजे एक बड़े से तख्त पर विराजमान थे। गुरुपूर्णिमा के दिन आधी रात में महाराज प्रत्यक्ष व्यास महर्षि का आवाहन करके उन्हें अपने शरीर में आमन्त्रित करते हैं, और उनके स्पर्श मात्र से सामान्य जनों की संकल्पसिद्धि होती है, ऐसा सबका कहना था।

गुरु महाराज का तत्त्व यह था कि अनेक शक्तियाँ रेडियो, टी.वी. की लहरों की तरह अन्तरिक्ष में संचार करती रहती हैं। हर किसी के अन्दर यह शक्ति होती है। मन के संकल्प पर इस शक्ति को विकेन्द्रित करना होता है यानी कि संकल्प समाधि लगानी होती है जिससे महर्षिव्यास के पुनीत आगमन और तेज सामर्थ्य से वर्ष भर में इच्छापूर्ति होती है। व्यासमुनि के आगमन का मार्ग आसान होने के लिए उनके लिए एक खास चैनल बनाया जाता था। गुरु महाराज अपने बदन से ताँबे की लम्बी तार लपेट लेते थे। तार का एक छोर खिड़की में से एरियल की तरह ऊपर खड़ा किया जाता था और दूसरा ज़मीन में अर्थिंग के लिए गाड़ा जाता था।

धनंजय और उसके युवा साथियों ने हाल के विशिष्ट भाग में बैठक जमायी थी। श्रीधर कौतूहल से सब कुछ देख रहा था। मंच पर भाषण हो रहे थे जिन्हें सुनकर वह दंग हो रहा था। उसके कॉलेज के तत्त्वज्ञान के प्रोफेसर, एक सुप्रसिद्ध लेखक, कवि, बड़े पत्रकार, सिनेसृष्टि के नामवन्त संगीत दिग्दर्शक मंच पर हाज़िरी लगाकर बड़ी भावभीनी श्रद्धा से गुरु महाराज के साक्षात्कार और चमत्कार के गुण गा रहे थे। कोई उनकी तुलना स्वामी विवेकानन्द से कर रहा था तो कोई उन्हें प्रत्यक्ष महर्षि व्यास का अवतार मानता था और अपनी यह स्तुति स्वयं महाराज बड़े प्रसन्नचित्त होकर सुन रहे थे। यह सब मामला श्रीधर को अत्यन्त घिनौना लग रहा था।

मध्यरात्रि के पास आने पर गुरु की साग्रसंगीत पूजा की गयी। फिर गुरु महाराज का थोड़ी देर तक प्रवचन हुआ। प्रवचन का सारांश व्यासमुनि, उनकी शक्ति और सामान्यों की इच्छापूर्ति ही था। श्रीधर की कल्पना थी कि जब इतने विद्वान और तत्त्वज्ञ यहाँ एकत्रित होकर गुरु जी की प्रशंसा कर रहे हैं, उनकी चमत्कारशक्ति के विषय में बोल रहे हैं तब महाराज के मुख से कुछ न कुछ उपयुक्त तत्त्वविचार सुनने

को मिलेंगे, गहन सत्य की तरफ देखने का कोई दृष्टिकोण मिलेगा। लेकिन श्रीधर को निराशा हुई। इतना ही नहीं, उद्वेग से उसका मन भर गया।

मध्यरात्रि हुई। गुरुजी के इशारे पर सभी बत्तियाँ बुझा दी गयीं। सर्वत्र अन्धकार। महाराज की सूचना अनुसार सब आँखें मूँदकर संकल्प समाधि में लीन हो गये थे। सर्वत्र शान्तता थी। सिर्फ़ महाराज के मुख की गहराई से निकलने वाला ॐकार का स्वर गूँज रहा था। इतने में ॐकार बीच में ही टूट गया। ऐसी कुछ अज़ीव-सी आवाज़ें निकलीं कि जैसे कोई उनका गला दवा रहा हो "ओ ये ···ओ ये···मर गया" उन्होंने ज़ोर से चीखकर चीत्कार किया। सभा-गृह में कोहराम मच गया। "बत्ती जलाओ···बत्ती जलाओ···" दो-चार लोग चिल्लाने लगे।

वत्ती आयी तव महाराज मंच पर रखे आसन से नीचे गिर चुके थे और महिलाएँ हैरान होकर यह सव देख रही थीं।

"कुछ व्रात्य लड़कों ने यह तार खींचा था ऐसा लगता है।" कोई स्वयंसेवक चिल्लाया।

"पकड़ो उनको···पीटो उन पाखण्डियों को।"

धनंजय उसके कोने में शान्ति से आँखें बन्द करके चेहरे पर भक्ति समाधि के भाव लगाये वैठा था। उसके आसपास के वह तीन-चार नवयुवक ग़ायव हो चुके थे। श्रीधर हँस पड़ा।

तब तक गुरु महाराज उठकर फिर से अपने आसन पर आरूढ़ हो चुके थे। गले में जो हार था उसे सँवारते वह सुस्मित वदन से माईक्रोफ़ोन पर बोले, "कृपया शान्त रहें। किसी ने कोई तार-वार नहीं खींचा था। हमारी सामूहिक संकल्प-समाधि अत्यधिक सफल हुई है। इसलिए व्यास महर्षि इतनी तेज़ी से आये कि उनके श्रीतेज से मैं अचेत-सा होकर नीचे गिर पड़ा। बस इतना ही हुआ है। भक्तजनों की रक्षा के लिए मुझे यह सब अपने आप पर झेलना पड़ा, क्योंकि आप लोग उस भयानक महातेज को झेल नहीं सकते थे। समाधि यशस्वी हो गयी है। आपके संकल्पों की अव साल भर के अन्दर पूर्ति अवश्य होगी।"

फिर सभी भक्तजन महाराज के चरणस्पर्श करने के लिए टूट पड़े और श्रीमन्त भक्तजनों ने नोटों की अनगिनत गड्डियाँ महाराज के चरणों में विछा दीं।

छात्रावास लौटते वक़्त श्रीधर और उसके साथ के वह नवयुवक ठहाके मारकर हँस रहे थे। महाराज की फ़जीहत पर एक-दूसरे की पीठ ठोंक रहे थे।

कमरे में पहुँचने पर श्रीधर ने पूछा, "इस तुम्हारे मज़ाक़ से क्या सिद्ध हुआ ?"

"क्यों नहीं हुआ ? क्या स्थिति हो गयी थी वेचारे की !" धनंजय हँसता हुआ वोला, "वह कैसे 'ओय् ओय्' करता ज़मीन पर लेट गया, तुमने देखा नहीं ?"

"देखा क्यों नहीं। तब मैं भी हँस पड़ा था। लेकिन यह महाराज तो वड़े ही

होशियार और चालाक निकले। अपनी फ़जीहत को भी उन्होंने चमत्कार का रूप दे दिया ! अब तो भक्तों की उनपर श्रद्धा और भी दृढ़ हो गयी है। समाधि खत्म होने के बाद क्या तुमने देखा नहीं, वह कितनी ज़ोर-शोर से महाराज के गुण गा रहे थे···!"

"यही एक समस्या है। अन्धश्रद्धा एक ज़बरदस्त चीज़ है।" धनंजय ने हताश होकर कहा, "अन्धश्रद्धा का महाभयंकर रोग अनाड़ी, गँवार लोगों में ही रहता है, ऐसा नहीं। वह अच्छे, खुद को सुशिक्षित कहलाने वाले उच्च विद्या विभूषितों में भी होता है। वहाँ कौन, कैसे-कैसे दिग्गज आये थे, तुमने देखा है और मंच से वह क्या बकवास कर रहे थे, यह भी तुम सुन चुके हो। अन्धश्रद्धा बहुत चिकनी होती है, उसे धक्के मार-मार कर ही छुटकारा पाया जा सकता है। एक बात तुम भी ध्यान में रखो कि वहाँ पर जो उपस्थित थे उनमें से आधों को तो यह सन्देह हुआ था कि बाबा जी नीचे गिरे, वह किसी महातेज के प्रकट होने से नहीं, बल्कि किसी के वायर खींचने से। लेकिन किसी ने यह सन्देह व्यक्त करने का साहस नहीं दिखाया। अपनी श्रद्धा कम पड़ेगी, ऐसा लोगों को डर लगता है। लोगों के मन में आशंका पैदा करना ही हमारा काम है। अगली बार हम इससे भी कुछ अधिक करेंगे। अच्छी तैयारी करके जाएँगे और उस बाबा जी को खुली चर्चा का आह्वान देकर उनसे आड़े-तिरछे प्रश्न पूछेंगे और उसे निरुत्तर कर छोड़ेंगे···।"

"लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आती।" श्रीधर ने आश्चर्यपूर्वक कहा, "अपने तत्त्वज्ञान के प्रोफेसर गुणे जिन्होंने उपनिषद् पढ़े हैं, आधुनिक जग का इतिहास पढ़ा है, काण्ट, नीत्शे जैसे आधुनिक तत्त्वज्ञ पढ़े हैं—मार्क्सवाद का उनका अच्छा-खासा अभ्यास है और वह विज्ञान के बारे में भी इतनी अच्छी जानकारी रखते हैं, फ़िर भी उन्होंने यह पागलपन क्यों पाल रखा है? क्या वह इसके अन्तर्भूत जो बचकानापन है उसे जानते नहीं हैं?"

"हर एक के लिए कोई-न-कोई कारण होता है।" धनंजय ने समझदारी के स्वर में कहा, "मानसिक समस्याएँ होती हैं, अपूर्ण महत्त्वाकांक्षा से उभरी विकृति होती है या फिर अपनी क्षमता के बाहर की आशा-आकांक्षाएँ होती हैं, अगतिकता होती है। इन लोगों के कच्चे, कमज़ोर मन पर अपनी पकड़ जमाकर यह स्वामी जन अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं···"

दूसरे दिन कॉलेज के कॉरिडार से धनंजय और श्रीधर साथ-साथ गुजर रहे थे, सामने से वह तत्त्वज्ञान के व्यासंगी प्राध्यापक आये। हमेशा की तरह वह इस वक़्त भी अपने ही विचारों में डूबे हुए थे। दो-चार क़दम आगे बढ़कर वह रुके और उन्होंने आवाज़ लगायी—

"धनंजय, यहाँ आओ···"

"जी सर !"

दाहिने हाथ की तर्जनी को उठाकर तेज़ी से घुमाते हुए वह बोले, "तुम"शरारती लड़के"कल तुमने वह सब क्यों किया ?"

"क्या हुआ सर ? क्या किया मैंने ?" धनंजय ने पूछा।

"तुम मुझे वेवकूफ नहीं बना सकते।" प्रोफेसर साहब की आवाज़ में गुस्सा नहीं था—उल्टे, विषण्णता थी। "मैं देख रहा था, वह तार तुम्हारे ही मित्रों ने खींचा था। मैं सब जानता हूँ।"

"यह आप क्या कह रहे हैं सर ?" आश्चर्ययुक्त मुद्रा में धनंजय ने कहा, "प्रत्यक्ष गुरु महाराज ने ही तो कहा कि महर्षिव्यास के तेजोत्पात से वह गिर पड़े। आप ऐसा कैसे कह सकते हैं सर ?..."

तत्त्वज्ञान के प्रोफ़ेसर गुणे वड़े विद्वान थे। उनके आधे सिर पर बाल नहीं थे और बचे हुए बिरल बाल सफ़ेद हो चुके थे। अपने कपड़ों की तरफ वह कुछ खास ध्यान नहीं देते थे लेकिन कॉलेज आते वक़्त वह अपना पुराने फैशन का कोट और टाई पहनकर आते थे। अपने क्षेत्र में उनका नाम था, ख्याति थी, भारत के अनेक विद्यापीठों में और परदेशों में भी वह कई व्याख्यान दे आये थे।

प्रोफेसर साहब अवाक् रह गये। कुछ देर तक वह उदास नज़रों से धनंजय को घूरते हुए वहीं खड़े रहे और फिर कुछ भी न कहते हुए सीधे अपनी दिशा में आगे बढ़ गये।

अपनी बात का यह परिणाम देखकर धनंजय भी थोड़ा-सा अचम्भित अवश्य हुआ था। श्रीधर को भी बुरा लगा। धनंजय ने कहा, "जानते हो, उन्हें किस बात का बुरा लगा है ? या शायद यह गुस्सा भी नहीं है। वह उदास हो गये हैं। क्योंकि मैंने उनकी श्रद्धा की काँच के टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं—शायद उनका कुछ व्यक्तिगत मानसिक प्रॉब्लम है..."

श्रीधर भी सोच में पड़ गया था। तत्त्वज्ञान के प्राध्यापक का इस तरह अपमान देखकर उसे बुरा लगा। धनंजय की कोई ग़लती नहीं थी फिर भी प्राध्यापक महोदय का इतना अपमान नहीं करना चाहिए था, ऐसा उसे लगा।

यह जब शाम को उसने कह सुनाया तो धनंजय उस पर टूट पड़ा, "मैंने कुछ भी नहीं किया। उन्होंने ही अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली।" ताव में आकर धनंजय बोलता गया, "उन्हें क्या आवश्यकता थी, बीच में मुझे बुलाकर यह पूछने की ? और अगर वह यह जानते थे तो इस पर्दाफ़ाश के बाद उस बाबा जी का स्पष्टीकरण उन्होंने क्यों सुन लिया ? उसी वक़्त वह बोले क्यों नहीं ? सच, मुझे ऐसे भोंदू लोगों पर बिलकुल तरस नहीं आता। मुझे उनका वह विदीर्ण चेहरा देखकर क्षण भर के लिए बुरा अवश्य लगा लेकिन अब नहीं लगता। कोई अनपढ़ आदमी

उस वावा जी पर विश्वास करता है तो मैं समझ सकता हूँ। लेकिन इसके जैसे पढ़े-लिखे, तत्त्वज्ञान पढ़ानेवाले बुद्धिमान का उस चमत्कार में विश्वास करना ही अक्षम्य है। अपनी बात अगर लोगों के गले उतारनी है, तो अनेकानेक के इस तरह के अपमान सहने पड़ेंगे।"

"वात वह नहीं है धनंजय !" श्रीधर ने कहा, "शायद वह चमत्कार में विश्वास न करते हों लेकिन उनकी उन महाराज पर श्रद्धा अवश्य होगी। वात यह है कि उनके जैसे व्यासंगी, विद्वान की उस फालतू स्वामी पर श्रद्धा क्यों है ?···इसका भी कोई तो कारण होगा।"

"मैंने कहा था न अभी कि हो सकता है कुछ मानसिक समस्या हो। इसी लिए वह बुवावाजी के पीछे लगे हैं। लेकिन मेरा कहना वस इतना ही है कि उस स्थिति में बुवावाजी की तरफ मुड़ने से तो अच्छा है कि वह सीधे किसी मनोरोग-चिकित्सक के पास चले जाएँ।"

"फिर भी मूल समस्या रहती ही है। हमारे देश के विद्वान लोग इन बाबा जी, महाराज और स्वामी पर अपार श्रद्धा लगाये वैठते हैं—यह श्रद्धा कहाँ से आती है ?"

"कुछ नहीं। हमारा सारा समाज ही मानसिक रोगों से ग्रस्त है। इसीलिए यह पोंगावाजी पनपती है···"

तब तक सिगरेट फूँकता हुआ विश्वम्भर भी आ पहुँचा था। उसने कहा, "किन चर्चाओं में फँसे रहते हो तुम लोग। मुझे तो आश्चर्य होता है—" श्रीधर की तरफ देखता हुआ वह बोला, "अपने देश के लोगों को अस्तित्व, जीवन, मृत्यु, मोक्ष, विश्व की उत्पत्ति, आत्मा, व्रह्म जैसे आध्यात्मिक प्रश्न क्यों करने पड़ते हैं ? उन्हें दरिद्रता, विषमता, झुग्गी-झोंपड़ियों जैसे अन्य विषयों पर प्रश्न क्यों नहीं सूझते ? और इन प्रश्नों की कोई कमी तो है नहीं। मरो फिर बेवकूफो, मृत्यु के बाद के अस्तित्व की चर्चा करते हुए··· ।"

इसी तरह श्रीधर, धनंजय और विश्वम्भर के बीच बहस चलती रही। एक ही दिन नहीं, कई दिनों तक और फिर कई सालों तक रह-रहकर बार-बार जरा-सा वहाना मिलने पर यह वहस फिर नये सिरे से छिड़ जाती। बुवाबाजी का मज़ाक़ उड़ाने में धनंजय माहिर हो गया। ऐसे स्वामी और महाराजों की सामाजिक फ़जीहत उड़ाने के कई कार्यक्रम उसने सफलता से चलाये। विश्वम्भर को मूर्ति-भंजन में कोई रुचि नहीं थी। उसका मार्क्स और क्रान्ति जैसे विषयों पर अभ्यास चल रहा था। श्रीधर ही एक ऐसा व्यक्ति था कि धनंजय के साथ एक बार ऐसे कार्यक्रम में हो तो आया था, लेकिन स्वयं ही दुविधा में पड़ गया था। उसे उस बाबा जी के छिछोरेपन पर तरस आ रहा था। लेकिन वहाँ एकत्रित समाज और उस महाराज के

शब्दों की फेंक में ज़रूर कोई सम्बन्ध था, शब्दों में कुछ-न-कुछ जादू अवश्य था ऐसा उसे लगता था। श्रीधर फिर कई स्वामियों के, गुरुओं के और महाराजाओं के प्रवचनों में जाता रहा, यह जानने के लिए कि कौन क्यां कहना चाहता है। वल्कि यह जानना ही उसकी प्रामाणिक इच्छी थी। इसमें से मुझे कुछ अमृतकण मिलेंगे, प्रश्नों के उत्तर मिलेंगे यह सुप्त आशा भी थी। इसी दौरान एक लब्धप्रतिष्ठ महाराज को प्रवचन के समय कुछ उल्टे-सीधे प्रश्न पूछकर धनंजय ने खुलेआम पर्दाफ़ाश करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप उस महाराज के भक्तगणों ने धनंजय और उसके साथियों को खूब पीटा। ऐसी ही चार-पाँच जगह जब हाथापाई करनी पड़ी, तब धनंजय समझा कि बाबा महाराज गुरु पर विश्वास करने वालों की संख्या अनगिनत है, उनके विरोध में लड़नेवाले उस-जैसे की संख्या अत्यल्प, नगण्य है। महर्षि महेश योगी, दत्ता बाळ, भगवान् रजनीश, स्वामी विद्यानन्द, माता माहेश्वरी-जैसे प्रेषितों के प्रवचन सुनने के लिए श्रीधर जाया करता था और धनंजय वहाँ हुड़दंग मचाने के लिए। हर बार धनंजय पीटा जाता था। एक बार उसने जाति-भेद और वर्ण-भेद विषय पर खुली चर्चा करने के लिए किसी प्रसिद्ध पीठ के शंकराचार्य को चुनौती दी थी, तब उस सभा में भगतगण ने इतना उत्पात किया कि धनंजय के हाथ की हड्डी टूट गयी थी और पन्द्रह दिन उसे रुग्णालय में रहना पड़ा था।

उन दिनों श्रीधर केवल कौतूहलवश अध्यात्म की तरफ खिंचता जा रहा था। उसके जैसे एक युवक को आध्यात्मिक प्रवचन के लिए आते देखकर पहले-पहल लोगों को उस पर शक होता और फिर वह उसकी प्रशंसा भी करते। श्रीधर वह सब जानने की मनःपूर्वक कोशिश कर रहा था। और इन प्रयत्नों में अपनी बार-बार उफनकर आनेवाली बेचैनी दूर करने का प्रयत्न कर रहा था। अध्यात्म के बवण्डर में उसका विश्वास होना तो सम्भव नहीं था लेकिन अध्यात्म केवल विचारों के माध्यम से विश्व का रहस्य समझ लेने के प्रयत्नों में एक भटके हुए क़दम से यही उसकी धारणा बनती गयी। कभी-कभी उसे रजनीश या दत्ता बाळ के प्रवचन बहुत अच्छे लगते। उसमें खुद की और विश्व की ली हुई खोज उसे प्रामाणिक लगती। लेकिन उसके आगे उनका जो व्यवहारी जीवन विषयक तत्त्वज्ञान था, वह उसे बेकार लगता, कुछ इन बाबा या महाराजों के वक्तृत्व के प्रभाव से और शब्दजंजाल से सिर्फ़ दिमाग़ में नशा-सा छा जाता है, यह वह जानता था। लेकिन प्रश्नों के उत्तर तो मिलते ही नहीं। अपनी बुद्धि और विचारशक्ति को दूर रखा तो यह नशा सुखद लगता है। लेकिन फिर यह नशा और मद्य का नशा इनमें क्या फ़र्क़ है ? इससे उफनती है और भी तापदायक बेचैनी। नशा उतरने के बाद शरीर पर सिर्फ़ दाहक निराशा और कटु स्वप्न-भंग रह जाता है। लेकिन ऐसे शब्दों का मायावी इन्द्रजाल न खड़ा करते हुए खुद को जो अच्छा लगा है, वह मन से और ईमानदारी से बतानेवाले साक्षात्कारी

पुरुष भी हो सकते हैं। उनका मज़ाक़ उड़ाना, अपमान करना या जाहिर बेइज़्ज़ती करना श्रीधर को ठीक नहीं लगा। इसीलिए श्रीधर और धनंजय में कई बार मनमुटाव होने लगा था। 'बुवाबाजी का विरोध' वृत्ति का रूपान्तरण 'अध्यात्मवाद का विरोध' में हो गया। और फिर अध्यात्मवाद की राह पर चलने वाला हर महाराज या गुरु पाखण्डी ही होगा, यह मानकर चलनेवाला यह बुद्धि प्रामाण्यवादी गुट हर किसी का विरोध करने लगा, जो श्रीधर को पसन्द नहीं था।

श्रीधर और धनंजय के बीच उस बहस का ज़ोरदार झगड़े में परिवर्तन तब हुआ, जिस दिन प्रोफ़ेसर गुणे ने आत्महत्या की। प्रोफ़ेसर गुणे ने अत्यन्त शान्ति से, किसी को भी कोई कष्ट न देते हुए अपना जीवन समाप्त किया। वह भी इतने सुनियोजित तरीक़े से कि उनकी मनोरुग्ण पत्नी को उनके पार्थिव देह के संस्कार तक के लिए कुछ भी न करना पड़ा। येखड़ा के मानसोपचार केन्द्र में भेजी हुई अपनी पत्नी की उन्होंने सही आर्थिक व्यवस्था कर छोड़ी थी। आखिरी पत्र भी इतना साफ़ सरल लिखकर छोड़ा था कि उनकी आत्महत्या से किसी को भी कोई कष्ट न हो। श्रीधर को इसके बारे में समाचार-पत्र में छपी खबर के पढ़कर पता चला—

पुणे (हमारे विशेष संवाददाता से) : यहाँ के सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञ प्रोफ़ेसर श्री व्ही. एस. गुणे ने कल रात एक रहस्यमय ज़हर पीकर आत्महत्या कर ली। ऐसा पुलिस द्वारा बताया गया है। उनकी मृत देह बी. जे. मेडिकल कॉलेज के शव चिकित्सालय के बरामदे में आज सवेरे पुलिस को मिली। उनकी कोट की जेब में मिले पत्र अनुसार उन्होंने अपनी देह वैद्यकीय अनुसन्धान के लिए दान की है और उससे सम्बन्धित काग़ज़ात भी साथ हैं।

पुलिस सूत्रों के अनुसार, प्रोफ़ेसर गुणे ने अपनी आत्महत्या के कारण का कोई स्पष्ट विवरण नहीं दिया है। लेकिन उनके निकटवर्ती मित्रों से पता चला है कि पिछले दो महीनों में प्रोफ़ेसर गुणे का मनस्वास्थ्य ठीक नहीं था। पिछली गुरुपूर्णिमा के एक उत्सव में उनकी नीरोग पत्नी को अचानक मानसिक अस्वास्थ्य का दौरा पड़ने के बाद उन पर उपचार हो रहे थे। पिछले ही हफ्ते उनका मनोस्वास्थ्य अत्यधिक बिगड़ जाने पर उनकी पत्नी को मनोरुग्णालय में दाखिल किया गया था। गुणे दम्पती को काई सन्तान नहीं है। प्रोफ़ेसर गुणे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के तत्त्वज्ञ थे और उन्हें रोम, सोबोर्न, बर्लिन, सोफ़ाया, हार्वर्ड आदि ख्यातनाम विश्वविद्यालयों से भारतीय तत्त्वज्ञान एवं आधुनिकता विषय पर भाषण देने के लिए सम्मान के साथ बुलाया जाता था।

आगे प्रोफ़ेसर गुणे का चरित्र विस्तार से दिया था। खबर पढ़ने के बाद श्रीधर को बहुत दुख पहुँचा। फिर वह ग़ुस्से से उबलने लगा। दोपहर में बाहर जाकर उसने वह अखबार ख़रीदा और शाम को चाय के अड्डे पर वह धनंजय के सामने

रखा। धनंजय का मुँह उतरा हुआ था।

"पढ़ा !" उसने कहा, "वेरी सैड ! वह वहुत अच्छा पढ़ाते थे, ऐसा सुना है।"

"तुमने खवर ठीक से पढ़ी है न ?"

"हाँ। क्यों ?"

श्रीधर ने अखबार अपनी तरफ खींच लिया और ठण्डे सन्ताप से उसने कहा, "दो-चार बातें तुम्हें याद दिलाता हूँ। एक, उनकी पत्नी नीरोग थी, लेकिन उसे कोई मानसिक बीमारी थी। दो, उनकी कोई सन्तान नहीं थी। तीन, गुरुपूर्णिमा के उस उत्सव में गुरु महाराज की पोल खुलने पर उनकी पत्नी का मानसिक सन्तुलन खो गया और उन्हें वह दौरा पड़ा। चार, प्रोफेसर गुणे ने अपना शरीर वैद्यकीय अनुसन्धान के लिए दान कर दिया है। उनकी विज्ञाननिष्ठा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है ?"

धनंजय कुछ देर तो चुप रहा लेकिन जव उसने देखा कि श्रीधर उत्तर में कुछ सुनने की अपेक्षा कर रहा है तो उसने कहा, "तुम कहना क्या चाहते हो ?"

"मैं कुछ भी प्रमाणित नहीं करना चाहता।" श्रीधर ने कहा, "प्रमाणित करने की आवश्यकता भी नहीं है। तुम्हारे कृत्य के कितने भयानक परिणाम हो सकते हैं, सिर्फ़ यही मैं तुम्हें बताना चाहता था।"

"तुम कहना क्या चाहते हो ?" आश्चर्य से आँखें विस्फारित करता हुआ धनंजय बोला, "कहीं तुम मुझे तो उनकी आत्महत्या के लिए दोषी तो नहीं ठहरा रहे हो ?"

"अपने कृत्य की ज़िम्मेदारी को मत भूलो। उनकी पत्नी की उस अवस्था के लिए भी तुम ही ज़िम्मेदार हो। और यह हैं सिर्फ़ हमें ज्ञात होनेवाली बातें। जिनपर उनकी परमेश्वर समान श्रद्धा थी, उस महाराज का या स्वामी का वस्त्रहरण करके तुमने उसे लफंगा साबित कर दिया। इससे कितने कमज़ोर, श्रद्धालु दिलों पर क्या गुजरी होगी। कितने लोगों को मानसिक सदमा पहुँचकर उनके भाविक जीवन उध्वस्त हुए होंगे, क्या इसकी गिनती तुम कर सकते हो ?"

"वुलशिट"— धनंजय ने कहा।

"अपनी ज़िम्मेदारी मत टालो। आखिर श्रद्धा भी एक महत्त्वपूर्ण चीज़ है। श्रद्धा का आधार होता है। श्रद्धा पर हमला करने से वह व्यक्ति पूरी तरह टूट सकता है।"

"तो फिर तुम कहना क्या चाहते हो ? बुवाबाजी, ढोंग— सब वैसे ही चलने देने चाहिए। उन पर हमला न करें ?"

"मेरा वह मतलब नहीं है, धनंजय। पोंगापण्डितों की पोल अवश्य खुलनी चाहिए। लेकिन फिर भी मेरे विचार में श्रद्धा नाजुक भावना है। उसे वहुत सँभालकर

रखना पड़ता है। मैंने इतने में ही ना. ग. गोरे की एक पुस्तक पढ़ी। वह पण्ढरपुर में पाण्डुरंग के सामने खड़े थे। वह स्वयं पूरे नास्तिक हैं। वह पाण्डुरंग को नमस्कार नहीं करना चाहते थे। लेकिन उनके मन में यह विचार आया कि जिस पाषाण की मूर्ति के सामने आठ सौ साल अखण्डता से करोड़ों लोगों ने अपने सिर झुकाये हैं, यह प्रणाम उस मूर्ति को नहीं, उस विलक्षण श्रद्धा को है।''

''तुम उलझे हुए हो श्रीधर...'' धनंजय ने कहा, ''जो कहना चाहते हो वह खुद अच्छी तरह समझ नहीं पाये हो।''

''न समझने का नाटक मत करो, तुम अच्छी तरह जानते हो कि मैं क्या कहना चाहता हूँ। मैं तुम्हारी इज़्ज़त करता हूँ। मैं भी स्वयं को तुम्हारे जितना ही विज्ञाननिष्ठ मानता हूँ। मेरा कहना सिर्फ़ इतना ही है कि श्रद्धा भी एक शक्ति है, ऐसा तुम कभी सोचते ही नहीं। विशेष रूप से हमारे देश में तो श्रद्धा का वहुत महत्त्व है, यह तुम अस्वीकार कर नहीं सकते। उस दिन रजनीश की सभा के वक़्त तुम्हें जिसने पीटा था उसे मैंने ग़ौर से देखा था। उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वह एक शिक्षक है—पाप से डरने वाले, ग़रीब मध्यम वर्ग का प्रतीक। चींटी तक को मारते हुए वह दो बार सोचेगा। ज़रा सोचो, वह क्या था जिसने तुम पर दो वार हाथ उठाने के लिए उसको मजवूर कर दिया ? शंकराचार्य के प्रवचन के वक़्त तुम पर हमला हुआ था, उसे याद करो। उसमें तो बहुत सारे युवक ऐसे थे जिन्हें हम अच्छी तरह जानते थे। वह सब युवक तुम-मुझ जैसे ही कदाचित् अधिक सज्जन हैं वह कभी अन्यथा मार-पीट नहीं करते। लेकिन जब तुमने उनके श्रद्धास्थान को ठेस पहुँचायी तो उन्हें यह करना ही पड़ा...''

''जातीय दंगे, धार्मिक तनाव, धर्मयुद्ध-जैसी वातें सुनी हैं न तुमने श्रीधर ? श्रद्धा से आदमी पशु हो सकता है, राक्षस हो सकता है...''

''चर्चा का रुख वदलने की कोशिश मत करो। श्रद्धा से मनुष्य सामर्थ्यवान् भी बन सकता है।''

''यह सब वेकार की चर्चा है। मैं सिर्फ़ इसी वात से डरता हूँ कि कहीं आजकल तुम भी किसी बाबा के चंगुल में तो नहीं जा फँसे ?'' धनंजय ने कहा। ''मेरा कहना यह है कि विश्व का सारा संचालन आधिभौतिक नियमों के अनुसार ही होता है उसमें चमत्कार और पोंगापण्डिती के लिए कोई स्थान नहीं है।''

''मानता हूँ। मेरा भी पाखण्ड और चमत्कार में कोई विश्वास नहीं है।'' श्रीधर ने उत्तर दिया, ''लेकिन इस आधिभौतिक शक्ति से परे इस दुनिया में दूसरी कोई शक्ति नहीं है, ऐसा मैं निश्चितता से कह नहीं सकता।''

''इसका यह मतलव है कि तुम अतीन्द्रिय शक्ति में विश्वास करते हो। धनंजय ने उपहास से कहा।

"मैंने ऐसा तो नहीं कहा। मैं सिर्फ़ इतना कहना चाहता हूँ कि जग की उत्पति, विश्व का अनन्त फैलाव, मानवी भावना, दुःख, क्रोध, युद्ध, असूया, प्रेम, आनन्द—इन बातों का आधिभौतिक नियमों के अनुसार स्पष्टीकरण देने का मार्ग हमें अब तक नहीं मिला है, और न मिलने की सम्भावना है। इसीलिए हमें जो ज्ञात है, उस भौतिक शक्ति के अतिरिक्त भी अज्ञात शक्ति का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता, यही मेरा कहना है।"

"वही···इसी का दूसरा नाम अतीन्द्रिय शक्ति है···" धनंजय के स्वर में छद्म था। "फिर हमारे गुरु महाराज की तरह तुम संकल्पसमाधि लगाकर बैठ क्यों नहीं जाते, श्रीधर ? या फिर उनके साथ महर्षि व्यास से मिलने स्वर्ग का एक चक्कर भी लगाते आना। तुम्हारे नित्यानन्द बाबा तो, मैंने सुन रखा है, चाँद पर भी हो आये हैं। उनका भी तुम विश्वास करते ही होगे। अमेरिका का यान अभी चाँद पर नहीं पहुँचा । उससे तो अच्छा होगा कि कोई जॉनसन साहब से कह भेजे कि एक आदमी को चाँद पर भेजने की मूर्खता पर करोड़ों डालर्स खर्च करने से तो अच्छा है कि हमारे नित्यानन्द बाबा को वहाँ बुला लीजिए। पाँच-पचास हज़ार की दक्षिणा से सन्तुष्ट होकर वह चाँद पर एक अच्छी-खासी कालोनी बसा देंगे, क्यों ?"

श्रीधर मुस्कराया। धनंजय ने रुकते हुए उपहासपूर्ण सन्ताप से कहा, "या फिर उस सत्य भाई बाबा के पास क्यों नहीं चले जाते ? वहाँ भी तुम्हें इस भौतिक शक्ति के पार जो गूढ़ शक्ति है, वह क्या कर सकती है, यह देखने को मिलेगा, भस्म आदि उपचार मिलेंगे। उस शक्ति के बल पर बाबा अपनी मुट्ठी से सोने का कड़ा या ज़ापान में बनी अत्याधुनिक घड़ी भी निकाल सकते हैं, लेकिन वह केवल अमीरों के लिए। ग़रीबों को केवल भस्म मिल सकता है ···।"

"मैं तुमसे बार बार कह रहा हूँ धनंजय, कि ऐसे चमत्कार और बाबाओं में मैं बिलकुल विश्वास नहीं करता···।"

"लेकिन अगर अतीन्द्रिय शक्ति को मानते हो तो यह सब आ ही जाता है। इस तरह क्या किसी भी चीज़ का समर्थन किया जाता है ? तुम जानते हो न, चमत्कार का यह लोग कैसे समर्थन करते हैं। अतीन्द्रिय शक्ति के अस्तित्व के स्वीकार से हर चीज़ का समर्थन हो सकता है। भूत-प्रेतों को अस्तित्व प्राप्त होता है, पूजा-अर्चा का समर्थन हो सकता है। सर्व धर्मों के अन्तर्गत विकृति, अन्याय, धार्मिक भ्रष्टाचार, विषमता, चातुर्वर्ण्य—सबका समर्थन हो सकता है, है न ?" धनंजय के स्वर में अभी भी उपहास कायम था।

"मेरी बात पूरी तरह सुन लो।" श्रीधर ने शान्त स्वर में कहा, "जो तुम कह रहे हो, उन अतीन्द्रिय शक्तियों के बारे में मैं कुछ बोल ही नहीं रहा हूँ। जो जग की उत्पत्ति के पहले और विलय के बाद भी रहेगी, जिसने इस भौतिक शास्त्र के

नियम बनाये हैं, मैं उस शक्ति की बात कह रहा हूँ।" उसके अस्तित्व के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। लेकिन एक बात बताओ धनंजय, केवल फिजिक्स, केमिस्ट्री, गणित की सहायता से पूरे जग का आकलन हो सकता है? मनुष्य का मन क्रोध, लोभ, द्वेष, प्रेम, कपट, क्रौर्य, हिंसा, दया—यह चीज़ें कैसे समझी जा सकती हैं ? अपने अस्तित्व का अर्थ क्या मानोगे ?"

यह, सोचने के लिए धनंजय तैयार नहीं था, वह विज्ञाननिष्ठ रहना चाहता था। मनुष्य के मन का रसायन भी विज्ञान के नियमों से समझा जा सकता है, यह उसका दावा था। उसके पार वह देखना नहीं चाहता था और श्रीधर को यह नामंजूर था। आधिभौतिक नियमों के पार भी जो विशाल शक्ति है उसे समझ लेने की आस उसमें थी। परमेश्वर की जगह परमाणु""परमाणु कहते हुए प्राण त्यागने वालों में से धनंजय एक था। उसकी मानव-मूल्यों पर विशेष श्रद्धा थी, यह सबसे आश्चर्यपूर्ण बात थी। परस्पर सम्बन्धों में छोटी-छोटी बातों का भी वह ध्यानपूर्वक पालन करता था। श्रीधर ने जब चाचा को भगाया तब धनंजय को बुरा लगा था। ऐसा प्रेम धनंजय की मानसिकता में था और श्रीधर तो किसी भी चीज़ में विश्वास नहीं करता था। उसे यह बातें समझ लेनी थीं और मरने की स्थिति में किसका नाम लेना चाहिए, यह वह जानता नहीं था।

बीस

यह बहस दिनों तक, वर्षों तक चल ही रही थी, उसी के साथ-साथ श्रीधर के शरीर-संवर्धन के व्यायाम भी। रोज़ सुबह उठकर दौड़ने जाना और हनुमान पहाड़ी की लम्बी-सी परिक्रमा करने का काम उसने कठोरता से जारी रखा, चाहे कड़ाके की ठण्ड हो या मूसलाधार बारिश। जब मौसम अच्छा होता, घूमने-फिरने वालों की काफ़ी भीड़ होती। लेकिन श्रीधर अकेला ही जाता था। कुछ दिनों बाद उसे एक बात ज्ञात हुई । उसी की तरह ठण्ड, बारिश या हवा की फिक्र न करते हुए, अपने निर्धारित समय पर वहाँ सैर के लिए आनेवाला एक और व्यक्ति था, प्रोफेसर शास्त्री।

प्रोफेसर शास्त्री फिजिक्स पढ़ाते थे। अपने क्षेत्र में उनका अच्छा नाम था। लम्बा, अतिकृश कद, भव्य माथा, लम्बे खिचड़ी बाल और सीने पर पहुँची दाढ़ी, तीखी नाक, बड़ी तेजस्वी आँखें और चेहरे पर ऋषितुल्य ऋजुता, नम्रता और शाश्वत

खोयेपन का भाव । प्रोफेसर शास्त्री वहुत कम वोलने के लिए विद्यापीठ में प्रसिद्ध थे। वह सिर्फ़ क्लास में छात्रों के सामने मुँह खोलते थे। उन्हें किसी ने गुस्से में या ज़ोर से हँसते हुए नहीं देखा था। उनका सबसे अधिक भावनात्मक आविष्कार था, उनका किंचित् स्मितहास्य। उनका वह किंचित् स्मित भी बहुत तेजस्वी लगता था। छात्रों को उनके लिए बहुत आदर था। उनकी उम्र चालीस-पैंतालीस के क़रीब होगी। लेकिन उनकी कभी कोई हँसी-मज़ाक़ नहीं उड़ाता था। श्रीधर का फिजिक्स से सम्बन्ध नहीं था फिर भी प्रोफेसर शास्त्री की कीर्ति सुनकर उसके मन में उनके लिए अतीव आदर था।

और उन्हें हर रोज़ वहाँ घूमते हुए देखकर उस आदर में वृद्धि हुई थी। उनके चेहरे पर जो गम्भीरता थी और आँखों में जो गहरी शान्ति थी, वह देखकर उसे न जाने क्यों लगता था कि यह गृहस्थ विश्व का रहस्य खोलने के मार्ग पर चल रहा है। यह आदमी ज्ञानी है। शास्त्री जी रोज़ कुर्ता-पाजामा पहनकर नंगे पाँव आते। बरसात के होते भी छाता नहीं होता था, न ही ठण्ड के लिए स्वेटर या शाल। रोज़ उस पहाड़ी पर पहुँचने का उनका निश्चित समय हुआ करता था, छह बजे। जाड़े के दिनों में सूर्योदय देर से होता और सुबह के छह बजे अँधेरा हुआ करता था। बरसात के दिनों में आसमान बादलों से भरा रहता था। सूर्योदय के बदलाव के अनुसार श्रीधर की सैर का समय भी बदल जाता। लेकिन प्रोफेसर शास्त्री सुबह छह की मिनट वाली सुई बारह पर पहुँचते ही पहाड़ी के माथे पर होंगे ही। श्रीधर भी धीरे-धीरे एक अनुशासन का भाग समझकर प्रयत्नपूर्वक वह समय पालन करने लगा। दोनों एक-दूसरे को हर रोज़ देखने लगे। जान-पहचान न होते हुए भी परिचय हो गया। श्रीधर के दिखाई देते ही शास्त्री जी के चेहरे पर परिचय के भाव उमड़ते और श्रीधर भी उनका अभिवादन करने लगा।

"मैं श्रीधर। आर्ट्स का छात्र हूँ।"

एक दिन नमस्कार करके उनके पास से गुज़रते हुए श्रीधर ने अपना परिचय दिया। शास्त्री जी ने 'मैं जानता हूँ' ध्वनित करनेवाला स्मितहास्य किया। उसके बाद हर रोज़ उनके स्मितहास्य और नमस्कार की लेन-देन शुरू हुई। श्रीधर को उनका सहारा-सा लगने लगा।

प्रोफेसर गुणे की आत्महत्या के बाद श्रीधर के धनंजय के साथ जो वाद-विवाद होते थे, उनके बाद श्रीधर को एक वार प्रोफेसर शास्त्री से बात किये बिना रहा न गया। एक दिन बड़ी सुबह जब पहाड़ी पर दोनों आमने-सामने आये तो श्रीधर ने प्रोफेसर शास्त्री का विनम्र अभिवादन किया, जो उन्होंने सुहास्य मुद्रा से स्वीकार किया और वह आगे बढ़ गये। श्रीधर को रुका हुआ देखकर वह भी मुड़े और श्रीधर उनके साथ-साथ चलने लगा।

प्रोफेसर शास्त्री की मुद्रा शान्त, निर्मल और प्रसन्न थी।

"अगर आपकी अनुमति हो तो मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। सर…।" श्रीधर ने विनम्रता और खुली आवाज़ में कहा।

शास्त्रीजी ने सिर्फ़ गरदन हिलाकर हाँ कहा।

"मैं वैसे तो विज्ञानवादी हूँ, सर। लेकिन विज्ञान के ज़रिये विश्व से सम्बन्धित सभी प्रश्नों के उत्तर मिल नहीं सकते, ऐसा भी लगता है।"

प्रोफेसर शास्त्री ने किंचित् चौंककर श्रीधर की तरफ देखा और वह मुस्कराये।

"फिर ?" उन्होंने सिर्फ़ अपनी भौंहें उठाकर उससे पूछा।

"मेरे सामने कई सवाल उभरते हैं लेकिन उनके उत्तर नहीं मिलते। पहला प्रश्न, क्या जग की सभी चीज़ों का विज्ञान के माध्यम से स्पष्टीकरण मिलना सम्भव है ? नैसर्गिक प्रक्रियाओं का, क्रियाओं के विश्लेषण और स्पष्टीकरण गणित, रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र और अन्य शास्त्रों के आधार से किया जा सकता है, वह मैं मानता हूँ। लेकिन कई चीज़ें ऐसी भी हैं कि जिनका स्पष्टीकरण विज्ञान के माध्यम से मिलना असम्भव है। विश्व की निर्मिति के बारे में कितने भी सिद्धान्त प्रस्तुत करने के बाद भी, एक प्रश्न शेष रहता ही है, विश्व का जन्म होने से पहले क्या था ? लेकिन इसका उत्तर कौन दे सकता है ? या मनुष्य का 'मैं'पन, क्रोध, द्वेष, लालच, मत्सर, हिंसा, रक्तपात, मनुष्यों के अलग-अलग स्वभाव—इनका स्पष्टीकरण कैसे किया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। कई बातें ऐसी होती हैं, कि जिनका पूर्ण गणित या भौतिकशास्त्र से समर्थन एकदम असम्भव है। इस स्थिति में जो विज्ञान व्यतिरिक्त अतीन्द्रिय शक्ति अस्तित्व में है, क्या उसपर विश्वास किया जा सकता है ?"

श्रीधर ने रुककर साँस ली। अभी सूर्योदय नहीं हुआ था, हवा में पुणे के जाड़ों की प्रसन्नता थी। ठण्डी मधुर हवा शरीर में कँपकँपी-सी पैदा कर रही थी और सुबह के पंछियों का चहचहाना शुरू हुआ था।

"और दूसरी बात है, यह भयानक बेचैनी, सर।" श्रीधर ने कहा, "यह बेचैनी, विश्व का भव्य, अनन्त व्याप और मनुष्य की नगण्यता। हमारे अस्तित्व का क्या अर्थ है ? विज्ञान में विश्व की निर्मिति जैसे गहन विषयों का अध्ययन करते वक़्त दम घुटने लगता है, बेचैनी होती है। सच, विश्व को समझ लेना बहुत कठिन बात है, सर…।"

श्रीधर को अचानक लगा कि वह कुछ ज़्यादा ही कह चुका है और वह चुप हो गया।

प्रोफेसर शास्त्री उसी गति में आगे बढ़ रहे थे। उनका पूरा ध्यान श्रीधर की बातों पर था। बीच में कभी वह ज़मीन की तरफ देखकर आँखें किरकिरी करते

थे।

ऐसा ही कुछ समय बीतने के बाद उन्होंने अचानक श्रीधर से पूछा, "श्रीधर, क्या तुमने कभी प्रेम किया है ?"

श्रीधर चुप रहा और उसके साथ-साथ मौन चलता रहा। जैसे उसने यह सवाल सुना ही न हो। क्योंकि उनके प्रश्न से वह दंग रह गया था। उसे कुछ उत्तर सूझ ही नहीं रहा था। श्रीधर ने प्रोफेसर शास्त्री का कोई भी लेक्चर नहीं सुना था, कॉलेज के बाहर भी उनके जो भाषण होते थे, उनमें से भी कोई नहीं सुना था और पिछले कई दिनों से उनका परिचय होने के बाद भी उसने उनकी आवाज़ पहली बार सुनी थी, वह भी इस प्रश्न के स्वरूप में। इन प्रश्न से श्रीधर को लगा, उसकी छाती पर कोई बड़ा-सा पत्थर आ गिरा है। यह प्रश्न उससे धनंजय ने भी किया था, लेकिन उस वक़्त उसका महत्त्व उसकी समझ में नहीं आया था। धनंजय ने तो सपाट निर्णय भी दे डाला था कि प्रेम क्या चीज़ है इतना भी श्रीधर नहीं जानता। प्रोफेसर शास्त्री को भी यही प्रश्न क्यों पूछना था ? फिर एक बार श्रीधर को बहुत भयानक और सूना-सा लगा। धनंजय के पूछने के बाद उसने अपने आपसे यह प्रश्न पूछने का साहस नहीं किया था क्योंकि उसे प्रश्न का आकलन नहीं हो रहा था। उत्तर तो बहुत दूर की बात थी। उसके अठारह-उन्नीस साल का जीवन-पट उसकी आँखों के सामने से गुजरा। वृन्दा, माँ, रांमी, जगत, अपनापन, प्रेम ? यह प्रेम है क्या चीज़ । आजकल विश्वम्भर का दावा था कि वह किसी लड़की से प्रेम करता है। वह कैसा प्रेम ?

प्रोफेसर शास्त्री के प्रश्न का श्रीधर ने कोई उत्तर नहीं दिया। लेकिन प्रोफेसर शास्त्री ने उस बारे में कोई नाराजगी नहीं दिखायी। वह वैसे ही अपनी सहज गति से चलते रहे।

दोनों पहाड़ी के ऊपर पर पहुँचे। नीचे की तरफ सारा शहर फैला पड़ा था। सूर्योदय अभी-अभी हुआ था। उसकी रक्तिम आभा में प्रोफेसर शास्त्री का मुख और भी प्रसन्न लग रहा था। भोर की हवा के शीतल झोंकों से उनके सिर पर बाल कुछ-कुछ उड़ रहे थे। उनका सफ़ेद कुर्ता भी फड़फड़ा रहा था। उन्होंने कुछ लम्बी साँसें लीं और श्रीधर के कन्धे को छूकर बोले, "तुम्हारी मदद कोई नहीं कर सकता। तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर तुम्हें स्वयं ही ढूँढ़ने होंगे।"

"लेकिन यह उत्तर मैं कैसे पाऊँ, सर ? मुझे मार्ग दिखाइए। क्योंकि जब तक मैं सन्तुष्ट नहीं होता, मुझे चैन नसीब नहीं होगा। इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ना ही मुझे दुनिया का सबसे बड़ा काम लगता है। और उसके लिए मैं कितने ही कष्ट और परेशानियाँ उठाने के लिए तैयार हूँ।"

प्रोफेसर शास्त्री कुछ क्षण दीप्तिमान होनेवाले क्षितिज को देखते हुए स्तब्ध खड़े

रहे और फिर श्रीधर की तरफ मुड़कर देखा। उनके चेहरे पर श्रीधर के लिए आदर मिश्रित करुणा नज़र आ रही थी, और चिन्ता भी।

फिर उनके चेहरे पर करुणायुक्त मुस्कान फैल गयी और उन्होंने कहा, "यह मार्ग भी तुम्हीं को ढूँढ़ना होगा—अकेले ! इसीलिए पूछ रहा हूँ, बेटे, क्या तुमने कभी किसी से प्रेम किया है ?"

अपने प्रश्न को एक उद्‌गार समझकर शास्त्री जी ने छोड़ दिया। और जैसे उन्होंने बहुत कुछ कहा था या ऐसा कुछ, यह सोचकर उन्होंने अपने होठ भींच लिये।

उनकी बातों से श्रीधर के हृदय में जो खालीपन था, वह और भी गहरा होता जा रहा था, फैल रहा था। अकेलेपन की उसे आदत थी, अकेलापन उसे बहुत पसन्द था। लेकिन यह वैश्विक अकेलापन बहुत डरावना और दुःखद था। यही नहीं, मेरी यह बेचैनी और असन्तोष यही इस वैश्विक अकेलेपन का लक्षण है। मेरी शोधयात्रा में मेरा कोई संगी-साथी नहीं होगा, यह वह जानता था लेकिन यह उसे इस तीव्रता से आज ही महसूस हो रहा था।

अपनी बातों का श्रीधर पर हुआ परिणाम देखकर शास्त्री जी को किंचित् बुरा लगा होगा। शायद कुछ और कहें या न कहें इस दुविधा में वह पड़े होंगे। फिर विचार कर वह बोले, "मैं तुम्हें एक मार्ग-दर्शक तत्त्व बताता हूँ, जो शायद तुम्हारी इस अकेली खोज में तुम्हारी मदद कर सके।" प्रोफेसर शास्त्री मनःपूर्वक कह रहे थे और उनके स्वर में जो करुणा और सच्चाई थी उससे श्रीधर को अपने दुखी हृदय पर कोई आहिस्ता से शीतलता का छिड़काव कर रहा है, ऐसा प्रतीत हुआ। "प्रेम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चीज़ है। किसी से प्रेम होना चाहिए, उससे मनुष्य की आकलन-शक्ति बढ़ती है। जग को जानना चाहते हो, तो जग पर प्रेम करना सीखो। मेरे शब्द तुम्हें शायद बहुत सपाट और निरर्थक लगें। लेकिन तुम्हें यह खोज करनी है, वह खुद के अनुभव से, खुद के अस्तित्व से। विचार मन का, बुद्धि का होता है। अनुभव और अस्तित्व इन विचार और बुद्धि से भी बढ़कर बहुत आगे होता है। प्रेम क्या है, यह भी तुम्हें खुद सीखना होगा। वह तुम्हें कोई सिखा नहीं पाएगा।"

प्रोफेसर शास्त्री रुक गये। अब वह अत्यधिक बोलने की आशंका से चुप हुए। और फिर श्रीधर को देखकर उन्होंने मन्द, करुणामय स्मितहास्य किया।

दोनों काफ़ी देर तक उगते सूर्य को देखते रहे।

मनुष्य को सूर्योदय और सूर्यास्त देखने का आकर्षण क्यों होता है ? श्रीधर सोचने लगा। उसे लगा, इन दो घटनाओं की संगति मनुष्य के जन्म और मृत्यु से जुड़ी हुई है।

उस शाम श्रीधर को बहुत आश्चर्य हुआ और आघात भी लगा। धनंजय प्रोफेसर

शास्त्री का छात्र था। उसे जब यह बात श्रीधर ने बतायी तो धनंजय ने गम्भीरता से पूछा, "सच ! वह बोले तुमसे ?"

"हाँ ।"

"इतना बोले ?"

"हाँ..."

धनंजय का चेहरा और भी अधिक गम्भीर हो गया। और फिर अचानक वह ज़ोर-ज़ोर से हँस पड़ा।

"क्यों, क्या हुआ ?" श्रीधर ने हैरान होकर पूछा।

धनंजय की हँसी रुक गयी।

"यह शास्त्री अव्वल दर्जे का पाजी और हरामखोर आदमी है, क्या यह तुम जानते हो ?"

"बकवास मत करो।" श्रीधर चिढ़कर बोला। "वह मन से बोल रहे थे। सूत्रात्मक बोल रहे थे और उनके हर शब्द के गहरे अर्थ थे।"

"राइट ।" धनंजय हँसता हुआ बोला, "शास्त्री बहुत चालाक आदमी है। मैं तुम्हारे सामने उसका मूर्तिभंजन करना नहीं चाहता हूँ। लेकिन एक बात याद रखना, वह अत्यन्त नीच आदमी है। अपने कॉलेज की और विद्यापीठ की प्रयोगशाला बनाते हुए उसने न जाने कहाँ-कहाँ से कितने पैसे जुटाये और उसमें से कितने खुद गटक गया, इसके बारे में मजेदार और चमत्कारिक कहानियाँ सर्वश्रुत हैं, वह शायद तुम तक पहुँची नहीं हैं। ख़ैर, उस बात को छोड़ो। उसने तुम्हें प्रेम करने की जो सलाह दी है, वह सबसे मज़ेदार बात है। क्योंकि हमारे कॉलेज का वह सबसे पहुँचा हुआ 'रोमाण्टिकक रोमिओ' है। उसके अब तक चार विवाह हो चुके हैं। कितनी जवान लड़कियों को अपने जाल में फँसाकर उसने उनके जीवन बरबाद किये हैं और फिलहाल उम्र में उससे आधी उसकी चौथी पत्नी घर पर होते हुए भी उसका एम. एस-सी की छात्रा काले के साथ सरेआम प्रेम चल रहा है..."

श्रीधर हड़बड़ाया और चुप बैठा। फिर थोड़ी देर बाद कुछ सोचकर उसने कहा, "उससे क्या फ़र्क पड़ता है, उनके व्यक्तिगत जीवन में वह चाहे जो भी हों..."

उसके बाद श्रीधर ने कुछ भी नहीं कहा। धनंजय भी मौन रहा। फिर उसने विषय बदल दिया।

इक्कीस

मैं क्या ढूँढ़ रहा हूँ ? मैं यहाँ किसलिए आया हूँ ?

कल-कल वहती नदी के किनारे वैठा श्रीधर सोच रहा था। नदी के दोनों किनारों पर ऊँची चट्टानें, उनसे भी ऊपर गरदनें ऊपर उठाकर देखनेवाले गम्भीर, शुभ्र हिमशिखर। इस स्थल में आकर मैं क्या साध्य करना चाहता हूँ ? वह कौन-सा खिंचाव है जो इस तरह खींचकर मुझे यहाँ हिमालय में लाया है। श्रीधर के सिर में गुत्थमगुत्थ हो रहा था। विचार और भावना वुरी तरह एक-दूसरे में उलझ गये थे और वह वौखला गया था। क्या पाना चाहता हूँ मैं ? शान्ति और सन्तोष ? यानी मोक्ष ? और उसे पाने का क्या यही मार्ग है ? सारी दुनिया की तरफ पीठ फेरकर योग-साधना से क्या यह साध्य होगा ? क्रियाशील व्यक्ति इस तरह संन्यास नहीं लेते। और फिर ऐसे संन्यास से भी निर्लिप्तता और वाद में अन्तिम शान्ति या परमसन्तोष यानी मोक्ष मिलता है, यह भी कहाँ सुनिश्चित है ? और संन्यास का एक अर्थ कर्तव्य से पलायन—यानी कायरता भी है। अगर दुनिया के सभी लोग संन्यास लेने लगें तो सृष्टिक्रम कैसे चलेगा ? लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए लिखा। प्रवृत्ति पर मार्ग का श्रेष्ठत्व जताने के लिए। मैं डरपोक हूँ। विश्वम्भर अवश्य ही मुझे कायर कहता होगा। आसपास का समाज और परिवेश अच्छी दिशा में वदलने के लिए जीना यही सर्वश्रेष्ठ जीवन है, ऐसा विश्वम्भर मानता है। तिलक ने भी उससे हटकर कुछ कहा नहीं था। और मैं हूँ कि सव छोड़कर यहाँ भाग आया हूँ। अपराधीपन की तीव्र भावना उसे जलाने लगी। लेकिन इस सम्भ्रान्त अवस्था में भी श्रीधर को लगा कि ज़िस भयानक चक्र में वह फँसा पड़ा था, उसे भेदने के लिए ऐसे ही अचानक सव छोड़-छाड़कर भाग निकलना आवश्यक था। शायद ही विश्वम्भर यह समझ सके। क्योंकि जिस लड़ाई में मैं उलझा था उसके दोनों तरफ अँधेरा था, अनैतिकता थी। मैं इस चक्र में उलझ ही कैसे गया, इसका श्रीधर को आश्चर्य लगने लगा। उस चक्र की नशीली गति ने उसे इतना मदहोश वना दिया था कि नीति-अनीति, अच्छा-वुरा जैसे महत्त्वपूर्ण भेदभाव भी मैं भूल गया था। मैं अपना वचपन भूल गया था, सारा जीवन ही भूल गया था। ···या फिर जान-वूझकर मैंने अपने आपको उस चक्कर में उलझा लिया था—अपने मानसिक और वैचारिक संघर्षों के कल्लोल से स्वयं को वचाने के लिए ? वचपन से दिल में चुभने वाली वेचैनी की उस भयानक वेदना को मिटाने के लिए ? लेकिन वह भी कहीं साध्य हुआ था ?

श्रीधर सोच रहा था। धनंजय अव भी बड़े पैमाने पर विज्ञाननिष्ठ आन्दोलन

चलाकर अन्धश्रद्धा के साथ लड़ रहा है। विश्वम्भर ने कई बार अपने स्थान वदले और हर नयी जगह में पददलितों पर होनेवाले अन्याय और अत्याचार के विरोध में उसने अपनी जान की वाजी लगा दी थी और उसका संघर्ष अव भी ज़ारी है। जगत सेना की सेवा में मग्न है। शशी ने चार स्कूल और परित्यक्ता स्त्रियों के लिए आश्रम चलाये हैं। यशोधरा का झुग्गी-झोंपड़ियों में कभी न खत्म होनेवाला काम बिना हारे या उद्विग्न हुए जोर-शोर से चल रहा है। सिर्फ़ वर्मा ने आत्महत्या की और मैं जीवन्त होते हुए भी, उसी आत्मनाश के मार्ग पर चल रहा हूँ, ऐसा क्यों लगता है।

इसका कारण यह है कि अभी जो मैं कर रहा हूँ, वह आत्मनाश की तरफ ले जाने वाला ही है। लक्ष्मीदास बाबा जो कहते हैं, वह मोटी तौर पर ठीक ही है। पूर्ण समाधान यानी मृत्यु। जीते हुए भी सर्वांगों से निर्लिप्त रहकर, सभी विकारों को त्याग सम्पूर्ण कैवल्यावस्था प्राप्त करनेवाला एकाध ही महात्मा हो सकता है। मैं वैसा महापुरुष नहीं हूँ। मेरा समाधान अपने आप में नहीं है। वह लोगों के बीच ही है। मेरी खोज इस तरह संन्यास लेकर एकान्त में सफल हो नहीं सकती । वह खोज लोगों के बीच में रहकर ही लेनी होगी।

बाबा लक्ष्मीदास के साथ सम्भाषण के बाद श्रीधर के मन में विचारों का तूफ़ान उठा था। बाबा ने जब कहा कि यहाँ इस हिमालय में कई बाबा, बैरागी हैं उनके पास चले जाओ, तब उनके स्वर में सम्भवतः उपहास ही था। बाबा स्वयं किसी बैरागी में विश्वास नहीं करते । उन्होंने मेरा भविष्य देखने के बाद ही यह कहा था। बाबा क्या कहना चाहते थे ? प्रोफेसर शास्त्री ने क्या कहा था, कृष्णमूर्ति का क्या कहना था ? उपनिषद क्या कहते हैं ? अस्तित्व का अर्थ ढूँढ़ने की यह मृगतृष्णा व्यर्थ तो नहीं है ? श्रीधर को यह अशान्ति असह्य लगने लगी। जब सोचना मुश्किल हो गया तब उसने नदी किनारे पाषाण पर पद्मासन लगा लिया, आँखें बन्द कर लीं और दीर्घ श्वास लेकर पहले मन साफ़ किया। फिर चित्त स्थिर होने पर वह शान्ति से इन सब चीज़ों का नये सिरे से विचार करने लगा।

उसने जीवन की सबसे पुरानी स्मृति को आखों के सामने लाने का प्रयत्न किया। वह स्मृति माँ की कोख से निकलते हुए मैंने जो चीत्कार किया था, तब की है या विश्व के उत्पत्ति के क्षण, जो महाप्रलयकारी स्फोट हुआ था, उसकी ? उसके बाद श्रीधर ने क्रमशः अपना पूरा जीवन याद किया। बचपन के प्रश्न, रंग, फूल, पक्षी, आकाश, सितारे, माँ, वृन्दा, बाबा, जगत, रामी और फिर स्कूल, स्कूल के मित्र, कॉलेज छात्रावास, धनंजय, विश्वम्भर, प्रोफेसर गुणे, शास्त्री जी, बुवाबा, महाराज और शशी, यशोधरा और शशी। और फिर उलटा सीधा कोहराम और अपना पंचतारांकित चक्र में आ फँसना । इस चक्र की विलक्षण गति और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सब अलग-अलग स्मृति-खण्डों के बीच निरन्तर विद्यमान एक

सूत्र—वह यह कि उसके हर खण्ड में श्रीधर वही है—उतनी ही तीव्र है उसकी वह विलक्षण, रहस्यमय बेचैनी—वेदना, हृदय के अन्तस्थ मर्म से उठनेवाली। वह जीवन के हर क्षण में, हर प्रसंग में उसके साथ रही है। शशी के साथ, माँ के साथ, धनंजय के साथ कहीं भी, किसी भी कालखण्ड में वह बनी रही। यहाँ भी है। यह मेरा अस्तित्व, यह मुझ अकेले का हो ही नहीं सकता। वृन्दा, जगत, रामी से लेकर लोर्ना, चेअरमैन, माई तक—सभी इस अस्तित्व के अविभाज्य अंग हैं, उतने ही जितना यह पहाड़, यह नदी और यह आकाश है।

इस मेरे प्रत्यक्ष अस्तित्व का क्या अर्थ है ? सिर्फ़ जीवित होना ?—इस सबके साथ जीना ? क्रोध, लालच, मत्सर, प्रेम, हिंसा, क्रूरता, लड़ाई, रक्तपात, अकाल, शोषण—इन सबके साथ जीना ? यह दुख, यह कष्ट, यह मन का तड़पना—अनन्त है। यह आत्मा का दाह अमृत के सिंचन से भी ठण्डा न होने वाला है। यह सब यानी कि मैं । मैं यानी जग और जग यानी मैं। ब्रह्म, प्राणतत्त्व, चित्शक्ति, हिरण्यगर्भ। उपनिषद्कार यही कहते हैं न ?

—यह आत्मा में समाया हुआ प्राणतत्त्व संवेदना में नहीं आता। वहाँ होती है सुख-दुख से निर्मित होनेवाली मन की और बुद्धि की उलझन और संसार-वासना। इस ब्रह्मवत् प्राणतत्त्व को जानने पर दुख-सुख सब तिरोहित हो जाते हैं। जो रह जाती है वह होती है ब्रह्म-शान्ति।

और उस तेजस्वी आत्मतत्त्व की पहचान मिलती है, स्वयं के माध्यम से, केवल विशुद्ध आत्मसाधना से। वह अभ्यास से या गूढ़ तत्त्व-चर्चा से निर्मित नहीं होती। जिसकी आत्मा साक्षात्कार के लिए तड़प रही है, जिसने अपने अन्दर के दुष्टत्व का पूर्णतः नाश किया है, जिसने अपना स्वत्व पूरी तरह शोध लिया है, उसी को इस शान्तिरसपूर्ण आत्मतत्त्व की प्रगाढ़ पहचान होगी।

न जायते म्रियते न विपश्चिन्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

तू जन्म नहीं लेता, तू मरता भी नहीं। तू किसी चीज़ से पैदा नहीं हुआ है और केवल आत्मतत्त्व को छोड़कर तू किसी चीज़ से नहीं बना। तू अजन्मा है, नित्य है और शाश्वत है। तू कभी नष्ट नहीं हो सकता। शरीर नष्ट हो सकता है··· श्रीधर ने धीर गम्भीर स्वर में यह उपनिषद की ऋचा कही और उसके बाद खडी आवाज़ में वह अपने प्रिय श्लोक और ऋचाएँ कहने लगा।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

मैं पूर्ण हूँ और यह ब्रह्म भी पूर्ण है—इस पूर्ण से पूर्ण के बाहर निकलने पर भी पूर्ण ही बचता है और पूर्ण में पूर्ण विलीन करने पर भी पूर्ण ही रहता है।

श्रीधर स्तब्ध हुआ। अलकनन्दा के तीर पर कल-कल नाद पर आच्छादित निःस्तब्ध चिरशान्ति का आकाश। पूर्ण शान्ति। चिरन्तन शान्तता—चराचर की आदिम क्षणों की।

यह शान्तता मेरे हृदय की गहराइयों को छू क्यों नहीं लेती ? इन शब्दों का अर्थ पूरा समझ में आता है, तत्त्व समझ में आते हैं। लेकिन क्या अपनी अन्तःप्रेरणा उनको पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करती ? और इसी वजह से हृदय की तह से वह दुःखमयी वेदना निरन्तर उठती रहती है। जो मुझे कभी पूर्ण शान्ति पाने नहीं देती—एक भी क्षण के लिए स्वप्न में, जागृत अवस्था में, आनन्द के उच्च क्षण में भी मैंपन की वेदना दूर नहीं होती, इस चित् शान्ति को बाधित कर वह हमेशा चिपकी रहती है।

उपनिषद्कार कहते हैं, यह ज्ञान अभ्यास से नहीं मिलेगा। कृष्णमूर्ति का भी कहना है, "अपनी परम्परा का, ज्ञान का, पूर्वग्रहों का वोझ सिर पर से उठाकर फेंक दो। अपने अन्दर जो मैं है उसे पूरी तरह समझ लो और उसका विलय कर डालो, इसी से पूर्ण समाधान पाओगे।" सच, जब तक यह ज्ञान नहीं आता तब तक लोकमान्य का बताया हुआ गीता का श्रेष्ठ योग, निष्काम कर्मयोग कैसे पता चलेगा ? कृष्णमूर्ति कहते हैं, 'प्रेम करो' लेकिन कृष्णमूर्ति का अभिप्रेत प्रेम और प्रोफेसर शास्त्री का बताया हुआ प्रेम—इनमें जमीन-असमान का फ़र्क है।

श्रीधर के हृदय से एक विदीर्ण करनेवाली वेदना उठी। उसे शशी की तीव्रता से याद आयी और उसे सखेद आश्चर्य हुआ। मैं शशी से भी प्रेम कर नहीं सका। क्यों ? तो फिर शशी के और मेरे बीच वह कैसा रिश्ता था ?

बाईस

शशी से पहचान एक बड़ा मज़ेदार संयोग था। श्रीधर के लिए वह कालखण्ड बड़ा उल्लासमय था। एक तरफ तो वह धनंजय के साथ पाखण्डियों के विरोध में निर्देशन कर रहा था, और दूसरी तरफ अपने कौतूहल का उपशम करने के लिए अनेक प्रवचनों में भी जा रहा था, धनंजय के उपहास को अनदेखा किये। प्रोफ़ेसर शास्त्री के साथ हुए सम्भाषण के बाद उसके मन की गहराई में कहीं खालीपन का निर्माण

हुआ था। और अव वह कुछ निश्चय करके आत्मसाधना के मार्ग पर चलने लगा था। धर्मग्रन्थ और तत्त्वग्रन्थों के पढ़ने के साथ-साथ वह विभिन्न व्यासंगी विद्वानों की सभाओं में जाने लगा था। सिर्फ़ लोगों को वनानेवाले और अपनी तरफ से उन्हें नयी जीवनदृष्टि देने का प्रयास करनेवाले स्वामियों के वीच का फ़र्क अव वह फ़ौरन पहचानने लगा था। इसीलिए किसी भी स्वामी या वावा के पास अव वह नहीं जाता था, जिससे कुछ पा सकता था, ऐसे ही व्याख्यानों में वह जाने लगा था।

रजनीश के एक प्रवचन के वक़्त श्रीधर की शशी से पहचान हुई। उन दिनों रजनीश का पुणे में और अन्यत्र भी नया-नया वोलवाला था। उनके नाम के आगे अभी 'भगवान' की उपाधि नहीं लगी थी। उनके सामूहिक नृत्य, सम्मोहन के घिनौने प्रकार अभी शुरू नहीं हुए थे। उनके विश्लेपण और तेजस्वी वुद्धिमत्ता को सराहने वाले लेख पत्र-पत्रिकाओं में आने लगे थे। इसीलिए वह उनका व्याख्यान सुनने चला गया।

लेकिन उस प्रशस्त मण्डप में जो वातावरण था, उसे देखकर वह निराश हुआ। *रजनीश को प्रत्यक्ष परमेश्वर का अवतार माननेवाला भक्तगण अत्यधिक संख्या में* वन चुका था। अमीर भक्तों की वेशभूपा, उनके कपड़े, उनके अलंकार और उनके चेहरे पर विराजमान वह मूर्ख आध्यात्मिक लाचारी का भाव देखकर उसे घिन आयी थी। वहाँ से वैसे ही चलते वनने का उसका मन था लेकिन यह नया क्रान्तिकारी माना जानेवाला व्यक्ति है कैसा और वह वोलता क्या है, यह देखने और सुनने के लिए वह तटस्थ कौतूहलवश रुक गया था।

अनेक घोपणाओं के वाद और भक्तजनों की उत्कण्ठा को अत्यधिक सीमा तक खींचने के वाद एक लम्वी-चौड़ी परदेशी गाड़ी में से रजनीश का सभा-मण्डप के द्वार पर आगमन हुआ। भगवान के आने का पता चलने पर भक्तों में जोश-उल्लास की लहर दौड़ गयी। उनके क़दमों में सिर रखने के लिए वड़े-वड़ों में धक्का-मुक्की होने लगी । प्रसन्न चेहरे से भक्तजनों को आशीर्वाद देकर रजनीश शान्त गति से आगे वढ़ते हुए अपने सभा-मंच पर रखे आसन की ओर वढ़े। श्रीधर ने देखा कि यहाँ के भक्तजनों का गुणात्मक दर्जा अलग़ है। व्यासंगी विद्वान, कलावाज़ार वाले, व्यापारी, वड़े उद्योगपति, मध्यमवर्गीय और समृद्ध लोग, सजी-धजी महिलाएँ, अत्याधुनिक पोशाक पहने युवक और युवतियाँ और गेरुए वस्त्र पहने हुए गोरे विदेशी—इन सव का मिश्रण उस भीड़ में था।

रजनीश ने जव अपनी मीठी वोली में भाषण शुरू किया, तो थोड़ी ही देर में श्रीधर यह भाँप गया कि उनके शव्दों में एक खास किस्म का जादू है। और उस जादू का उपयोग वह सज्जन ज्ञानविमोचन की जगह, सम्पूर्ण समूह को सम्मोहित करने के लिए कर रहे हैं। इन महोदय ने अच्छा अभ्यास किया है, विद्वत्ता है लेकिन

इनकी तेजस्वी कही जानेवाली आँखों में एक विकृति की झलक है। रजनीश का रूप लुभावना था, मोहित करनेवाला था। शरीर पर सफ़ेद कपड़े और कन्धे पर गेरुए रंग की शाल। उनकी वाणी में और आँखों में लोगों को खींच लेने का सामर्थ्य था। उससे श्रीधर का कुछ नहीं वनने वाला था। श्रीधर की किसी भी समस्या का समाधान रजनीश नहीं थे, यह जानने के वाद उद्विग्नता से उठकर वह मण्डप के वाहर आ गया।

मण्डप के बाहर कड़ाके की सर्दी थी। श्रीधर ने सिगरेट का नया-नया शौक पाल रखा था। उसने एक सिगरेट जलाया और वह मण्डप के वाहर के एक खम्भे से सटकर विमनस्कता से उसके कश लेता रहा।

"यह अच्छा है आपका, बोर हो गये तो लगे सिगरेट के धुएँ के छल्ले वनाने..." वदन पर ठण्ड का मुलायम शाल ओढ़े एक नाजुक सुस्वरूप नवयुवती श्रीधर के वग़ल में खड़ी होकर मुस्कुराती हुई कह रही थी।

प्रेवश-द्वार के जगमगाते प्रकाश में श्रीधर ने उसे देखा।

ठण्ड की वज़ह से उसका चेहरा गुलाबी हो चुका था। अपने लम्बे काले केशों में उसने चमेली का गजरा लगा रखा था। गुलावी कान्ति की शोभा वढ़ानेवाली वड़ी विन्दियाँ, धनुष्याकृति भौहें, मोटी-मोटी आँखें, सरल नाजुक नाक, लाल होठ और छोटा कद। श्रीधर ने तीन-चार प्रवचनों में उसे देखा था।

श्रीधर को उस लड़की की धृष्टता मज़ेदार लगी। अभी तक उसका कॉलेज की लड़कियों से कुछ खास सम्वन्ध नहीं रहा था। वैसे वह कलाशाखा में था, उसकी क्लास में और कॉलेज में कई अमीर और सुन्दर लड़कियाँ थीं। वह क्लास में एक बुद्धिमान लड़का माना जाता था, लेकिन उसके इस अजीव अकेलेपन से उसकी किसी से दोस्ती नहीं वनी थी। परिचय होता था लेकिन न जाने क्यों ऐसा लगता था कि श्रीधर अपने इर्दगिर्द दीवारें वनाकर रह रहा है। लेकिन यह दीवार फाँदने की कोशिश भी किसी लड़की ने नहीं की थी। श्रीधर ने भी अपनी तरफ से किसी लड़की को प्रोत्साहन नहीं दिया था। वल्कि वह तो अपने गहन प्रश्नों में कुछ ऐसा उलझा हुआ होता था कि उसने स्त्रियों के वारे में सोचा तक नहीं था। अव अचानक यह प्यारी-सी लड़की अपनी नैसर्गिक सुगन्ध फैलाती अपने-आप उससे वात कर रही थी। उससे श्रीधर की उकताहट भाग गयी। वह उल्लसित हुआ और हल्के मज़ाक़ के स्वर में वोला, "वैसे आप भी सिगरेट पीना चाहें तो मुझे आपत्ति नहीं है।"

उस युवती ने अपनी भौंहें और तानी और उसी स्वर में कहा, "आपत्ति तो खैर मुझे भी नहीं है।" फिर आसपास शोधक नज़र डालकर उसने कहा, "क्यों न हम थोड़ा उस तरफ उस दीवार के पास जाएँ ! वहाँ थोड़ा अँधेरा है। और फिर हमारा समाज भी इतना प्रगतिशील नहीं है।"

वहाँ पहुँचकर श्रीधर ने उसका सिगरेट सुलगा दिया। ठण्ड से काँपती उँगलियों से वह उसे मुँह तक ले गयी और उसे ज़ोरदार खाँसी आयी।

"यह क्या ? यह तुम्हारा पहला ही सिगरेट है ?" श्रीधर ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

"उसने एक और कश लिया और फिर खाँसी। अव उसकी नाक वहुत लाल हो गयी होगी। हँसते वक़्त उस अँधेरे में उसके सफ़ेद दाँत चमके।

आज तक पढ़ाई के विषय, पुस्तक, कापियाँ, परीक्षा आदि के अलावा दूसरे किसी भी विषय पर श्रीधर ने किसी लड़की से वात नहीं की थी और यह अपरिचित लड़की उससे सिगरेट लेकर वड़े आराम से पहली वार एक नया अनुभव ले रही थी। श्रीधर को आश्चर्य हुआ।

उसने एक और कश लिया और उठनेवाली खाँसी को दवाती हुई वह हँसती हुई वोली, "धूम्रपान भी मानसिक दुर्वलता का एक लक्षण माना जाता है। लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता। शायद यह आत्मविश्वास वढ़ाने का एक मार्ग है।"

उसे फिर ज़ोर की खाँसी आयी, वह रुकने पर उसने फिर मुस्कुराते हुए कहा, "इस प्रवचन से मैं इतनी परेशान हूँ कि उस क्षण मैं कुछ भी कर सकती हूँ। मैं तुम्हें हर रोज़ यहाँ देखती हूँ। तुम रजनीश-भक्त नज़र आते हो।"

"न। ना।" श्रीधर ने उसे झटक दिया, मैं केवल कौतूहलवश आ रहा था, अव नहीं आऊँगा।"

"क्यों ?"

"यह तो शुद्ध पलायनवाद है। जग को और स्वयं को भूलने का एक तरीका। तुम भी क्यों आती हो ?"

"मेरे दादा जी एक वेचैन इन्सान हैं, उनके लिए आना पड़ता है।"

उसने सिगरेट नीचे डाला और श्रीधर ने उसे अपनी चप्पल के नीचे रगड़ दिया। उसने अपना भी सिगरेट वुझा डाला, देखते ही यह प्यारी-सी लड़की उसे अच्छी लगने लगी थी।

"मतलव, क्या तुम्हें ये वेचैन करनेवाले प्रश्न नहीं सताते ?" श्रीधर ने गम्भीरता से पूछा। "मतलव यही, अन्धकार के, जन्म के, मृत्यु के, हमारे अस्तित्व के या इस जग के अस्तित्व के गहन प्रश्न ?"

उसकी गम्भीरता के पीछे छिपा हल्के मज़ाक़ का स्वर शायद वह जान चुकी थी।

"विल्कुल नहीं।" कहकर वह प्रसन्नता से मुस्कुरायी।" मुझे जीना ही महत्त्वपूर्ण लगता है। यह जग है, हम हैं, यही कितनी सुन्दर और मन को पागल कर देने वाली वात है। यह प्यारी-प्यारी हवा, यह सुगन्ध, ये सितारे, ये वृक्ष, ये दीये…ये

कितनी सुन्दर बातें हैं।"

श्रीधर किंचित् अवाक् हो गया। उसके हल्के मज़ाक़ के लहजे के पीछे भी सीधी सरल और गहरी समझ थी, ऐसा उसे लगा। जब वह खिलखिलाकर हँसी तो मण्डप-द्वार के पास जो दो-तीन आदमी खड़े थे, उन्होंने उस अँधियारे की तरफ शोधक नज़रों से देखा।

"चलो, लोग शक की निगाहों से देख रहे हैं।" श्रीधर ने कहा।

कन्धे पर शाल कसकर लपेटती हुई, अपने हाथ सामने बाँधकर उसके बाजू से अपना कन्धा मिलाती वह मुस्कुराकर पीछे मुड़ी।

उस दिन उन्होंने बस उतनी ही बात की। सच तो यह है कि श्रीधर वहीं से चला आनेवाला था। लेकिन वह मण्डप लौट गयी इसलिए वह भी लौट गया। उसके आगे पाँच-छह पंक्तियाँ छोड़कर वह बैठी हुई थी। रजनीश के भाषण के बीच वह जमुहाइयाँ भी ले रही थी और पीछे मुड़कर श्रीधर की तरफ देखकर मुस्कुरा भी रही थी। भाषण खत्म होने के बाद अपने दादाजी के साथ वापस लौटते हुए उसने हाथ हिलाकर मुस्कुराते हुए श्रीधर से इस तरह विदा ली कि जैसे उन दोनों में बहुत पुरानी पहचान हो।

रात में किसी कैम्प से लौटा विश्वम्भर धनंजय के साथ उनके कमरे में गप्पे हाँक रहा था। विश्वम्भर उसके काम के, पढ़ाई के, आन्दोलन के फैलाव और व्यस्तता की वज़ह से आजकल वहाँ कम ही आता था। श्रीधर रजनीश के प्रवचन से लौट रहा है यह जानते ही दोनों ने श्रीधर का जबरदस्त मज़ाक़ उड़ाया। विश्वम्भर के मज़ाक़ में गुस्से की मात्रा अधिक थी।

"अरे, यह भगवान परदेशी हस्तक है, कुछ और नहीं।" विश्वम्भर ने ग़ुस्से से कहा, "तुमने उसका प्रवचन नहीं पढ़ा ? वह खुलेपन से पूँजीवाद और पूँजीवादियों की तरफदारी करता है। समाजवाद और साम्यवाद को मानवता के शत्रु मानता है। पूँजीवाद शोषक हो ही नहीं सकता, ऐसा भी वह दावे से कहता है। क्या यह कमाल नहीं है ? 'समाजवाद से सावधान' नाम की एक पुस्तक भी लिखी है उसने। तभी तो यह तमाम काले बाज़ारवाले और नफाखोर उसके पीछे पड़े हैं...।"

दुबारा रजनीश के प्रवचन में जाने का उसका कोई इरादा नहीं था, यह श्रीधर के स्पष्ट कह देने के बाद भी विश्वम्भर बहुत देर तक तैश में आकर बोल रहा था। देश में इतनी उथल-पुथल मची है, समाज के सामने इतने प्रश्न पड़े हैं, चुनौतियों के विस्तृत क्षेत्र सामने खुले पड़े हैं और हमारा अभागा मध्यमवर्ग अब भी मध्ययुग के अँधेरे में लड़खड़ा रहा है। इतना ही नहीं, अधिक अधोगति की तरफ बढ़ रहा है। इन सब बातों से वह बहुत परेशान था।

श्रीधर ने उस रात सपने में वह प्यारी-सी लड़की फिर देखी और वह सिहर कर

जाग गया। सपने में देखी हुई पहली स्त्री ! क्या उसने मुझे इतना मोह लिया है ? सपने में श्रीधर और वह लड़की बाँहों में बाँहें डालकर आकाश की गहराइयों में विहार कर रहे थे। सम्पूर्ण आकाश सितारों से भरा पड़ा था। और इन दोनों का यह मुक्त विहार ! न वहाँ चन्द्र-सूर्य थे, न पृथ्वी। उसके साक्ष्य अन्तरिक्ष के खालीपन में तैरते हुए श्रीधर को अभूतपूर्व आनन्द मिल रहा था। उस खालीपन की भयानकता तनिक भी महसूस नहीं हो रही थी।

जागने पर श्रीधर उठ वैठा और आश्चर्य करता रहा। उसके आकर्षण ने उसे हिला दिया था और वह उसका नाम तक नहीं जानता था।

अगले हफ्ते कृष्णमूर्ति के भाषण के समय उससे अच्छी पहचान हुई। श्रीधर ने कृष्णमूर्ति का नाम सुन रखा था। उनकी कुछ पुस्तकें भी देखी थीं लेकिन उनका भाषण वह पहली वार सुनने जा रहा था। कृष्णमूर्ति को देखने, सुनने का वह वहुत उत्सुक था। यहाँ का श्रोतृवृन्द भी विल्कुल अलग था, गम्भीर और सुधी था। वातावरण प्रसन्न था।

दादा जी को आगे की पंक्ति में विठाकर उसे ढूँढती हुई वह पीछे आकर उसकी साथवाली कुर्सी पर वैठ गयी। तव उसे पता चला कि उस दिन वह जिस गन्ध से मोहित हुआ था, वह गन्ध केवल चमेली के गजरे की नहीं थी, उसके शरीर की भी थी। और यही सुगन्ध सपने में भी उस आकाश में फैली हुई थी। उसी वक़्त उसे ऐसा लगा कि पिछले चार दिनों से, जव से वह उस रात उसके सपने में आयी थी, उसके हृदय का ही नहीं, सारे शरीर का जो ज्वर-जैसा दाह हो रहा था, वह एकाएक ग़ायव हो गया है। जैसे किसी ने शीतल, दूधिया चाँदनी के प्रकाश में उसके तन-मन पर शीतल मधुर अमृत का सिंचन किया हो। केवल स्त्री-सान्निध्य से इतना मधुर और शान्त समाधान प्राप्त हो सकता है—यह जानकर वह आश्चर्यचकित हुआ और उसी आश्चर्यमिश्रित कृतज्ञता दर्शानेवाला स्मितहास्य उसने उसकी तरफ मुड़कर किया।

वह भी उसी मीठी मुस्कान के साथ बोली, "मैं जानती थी, तुम यहाँ ज़रूर आओगे···इसीलिए मैं तुम्हीं को ढूँढ रही थी।"

"ज़रूर आऊँगा ? वह कैसे ?"

"क्योंकि मैं उसी दिन जान गयी थी कि तुम भी एक अशान्त आत्मा हो।"

"इस अशान्त आत्माधारी शरीर को श्रीधर कहते हैं।"

यह सुनकर वह कुछ इतनी खिलाखिलाकर हँसी कि आगे-पीछे बैठे हुए कई लोग उनकी तरफ मुड़-मुड़कर देखने लगे। पुरुषों की नज़रों में सराहना और ईर्ष्या थी।

उसने अपने आप अपने नाज़ुक होठों पर तर्जनी रखकर श्रीधर की तरफ देखकर

'शू:' ऐसा इशारा किया और उसकी बाँह को कुहनी मारकर धीरे से बोली, "आत्मा को तो नहीं जानती···लेकिन मेरा नाम शशी है।"

उसका कोहनी मारना श्रीधर को बहुत सुखद और रोमांचकारी लगा।

भाषण शुरू होने में अभी कुछ समय था। कृष्णमूर्ति अभी मंच पर आये नहीं थे। मंच बिलकुल सादा था, कोई सजावट नहीं थी। मंच पर केवल एक भारतीय पद्धति का आसन था। श्रीधर ने अन्य कई साधकों के प्रवचन सुने थे लेकिन कृष्णमूर्ति को सुनने का यह पहला अवसर था। उनके बारे में उसने काफी सुन रखा था फिर भी मन में एक आशंका-सी थी। शशी की कोहनी का उसकी बाँह को होनेवाला हल्का-सा स्पर्श उसे सुखकारी और सुरक्षित लग रहा था।

यह उसके लिए एकदम नया और प्रत्ययकारी अनुभव था। उसे लगा, यह स्पर्श यों ही कायम रहे।

"मैंने कृष्णमूर्ति के भाषण पहले भी सुने हैं। एकदम बढ़िया"—शशी कह रही थी।

"बढ़िया यानी ?"

"बढ़िया इसलिए कि कृष्णमूर्ति कोई बाबा नहीं। उनका कोई पन्थ नहीं, कोई शिष्य नहीं। अन्य लोगों के प्रवचन सुनकर कई बार जैसे उकताहट या विरक्ति या कभी-कभी उदासीनता, निराशा, घृणा होती है, जग के बारे में भयकारी सन्दिग्धता पैदा होती है वैसा कुछ कृष्णमूर्ति को सुनने से नहीं होता। उलटा जीवन सुन्दर है, ऐसा लगने लगता है, उत्साह आता है···।"

श्रीधर सुन रहा था, इतने में मंच पर कृष्णमूर्ति आये। संशयात्मा श्रीधर उनके दर्शन मात्र से ही प्रभावित हो गया।

उनके वहाँ होने में ही एक घनगम्भीर दिलासा मिल रहा था। उनके हर व्यवहार में सहज, पारदर्शक स्वाभाविकता, खुलापन और सौन्दर्य से साक्षात्कार हो रहा था। उनके हर अंग से, चेहरे से, आँखों से, हाथ की लम्बी उँगलियों से शुद्ध शान्त रस बह रहा है, ऐसा लग रहा था। उनका भव्य भाल-प्रदेश, अर्धोन्मीलित नेत्र, तीखा नाक-नक्श और चौड़ी ठुड्डी भी शायद इसी बात की पुष्टि कर रहे थे कि इस महापुरुष को अपने अस्तित्व के अन्तिम सत्य का सम्पूर्ण आकलन प्राप्त हुआ है।

सभागृह में अपेक्षायुक्त शान्तता फैल गयी। अपने चौड़े होंठों पर अर्धस्फुट स्मित धारण कर कृष्णमूर्ति अर्धपद्मासन लगाकर आसनस्थ हुए और अपने हृदय को छू लेनेवाले गुरुगम्भीर सुर में बोलने लगे। उनके स्वर और शब्दों ने जैसे सभागृह पर कोई जादू का जाल फेंका हो।

मन्त्र-मुग्ध होकर श्रीधर सुन रहा था। उस वक्त तो वह उसके बगल में बैठी शशी का अस्तित्व भी भूल गया था।

कृष्णमूर्ति के हर शब्द से हृदय का तार छेड़ा जा रहा था। और उसे लग रहा था, कृष्णमूर्ति उसी के मन में जो प्रश्न हैं, उन्हें उठा रहे हैं। वह उसी के मन की वात कर रहे हैं।

कृष्णमूर्ति कह रहे थे, "न जाने कितने युगों से मानव सदोदित कुछ-न-कुछ खोजता आया है, जो उसके अपने अस्तित्व से परे है। केवल भौतिक कल्याण से परे है···मानव एक प्रश्न हमेशा पूछता आया है। यह सव क्या है ? किसलिए ? इस जीवन का सचमुच कोई अर्थ है ? जीवन में मचा कोलाहल वह देखता है, पाशवी युद्ध और वग़ावतें देखता है। धर्म, आदर्शवाद, राष्ट्राभिमान आदि के बनाये अनन्त भेद देखता है और वहुत अन्दर से, मन की गहराई से व्यथित होकर बौखला जाता है और पूछता है—मैं क्या करूँ ? हम जिसे जीवन कहते हैं वह क्या है ? या वह उससे भी आगे कुछ और है ?"

श्रीधर के शरीर के रोंगटे खड़े हो गये। वह ठीक से बैठ गया, उसे लगा—अरे यह तो सारे मेरे अपने ही प्रश्न हैं ! अत्यन्त सरल, प्रवाही अंग्रेज़ी में कृष्णमूर्ति वोल रहे थे। उनके भाषण में जोश-आवेश नहीं था, उत्कटता नहीं थी, आक्रोश नहीं था, अपना कहना मनवाने की ज़िद नहीं थी और न ही स्वाभिमान था । वह जैसे खुद से ही वोल रहे थे। खुद से ही प्रश्न कर रहे थे। सच्चे मन से स्वयं को जानने का जैसे प्रयास कर रहे थे।

"अगर यह जानना चाहते हैं, समझना चाहते हैं कि यह क्या है, तो सुनना सीखिए, अपने तमाम पूर्वग्रह, मत, पूर्वकल्पनाओं को दूर रखकर समझने का प्रयत्न कीजिए, समझ जाएँगे। लेकिन सत्य के समझ लेने के लिए वीच में एक पर्दा होता है हमारे दैनन्दिन जीवन का और दृढ़ मतों का। हमारे धार्मिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक एवं मानसिक पूर्वग्रह, हमारी दैनन्दिन चिन्ताएँ, वासना और डर—इनका यह मोटा पर्दा दूर कीजिए तो समझ जाएँगे। जग में यह जो तथाकथित सर्वव्यापी गुत्थमगुत्थ है, वह हमें असुरक्षितता की भावना देता है। और इस भावना से बचने के लिए आप स्वयं को सुरक्षा की दीवारों में बन्दिस्त करना चाहते हैं—यह दीवारें आपके बैंक एकाउण्ट की हो सकती हैं, और कभी आपके राजनीतिक मतप्रणाली की, जो पलायनवाद है। इस कोलाहल से मार्ग निकालने के लिए, धर्म-प्रार्थना की सुरक्षितता का दिलासा देने के लिए आपको किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, गुरु चाहिए होता है, शिक्षक चाहिए होता है। या फिर आपको अपनी समस्या का समाधान ढूँढने के लिए कोई ठोस विचारधारा चाहिए होती है —दाहिनी, बायीं—कोई भी।"

कृष्णमूर्ति का बोलना विशाल नदी के घन-गम्भीर प्रवाह-जैसा था या महासागर की गहराई-जैसा। श्रीधर का शरीर रोमांचित हो उठा था।

कृष्णमूर्ति कह रहे थे, "—और हम सब क्या ढूँढ़ रहे हैं ? क्या चाहते हैं

हम ? मुझे लगता है, हममें से अधिकतर लोग चाहते हैं—शान्ति, समाधान, आसरा और सुख। यह जो अशाश्वत, हर पल बदलने वाला जग है, वह हमें अनिश्चित और असुरक्षित लगता है। इस अनिश्चितता से छुटकारा पाने के लिए ही क्या हम उस शाश्वत को, शाश्वत सन्तोष को नहीं खोजते ? यह शाश्वत क्या है ? सत्य ? परमेश्वर ? परब्रह्म ? आप उसे कोई भी नाम दीजिए। यह खोज शाश्वत की है। जिसका हम आसरा ले सकते हैं, जो दिलासा और आशा निर्माण कर सकता है और हमें जीने की प्रेरणा दे सकता है, ऐसा कोई शाश्वत। और जब हम कहते हैं कि 'मैं इस शाश्वत आनन्द की खोज में हूँ' तब 'मैं' और शाश्वत आनन्द, ये दो भिन्न चीज़ें मानी हुई होती हैं, साधक और जिसकी खोज लेनी है वह साध्य—ये दो चीज़ें एक-दूसरे से अलग हैं, ऐसा ही हम मानते हैं। लेकिन विचार करनेवाला और विचार—ये दो भिन्न चीज़ें हैं ? नहीं । उसी तरह साधक और साध्य—दो संकल्पनाएँ भी एक-दूसरे से भिन्न नहीं होतीं। इसीलिए क्या यह आवश्यक नहीं है कि अपने साध्य की खोज करते हुए साधक की भी खोज-बीन की जाय। इसीलिए हमें खोजना है अपने आपको। क्योंकि हम जो चाहते हैं वह सुख, समाधान, शान्ति, परमेश्वर, ब्रह्म, वह कोई बाहर का व्यक्ति या माध्यम हमें दे नहीं सकता। वह हमें अपने आप ही पाना होता है।

"इस जीवन का, इस जग का क्या अर्थ है यह युद्ध, सामाजिक हिंसा, राष्ट्र और समाज के बीच द्वेष यह सब क्या है, यह अगर जानना है तो उस दिशा में आत्मशोध पहला क़दम है और आत्मशोध यह सबसे कठिन और कभी न खत्म होने वाला सिलसिला है। जैसे-जैसे आप इस आत्मशोध की यात्रा में आगे बढ़ते जाएँगे, गहराई में घुसते जाएँगे, वैसे-वैसे आपको शान्ति और समाधान का अनुभव मिलता जाएगा। शान्ति प्राप्त करने का सही मार्ग है आत्मज्ञान, खुद पर बाहर से लादा गया अनुशासन नहीं। और इसी तरह के आत्मज्ञान से प्राप्त शान्ति से ही सत्य का जन्म होता है…"

श्रीधर जैसे सम्मोहित हो गया था। भाषण जब खत्म हुआ तो उसे पता चला कि शशी भी उसी तरह सम्मोहित-सी हो गयी है। भाषण के समाप्त होते ही उसे दादा जी के साथ लौटना पड़ा। दूसरे दिन भाषण शुरू होने से पहले जब वह मिले तो शशी ने पूछा, "कैसा लगा कल का भाषण ?"

"सहज, सुन्दर, प्रासादिक और अन्तर्मुख होने के लिए बाध्य करनेवाला। रात भर मैं उसी भाषण के बारे में सोच रहा था। जीवन भर जो प्रश्न मैं खुद से करता आया हूँ उन्हीं को लेकर कृष्णमूर्ति बोल रहे थे, बेचैनी कम हो रही थी।" श्रीधर भावुक होकर बोल रहा था।

शशी विचारमग्न थी। उसने कहा, "तुम काफ़ी प्रभावित लग रहे हो। मैं भी

उन्हीं के भाषण पर रात भर विचार कर रही थी। कृष्णमूर्ति समझने के लिए अत्यन्त सरल और सहज हैं, लेकिन उतने ही कठिन भी हैं। आचरण में लाने के लिए तो बहुत ही कठिन हैं। खुद को ही अपने-आप समझना, सीखना पड़ता है, इसका क्या अर्थ हुआ ? सर्व पूर्वसंचित एक ओर रखकर समझ लेना, बुद्धि से न समझना क्या होता है ?''

शशी ने उसकी तरफ देखा। श्रीधर ध्यान देकर सुन रहा था। शशी आगे बोली, ''रजनीश, दत्ता बाळ या इन-जैसों का तो ठीक है। अपनी बुद्धि उनके हवाले कर दो और खुद बेफ़िक्र हो जाओ। अफ़ीम का नशा करने की तरह। कृष्णमूर्ति कठोर हैं। वह आपको अपना हाथ पकड़कर चलने नहीं देते, न ही बुद्धि उधार देते हैं। वह सिर्फ़ आपको जंगल में या भयानक मरुधर में लाकर छोड़ देते हैं। आगे का रास्ता स्वयं ढूँढ़ लो।''

''ऐसे तुम कैसे कह सकती हो ? वह अपनी प्रतिभा की आभा से हमारा मार्ग हमारे लिए प्रकाशमान करते हैं···मुझे तो लगता है कि माँ जिस तरह शिशु को चलना सिखाती है, उसी तरह वे भी···''

शशी किंचित् उपहास से मुस्कुरायी और उसने अपने दोनों हाथों से तालियाँ पीटने का अभिनय किया—

''अच्छा ! तुम तो तालियों के लायक बातें कर रहे हो। लेकिन तुम्हारे वाक्य भी हवाई हैं। तुम्हारे वाक्यों में कल के सुने अनुभव का प्राण है, जिसके बग़ैर वह निर्जीव लगेंगे। यह बात तो सच है कि कृष्णमूर्ति के हर वाक्य का अर्थ हम समझ सकते हैं लेकिन उनके हर शब्द में, हर वाक्य में और उच्चारण की लय में अनुभूति का प्राण है और साक्षात्कार की प्रचिति है, इसलिए वह हमें आकर भिड़ता है। तुम अगर कृष्णमूर्ति के वाक्य बोलने लगे, तो वह सुन्दर लगेंगे लेकिन उससे अधिक कुछ भी नहीं। क्योंकि तुम्हें अनुभूति का स्पर्श नहीं है, उस दिव्य आत्मज्ञान का अन्तिम साक्षात्कार प्रत्यक्ष होने तक तुम ऐसे ही तड़पते, तड़फड़ाते बेचैन रहोगे। केवल कृष्णमूर्ति को सुनकर तुम्हारी बेचैनी कैसे दूर हो सकती है ?''

शशी अपनत्व से बोल रही थी। श्रीधर जान गया कि उसने सचमुच रातभर जागकर सोचा होगा। उसकी आँखों में भी हल्की-सी लाली दिखाई दे रही थी। उसकी बातों से श्रीधर अचानक सहम भी गया था। क्योंकि वह जो कह रही है वह ठीक ही कह रही है, ऐसा उसे लगा। कृष्णमूर्ति को सुनकर शशी रातभर सोचती रही थी और उधर मैं भी सारी रात तड़प रहा था। शशी जितनी लगी थी उतनी हल्की-फुल्की और खोखली नहीं है। उसकी बातों से उदास होकर वह नीचे देखता रहा। कल रात कृष्णमूर्ति के भाषण पर सोचते हुए उसे भी यही महसूस हुआ था। उसे लगा कि उपनिषद् में दिये सूत्र, उसमें प्रस्तुत तत्त्व सभी मेरी समझ में आते हैं

लेकिन मेरी यह समझ साक्षात्कार के बिना अधूरी है। कृष्णमूर्ति उपनिषद् के तत्त्वों को ही अपने साक्षात्कार की दिव्य दृष्टि से हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। क्या उनके केवल भाषण सुनने से मेरी वह सनातन वेदना मिट सकेगी ?

शशी ने कहा, "पता चलना, समझना या जान जाना—इनके बीच में जो फ़र्क है न वही यह फ़र्क है। मुझे कृष्णमूर्ति का अर्थ समझ में आता है, लेकिन मन उसे पूरी तरह जान नहीं पाता। और जब तक उनके जैसी अनुभूति प्राप्त नहीं होती, मैं समझ भी नहीं पाऊँगी। लेकिन इसमें मुझे तड़पने या कसमसाने वाली कोई बात नज़र नहीं आती। क्योंकि मैं तुम्हारी तरह एक बेचैन आत्मा नहीं हूँ।" शशी की मुस्कान में कारुण्य और विषाद की भी हल्की-सी आभा थी।

"तुम जो कहती हो, वह ठीक है···" श्रीधर ने विचारपूर्वक कहा। और वह चुप हो गया।

फिर दोनों अपने अपने ख्यालों में खो गये।

कृष्णमूर्ति उस दिन अस्तित्व पर बोले, प्रेम पर बोले और मृत्यु पर भी। वह सब समझकर श्रीधर प्रभावित हो रहा था और उसके तन पर रोमांच उठ रहे थे। लेकिन उस रोमांचकारी अवस्था में भी वह जानता था कि उसकी वह मूल बेचैनी की वेदना अब भी कायम है। कृष्णमूर्ति के बातों से इस दुःख पर शीतल, सुखकारी मरहम लगने का आभास अवश्य होता है, लेकिन अगर इन शब्दों को मैं पचा नहीं पाया, तो वह दुःखद संवेदना कल विस्फोट के रूप में बाहर निकल पड़ेगी।

भाषण के बाद जाने के लिए श्रीधर उठ खड़ा हुआ। आज के भाषण में कल की अपेक्षा ज़्यादा भीड़ थी। श्रीधर अपनी जगह से नहीं हिला। शशी से विदा कैसे ली जाए, यह एक प्रश्न था। कृष्णमूर्ति का यह आखिरी भाषण था और अब अनायास भेंट होना असम्भव था। शशी का पता-ठिकाना पूछ लेना आवश्यक था।

"अच्छा···चलता हूँ" श्रीधर ने कहा। शशी के दादा जी कहीं नज़र नहीं आ रहे थे, "फिर कब मिलेंगे ?"

"कहाँ जा रहे हो ?" शशी ने पूछा।

"कहीं नहीं···यों ही टहलता हुआ छात्रावास चला जाऊँगा।"

"फ़ाइन···इसका मतलब है तुम्हारे पास समय है···चलो बीच में बैठकर कहीं कुछ खाते-पीते हैं। मुझे भूख लगी है···ठीक है न ?" शशी ने उसे देखते हुए पूछा।

"ठीक का क्या मतलब हुआ ! कहना तो मैं भी यही चाहता था, लेकिन तुम्हारे दादा जी ···?"

"आज वह अपने किसी दोस्त के पास जाने वाले हैं, और इसीलिए मैं भी खाली हूँ। ज़रा रुको, मैं उनसे कहकर आती हूँ।"

शशी के दादा जी पुरानी पद्धति के थे। छह फीट लम्बाई, लेकिन वृद्धावस्था से कमर में आया किंचित् झुकाव। शुभ्र तलम धोती, बन्द गले का कोट और सिर पर कत्थई रंग की टोपी। होठों पर पुरानी पद्धति की सफ़ेद मूँछें। चेहरे पर पड़ी झुर्रियाँ और नाक पर सुनहरी फ्रेम का गोल चश्मा। हाथ में सुन्दर नक्षीदार लाठी।

दादा जी किसी के साथ बातें करते हुए आ रहे थे। शशी को देखकर वह रुक गये। उनके साथ एक समवयस्क गृहस्थ और उसकी पत्नी थी। वह दोनों आधुनिक वेश में थे। श्रीधर ने देखा शायद दादा जी ने शशी के पीठ पर हाथ रखकर उसकी पहचान करायी होगी, क्योंकि उस वृद्ध दम्पती में जो स्त्री थी, उसने शशी को पास खींचकर उसका माथा चूमा और उस सज्जन े भी उसका गाल थपथपाया। फिर दादाजी ने शायद कुछ पूछा होगा। शशी उसकी तरफ इशारा करके मुस्कुराती हुई कुछ कह रही थी। दादा जी ने गरदन हिलाकर स्वीकृति दर्शायी। पोर्च में एक पुरानी लम्बी गाड़ी आकर खड़ी हुई। दादा जी उस दम्पती के साथ गाड़ी में बैठ गये और शशी उनसे विदा लेकर श्रीधर के पास आ गयी।

"चलो···" उसने कहा।

श्रीधर अनिमिष नेत्रों से उसे देख रहा था। उस वक़्त उसे अपने हृदय के स्पन्दनों के बढ़ने का पता चला। और लगा कि प्रेम···प्रेम जो कहते हैं, वह शायद यही है। लेकिन नहीं। यह प्रेम कैसे हो सकता है ? कृष्णमूर्ति का बताया प्रेम एक विलक्षण बात है···लेकिन एक बात पक्की है कि शशी मुझे अच्छी लगती है।

"चलो···"

दोनों बाहर निकले और कैम्प की सड़क पर आ गये। रात बहुत नहीं हुई थी। और पुणे की ठण्डी हवा शरीर में कम्पन ला रही थी। शशी ने शाल ओढ़ रखा था। आज उसने बालों में फूल नहीं लगाये थे, लेकिन उसकी वह परिचित सुगन्ध श्रीधर को प्रसन्न कर रही थी। सभागृह के प्रवेश से निकलती हुई गाड़ियों को देखकर श्रीधर ने कहा, "मुझे तो आश्चर्य होता है कि यह लोग कृष्णमूर्ति के पास क्यों आते हैं? इनको तो किसी बाबा जी या स्वामी के पास जाना चाहिए।"

"क्यों? ऐसा क्यों सोचते हो?" शशी ने आपत्ति की। "कृष्णमूर्ति के भाषण से बौद्धिक आनन्द पाने के लिए अगर लोग आते हैं तो उसमें तुम्हें क्या आपत्ति है ?"

श्रीधर को लगा शायद शशी अब भी उपरोधपूर्ण बोल रही है।

"केवल बौद्धिक आनन्द ?"

"और क्या?"

"तो क्या तुम कृष्णमूर्ति को अन्य स्वामियों की तरह समझती हो ?"

"नहीं···नहीं···शायद तुम बुरा मान गये हो"—शशी ने भीनी-भीनी मुस्कुराहट

बिखेरते हुए कहा।

बात वहीं पर रुक गयी।

फिर श्रीधर ने कहा, "तुम्हारे दादा जी का व्यक्तित्व बड़ा भव्य और आदरणीय है।"

"बताओ, उनकी उम्र क्या होगी ?"

"सत्तर-बहत्तर ?"

"ग़लत, पच्चासी।"

"ओ हो ! फिर भी इतने तन्दुरुस्त और रौबदार !"

"उन्होंने गोपाल कृष्ण गोखले और तिलक को देखा है। तिलक के साथ बहस भी की है। वह गोखले के साथ थे। फिर ऐनी बेसण्ट जी के थिऑसॉफी आन्दोलन में थे। कुछ वर्षों तक वह गाँधी जी के साथ भी थे। बाद में उन्होंने आन्दोलन छोड़ा और अपने आप को थिऑसॉफी को अर्पण कर दिया।"

"अच्छा ! तो तत्त्वज्ञान में रुचि तुम्हें विरासत में मिली है !"

"तत्त्वज्ञान कहो या धर्मशास्त्र कहो या अध्यात्म कहो। लेकिन दादाजी में यह पहले से है। उम्र के बीसवें साल में वह ख्रिस्त के शान्ति तत्त्व से इतने प्रभावित थे कि वह ख्रिस्त धर्म को ही स्वीकार करनेवाले थे। लेकिन वह नहीं हो पाया।"

दोनों ठण्डी हवा शरीर पर झेलते हुए आगे बढ़ रहे थे। एक-दूसरे को जानने के लिए उत्सुक थे।

"क्या इसीलिए तुमने तत्त्वज्ञान का चयन किया है ?"

"नहीं, अगर मेरी पूछ रहे हो तो मैं एकदम मनस्वी, भावनात्मक हूँ। वैसे भी मैं दादाजी के ऊपर बिल्कुल नहीं गयी हूँ। अगर किसी के ऊपर गयी हूँ तो वह अपने पिता के...वह अत्यन्त संवेदनाशील, समर्पणोत्सुक⋯"

शशी ने बात बीच में ही रोक दी। सामने से आनेवाले वाहन को रास्ता देने के लिए वह थोड़ी हट गयी और उसका फ़ायदा लेती हुई बोली, "आज आकाश कितना साफ़ है देखो, इन बत्तियों की रोशनी में भी गुरु तेजस्वी नज़र आ रहा है।"

श्रीधर ने ऊपर देखा। कैम्प की उस निर्जन सँकरी सड़क पर महापालिका के खम्भे दूर-दूर अन्तर पर थे। इसलिए आकाश में चाँदनी अस्पष्ट नज़र आ रही थी। रात की रानी की सुगन्ध थी। लेकिन श्रीधर यह भाँप गया था कि शशी विषय बदलना चाहती है। दोनों बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे, बातें करते। सँकरे रास्ते से वह बण्डगार्डन के प्रमुख रास्ते पर आ गये। वहाँ से चलकर स्टेशन के पास के पटरियों के पुल को पार कर यातायात के रास्तों को टालकर वेस्ट-एण्ड के साथ वाले रास्ते पर आये। वहाँ के एक छोटे से होटल में शशी सहजता से अन्दर घुसी। उसका वहाँ कुछ इस तरह स्वागत हुआ कि बहुत अच्छी जान-पहचान हो, और बड़े

अपनत्व से उन्हें दो कुर्सियों वाली एक कोने की मेज़ दी गयी। उपहार-गृह वातानुकूलित था और बत्ती मन्द थी, और सुनाई देने, न देनेवाला मद्धिम हिन्दुस्तानी संगीत।

सावधानी से मेनू कार्ड देखकर उसने ऑर्डर दिया और फिर मेज़ पर हाथ रखकर बोली, "कहो !"

शशी की आरक्त गोरी हथेली श्रीधर के सामने थी। अनजाने में अचानक उस पर अपना हाथ रखकर श्रीधर मुस्कुराया और बोला, "पहली ही मुलाकात में तुम मुझे बहुत अच्छी लगी। यह बता दूँ तो क्या तुम्हें बुरा लगेगा ?"

उसके हाथ पर अपनी दूसरी हथेली रखकर खुलेपन से मुस्कुराती वह बोली—"अगर बुरा लगता...तो मैं तुम्हें पहले मिलती ही क्यों ?"

"लेकिन हमारा यह अच्छा लगना, न लगना तो कृष्णमूर्ति के प्रेम की संकल्पना के खिलाफ़ है ···जानती हो न ?" श्रीधर ने हल्के मज़ाक़ में लेकिन आवेगयुक्त स्वर में कहा, "उनकी प्रेम की संकल्पना बहुत गहरी और विशाल है। प्रेम के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता, प्रेम का निर्माण नहीं हो सकता, या प्रेम किया भी नहीं जाता। तन मन से प्रेम करना प्रेम नहीं है, कुछ हासिल करने के लिए प्रेम करना तो हरगिज़ प्रेम नहीं है। प्रेम के दिलासे के लिए—यह भी प्रेम नहीं, शान्ति या आसरे के लिए—यह भी प्रेम नहीं। जब इनमें से कुछ भी न होगा तब सच्चा प्रेम निर्मित होगा। सुना तुमने ? कृष्णमूर्ति की प्रेम की संकल्पना और विरक्ति की संकल्पना लगभग एक ही है···"

उसका गम्भीर चेहरा देखकर शशी हँसने लगी। उसने कहा, "मैंने जो कहा था, वही सही है। कृष्णमूर्ति बहुत कठोर और कठिन गुरु हैं···"

"गुरु ?"

"और क्या। लेकिन यह मैं अच्छे अर्थ से कहती हूँ। तुम लोगों को बुरा लगता है। कृष्णमूर्ति न गुरु हैं, और न ही कोई उनका शिष्य। यह मैं जानती हूँ, फिर भी ऐसे हज़ारों हैं जो उन्हें गुरु मानते हैं। लेकिन वह सब रहने दो। तुम उनकी हर बात बहुत गम्भीरता से लेते हो···" शशी की बात में थोड़ा मज़ाक़, थोड़ा व्यंग्य, थोड़ा उपहास, थोड़ा अपनत्व—इन सबका मिश्रण था, जिससे श्रीधर कुछ परेशान-सा हो गया ।

"मतलब ?" उसने आँखें बड़ी करके पूछा, "कृष्णमूर्ति के व्याख्यान को गम्भीरता से लेना नहीं चाहिए···?"

"न् न्, वह बात नहीं है," शशी ने मार्दवयुक्त हँसी के साथ कहा, "उनकी बातें गम्भीरता से अवश्य सुनो, उनका बौद्धिक आनन्द पूर्ण रूप से उठाओ। लेकिन उसी के साथ-साथ हमें दैनन्दिन उलझनों से भरा पड़ा जीवन भी जीना है, यह भी

याद रखना है। कृष्णमूर्ति संन्यास लेने के लिए नहीं कहते । बल्कि वह तो कुछ भी करने के लिए नहीं कहते। वह सब हम पर ही छोड़ देते हैं—अकेलेपन से…आप की मदद कोई कर नहीं सकता, यह सब बहुत भयानक है, ऐसा तुम्हें नहीं लगता ?"

शशी की बातों में कृष्णमूर्ति के प्रति किंचित् कड़ुवाहट थी। लेकिन शशी भी स्वयं सचमुच बेचैन लग रही थी। श्रीधर के मन में समान्तर तार छेड़ती गयी। "यह निःसंशय ही भयानक, अस्वस्थ करनेवाला है, श्रीधर !"

"मैं भी चिन्तित था इस भयानक अकेलेपन के एहसास से। तुम मज़ाक़ उड़ाती हो। मुझे 'अस्वस्थ आत्मा' कहकर चिढ़ाती हो। लेकिन सच बताओ शशी, इन सभी मूलभूत प्रश्नों से क्या तुम डर नहीं जाती ? हमारा जन्म, अस्तित्व, यह जग, विश्व, हमारा नगण्यपन, यत्किंचित्पन हमारे जीवन का प्रयोजन, यह सब मन को बेचैन करने वाली बातें हैं, क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता ? कृष्णमूर्ति के पास उसके उत्तर हैं ही नहीं। वह कहते हैं कि उत्तर की अपेक्षा लेकर मेरे पास मत आओ—"

श्रीधर रुका। वेटर ने खाद्य पदार्थ ला रखे थे। शशी उसकी तरफ ध्यान से देख रही थी, उसकी बातें ग़ौर से सुन रही थी। लम्बी साँस लेकर श्रीधर बोला, "एक तरफ तो निसर्ग की अपार लीलाएँ देखकर मैं मोहित होता हूँ, चकरा जाता हूँ। बरसात, नदी, समुन्दर, तारे, फूल—इन सबके लिए मेरे मन में अब भी बालसुलभ कौतूहल है। केले का नन्हा-सा पौधा साल भर में जल्दी-जल्दी बढ़कर केलों के सम्भार से लदता हुआ मैंने देखा है। कितनी आश्चर्यपूर्ण और विस्मयकारी बात है, शिशु का जन्म। एक सीधी-सादी महिला। सिर्फ़ नौ महीनों में कितनी जटिलताओं से भरा लेकिन पूरा बढ़ा हुआ, सब अपनी-अपनी जगह सही होनेवाली, हृदय का नियमित स्पन्दन करनेवाली, जीवन-रस से भरपूर मानवी देह को जन्म देती है। यह कितनी आश्चर्यपूर्ण अगाध बात है। सच प्रकृति की लीला अगाध है ! हम प्रकृति के सामने आश्चर्य से, सराहना से और प्रेम से नतमस्तक होते हैं। और अचानक डर लगने लगता है, हम बेचैन हो जाते हैं। सवाल उठते हैं—यह सब किसलिए ? इस निसर्ग का निर्माता कौन ? हम यहाँ किसलिए आये ? हमारे होने का क्या अर्थ और महत्त्व है ? अगर हमारे होने, न होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता तो हमारे होने की क्या आवश्यकता है ? ऐसे प्रश्न। हमेशा कुण्ठित करने वाले। जब से मैंने होश सँभाला है, तब से वह मेरा पीछा कर रहे हैं…उनसे मुझे कभी राहत नहीं मिली और न मिलेगी। कभी-कभी ऐसा लगता है कि सोच-सोच कर पागल हो जाऊँगा।"

"श् श्। ऐसा न कहो…" उसके हाथ को तिलमिलाकर छूती शशी बोली, "तुम उनमें से नहीं हो। मैं जानती हूँ, तुम कभी पागल नहीं होओगे, मैं हो सकती हूँ, लेकिन तुम नहीं …"

"क्यों ? ऐसा क्यों कहती हो तुम ?" उसने आश्चर्य से पूछा । क्योंकि शशी के स्वर में उच्छृंखलता नहीं थी और न ही चंचलता । वह पूरी गम्भीरता से और मनःपूर्वक बोल रही थी।

अब शशी खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसके नाजुक होठों के पीछे से छिपी सफ़ेद मोतियों जैसी दन्तपंक्ति उसे नज़र आयी। श्रीधर भी मुस्कुराये बिना रह न सका और फिर दोनों हल्की-फुल्की बातें करने लगे। उस होटल में दो घण्टे कैसे बीत गये, उन दोनों को पता ही नहीं चला। शशी के दादाजी का भव्य बँगला कोरेगाँव पार्क विभाग में ही था। श्रीधर ने रिक्शे से उसे घर छोड़ा और वह छात्रावास लौट आया। उसका मन प्रफुल्ल हो रहा था। शशी के साथ वह जिस खुलेपन से और मन से बात कर सका था, वह उसके लिए एक अपूर्व अनुभव था। और उसके सान्निध्य में श्रीधर को एक अलग ही सुन्दर सुवासित लोक में विहार करने का अनुभव हो रहा था। उसके रोम-रोम में निरन्तर बसनेवाली बेचैनी शशी के सहवास में हल्की पड़ गयी थी। और उसके हृदय की गहराई से उठनेवाली वह सनातन वेदना तब सुसह्य और मीठी-मीठी लग रही थी। यह क्या हो रहा था ? श्रीधर खुद से अचम्भित था।

जब वह कमरे में लौटा, उसे याद आया कि आज धनंजय तो होगा नहीं। वह कुछ निराश हुआ क्योंकि वह धनंजय से बोल सकता था। उसे यह आश्चर्यपूर्ण बात किसी से तो कहनी थी।

लेकिन आज धनंजय विश्वम्भर के साथ शिविर में गया होगा। उन दोनों की परीक्षाएँ खत्म हो चुकी थीं। विश्वम्भर का तो यह आखिरी साल था, अब वह मुक्त हो गया था। पूर्व पाकिस्तान से पश्चिम बंगाल में लाखों की संख्या में आये निराश्रितों की छावनियों में स्वयंसेवक बनकर वह सब वहाँ जानेवाले थे। उसके लिए शिविर में गये थे। श्रीधर भी अपनी परीक्षा के बाद वहीं जाकर उन दोनों में मिलनेवाला था। लेकिन आज उन दोनों के न होने की वजह से श्रीधर को कुछ निराशा हुई थी। उसे बहुत हल्का लग रहा था लेकिन नींद नहीं आ रही था। अपनी कुर्सी में बैठकर सिगरेट जलायी। उसने जी-भरकर कश भरे और फिर कपड़े उतारकर ठण्डे पानी से नहाया। अब उसे बहुत ताजगी लगने लगी। लेकिन पढ़ने की या पुस्तकों को देखने तक की स्थिति में वह नहीं था। उसे लग रहा था कि वह फूल-जैसा हल्का होकर बादलों पर सवार हुआ है। लेकिन उस हलकेपन में भी उसके हृदय में वह वेदना उजागर थी।

श्रीधर को धनंजय का व्यंग्य याद आया और हँसी भी आयी। धनंजय था भी तू-तड़ाक वाला। उसे घुमा-फिराकर बात करना पसन्द नहीं था। एक-दो बार उनकी चर्चा में श्रीधर से हृदय की वेदना जैसे शब्द प्रयोग सुनकर धनंजय तपाक से बोल पड़ा था, "अब यह वेदना भी पता नहीं कहाँ से लाये हो। बीमारी का स्वाँग। कल

डॉक्टर के पास जाकर दिखा दो। वह या तो वायु की कोई दवाई देंगे या तुम्हें हृदयरोग-विशेपज्ञ के पास भेज देंगे। मैं दावे से कहता हूँ, वह तुम्हें विल्कुल ठीक-ठाक कर देंगे।''

हँसता हुआ खुशी से श्रीधर विस्तर में लेट गया।

सिर्फ़ सोते वक़्त उसके मन में वार-वार यही विचार आ रहा था कि कृष्णमूर्ति की प्रेम की कल्पना यानी द्वेष, मत्सर, असूया, क्रोध, क्रूरता, हिंसा—इन सवसे शाश्वत मुक्ति और मैं जिस मार्ग पर क़दम रख रहा हूँ वह मार्ग तो इन सव भावनाओं से भरा होता है। यानी क्या सचमुच हम उस आदिम अनुभूति के साक्षात्कार के लिए लायक हैं या नहीं ? और दूसरा वह कि सब विकारों से मुक्ति यानी विरक्ति, कर्त्तव्य से संन्यास ! फिर कर्त्तव्य कौन करेगा ? आम जनता के लिए कौन पसीना बहाएगा ? सृष्टि का क्रम चलने के लिए काम-क्रोधादि विकार मर्यादा में ही होने चाहिए। तो फिर क्या कृष्णमूर्ति की सच्चे प्रेम की संकल्पना केवन एक असम्भव आदर्श का स्वप्न है ? एक भुलावा ? विकारों से शाश्वत मुक्ति पाने की आस रखना भी क्या योग्य है ? मैं पूर्व पाकिस्तान के निराश्रितों की मदद के लिए ही क्यों जा रहा हूँ ? निराश्रितों की, दुर्बलों की, अपंगों की, दलितों की, संकटग्रस्तों की मदद के लिए दौड़कर पहुँच जाना क्या सही नहीं ? इन्हीं हलचल पैदा करनेवाले विचारों में उलझकर श्रीधर निद्राधीन हो गया।

तेईस

धनंजय के आन्दोलन ने जो अगला मसला उठाया था, उसे देखकर श्रीधर दंग रह गया।

उस रोज़ रात को उनके कमरे में धनंजय और उसके चार-पाँच साथी पोस्टर्स वनाते वैठे थे। श्रीधर रात को देर से छात्रावास लौटा था, कमरे में क़दम रखते ही वह चौंक गया।

"प्रोफेसर शास्त्री मुर्दावाद—" कहनेवाले दो-चार भित्तिपत्र सामने पड़े थे।

एक में शास्त्री जी को सिनेमा के हीरो की तरह लार टपकाते एक पेड़ के पीछे एक युवती का पीछा करते हुए दिखाया था और घोषणा की थी—प्रोफेसर शास्त्री कामशास्त्र या भौतिकशास्त्र ?

दूसरे एक फलक पर घोषणा थी : मासूम लड़कियों को फँसाने वाले शास्त्री को हकाल दो।

एक और चित्र में शास्त्री एक सिंहासन पर बैठे हुए थे और उनके हाथ में भौतिकशास्त्र के सभी उपकरण थे और जेम्स वाण्ड की फ़िल्म के नायक की तरह उनके चारों तरफ से अर्धवसना युवतियाँ थीं और नीचे वड़े अक्षरों में लिखा था—प्रोफेसर ऑफ पोर्नोग्राफी, शिक्षा : मुफ्त में। आर्द्रता : सिर्फ़ सुन्दर और युवा होना (केवल लड़कियाँ) आदि।

"उफ्फोह ! धनंजय, यह क्या हो रहा है ?" श्रीधर ने चौंककर पूछा।

"धमाका। कल हमें अपने डिपार्टमेण्ट में धमाका करना है"—धनंजय ने उत्साहित होकर कहा।

"अरे, लेकिन प्रोफेसर शास्त्री ?"

"हाँ, एक नम्वर का हरामखोर आदमी है, न जाने कितनी लड़कियों को फँसाया है उसने, पूछना किसी से।"

"अरे लेकिन प्रो. शास्त्री...?" श्रीधर का चेहरा देखने लायक था।

"हाँ, हाँ। वही चालवाज़ इन्सान।"

"धनंजय, चाहे कुछ भी हो, हमारा उसके मुँह पर कालिख पोतने का और गले में चपलों का हार पहनाने का कार्यक्रम सफल अवश्य होना चाहिए...उसमें कोई गड़वड़ न हो"—एक चित्र वनानेवाला लड़का वोला।

"मेरे तो हाथों में खुजली हो रही है"—दूसरे ने अपनी ही वाजू पर मुक्का लगाने का अभिनय किया, "उस सूअर का जवड़ा फाड़ने का मन करता है।"

"अरे धनंजय...तुम लोग कुछ ग़लती कर रहे हो...कहीं कोई समझने में ग़लती हो रही है।" श्रीधर हड़वड़ाकर वोला ।

"कैसी ग़लती, कैसा न समझना ?" धनंजय ने ग़ुस्से में आकर पूछा, "उसके वारे में ज़्यादा कौन जानता है ? तुम या हम ?"

"देखो धनंजय, जो भी करना चाहो, अच्छे से सोच-समझकर करो, प्रोफेसर गुणे वाली वात याद है न ?"

"मेरे विभाग के बारे में मुझे तुमसे जानने की आवश्यकता नहीं है। विभाग न हुआ, कोठाघर वना डाला है इस नराधम ने। कम-से-कम चार छात्राओं को विवाह का वचन देकर फँसाया है । हमारे पास सवूत हैं।"

"मेरी अपनी वहन उसके जाल में फँसते-फँसते वच गयी।" वह वॉक्सर लड़का मुट्ठी पर मुट्ठी मारकर बोला।

"यह तो प्रधानाध्यापक भी जानते हैं। सारी दुनिया जानती है। तुम रहते भी हो इस दुनिया में ? तुम्हारी आँखें तो लगी रहती है अध्यात्म की तरफ।" धनंजय

ने उपरोध भरी उलाहना दी। "वीच में तो एक अखवार ने इसका नाम दिये वग़ैर इसकी तमाम हरक़तों का पर्दाफाश किया था।"

श्रीधर हतप्रभ-सा एक कुर्सी में बैठ गया और पागलों की तरह उन विद्रूप भित्तिचित्रों की तरफ देखता रहा।

"माय गॉड···प्रोफेसर शास्त्री ?" उसने अपने आपसे कहा। "मैं तो उन्हें एक बहुत बड़ा आदमी मानता था। ज्ञानी महापुरुष···"

"भाई मेरे, इसमें कोई शक नहीं है कि यह आदमी वहुत चालाक है। अपने विषय में वह पहुँची चीज़ है, जबरदस्त तैयारी है। देश-परदेशों में नाम है। अगर इसकी यह विकृति न होती, तो वह कब का जीनियस लोगों की पंक्ति में जा बैठता। लेकिन इसी ने खुद अपना काम गुड़ गोवर किया।" धनंजय नाक पर उँगली मलता हुआ बोला, "उसके लिए भी कोई कुछ कह नहीं सकता। अपने घर के अन्दर जो मर्ज़ी है कीजिए, आप को भला कौन क्या कह सकता है ? लेकिन इस हरामज़ादे ने अपना कमरा, प्रयोगशाला कोई भी जगह नहीं छोड़ी। प्रयोगशाला में काम करनेवाली लड़कियों के नाक में दम कर रखा है। सबसे वुरी वात तो यह है कि उनमें से दो कच्ची कलियों के साथ धोखा किया। मेरी ही क्लास की लड़कियाँ । और यह सब मैं सिर्फ़ देखता रहूँ ? देखना, मैं एक दिन उसे विद्यापीठ से निकलवाकर ही रहूँगा। साले का नाम बड़ा है, इसलिए अब तक टिका है।"

श्रीधर सुन्न होकर रह गया। उसे समझाने के स्वर में धनंजय वोला, "मैं जानता था कि तुम्हारे मन में उसके लिए इज़्ज़त है। लेकिन याद है मैंने तुम्हें उस वक़्त भी सावधान किया था ? तुम्हें भी वह प्रेम करने का सन्देश दे रहा था।"

श्रीधर ने सिगरेट जलायी।

वह बॉक्सर लड़का श्रीधर की तरफ सन्देह से देखता हुआ वोला, "यार···यह वात कमरे से बाहर नहीं पहुँचनी चाहिए। नहीं तो वह दुम दबाकर पहले ही कहीं खिसक जाएगा।"

"बात कमरे से बाहर जाएगी कैसे ? कोई नहीं जानता कि हम···"

"इसीलिए तो कहता हूँ।" उस लड़के ने श्रीधर की ओर इशारा किया।

धनंजय हँसकर बोला, "उसकी फ़िक्र मत करो, यह मेरा रूम-पार्टनर है। इसका जिम्मा मैं लेता हूँ।"

श्रीधर की स्थिति अब बहुत अजीव थी। उसे रह-रह कर प्रोफेसर शास्त्री का भव्य और तेजस्वी चेहरा याद आ रहा था। उनकी ऋषितुल्य दाढ़ी और वह भोर की प्रसन्न वेला में पहाड़ी की ताजी खुली हवा में मिलना। इसलिए श्रीधर के मन में उनकी प्रतिमा ज्ञान-गम्भीरता के साथ-साथ शुचिर्भूतता से जुड़ी हुई थी, और अब उनका यह घिनौना रूप सामने आ रहा था और उनके वह शब्द उसने तो प्यासे की

तरह पी डाल थे।

धनंजय ने निदर्शन के लिए समय भी सही चुना था। सुवह जव सीनियर आर्ट्स के छात्रों की छुट्टी होती थी, जूनियर छात्र आ जाते थे, उसी समय विज्ञान शाखा के छात्र जल्दी-जल्दी अपनी क्लास रूम वदलते थे और एक वड़ी घण्टी वजती थी। धनंजय ने वही समय चुना। श्रीधर दूर से कौतूहल से यह तमाशा देख रहा था।

कॉलेज के कॉरिडार और भव्य प्रांगण में छात्र-छात्राओं का शोर चल रहा था। प्रोफेसर शास्त्री अपने कक्ष से निकलकर प्रयोगशाला की तरफ वढ़ने लगे। उन्होंने उस वक़्त पाश्चात्य कपड़े पहने हुए थे। उनकी चौड़ी टाई पर उनकी दाढ़ी के वाल उड़कर फैल रहे थे, और संयत सुहास्य मुद्रा से वह साथ चलनेवाली एक सुस्वरूप युवती के सांथ कुछ वात करते आगे वढ़ रहे थे। उनके एक हाथ में चार्ट्स का रोल था। उनकी मुद्रा पर वही ज्ञान-गम्भीर भाव कायम था। यह आदमी ऐसा ग़लत हो सकता है, ऐसा श्रीधर सोच भी नहीं सकता था।

"यह इसके वलि की नयी वकरी," धनंजय श्रीधर के कान में फुसफुसाया। साथ वाले कॉलेज में पढ़ाती है।

योग्य स्थान पर प्रो. शास्त्री के पहुँचने के वाद कहीं से एक कर्कश सीटी वजी और चारों तरफ से अपने हाथ में चित्र-फलक लिये और घोषणा देते हुए दस वारह नवयुवक कहीं से दौड़ते हुए आ गये।

"प्रोफेसर शास्त्री—मुर्दावाद !"

"चले जाओ, चले जाओ—प्रोफेसर शास्त्री चले जाओ !"

"प्रयोगशाला को कोठाघर वनानेवाले शास्त्री को हटाओ, हटाओ !"

कुछ ही क्षणों में प्रोफेसर शास्त्री को लड़कों ने घेर लिया और देखते ही देखते उनके गले में चप्पलों का हार पड़ गया और चेहरा कालिख से पुत गया।

शास्त्री के हाथ से चार्ट्स निकल गये थे। उस भीड़ से वह लड़की भी लापता हो गयी थी। दोनों हाथ झपटते हुए प्रोफेसर शास्त्री चिल्ला रहे थे, "इडियट···स्टुपिट···गुण्डे ···मवाली, मैं हर एक को देख लूँगा···चक्की पिसवाऊँगा···क्या समझे ? पुलिस-पुलिस···"

उनका हाथ-पैर पटकना और चीखना-चिल्लाना देखकर श्रीधर उदास हो गया। अव उसके मन में कोई आशंका नहीं थी। प्रोफेसर शास्त्री के हाव-भाव और चिल्लाने में अव संयम नहीं था। दिखावा था। खुद के अपराधी होने का एहसास भी था। श्रीधर ने एक आह भरी।

अव शोरगुल काफ़ी वढ़ चुका था। दो-चार लड़कों ने शास्त्री को कन्धे पर उठा लिया और उनका जुलूस निकाला। कॉलेज के अन्य छात्र भी वड़े उत्साह के साथ घोषणाओं में और जुलूस में शामिल हो गये।

कॉलेज के प्राचार्य और कुछ वरिष्ठ प्राध्यापक हस्तक्षेप करने के लिए दौड़कर आ पहुँचे। लेकिन छात्रों ने उन्हें नहीं छोड़ा। सभी छात्र प्रोफेसर शास्त्री से वहुत नाराज़ थे, यह स्पष्ट हो गया था। कुछ प्राध्यापक तो खड़े-खड़े यह तमाशा बड़े चाव से देख रहे थे।

दस मिनट के बाद पुलिस की जीप आ पहुँची, तब कहीं छात्र इधर-उधर हुए। सिर्फ़ पाँच छात्र पुलिस के हाथ लगे, जिनमें एक धनंजय था।

रात को धनंजय विजयी मुद्रा में छात्रावास लौटा।

प्रधानाध्यापक की मध्यस्थता से मामला सुलझ गया था। धनंजय के गुट के पास प्रोफेसर शास्त्री के खिलाफ़ फ़ोटो, काग़ज़ात आदि भरपूर माल-मसाला था, जिसका पता लगते ही शास्त्री ने अपनी पुलिस शिकायत वापस ले ली थी। उसी शाम उन्होंने अपना त्यागपत्र प्रधानाध्यापक के नाम भेज दिया था।

रीति के अनुसार विजयोत्सव मनाने के बाद रात को देर से सोते हुए धनंजय अपने बिस्तर में काफ़ी देर तक आँखें खुली रखकर लेटा रहा था।

श्रीधर ने जब उसे वैसे देखा तो पूछा, "क्यों रे, नींद नहीं आ रही ?"

धनंजय फीकी हँसी हँसा, उठकर बैठा और सिगरेट जलाकर वोला, "जो हुआ सो ठीक ही हुआ । लेकिन एक शिक्षक के रूप में वह सच में अप्रतिम थे। उनके जैसा शिक्षक अब कभी नहीं मिलेगा…"

लगातार दो-तीन सिगरेट पीकर वह फिर बिस्तर में लेट गया।

चौबीस

प्रिय जगत,

देहरादून की अकादमी में प्रवेश पर बधाई। तुम्हें प्रवेश मिलेगा, इसके बारे में कोई सन्देह तो था ही नहीं।

एक दुःखद समाचार। अपनी माँ से भी कहना, डेढ़ महीना पहले मेरे पिता जी एक दुर्घटना में चल बसे । मुझे उस सबके लिए दो हफ़्ते लग गये। अब और क्या लिखूँ ? पिताजी के चल बसने के बाद कुछ दिन बहुत उदास रहा। क्या करूँ, समझ में नहीं आ रहा था। सारे प्रश्न फिर से सिर उठाने लगे थे, इस दुनिया में मैं बिलकुल अकेला हूँ, ऐसा सर्वार्थ में लगने लगा।

—श्रीधर

प्रिय श्रीधर,

तुम्हारे पिता के देहान्त का समाचार सुनकर बहुत बड़ा आघात पहुँचा। मम्मी को भी बताया। उन्हें भी बहुत दुःख हुआ। उनका तुम्हारे लिए भेजा शोक-सन्देश संलग्न है। तुम्हारे इस दुःख के बारे में और क्या लिखूँ ? लेकिन मैं कहूँगा कि छोटी-मोटी घटनाओं को लेकर एकदम मूलभूत सनातन प्रश्नों की तरफ मुड़ने का अपना स्वभाव तुम्हें बदल देना चाहिए। पिताजी की मृत्यु का दुःख, एक दुःखद सच्चाई मानकर रो लेने में क्या हर्ज़ है ? तुम हर बात को सीधा अस्तित्व के प्रयोजन के साथ भिड़ाते हो, यह ठीक नहीं है, ऐसा कभी-कभी अवश्य लगता है। तुम्हारा यही स्वभाव कायम रहा तो क्षण-क्षण के लिए जीने का जो आनन्द है, वह तुम कभी लूट नहीं सकोगे, ऐसा लगने लगता है।

तुम्हारा तपश्चर्या पर जाने का प्रसंग मैं अभी भूला नहीं हूँ। तुम्हारा दिया वचन भी याद है। लेकिन सेना के प्रशिक्षण-चक्र से दिन भर पिसकर जब मैं तकिये पर सिर रखता हूँ, तब सचमुच एक श्रान्त समाधान मिलता है। वे प्रश्न जो उन दिनों तुम्हारे जैसे ही मुझे भी सताते थे, उनकी अब कोई झलक तक बाक़ी नहीं बची। सच, अब मैं सुखी और सन्तुष्ट हूँ। महत्त्वाकांक्षाओं से निर्मित होने वाली ईर्ष्या, असन्तुष्टता और बेचैनी अवश्य है, जो मैं तुम्हें बता नहीं सकता, इसलिए मैं कहता हूँ शरीर को और मन को थकाकर चूर करनेवाले कष्ट दो और उसे किसी चीज़ में उलझाकर रखो। तुम्हारी सब समस्याएँ खत्म हो जाएँगी और सारे प्रश्न निरर्थक हो जाएँगे।

—जगत

प्रिय जगत,

मुझे लगता है, यह मेरा पागलपन मेरे ही साथ खत्म होगा। मुझे पूरा सन्तोष मिलने तक मेरी यह खोज ज़ारी ही रहेगी। कष्टों में शरीर को उलझाये रखकर मन को यह प्रश्न सोचने तक का मौक़ा न देना, यह तो एक तरह का पलायनवाद ही हुआ।

लेकिन फिलहाल मेरी सबसे बड़ी समस्या है प्रेम। ज्ञानी लोग कहते हैं, प्रेम कीजिए, उसके बिना गहन विश्व का साक्षात्कार असम्भव है। अब मैं सोचने लगा हूँ कि क्या मैं सचमुच प्रेम करने लायक आदमी हूँ ?

—श्रीधर

प्रिय श्रीधर,

यार, तुम कहीं पागल तो नहीं हो गये ? पुणे में रहते हो। आसपास कई लड़कियाँ होंगी। किसी को तो पटाओ और कर डालो प्यार। हो जाये एक प्यार का चक्कर । कितनी सीधी-सादी छोटी-सी बात है। बात का बतंगड़ बनाना कोई तुमसे सीखे। यहाँ की ज़िन्दगी साली इतनी मुश्किल है ···दिनों तक कोई लड़की नज़र नहीं आती। इसीलिए कुछ भूखे लड़के वीक-एण्ड में जाकर पैसे देकर प्यार कर आते हैं।

खैर, लगता है मुझे मेरी पोस्टिंग पूर्व भारत में ही मिलेगी।

—जगत

प्रिय जगत,

तुम्हें अभी ज़िन्दगी की गम्भीरता समझ में ही नहीं आयी। इसीलिए प्रेम कितना गाढ़ा और गहरा होता है, यह तुम नहीं जानते। मुझे पता नहीं कि मैं भी उसे जान पाऊँगा या नहीं। लेकिन फिलहाल लौकिक अर्थ से मैं शशी नाम की एक लड़की से प्रेम करने लगा हूँ। कुछ इस तरह उलझ गया हूँ कि तुम्हें पत्र लिखने तक का समय मेरे पास नहीं है···

—श्रीधर

श्रीधर और जगत का पत्र-व्यवहार ऐसा ही धीमी गति में छह-आठ महीनों के अन्तर से चलता था। देश की पूर्व सीमा पर तनाव बढ़ गया, सेना की हल-चल शुरू होने के बाद तो वह बिलकुल ही ठण्डा पड़ गया, सेना की जिस पलटन को पूर्व सीमा की हद पर जाने का आदेश मिला था, उस पलटन में युवा लेफ्टिनेण्ट जगत का समावेश था। सेना ने सबसे सीमा बन्द की। पूर्व पाकिस्तान के अत्याचार अत्यधिक हो जाने पर सेना को कुछ करना आवश्यक था। जो लड़ाई होने जा रही थी उससे जगत का सारा जीवन ही बदल जानेवाला था। उसे पत्र लिखने की बिलकुल फुर्सत नहीं थी और लड़ाई के पश्चात् उभरनेवाला नया जगत जैसे नयी दृष्टि से विश्व की तरफ देखने वाला था।

जगत की पोस्टिंग के बाद उसे कुछ दिनों में सीमा की तरफ बढ़ना पड़ा। सीमा की तरफ बढ़ने से पहले श्रीधर को लिखे कालखण्ड का यह आखिरी पत्र था। बीच-बीच में वह सेन्सर ने काटा भी था।

प्रिय श्रीधर,

कल हमारा दल रेलवे से···की तरफ प्रस्थान करने वाला है।

समाचार-पत्रों में तुम घटनाएँ पढ़ ही रहे होगे। मैं बहुत थ्रिल्ड हूँ। कैरिअर शुरू करते ही सीमा पर जाने का मौक़ा मिलना कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। तुम्हें याद होगा, आठ-नौ वर्ष पहले मेरे पिता दुश्मनों से लड़ते हुए रणांगण पर वीरगति को प्राप्त हुए थे। उस वक़्त मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी पूर्ति का समय अब आ गया है। मम्मी तो स्वाभाविक रूप से डर गयी है। उसने मुझे गले में और बाजू पर बाँधने के लिए तावीज़ और कुछ भस्म दिये हैं, जिन्हें मैंने श्रद्धाभाव से पहन रखा है। क्योंकि ···(आगे का काफ़ी सारा भाग काटा गया था)x x x xपिछले चुनावों में जिस तरह x x x x फिर भी मौत की सम्भावना की शरण में जब आप जाते हैं तो मन श्रद्धालु बन जाता है। भावुक बनने लगता है, छोटी-मोटी बातों में विश्वास होने लगता है। क्योंकि मौत की कल्पना हमारी बुद्धि के आकलन से परे है। इसीलिए फिर बुद्धि से समझने के दायरे के बाहर भी कोई शक्ति अस्तित्व में हो सकती है, इस पर आसानी से विश्वास किया जा सकता है। मेरे आसपास के कितने ही अधिकारियों से और सैनिकों में यह बदलाव आते हुए मैंने देखा है जैसे-जैसे x x x अधिक चंचल होने लगे वैसे-वैसे व्यक्तिशः गम्भीर भी। माँ-बाबा की, भाई-बहनों की और प्रियतमाओं की तस्वीरों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा। आजकल हर कोई सुबह उठकर, नहाने के बाद, खाने से पहले और रात में सोने से पहले अत्यन्त भक्तिभाव के साथ अपने-अपने भगवान का, गुरु का या स्वामी का स्मरण करता रहता है। मुझे यह कहने में तनिक भी शर्म महसूस नहीं होती कि यह सब मैं भी भक्तिभाव से कह रहा हूँ। मम्मी का भेजा हुआ भस्म माथे पर लगा लेता हूँ। नहाने के बाद मेज़ पर रखी शिवजी की तस्वीर पर फूल चढ़ाकर प्रणाम करता हूँ। तावीज़ सिर पर उठा लेता हूँ। इन सब चीज़ों से मुझे बहुत मनोबल मिलता है। तुम्हें पढ़ने में मज़ेदार लगेगा लेकिन x x x x x x में सबसे शान्त और स्थिरवृत्ति के कोई हैं तो वह हैं हमरे पुराने अनुभवी सैनिक और श्रद्धालु होने के लिए हम जिनका मज़ाक़ उड़ाते थे उनमें से कुछ अधिकारी युवा, नास्तिक अधिकारियों में हताहत हुए सैनिकों की संख्या अधिक है। खैर x x x x x x x x x x x x x खेद सिर्फ़ एक बात होता है कि इस सैनिकी धमाधम में प्रेम वगैरह करने के लिए कोई लड़की नहीं मिली। यह एक अधूरापन रह गया। अगर यहx x x x x x x x x x xतो एक इच्छा अधूरी रह जाएगी, यह लश्करी लोग स्त्रियों के बारे में इतना सोचते रहते हैं और चर्चाएँ करते रहते हैं कि उनकी अश्लीलता को देखर

सन्देह होने लगता है कि इन लोगों की कोई माँ या वहनें हैं भी या नहीं? यह सब मैं तुम्हें लिख रहा हूँ लेकिन मेरे मुँह में भी गन्दी गालियाँ आ गयी हैं कि मम्मी को मिलने जाता हूँ तो भाषा का वहुत ध्यान रखना पड़ता है। ज़ुबाँ को इतनी आदत-सी पड़ गयी है कि किस वक़्त न जाने कौन-सी गाली टपक पड़े। वैसे इन गालियों का भी कोई मतलव नहीं होता। मुँह से जैसे उद्‌गारवाचक शब्द निकलते है, वैसे ही यह गालियाँ निकलती हैं। अब सीधे X X X X X X X X X X X X X X X के साथ मेरी सेना की वर्दी में तस्वीर—

जगत का यह पत्र जब श्रीधर के पास पहुँचा तो वह शशी के प्रेम में बुरी तरह उलझा हुआ था, उसे उत्तर भेजने की वह सोच भी नहीं सकता था। प्रेम में पागल होने की प्रक्रिया जव शुरू हुई थी तव जगत का पासिंग आऊट होने वाला था। लेकिन शशी का आवेग भी ज़वरदस्त था।

शशी एक अत्यन्त उत्कट लड़की थी। कोई भी चीज़ पसन्द आने पर उस पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने वाली। उसने श्रीधर से भर-भरकर प्रेम किया। सभी संकेतों को उखाड़ फेंककर उसने श्रीधर को कब्जे में कर लिया। शायद इसीलिए उसका प्रेम कच्चा था, असली नहीं था, ऐसा प्रतीत होना सम्भव था। कम-से-कम उस वक़्त। लौकिक अर्थ से देखा जाय तो शशी उदार थी, खुले मन की थी और पूर्णत: निस्वार्थी थी। लेकिन प्रेम की दूसरी हद तक स्वार्थी, वहुत मत्सरी, विद्वेषी और कभी-कभी वहुत क्रूर भी थी। लेकिन वैसे देखा जाए तो लौकिक अर्थ से क्या यही सच्चा प्रेम नहीं था? महाकाव्यों में या महान् दुःखान्त नाटकों में दिखाया गया, प्रेम क्या ऐसा ही स्वार्थी, मत्सरयुक्त और छलकपट वाला नहीं होता?

सीधा-साफ, निरामय, निरपेक्ष प्रेम, निःस्वार्थी, निष्कपट प्रेम यह महाकाव्य का विषय हो ही नहीं सकता। वल्कि प्रेम का अर्थ है संघर्ष। और कृष्णमूर्ति तो कहते हैं कि प्रेम तमाम संघर्ष का अन्त है। शशी का प्रेम निश्चित ही उस तरह का नहीं था।

जीवन में ज़वरदस्त धक्का खाने के वाद शशी वदल गयी। लेकिन प्रेम के उस पहले दौर में उसका दिखाया हुआ आत्मरूप वहुत ही रौद्र और इसीलिए मानवी था। उसका श्रीधर से प्रेम करना एक शोकान्तिका थी। लेकिन यह भी उतना ही सच था कि यही प्रेम अगर वह किसी और से कर बैठती तो उसकी और भी भयानक शोकान्तिका हो बैठती। श्रीधर के थोड़ा-सा निरुद्देश्य और तटस्थ होने की वजह से उस शोकान्तिका की तीव्रता थोड़ी कम हुई। प्रेम का आवेग इतना विलक्षण था कि उसमें श्रीधर जैसा संयमी लड़का भी बह गया।

कृष्णमूर्ति के व्याख्यान के वाद दूसरे ही दिन शाम को श्रीधर से मिलने शशी

उसके छात्रावास पहुँच गयी। उस वक़्त श्रीधर कमरे में नहीं था। एक घण्टा रुककर एक चिट्ठी पीछे छोड़कर वह चली गयी। उन दिनों धनंजय पूर्व पाकिस्तान की सीमा पर निराश्रितों की सहायता के लिए गया था। इसलिए कमरे में कोई नहीं था।

"प्रिय श्रीधर,

जितनी जल्दी सम्भव हो, मिल लेना।

तुम्हारी, शशी"

श्रीधर को बहुत आश्चर्य हुआ। कल तो उनकी ऐसी कोई बातचीत नहीं हुई थी। उसका अन्दाज़ा था कि अगले हफ्ते में किसी दिन फिर मुलाक़ात होगी। इसलिए शशी का उससे मिलना हो नहीं पाया, इस बात का उसे बुरा अवश्य लगा। शशी अपने आप उससे मिलने आयी थी, यह बात भी उसे रोमांचकारी लगी। अगले दिन शाम को कॉलेज के लेक्चर्स खत्म होने के बाद ग्रन्थालय में जाने के बजाय उसने शशी से मिलने का निश्चय किया और वह सो गया।

लेकिन श्रीधर को उतनी प्रतीक्षा करने का अवसर ही नहीं मिला। भोर में जब सैर सपाटे से वापस लौट रहा था तब छात्रावास के गेट के पास चौकीदार से बहस में उलझी शशी उसे वहाँ खड़ी मिली। श्रीधर दंग रह गया।

"शशी, तुम···?"

"श्रीधर–?"

"देखा न दीदी, मैं कह नहीं रहा था कि साहब सुबह-सुबह सैर के लिए निकल जाते हैं, आप तो खामखाँ मुझसे नाराज़ हो रही थीं।"

शशी शान्ति से भीनी-भीनी मुस्कुराती खड़ी थी। उसने जीन्स और शर्ट पहन रखी थी। उस समय चेहरा शान्त था कि उसकी चौकीदार से लड़ाई का कोई प्रमाण उस पर मौजूद नहीं था।

"अरे, मैं शाम को आने ही वाला था–"

"चलो, तुमने सवेरे की चाय तो पी नहीं होगी···।" शशी ने मुस्कुराते हुए उसकी बाजू पकड़कर उसे अपनी गाड़ी की तरफ चलता किया। अपनी सफ़ेद फियट का दरवाज़ा आदतन सहजता से खोलकर उसने श्रीधर को साथ बिठा लिया और गाड़ी स्टार्ट की।

"कहाँ ?"

"यहीं कहीं पास में···किसी होटल में बैठकर चाय पीते हैं। शशी ने मुस्कुराते हुए कहा। "तुम्हें मेरी चिट्ठी मिली ?"

"हाँ, इसीलिए तो आज शाम को आनेवाला था।"

"आज शाम को ? मुझे लगा चिट्ठी मिलते ही तुम कल रात को ही आ जाओगे। मैं कल सारी रात इन्तज़ार करती रही।"

"बाबा रे ! रात भर ?"

"खैर, वह सब छोड़ो। अब मिल तो गये। कल मैं यह सोचने लगी थी कि हम लोग कृष्णमूर्ति को समझने के काबिल नहीं हैं। हम यानी मैं। कृष्णमूर्ति बार-बार कहते हैं न, अगर आप फलानी बात नहीं कर सकते, तो हमारा-आपका रास्ता अलग है। इन सबमें मैं 'फिट' बैठती हूँ। यानी संघर्ष, भय, परोपकार, अस्तित्व, प्रेम आदि के बारे में वह जो मूल सूत्र ग्राह्य मानते हैं, उससे मैं असहमत हूँ। उदाहरण के तौर पर उनके अनुसार दूसरे की सहायता करने में भी मन का बड़प्पन आदि जैसी कोई बात नहीं होती। अगर इसी दिशा में हर बात का अर्थ लगाने बैठें तो इस दुनिया में मूल्य जैसी कोई बात बचेगी ही नहीं।" — ओफ़्फ़ो माफ़ करना, मैं बहुत बकवास करती जा रही हूँ। चलो, कोई और बात करते हैं। कल तुम कैसे सोये?"

श्रीधर मन-ही-मन हँसने लगा।

"बताओ न, कैसे सोये थे तुम कल ?"

"रोज़ की तरह…अच्छा।"

"कोई सपना-वपना तो नहीं देखा ?"

"कल नहीं देखा। लेकिन परसों अवश्य तुम्हें सपने में देखा था। अपने सपने में देखी पहली महिला …।"

"अच्छा ! धन्यवाद…"

"धन्यवाद किसलिए ?"

"अपने सपने में आने की इज़ाज़त देने के लिए।"

"और अगर मैं इज़ाज़त न देता ?"

"मैं दरवाज़ा खटखटाती रहती।"

"बहुत मज़ेदार बात है। तुम ज़रूर अच्छी कविताएँ करती होगी।"

शशी मुस्कुरायी।

"और किस-किस को तुमने अपने सपनों में आने का प्रवेश-पत्र दिया है ?"

"पहली अर्ज़ी तुम्हारी ही थी।"

इस बात पर दोनों हँस पड़े। इतनी भली सुबह में इरानी होटल ही खुला मिलना सम्भव था। वह दोनों जिमखाना के इरानी होटल में बैठ गये। चाय पीते हुए शशी ने कहा, "मुझे लगा अपनी अर्ज़ी में मैं उम्र के लिए अस्वीकृत हो जाऊँगी।"

"यानी ?"

"यानी मैंने थोड़ा संशोधन किया है। शायद तुम जानने के लिए उत्सुक नहीं हो, लेकिन मैं थी। उम्र में मैं तुमसे दो साल बड़ी हूँ।"

"तो क्या हुआ ?"

दोनों ने चुपचाप चाय पी। शशी ने श्रीधर के विषयों के बारे में पूछ लिया

और उसे छात्रावास छोड़कर वह चली गयी। उसी दिन शाम को उसने श्रीधर के विषयों के, जितने सम्भव थे, वह सभी नोट्स और पुस्तकें उसके कमरे पर ला कर रख छोड़े। उसके सम्भाषण के विषय भी श्रीधर की पढ़ाई से ही सम्बन्धित थे। श्रीधर ने इस सबको बड़ी सहजता से स्वीकार किया। इसका न उसे कोई आश्चर्य हुआ था और न ही उसे यह लगा था कि वह कुछ अलग कर रही है। तीसरे दिन शाम को वह श्रीधर को अपने घर ले गयी और खाना खिलाकर उसी के विषयों पर भाषण देने का प्रयास किया। लेकिन कुछ ही देर बाद वह समझ गयी कि पढ़ाई के मामले में श्रीधर उसका शिष्य बनने के बजाय बहुत आगे निकल चुका है।

इस तरह शशी ने श्रीधर को पूरी तरह अपने कब्ज़े में ले लिया। लेकिन शुरू के इस आवेग में शशी में एक मुग्धता थी। पहले हफ़्ते में उस प्रेम का आवेग थोड़ा हल्का पड़ने के बाद शशी कुछ शान्त हो गयी। हफ़्ते-दो हफ़्ते में श्रीधर से एकाध बार अवश्य मिलने लगी। उनके प्रेम को एक शान्त लय प्राप्त हुई।

कृष्णमूर्ति के भाषण और शशी का उत्कट प्रेम—इन दोनों के एकत्र परिणाम से श्रीधर का तो जैसे कायापलट हो गया। हरदम चिन्तनमग्न और अकेला रहनेवाला श्रीधर अब चारों तरफ से खिल उठा। स्वयं को अगर इस जग के सन्दर्भ में समझना है, तो इस जग में पूरी तरह समा लेना आवश्यक है। शशी के प्रेम ने तो जैसे उसके मन से उदासीनता और मलिनता झटक डाली थी। बुद्धि पर छायी उदासी हटा दी थी। शशी के प्रेम को प्रतिरूप देते वह जग से भी प्रेम करने लगा था और जैसे एक रात में उसके लौकिक व्यक्तित्व पर नयी आभा छा गयी थी।

शशी से प्रेम हो जाने की वज़ह से अब श्रीधर किसी भी लड़की के साथ, किसी संकोच या कुण्ठा के बिना खुलकर बातें करने लगा था। उसकी सहाध्यायी लड़कियों के साथ उसकी जैसे नये सिरे से पहचान हुई थी। धनंजय और विश्वम्भर के आन्दोलन से जुड़े सभासद उसकी तरफ एक अलग दृष्टिकोण से देखने लगे। इसी काल के दौरान उसकी यशोधरा से पहचान हुई। शशी के प्रेम ने जैसे श्रीधर के जीवन को जीवन्त बना दिया था। पहले से ही समृद्ध ज़मीन को अच्छा खाद और पानी मिलने से जो होता है, वही श्रीधर के साथ हो रहा था।

अब अगर सोचा जाए तो ऐसा भी लग सकता है कि यह सब शशी ने बड़े योजनाबद्ध तरीक़े से किया था। लेकिन इस सबमें शशी द्वारा पूर्वनियोजित कुछ भी नहीं था, यह श्रीधर बहुत अच्छी तरह जानता था। जो भी हुआ वह अत्यन्त सहज, नैसर्गिक और उत्कट था। रजनीश के प्रवचन से ऊबकर अगर वह दोनों बाहर न आते तो शायद उनकी मुलाक़ात नहीं होती। दोनों के एक-दूसरे को देखते ही शायद उनके तार जुड़ चुके थे; शायद इसके लिए शशी का उत्कट प्यासापन भी जिम्मेवार था। और फिर बाद में एकदम शान्त, संयत मूड, वह भी सहज ही था। पहले कुछ

दिन शशी उसके साथ स्वयं वहुत बोलती रही और अपनेपन से उसे अपने वश में करती रही। श्रीधर की सुबह की सैर की दिशा वदल गयी। दिन में अगर चार-पाँच घण्टे वह साथ-साथ न गुज़ारें तो शशी के लिए जीना असह्य हो जाता। जग के किसी भी विषय पर उनकी वातें चलती थीं। कृष्णमूर्ति, अध्यात्म, भारतीय तत्त्वज्ञान, अन्धश्रद्धा, अर्थशास्त्र, प्रधानमन्त्री और राजनीति, नयी पुस्तकें, पुरानी पुस्तकें, अपनी पसन्द के लेखक आदि—कुछ भी। श्रीधर का चाय का अड्डा बन्द हो गया। शाम को घण्टों तक वह पैदल घूमने लगे जिसमें एक-दूसरे को अपने पूर्व आयुष्य के बारे में सुनाना भी था।

उम्र में शशी श्रीधर से दो साल वड़ी थी। उसने पुणे के कैम्प के कॉलेज में ही शिक्षा ली थी। उसने उसी साल तत्त्वज्ञान में एम. ए. किया था। दादाजी के बहुत अमीर होने के कारण उसकी नौकरी करने की इच्छा नहीं थी। दादा जी पुराने ज़माने के सरदार परिवार से थे। उनके पिताजी ने ब्रिटिशों की ईमानदारी से चाकरी करके काफ़ी रुपया-पैसा, ज़मीन-जुमला जोड़कर रखा था। दादाजी ने स्वतन्त्रता-संग्राम में थोड़ा-बहुत सहभाग लिया था, लेकिन उससे उनकी सम्पन्नता पर कोई आँच नहीं आयी थीं। शशी की माँ वचपन में गुज़र चुकी थी। पिताजी का देहान्त हाल ही में हुआ था। इससे अधिक बताने लायक़ उसके जीवन में कुछ नहीं था। कई दिनों बाद पता चला कि शशी के पिता को उनके जीवन के आखिरी पाँच साल मनोरुग्णालय में बिताने पड़े थे। शशी को दादा जी ने और घर के नौकरों-चाकरों ने पाल-पोस कर बड़ा किया था। दूर की एक विधवा महिला साथ-सोहवत के लिए उनके साथ रहती थी। लेकिन शशी के मैट्रिक के वर्ष में ही वह भी चल बसी थी, इसलिए उसने लगभग सारा जीवन स्त्री के साथ के बिना ही निकाला था।

"वैसे देखा जाए तो हमारा जीवन समान्तर ही है, है न ?" शशी ने श्रीधर की कहानी सुनकर कहा, "फ़र्क सिर्फ़ इतना ही है कि तुम पुरुष हो और मैं स्त्री। और ऐसे अकेले जीवन में किसी स्त्री के मन में कितनी ही उलझनें पैदा हो सकती हैं, इसका अनुमान तुम नहीं लगा सकते।"

आठ दिनों बाद एक दिन शशी सवेरे आयी ही नहीं। हर रोज़ सवेरे उठकर श्रीधर फर्ग्युसन रोड से विद्यापीठ मार्ग जाता था, और उसी वक़्त शशी वहाँ अपनी गाड़ी लेकर मौजूद रहती। फिर वहाँ से वह दोनों कहीं निकल जाते थे। कभी शाम के वक़्त मिलने का कार्यक्रम वनातें।

उस दिन श्रीधर सवेरे घण्टा भर वहाँ खड़ा रहा। आने-जाने वाली हर सफ़ेद गाड़ी को घूरता हुआ। लेकिन शशी आयी ही नहीं।

एक बार उसे लगा उसके घर जाकर देख आये। फिर याद आया कि कल शाम निकलते वक़्त उसने कोई वादा तो नहीं किया था। उसको कोई ज़रूरी काम

निकला होगा, यही अपने आपको मन-ही-मन समझा कर वह हमेशा की तरह कहीं घूमने का अपना कार्य क्रम बदलकर छात्रावास लौट गया। पूरे दिन वह बेचैन रहा। परीक्षा सिर पर आकर खड़ी थी लेकिन पढ़ाई में उसका मन नहीं लग रहा था। छात्रावास में उसके कमरे का दरवाज़ा अगर हवा से बजता था, बाहर के कॉरिडार में किसी के क़दमों की आहट होती तो उसे ऐसा लगता कि शशी ही आयी होगी। आखिर में ऊबकर वह ग्रन्थालय चला गया। वहाँ भी बाहर किसी कार के रुकने की आवाज़ आती तो उसे आभास होता कि शशी ही आयी है। दूर से किसी लड़की को आती देखकर भी उसे शशी का रूप उसमें नज़र आता और वह झट से उठकर उसकी दिशा में चल पड़ता लेकिन उस लड़की के बिल्कुल क़रीब आने पर पता चलता कि उसमें और शशी में तनिक भी साम्य नहीं है, फिर वह झेंप जाता। एकाएक उसे खयाल आया कि शशी ग्रन्थालय क्यों आएगी ? अगर आती है वह तो छात्रावास ही आएगी और वहाँ पर तो मैंने कोई सन्देश रख नहीं छोड़ा है। यह विचार आते ही श्रीधर उठ खड़ा हुआ और छात्रावास लौट आया। उसने अच्छी तरह चौकीदार से पूछ लिया। कमरे में वापस जाते वक़्त जो भी मिला उससे पूछा कि उससे मिलने कोई आया तो नहीं था ! कमरे में जाकर सामने पुस्तक रखकर वह स्तब्ध बैठा रहा। बार-बार खिड़की के पास जाकर बाहर देखता रहा, सिगरेट पीता रहा।

इस तरह काफ़ी समय बीतने के बाद श्रीधर को अपने आप पर हँसी आने लगी। मुझे क्या हुआ है ? पूरी ज़िन्दगी में वह इस क़दर अस्त-व्यस्त कभी नहीं हुआ था और केवल हफ़्ते भर में ही एक लड़की ने उसकी दुनिया उलट-पुलट कर दी थी, उसे इस बात से आश्चर्य हुआ। क्या यही प्रेम है ? दूसरे किसी व्यक्ति के लिए वह इतना पागल नहीं हुआ था। यह एक अलग ही तरह की अस्वस्थता और बेचैनी थी। और फिर उसे खयाल आया कि इस सब चक्कर में वह अपनी सनातन बेचैनी पूरी तरह भुला चुका है—यह अवस्था बहुत तरल और मनोरंजक थी।

यह विचार मन में आते ही श्रीधर को किंचित् धक्का लगा। क्योंकि अचानक उसे यह एहसास हुआ कि यह सब उसके मन का जान-बूझकर चलाया हुआ खेल है। उसका तटस्थ मन एक ओर खड़ा रहकर बड़े मज़े से यह तमाशा देख रहा है। उस तटस्थ मन की वह सनातन वेदना अब भी उसके मन में चुभ रही हैं। फिर भी यह जो विलक्षण आस, यह मीठी अधीर अवस्था, मैंने जान-बूझकर अपने आप पर लाद ली है, यह अपने हृदय से निकला हुआ खिंचाव नहीं है। मैं किसी भी वक़्त स्वयं को इस अवस्था से बाहर निकाल सकता हूँ। और उस समय केवल एक स्वप्नरंजन के खत्म होने से ज़्यादा मुझे दुःख नहीं होगा। कुछ भी फ़र्क़ न पड़ते हुए, मेरा जीवन-क्रम वैसे ही चलता रहेगा, उसी चुभनेवाली बेचैनी के साथ। श्रीधर सुन्न

हो गया। फिर उसे लगा कि उसके हाथ में एक ही चीज़ थी, यह खेल ऐसे ही जारी रखकर तटस्थता से उसका निरीक्षण करना।

रात को जब उससे रहा नहीं गया तब बारह बजे के क़रीब श्रीधर छात्रावास से बाहर निकला। रास्ते में रिक्शा मिल नहीं रहा था। वह पूरा लम्बा रास्ता चलकर शशी के बँगले के पास आया।

उस वक़्त कहीं कोई चौकीदार दो बजने का संकेत दे रहा था। शशी के बँगले से वह बिल्कुल ही अपरिचित था। सिर्फ़ कुछ दिन पहले उसने उसे उस गेट के बाहर छोड़ा था। बस उसका परिचय वहीं तक सीमित था। बिजली के खम्भों की मद्धिम रोशनी में भी श्रीधर को वह प्रवेश-द्वार ढूँढ़ना मुश्किल नहीं लगा। प्रवेश-द्वार फौलादी था। अन्दर वृक्ष और लताओं से भरी पड़ी सँकरी पगडण्डी-सी मुड़कर जा रही थी। अन्दर के अँधेरे में और पेड़-पत्तों के झुरमुट में उस बँगले का कोना भी ठीक से नज़र नहीं आ रहा था। श्रीधर अपने आप को भूलकर कुछ देर तक प्रवेश-द्वार के पास खड़ा रहा। इस सन्देहास्पद स्थिति में अगर कोई उसे देखेगा तो चोर समझकर उसे पकड़ लेगा या डाँट-डपट देगा—जैसी आशंकाएँ उसके मन में नहीं आयीं। बल्कि उस क्षण उसके मन में कोई कोलाहल नहीं था। सिर्फ़ एक ही बात-की धुन सिर पर सवार थी कि शशी—इस क्षण वह क्या कर रही होगी ? उस तक कैसे पहुँचा जाए ? बँगला कितना बड़ा होगा ? उसका कमरा कौन-सा होगा ? श्रीधर कुछ नहीं जानता था। श्रीधर ने वह मजबूत प्रवेश-द्वार धकेलने की कोशिश की, लेकिन उसमें ताला लगा हुआ था। उस पर चढ़कर अन्दर उतरना कोई आसान काम नहीं था और फिर श्रीधर की सम्मोहन अवस्था सम्पूर्ण नहीं थी इसलिए उसका साहस नहीं हुआ, या फिर उसका विचार उतना सशक्त नहीं था। वह वहीं पर खड़ा रहकर सिगरेट पीता रहा। कोई हलचल न करते हुए, सड़क-की तरफ़ पीठ फेर कर एक रिक्शा जब धड़धड़ाता हुआ उसके पास से गुज़रा तो उसे पता चला कि सिगरेट से उसका हाथ जल रहा है। उसने सिगरेट फेंक दी और सामने वाली सड़क पर चल पड़ा।

श्रीधर ने देखा कि दो पेड़ों-के बीच में बँगले की पहली मंज़िल पर बड़ी-सी खिड़की के काँच दूधिया रंग की रोशनी में चमक रहे हैं। श्रीधर जेब में हाथ डाल कर कुछ देर तक उन्हें देखता रहा। वहाँ उसने एक और सिगरेट जलायी। क्या वह कमरा शशी का हो सकता है ? कमरे के बाहर शायद बाल्कनी थी। चमकदार काँचों की पार्श्व-भूमि पर वह जो काली आकृति नज़र आ रही है, वह बाल्कनी का नक्काशीदार खम्भा है या किसी वृक्ष की टहनी ? कोई बेला या शशी ? श्रीधर कुछ नहीं समझ पाया। सड़क के एक किनारे खड़ा रहकर वह बारीक़ी से उस अस्पष्ट आकृति को घूरता रहा। हवा चल नहीं रही थी। पेड़ का एक भी पत्ता हिल नहीं

रहा था और वह आकृति भी स्तब्ध और निश्चल थी। वह शशी ही होगी। उसका ध्यानाकर्षण करने के लिए श्रीधर ने अपने दोनों हाथ उठाकर ज़ोर से हिलाये, लेकिन इस प्रयास का कोई फल नहीं निकलने वाला था यह वह जान चुका था, क्योंकि वह जहाँ खड़ा था, वह सड़क का कोना पूर्ण अन्धकार में था। थोड़ी देर तक रुककर वह वँगले की सीमाओं का समान्तर चक्कर काटता रहा। ऐसे दो-तीन चक्कर काटने के वाद चौथी वार जव वह प्रवेश-द्वार के पास पहुँचा तो वहाँ शशी खड़ी थी।

"यह क्या, श्रीधर तुम ? इस वक़्त तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?" उसे देखत ही शशी ने कहा, उसके स्वर में तनिक भी आश्चर्य नहीं था।

"तुम्हारा ही इन्तज़ार कर रहा था।"

"लेकिन इस वक़्त ?"

"उसमें कौन-सी वड़ी वात है ? और आखिर तुम आ ही गयीं···।"

"हाँ। लेकिन यह तो मेरा रोज़ का वक़्त है।"

"क्या वजा है ?"

"पाँच वज रहे हैं ?" शशी ने अपनी कलाई पर वँधी घड़ी देखकर कहा।

श्रीधर को खुद आश्चर्य हुआ। उसे लगा अभी-अभी तो मैंने दो वजे की घण्टी सुनी थी··· वीच के यह तीन घण्टे न जाने कैसे गुज़र गये ! श्रीधर को हँसी आ गयी और उसने तटस्थता से पूछा, "कल क्यों नहीं आयी ?"

प्रवेश-द्वार का ताला खोलते हुए शशी ने कहा, "पहले तुम अन्दर तो आओ। वाहर वहुत ठण्ड है और तुमने कुछ पहन भी नहीं रखा है। कव से खड़े हो इस तरह ?"

"दो वजे से।"

"ओ माँ !" उसका हाथ पकड़कर उसे अन्दर ले जाती हुई शशी वोली, "अरे तुम्हारा वदन तो तप रहा है श्रीधर, अन्दर चलो।"

शशी ने अपना कार्डीगन उतार कर उसके कन्धे पर डाल दिया। प्रवेश-द्वार वन्द किया और उसे लेकर वह वँगले के अन्दर चल पड़ी। वह पुराना वँगला था, अँग्रेज़ों के वक़्त का वना हुआ। घोड़ा-गाड़ी रोकने के लिए सामने वड़ा पोर्च था। अब श्रीधर ने महसूस किया कि भोर की वेला में पक्षियों का चहकना शुरू हो गया है। ठण्डी हवा से उसका सर्वांग थरथरा रहा था। शशी ने अपना एक हाथ उसके कन्धे पर लपेट रखा था। पोर्च के वाद वड़ा-सा वरामदा था और दोनों तरफ कमरों के दरवाज़े थे। सामने वाला वड़ा दरवाज़ा वैठक में खुलता था। वह शशी ने धक्का देकर खोला। अन्दर के अँधेरे में हॉल की प्रशस्तता दिखाने के लिए केवल रात्रि की एक हल्की वत्ती एक कोने को उजागर कर रही थी। शशी साथ वाले वड़े जीने से श्रीधर को ऊपर ले गयी। शायद वही शशी का कमरा था। उसने श्रीधर को विस्तर

में सुलाया और उसके वदन पर गरम मुलायम चादर डालती हुई वह बोली, "अव दो मिनट यहाँ से हिलना मत। तुम्हारे लिए कॉफी वनाकर लाती हूँ।"

शशी जल्दी-जल्दी से चली गयी और श्रीधर उस गरम बिस्तर में निढाल होकर पड़ा रहा। क्षणार्ध में वह कॉफी लेकर आ गयी। उसने श्रीधर को एक गोली खिलायी। कॉफी लेने के वाद उसे ज़रा ठीक लगा।

"मुझे लगा था, तुम कम-से-कम वाहर की घण्टी तो वजाते।" उसे तरोताज़ा होते देखकर शशी ने कहा।

"मतलब तुम्हें लगा था, मैं आऊँगा ?"

"लगा था ? मुझे पक्का पता था। सिर्फ़ यही लगा था कि कल तुम ज़रूर आओगे। मैं तो तुम्हारी कल शाम से प्रतीक्षा कर रही थी।"

श्रीधर हँस दिया।

"सो जाओ अब।" शशी ने कहा।

"कल परीक्षा है।"

"चलो फिर तुम्हें छात्रावास छोड़ आऊँ।"

भोर के मन्द प्रकाश में शशी ने जब अपनी फियट सड़क पर निकाली तव श्रीधर को बहुत हल्का लग रहा था। उसे लग रहा था कि जैसे वह कोई सपना देख रहा है।

"क्या घर पर कोई नहीं है ?" श्रीधर ने पूछा।

"हैं। सभी हैं। लेकिन दादा जी सुबह नौ वजे से पहले उठते नहीं हैं। पीछे की तरफ हमारा खानसामा और माली अपने परिवारों के साथ रहते हैं, वह अव तक जाग चुके होंगे।"

"कल सुवह क्यों नहीं आयी थीं ?"

"मैंने सोचा, तुम्हारी परीक्षा के दिन हैं। तुम्हारा मन भटकना नहीं चाहिए।"

"फिर भी तुम शाम को मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। तुम्हें इस वात का पूरा यक़ीन था कि मैं तुम्हें मिलने आ जाऊँगा...।"

इस तर्क पर बिना कुछ बोले शशी खिलखिलाकर हँस पड़ी। हँसते-हँसते ड्राइविंग करना मुश्किल हो गया इसलिए उसने एक तरफ गाड़ी खड़ी कर दी और जी भरकर हँस लिया। फिर झटके से उसका मुँह अपनी तरफ फेरकर उसने श्रीधर के होठों को चूमा और गाड़ी फिर से शुरू करती वह बोली, "प्रॉमिस ! तुम्हारी परीक्षा खत्म होने तक अब हम एक-दूसरे से नहीं मिलेंगे। लेकिन नहीं ...वह तो और भी क्लेशदायक और ग़लत होगा। इससे तो अच्छा होगा कि रोज़ सवेरे उसी समय पर मैं वहाँ आती रहूँगी। लेकिन सिर्फ़ पन्द्रह मिनट के लिए। मैं तुम्हारा ध्यान पढ़ाई से हटाना नहीं चाहती।"

छात्रावास लौटने के बाद थोड़ी देर सो-कर श्रीधर गम्भीरता से पढ़ाई में जुट गया। एक बात अब वह समझ चुका था कि कल दिनभर और रातभर वह जो सम्मोहित-सा हो गया था, वह अपने आप नहीं, वह शशी के सम्मोहन का प्रभाव था। कल सुबह जो आँख खुली थी, वह पूर्ण विचार और हिसाब करने के बाद और कल रात और दिन वह भी जाग ही रही होगी केवल मुझे याद करते हुए और अनजाने में उसकी तरफ सम्मोहन की सन्देश लहरें भेजती हुई—यह जब समझ में आया, तो श्रीधर को अच्छा लगा, उसका आत्मविश्वास बढ़ा, और दूसरे ही क्षण यह भी लगा कि ऐसा क्यों होना चाहिए। मुझे अपनी तटस्थता पर इतना गर्व क्यों होना चाहिए। सब कुछ छोड़-छाड़कर तन-मन-धन से शशी से भरपूर और सम्मोहित होकर प्रेम करने में हर्ज ही क्या है ? उसमें क्या ओछापन है ? कल की वह मानसिक अस्त-व्यस्तता और सम्मोहन मेरा स्व-निर्मित नहीं बल्कि शशी के प्रभाव का फल है, यह समझ में आने पर मुझे इतनी खुशी क्यों हो रही है ?

पच्चीस

एकाध महीने भर की उथल-पुथल होने के बाद श्रीधर और शशी का नाता एक नियमित लय में चल पड़ा। एक-दूसरे को पूरी तरह अपने वश में करनेवाला शिखर तो आनेवाला ही था। सच तो यह था कि श्रीधर और शशी एक-दूसरे से जीवन के बहुत सही मोड़ पर मिले थे। वह स्नातक बनने वाला था, जिसके बाद आगे क्या करना है, के प्रश्चचिह्न का सामना उसे करना ही था। परीक्षा के बाद पूर्व पाकिस्तान के निराश्रितों की छावनियों में जाने का श्रीधर का निर्णय इसी दिशा में था। तब तक उसकी पढ़ाई में भी काफ़ी प्रगति हो चुकी थी। पढ़ाई के साथ-साथ उसने तात्त्विक अध्ययन भी बड़े ज़ोर से शुरू किया था। सैद्धान्तिक और विज्ञान-विषयक वाङ्मय में भी उसकी रुचि बढ़ रही थी, विश्वम्भर से प्राप्त मार्क्स की पुस्तकों के कई पारायण उसने किये थे। मार्क्स और एंगल्स के कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो ने उसे हिलाकर रख दिया था। नेहरू के आत्मचरित्र से तथा अन्य पुस्तकों से वह काफ़ी प्रभावित हुआ था। महात्माजी की आत्मकथा, स्वातन्त्र्यवीर सावरकर की पुस्तक के साथ-साथ उसने भगवत्गीता, बाईबल और कुरान भी पढ़ डाले थे। कृष्णमूर्ति के भाषणों से जो थोड़ी-बहुत उदासीनता आयी थी, वह तिलक के

गीतारहस्य ने हटा दी। जटिल आध्यात्मिक प्रश्नों के साफ़ उत्तर देकर मनुष्य को कर्तव्यप्रवण करनेवाला ग्रन्थ, वह कइयों से पढ़ने के लिए कहने लगा। कॉलेज तथा विद्यापीठ के ग्रन्थालयों से अधिकांश जगमान्य लेखक उसने पढ़ लिये और राजनीति भी।

इस तरह के अध्ययन और शशी के साथ की वजह से श्रीधर के व्यक्तित्व में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, ऐसा कह सकते हैं। विद्यापीठ की गतिविधियों में वह दिलचस्पी लेने लगा। लड़के-लड़कियों से दोस्ती बढ़ाने लगा। आन्दोलन की तरफ उसका झुकाव बढ़ने लगा। मैं कौन हूँ, किसलिए जीता हूँ—जैसे प्रश्नों की तीव्रता कम सताने लगी। जीवन के प्रयोजन से सम्बन्धित आशंकाएँ कम होने लगीं। क्योंकि समस्त सृष्टि और समाज यही परमेश्वर है, उसकी सेवा करना, दुःख, दरिद्रता, दैन्य, अन्याय, शोषण, विषमता आदि से जूझना यही अपने और हर-एक के जीवन का सच्चा अर्थ हो सकता है—ऐसा उसे लगने लगा और इसीलिए परीक्षा के बाद तुरन्त उसने पूर्व भारत की तरफ प्रस्थान किया। वह शशी ने भी बड़ी सूझ-बूझ के साथ स्वीकार किया था। वह खुद भी उसके साथ जाने की इच्छुक थी लेकिन अपने दादाजी को आसानी से पीछे अकेला छोड़ा जाना उसके लिए असम्भव था।

जाने से पहले श्रीधर ने जगत को पत्र लिखा—यह जानते हुए भी कि वह पूर्व बंगाल की सीमा पर अत्यधिक व्यस्त होगा—

"मैं नहीं जानता कि यह पत्र तुम तक पहुँचेगा भी या नहीं। लेकिन फिर भी लिख रहा हूँ। तुम जिस हिस्से में हो, मैं भी उसी में आ रहा हूँ, सम्भव हुआ तो तुम्हारे यूनिट के बारे में पता लगाकर मिलने की कोशिश करूँगा, खैर वहाँ की स्थिति बहुत खराब है, यह तो मैं जानता हूँ। निराश्रितों की छावनी में काम करने के लिए मेरे कुछ स्वयंसेवक मित्र वहाँ गये हैं। उनके पत्र का वर्णन पढ़ता हूँ तो बदन के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी जाने का साहस कर रहा हूँ।

पत्र लिखने का एक और कारण—तुमने एक बार अपनी चिट्ठी में लिखा था कि सेना का और आनन्ददायी श्रम का भी अपना ही नशा होता है, जिसके उत्तर में मैंने यह कहा था कि मुझपर तो किसी भी चीज़ का कोई भी नशा बिल्कुल नहीं चढ़ सकता। लेकिन अब मैं ऐसा नहीं कह सकता। इन दिनों मैं एक अत्यन्त उत्कट लड़की में उलझा हुआ हूँ। यह नहीं कहूँगा कि उससे प्रेम करता हूँ, क्योंकि प्रेम क्या चीज़ है, यह मैं नहीं जानता और मैं सामाजिक आन्दोलनों में भी सक्रिय हिस्सा ले रहा हूँ। समाज और सृष्टि को ही ईश्वर मानकर काम किया जाय तो अस्तित्व को कुछ अर्थ प्राप्त होता है। इस जग के प्रयोजन से सम्बन्धित और अस्तित्व के अर्थ को लेकर उठनेवाले तमाम सवाल भी फिर कहीं दूर चले जाते हैं। नशा चढ़ नहीं सकता। तटस्थता भी जा नहीं सकती। लेकिन सन्तोष की दिशा में मार्गक्रमण

अवश्य कर रहा हूँ।"

उसके वहाँ जाने से पहले हफ़्ते भर शशी और वह दिन भर साथ घूमते रहे। दोनों एक-दूसरे की उत्कटता जान गये थे। दोनों की भावनात्मक पार्श्वभूमि समान्तर थी लेकिन आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति में महज अन्तर था।

"हमारे वीच जो रिश्ता है उसे तुम क्या नाम दोगी ?" एक बार श्रीधर ने गम्भीरता से पूछा।

श्रीधर जव गम्भीरता से ऐसे सवाल उठाता था तो शशी उसका हल्का-फुल्का मज़ाक़ वनाकर टाल देती थी।

"मैं कुछ भी कहना नहीं चाहती।" उसने हँसते हुए कहा। "हमारे एक साथ होने की स्थिति कों किसी परिभाषा में विठाने की क्या आवश्यकता है?"

"फिर भी, समाज उस रिश्ते को क्या नाम देगा ?"

"कुछ भी दे, मुझे उससे क्या लेना-देना ?"

श्रीधर अचम्भे में पड़ गया। शशी उत्कटता से श्रीधर को चाहती थी। और श्रीधर को भी शशी का साथ आनन्ददायी लगता था। क्या प्रेम यही है? जो प्रोफेसर शास्त्री को या धनंजय को अभिप्रेत था ? कृष्णमूर्ति द्वारा वताया गया प्रेम तो यह निश्चित नहीं है। तो यह फिर क्या है ?

"क्या तुम इसे प्रेम कहोगी ?" श्रीधर ने किंचित् अधीरता से पूछा।

शशी खिलखिलाकर हँस पड़ी। और फिर अचानक वहुत गम्भीर हो गयी। उसकी आँखें सजल हो उठी थीं।

"प्रेम···प्रेम क्या लेकर वैठे हो तुम श्रीधर ?" शशी ने आवेग से कहा, "हमारे रिश्ते को इन क्षुद्र शव्दों से मैला न करो। वह जो हम दोनों के बीच है, वह प्रेम से भी गम्भीर, वहुत गहरा और सनातन है। वह तुम्हें शायद कभी वाद में समझ आएगा। मेरा भी यह दावा नहीं है कि उसे मैं पूरी तरह से जान पायी हूँ। लेकिन एक वात याद रखना, हम दोनों के वीच जो यह वन्धन है वह अटूट है। तुम पूर्व पाकिस्तान की सीमापर जाओ या फिर चाँद पर। मैं हर पल तुम्हारे साथ रहूँगी और तुम भी हमेशा मेरे साथ रहोगे···" कहते-कहते शशी के चेहरे पर फिर वही सुन्दर मुस्कान उभरी और फिर बाद में तो वह हँस पड़ी और फिर अल्हड़पन से पूछने लगी, "आयी बात समझ में ?"

श्रीधर ने देखा कि कृष्णमूर्ति के उस आखिरी भाषण के बाद आठ-दस दिन उत्कट आवेग से सम्मोहित शशी अब कितनी मुग्ध और शान्त हो गयी है। मेरी भी वह विलक्षण सम्मोहित अवस्था अव कम हुई है और अव एक निश्चल शान्त वृत्ति प्राप्त हुई है। शुरू के कुछ दिनों में एक-दूसरे के शरीर स्पर्श के लिए, सुगन्ध के लिए, तरसने वाले वह दोनों अब एक-दूसरे को स्पर्श तक न करते हुए घण्टों तक

तन्मयता से वातें कर सकते थे।

श्रीधर पुणे से पहले बम्बई आया और फिर वहाँ से कलकत्ता। आगे की व्यवस्था विश्वम्भर ने की थी। जब वह कलकत्ता से पचास मील दूर निर्वासितों की छावनी में पहुँचा तो उस छावनी का विश्व रूप-दर्शन देखकर दंग रह गया। उसे वहीं पर धनंजय भी मिला। धनंजय की दाढ़ी वढ़ गयी थी, वह बहुत दुबला हो गया था। उसके सर्वांग पर फुंसी निकल आयी थीं और उन्हीं दिनों वह संग्रहणी का शिकार हो चुका था।

श्रीधर को जिस छावनी पर नियुक्त किया गया था उसके अन्दर निराश्रितों की संख्या के विभिन्न अन्दाज़ थे। वड़े मैदानी प्रदेश में दूर तक फैले तम्बू और टीन की झोंपड़ियों की एक दरिद्र महानगरी ही जैसे वहाँ स्थापित हुई थी। दर्जनों स्वयंसेवी संस्थाएँ वहाँ कार्यरत थीं। पंजीकृत संस्था का स्वयंसेवक प्रतिनिधि बनकर वहाँ पहुँचने पर उसके निवास और भोजन का इन्तज़ाम हो गया था। जो सचमुच काम करना चाहता है उसके लिए दिन के चौवीस घण्टे अपर्याप्त हैं, यह स्थिति थी।

लकड़ी की तरह सूखे-सूखे, अर्धनग्न अवस्था में स्त्री-पुरुष, बूढ़े, फूले हुए पेट के और हाथ-पैर सूखे हुए रोगग्रस्त बच्चे, गन्दगी, विष्ठा, दवाइयों और खाने-पीने के सम्मिश्र दर्प। किसी भी वक़्त किसी भी बीमारी के फैलने की आशंका का वातावरण। डॉक्टरों के कई दल रोगप्रतिबन्धक टीके लगाते हुए और विटामिनों की गोलियाँ वाँटते फिर रहे थे। अनाज, कपड़ा-लत्ता और बर्तन आदि वाँटने वाली गाड़ियाँ, सभी का सम्मिश्र कोलाहल। भला कौन कह सकता है कि मनुष्य के जीवन की भी कोई क़ीमत है।

धनंजय की सेवा-शुश्रूषा का जिम्मा भी श्रीधर पर आया। वीमारी को फैलने से रोकने के लिए धंनंजय को एक अलग तम्बू में रखा गया था। उसका शरीर पोंछना, विष्ठा से भरा विस्तर साफ़ करना, उसके कपड़े निर्जन्तुक करके धोना, उसका मलमूत्र दूर ले जाकर कहीं ज़मीन में गाड़ना, समय पर दवाइयाँ देना—जैसे काम श्रीधर ने मनःपूर्वक किये। सच में तो धनंजय को कलकत्ता के अस्पताल में भर्ती कराना आवश्यक था, लेकिन छावनियों की संख्या कुछ इस तरह से बढ़ रही थी और समस्याएँ भी इतनी भयावह थीं कि सेवा-संस्थाएँ, रेड-क्रॉस, सरकार और सेना द्वारा किये गये प्रयास भी अपर्याप्त लग रहे थे। धनंजय को कलकत्ता ले जाने के लिए वाहन की प्रतीक्षा में एक हफ़्ता निकल गया लेकिन उस दौरान वह ठीक-ठाक हो गया। उस एक हफ़्ते की कालावधि में श्रीधर को भी अच्छा प्रशिक्षण मिल चुका था। उन हालातों में नाक, जीभ और आँखों का अतिसंवेदनशील होना अत्यन्त असंस्कृतता का प्रमाण है—यह उसका पहला सबक था। जिसका मन अधिक संवेदनशील है और हृदय करुणामय है, उसके लिए शारीरिक संवेदनाएँ कोई महत्त्व

नहीं रखतीं, यह उसने देख लिया था।

कैम्प में एक स्वयंसेवक ने उसे सिर्फ़ धनंजय के तम्बू के वाहर लाकर छोड़ दिया। श्रीधर वस इतना जानता था कि धनंजय अस्वस्थ है। विश्वम्भर से अभी मुलाक़ात नहीं हो पायी थी और धनंजय का एक मित्र आया है इतना पता चलने के वाद उस संस्था के संघटक ने चैन की साँस ली थी। 'पहले तो तुम अपने मित्र को संभालो' कहकर उसने उसे धनंजय के तम्बू में भेज दिया था।

श्रीधर ने तम्बू में झाँक कर देखा और कुछ ऐसा झटका खाकर दो क़दम पीछे हटा जैसे किसी ने उसके गाल पर करारा चाँटा मारा हो। और फिर वहीं पर वैठकर उसने ज़ोर से उलटी की। धनंजय के तम्बू से आनेवाली दुर्गन्ध से उसके पेट में खलवली-सी मच गयी थी। पेट खाली होने पर उसने साथ वाले केन्द्र पर जाकर अच्छे से मुँह-हाथ धोया और वड़ा साहस जुटाकर वह उस पाँच फीट के तम्बू के अन्दर झाँका। मलमूत्र से वुरी तरह सनी हुई धनंजय की आकृति एक मोटे-से खुरदरे कपड़े पर कराहती पड़ी थी। उस कैम्प के व्यस्त कार्य और व्यवस्थापन में जैसे उसे अन्य लोग भूल ही गये थे। अगर श्रीधर न आता तो कल सुवह स्वयंसेवक या मदर टेरेसा की नर्स का चक्कर लगाने तक उसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं जाता।

श्रीधर को पहले तो घिन आ गयी। मानव-शरीर से घृणा हो गयी। स्वयं से घृणा हुई और लगा कि यहाँ से भागकर वह फ़ौरन पुणे चला जाये। मानव-शरीर यानी गन्दगी का भण्डार। फिर उसे अपने आप पर लज्जा आयी। अन्दर तम्बू में गन्दगी से सनी दुवली क्षीण देह धनंजय की थी। वह धनंजय जिसे उसने पिछले सात-आठ वर्षों से एक नीरोग, हँसमुख, हर वक़्त किसी न किसी काम में, आन्दोलन में लगा हुआ देखा था। अव उसे श्रीधर की थोड़ी-सी मदद की आवश्यकता थी और अगर वह मदद नहीं करेगा तो शायद धनंजय अपने प्राणों से भी हाथ धो वैठे···और मैं हूँ कि यहाँ से किसी तरह भाग निकलने की सोच रहा हूँ !

साहस कर श्रीधर उठा । गले में उठती मतली को दवाकर रखने के लिए उसने अपनी नाक पर रूमाल वाँध लिया, फिर कचहरी से लायी ग्लूकोज़ और इलेक्ट्रॉल के पानी की वोतल थैले में से निकालकर धनंजय के पास गया, धनंजय आँखें मूँदकर कराह रहा था।

"धनंजय···धनंजय, आँखें खोलो। मुझे देखो, मैं आया हूँ, मैं श्रीधर···"

धनंजय ने आँखें खोलीं। लेकिन ज्वर की तेजी से शायद उसने श्रीधर को नहीं पहचाना था।

"पानी···" उसने क्षीण स्वर में कहा।

दुर्गन्ध के झटके सहते हुए श्रीधर ने धनंजय को चम्मच से वूँद-वूँद से वह दवाई का मिश्रण घण्टा भर पिलाया और बोतल खाली की। तव कहीं धनंजय की आँख

लगी । श्रीधर कहीं से एक बाल्टी पानी ले आया। धनंजय को निद्रित स्थिति में ही उसने ठीक से धोया। उसके कपड़े बदले, उसका बिस्तर वदला। दूर के किसी गड्ढे में वह कपड़े फेंककर आया और उस पर उसने मिट्टी डाल दी, सारे तम्बू की सफ़ाई की। फिर उसने एक बार और धनंजय को ग्लूकोज़ और नमक का घोल पिलाया।

दो दिन तक अथक परिश्रम करते हुए श्रीधर धनंजय की देखभाल करता रहा। धनंजय ने कई बार मलमूत्र त्याग कर फिर गन्दगी फैलायी लेकिन हर वार श्रीधर ने वह साफ़ की। कुछ ही घण्टों में उसने देखा कि उसकी नाक के मज्जातन्तु सो चुके थे। अड़तालीस घण्टों के वाद धनंजय की संग्रहणी रुकी और वह गहरी नींद में सो गया। उसके वाद ही श्रीधर सो सका। तीसरे दिन बम्वई का एक डॉक्टर धनंजय को आकर देख गया और श्रीधर को आश्वस्त कर गया कि अब धनंजय खतरे से वाहर है। उस दिन श्रीधर ने शशी को पत्र लिखा—

"सिर्फ़ तुम्हीं को लिख रहा हूँ। अन्य किसी से भी मैं यह वल्गना—कर सकता। एक जीवन बचाने में कितना आनन्द है, इसका अनुभव मैंने किया, सिर्फ़ मेरे कारण यह जान बची। दो आँखें, नाक, कान, हाथ, पैर, धड़कता हृदय, मन, दिमाग़, इतिहास और भविष्य से आकांक्षाएँ रखनेवाला एक जीवन, केवल मेरे कारण वचा यह कहना शायद धृष्टता होगी। लेकिन फिर भी इस सन्तोप के लिए कह रहा हूँ। यह एक नया, अनूठा और अलग ही तरह का सन्तोप है ..."

अर्थात् उस जान का नाम धनंजय है, यह वस्तुस्थिति श्रीधर ने कारणवश शशी को नहीं वतायी थी। चौथे दिन जव धनंजय की ऑख खुली तो उसने अपने शरीर पर साफ़ कपड़े देखे, उसे हल्कापन और ताज़गी का अनुभव हो रहा था। श्रीधर को देखकर उसकी आँखों में आँसू छलछला आये।

"मरते-मरते तुमने वचा लिया..." उसने कहा।

"नहीं। मैंने क्या किया ? वह तो तुम्हारी इच्छाशक्ति थी..."

"नहीं ! नहीं ! मैं तो सोच रहा था कि मैं खत्म हो गया। सचमुच, मैंने तो जीने की आशा ही छोड़ दी थी। उस ग्लानि में तुम्हारे चेहरे को देखा था, याद है। और तभी मुझे विश्वास हो गया था कि अव मैं जी जाऊँगा।"

श्रीधर ने धनंजय का अशक्त हाथ अपने हाथों में लिया और वह उसे हल्के से छेड़ते हुए वोला, "तुम्हें लगता है, मेरी दी दवाओं से तुम बच गये ? लेकिन मैं कुछ और सोचता हूँ। मुझे लगता है, तुम अपनी इच्छाशक्ति के बल पर जी पाये इसलिए कि तुम्हारी जीवन पर 'आस्था' है। दवाई की शक्ति से बढ़कर जो शक्ति है वह है आस्था आत्मविश्वास, यानी तुम्हारी इच्छाशक्ति।"

धनंजय ने तनिक मुस्कराकर अपना हाथ छुड़ा लिया और मात्र इतना ही कहा,

"तुम मुझे इस तरह जाल में मत फँसाओ।"

पाकिस्तानी सेना की अमानुष क्रूरता और बर्बरता की हृदय-विदारक कहानियाँ निराश्रितों से सुनकर बदन के रोंगटे खड़े हो जाते। इन्सान की इन्सानियत से विश्वास उड़ाने वाली कहानियाँ, माँ-बापों से बिछुड़े बच्चों के भयानक अनुभव, युवा-अधेड़ उम्र की महिलाओं पर हुए अत्याचार, श्रीधर रोज़ सुनता और तम्बू में सारी-सारी रात करवटें बदलता बिता देता। राजशाही विभाग से गंगा पार करके आये एक वृद्ध की आप-बीती कुछ इस प्रकार थी। उसका गाँव मुक्तिवाहिनी की मदद करता था इसलिए पाकिस्तानी सैनिकों ने उस गाँव को चारों तरफ से घेर लिया। स्त्रियों और बच्चों को अलग कर दिया, सभी पुरुषों को गंगा किनारे खड़ा करके गोलियों से उड़ा दिया। कई मर गये…कइयों ने मरने का नाटक किया…जिनमें यह वृद्ध भी था। मुर्दों के ढेर रचाकर उनपर पेट्रोल डालकर जलाया गया। बूढ़ा चिल्लाता उस गढ़े से बाहर निकला और गंगा में कूद गया। ऐसे न जाने कितने लोग जलते मुर्दों के ढेर से बाहर भाग निकले। बूढ़े की पीठ जल चुकी थी। एक लड़की और थी। वह सुबह जंगल में चली गयी। दोपहर में लौटी तो सारा जंगल राख हो चुका था। एक भी बन्दा बचा नहीं था। उसके परिवार के अन्य लोग कहाँ हैं, यह वह अभी तक नहीं जानती। हर-एक परिवार की अपनी तरह से विचित्र कहानी । मानवता की शोक-कथा सुनानेवाली…सच मनुष्य ऐसा बर्ताव कैसे कर सकता है ! जंगली जानवर भी बिलावजह एक-दूसरे को नहीं छेड़ते। श्रीधर चकरा गया था। ऐसी कई कहानियाँ वह सुन-सुनकर थक जाता था। फिर उसने उस अस्पताल में काम करना बन्द किया और धनंजय को पाकी सैनिकों के क्रूर अत्याचार की वही कहानियाँ सुनाने से मना कर दिया। बीमारी से उठने के बाद धनंजय दुगुने उत्साह से काम में लग गया । उसका चारों तरफ संचार होता था। पुणे के एक समाचार-पत्र को हर हफ़्ते सीमा से वार्ताएँ भेजने का जिम्मा उसने लिया था। इधर-उधर घूमकर, निराश्रितों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करके और कभी मुक्तिवाहिनी के अस्पताल में दाखिल सैनिकों से, कभी भारतीय सुरक्षा दल के सैनिकों से, वह अत्याचार व छल की कहानियाँ इकट्ठी करता, उसका हर वार्तापत्र बदन पर रोंगटे खड़े कर देनेवाली कम-से-कम एक अत्याचार की भयानक कहानी हुआ करती थी। वार्तापत्र लिखने के बाद श्रीधर को वह सबसे पहले सुननी पड़ती।

"तुम इतनी भयानक और डरावनी कहानियों से भरा वार्तापत्र क्यों लिख भेजते हो ?" एक दिन ऊबकर श्रीधर ने पूछा, "यह तुम्हारे वार्तापत्र या तो सम्पादक छापेंगे नहीं और अगर छापेंगे भी तो उन्हें पढ़कर लोगों की नींद उड़ जाएगी और अखबार की बिक्री पर बहुत बुरा असर होगा।"

"बिलकुल ग़लत।" धनंजय मुस्कराता हुआ बोला, "ऐसे वार्तापत्र सम्पादक

बड़ी खुशी से छापते हैं और इन पर वाचक टूट भी पड़ते होंगे, इसमें मुझे कोई शक नहीं है। हमारी मध्यमवर्गीय या हमारी ही क्यों सारी दुनिया की मॉर्विडिटी को तुम नहीं जानते श्रीधर। यह पढ़ते हुए, वह चटखारे ले-लेकर खाएँगे। पियेंगे। हमें युद्ध की, अत्याचार की, रक्तपात की कहानियाँ पढ़ना अच्छा लगता है। हमें सिर्फ़ अपनी सुरक्षा से मतलव है। ये कहानियाँ पढ़कर अपनी सुरक्षितता पर सुख का एक पुट चढ़ जाता है। खैर वह रहने दो। एक तरह से इन कहानियों का राजनीतिक और ऐतिहासिक महत्त्व है। पंजाबी मुसलमान, बंगाली मुसलमान लड़ रहे हैं और पाकिस्तानी मुसलमानों में इस तरह की भाषिक दरार पड़ी है, यह देखकर हमारे देश के, विशेषतः महाराष्ट्र के कितने लोग हर्षभरित हुए होंगे। बंगाल में तो द्वि-राष्ट्रवाद का सिद्धान्त ही टूट पड़ा है, यह भारत के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण वात है।"

"वह सब तो ठीक है, मैं समझ सकता हूँ। लेकिन इन पाशविक वृत्ति की कथाओं का क्या प्रयोजन है ? इन्सान का इन्सानियत से विश्वास उठ जाता है। जीवन से घिन होने लगती है यह सब सुनकर…"

"लेकिन क्या सच्चाई से मुँह मोड़ा जा सकता है ? तुम अपनी आँखों से देख रहे हो न लोगों का बर्ताव ? ये बातें सुनते आये हो न तुम ?"

श्रीधर चुप बैठा था। लेकिन वह कहानियाँ कई बार सुनने पर भी वार-बार बेचैन हो ही जाता था। उसके लिए इन्सान इन्सान के साथ इस तरह पेश आ सकता है, इस बात को स्वीकार करना बहुत मुश्किल था। पृथ्वी पर किसी भी प्राणी की दूसरे किसी को इतना दुःख पहुँचाने की विकृति उसके लिए अनाकलनीय थी। विचार करने की या प्रेम करने की क्षमता केवल इन्सान रखता है। महत्त्वाकांक्षा जैसी चीज़ से अन्य प्राणी का कोई सम्बन्ध नहीं है। और निःस्वार्थ वृत्ति से दूसरों की मदद करते हुए अपने प्राण त्यागने की निःस्वार्थ वृत्ति भी किसी अन्य प्राणी में नहीं है। मनुष्य में विकृतियाँ अवश्य हैं, लेकिन उन्हीं के साथ-साथ कई अच्छी बातें भी हैं।

उसके बाद के दो महीनों में दोनों ने अपने सारे पूर्वग्रह, सभी पूर्वसंवेदनाएँ दूर हटाकर छावनी के निराश्रितों की मदद करने में बिताये। जो पड़ा, सो काम किया—अस्पताल में दाखिल मरीजों के कपड़े धोना, मल-मूत्र साफ़ करना, सूचियाँ बनाना, भोजन बाँटना, पानी लाना, दवाइयाँ खिलाना, पत्रव्यवहार करना, किसी भी काम के लिए उन्होंने मना नहीं किया। पूर्व बंगाल से आये दरिद्री, अधमरे लोगों की दीनता और दुःख देखकर उसकी नज़र मर चुकी थी। विशेष रूप से पूर्व बंगाल में हुए क़त्ल और सेना द्वारा किये गये अत्याचार की कहानियाँ सुनकर वह दंग रह जाता था।

विश्वम्भर एक जगह स्थित नहीं था। बीच-बीच में हफ़्ता-दस दिन के लिए वह ग़ायब हो जाता था मानो उसपर कोई रहस्यमय काम सौंपा हुआ हो। अचानक ही

वह प्रकट हो जाता, दो-चार दिन दिखाई देता और फिर ग़ायब हो जाता, छावनी के कार्यकर्ताओं में हमेशा चर्चाएँ और वाद-प्रवाद उठते थे। विश्वम्भर के आने के बाद बहसों की गर्मी और भी बढ़ जाती। व्यक्तिगत, राजनीतिक सोच-समझ के अनुसार स्वयंसेवकों में भी काफ़ी अलग-अलग गुट बन गये थे। जयप्रकाश जी द्वारा स्थापित युवा शान्तिसेना के सभासद बड़ी संख्या में नज़र आते थे। पूरे भारत में इन निराश्रितों के अतिक्रमण से और बंगाल में फैले अत्याचारों से कोहराम मचा हुआ था।

विश्वम्भर एक बार भारतीय और विदेशी वार्ताहरों के एक पथक को छावनी की स्थिति से अवगत कराने के लिए शाम को तीन-चार विदेशी पत्रकारों के साथ उनकी गाड़ी से कुछ दूरी पर बनाये गये उनके विश्रामगृह गया। रात को उनमें से एक ने अपने बैग से शराब की बोतल निकाली।

"लाइफ मस्ट गो ऑन"'।" उसने मुस्कुराते हुए कहा।

"येस लाइफ गोज़ ऑन"'।" विश्वम्भर ने बड़ी कडुवाहट से उत्तर में कहा, "इव्हन विदाउट यू।"

विश्वम्भर ने पीने से इनकार कर दिया। श्रीधर ने तो अभी तक शराब को स्पर्श भी नहीं किया था।

"हॉरीबल"'हॉरीबल"'" विदेशी पत्रकार एक घूँट भरता हुआ बोला, "आप भारतीय लोग कुछ करते क्यों नहीं ?"

उसके साथ जो अन्य दो पत्रकार थे, वह अँग्रेज़ी का मामूली ज्ञान रखते थे।

"हॉरीबाल"'हॉरीबल !" विश्वम्भर ने कहा, "आप इस विश्व के नागरिक कुछ करते क्यों नहीं ?"

उस विदेशी पत्रकार ने चौंककर कहा, "विश्व के नागरिक भला इसमें क्या कर सकते हैं ?"

"तो फिर भारतीयों से क्या करने की उम्मीद आप रखते हैं ?"

"वेल, आप उन्हें अपने देश की सीमा से बाहर फेंक सकते हैं।" उसने कुछ सोचकर कहा।

"क्यों ? जब कि हम जानते हैं कि वहाँ उनका सिर्फ़ क़त्ल होगा ?"

"लेकिन यह तो उनका अन्तरंग मसला है।"

"तो फिर क्या हम तटस्थ रहकर यह क्रूर क़त्ल का जश्न देखते रहें ? विश्व के नेता पाकिस्तान पर दबाव क्यों नहीं डालते ?"

"यह तो उनके अन्तरंग मामलों में सरासर हस्तक्षेप होगा।"

विश्वम्भर फिर उसी कडुवाहट से हँसकर बोला, "मुझे एक बात बताओ, तुम इतनी दूर यहाँ क्यों आये हो ?"

"मतलब ?" व्यावसायिक अभिमान से चिढ़कर वह विदेशी पत्रकार बोला,

"इट्स ए बिग स्टोरी। एक कोटि निर्वासित, क़त्ल, जीवन, मृत्यु क्या यह एक बड़ी कहानी नहीं है ?" अपने व्यवसाय की तैश में आकर बोला, "लुक, मृत्यु—खास कर अचानक और अनैसर्गिक मृत्यु—यह समाचार-पत्रों की दुनिया में सबसे बड़ी खबर होती है। क्योंकि सब लोगों को, वाचकों को ऐसी मृत्यु के बारे में कौतूहल होता है। फिर वह मौत कुत्ते की हो, चाहे किसी आदमी की। और यहाँ तो मौत का नंगा नाच चल रहा है। एक कोटि लोगों के जीने-मरने का सवाल है। इट्स ए बिग बिग स्टोरी। भारत कुछ खास कर नहीं रहा, यह एक अलग मायनर स्टोरी है—डेथ इज़ द स्टोरी।"

"फाइन" विश्वम्भर ने कहा। "लेकिन मौत के इस ताण्डव नृत्य को केवल तटस्थता से रिपोर्ट करना, क्या यही तुम्हारा काम है ? इसके पीछे जो कारण है, क्या उनका विश्लेषण भी करते हो ?"

"अवश्य। क्यों नहीं। वह तो मेरा काम ही है।" उसने झुँझलाकर कहा, "लेकिन मेरा विश्लेषण तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा इसलिए बोल नहीं रहा था। आपका यह हिन्दू-मुसलमान झगड़ा इतना विषैला है कि इस बारे में तुम हिन्दुओं के साथ बात करना तक मुश्किल लगता है।"

अब तक उनके साथ आया हुआ एक स्वयंसेवक, जो चुपचाप शराब के घूँट भर रहा था, अचानक उफन पड़ा।

"व्हाट डू यू मीन ?" उसने कहा, "पूर्व बंगाल की समस्या की जड़ क्या तुम्हें हिन्दू-मुसलमान झगड़ा लगता है ?

"नान्सेन्स ! मेरे मत में ये विषय सारे भारतीय उपखण्ड की दृष्टि से अत्यन्त नाजुक प्रश्न बन चुके हैं। यह झगड़ा पंजाबी मुस्लिम और बंगाली मुस्लिमों के बीच का है। लोकशाही के मार्ग पर चलकर बंगाली मुसलमानों ने चुनाव जीते हैं, उन्हें सत्ता मिलनी चाहिए। मूल बात तो यह है कि केवल धर्म एक होने से पंजाबी और बंगाली मुसलमान साथ-साथ रह नहीं सकते। इसमें जिन्ना के द्वि-राष्ट्रवाद की जड़ ही उखाड़ी जाती है और पाकिस्तान राष्ट्र के अस्तित्व का समर्थन नष्ट होता है। धर्म के आधार पर देश का बँटवारा सबसे भयानक ग़लती थी, यह सिद्ध हुआ है। अब भारत को फिर से एक होना चाहिए, इसके अलावा इस उपखण्ड के पास कोई उपाय नहीं है···।"

"आपके लिए यह कभी साध्य न होगा।" विदेशी पत्रकार ने हँसते हुए कहा, "क्योंकि हम भी वहाँ पाकिस्तान का अस्तित्व चाहते हैं। भारत-जैसे अजीब राष्ट्र का सशक्त प्रजातन्त्रवादी देश के रूप में उभरना हम नहीं चाहते। हम लोग आपकी इस दिशा में चल रही योजनाएँ सफल होने नहीं देंगे।"

"क्या यह नीति-अनीति का प्रश्न नहीं ? मानवीय मूल्यों का प्रश्न नहीं ?"

"ज़रूर है। बहुत बड़ा प्रश्न है। इसीलिए तो मैं आपको इसमें यशस्वी देखना नहीं चाहता।" एक बड़ा पैग खत्म कर वह पत्रकार बोल रहा था, अब उसके स्वर में उपहास की भी झलक थी, "हम पाश्चात्य लोग नीतिमत्ता के और मानवीय मूल्यों के बहुत बड़े उपासक हैं, यह तो आप जानते ही हैं। हमारे मानवीय मूल्यों को प्रोत्साहित करनेवाली, मानवीय स्वतन्त्रता का उद्घोष करनेवाली, व्यापारिक स्पर्श को ही सामाजिक जीवन का मूलतत्त्व माननेवाली अपनी जीवनशैली को सहेज कर रखना और बढ़ावा देना—यही हम अपना पहला नीतिकर्तव्य समझते हैं। इस कर्तव्य के विरोध में जो भी समाज होंगे, उन्हें हम कभी बलशाली और यशस्वी नहीं होने देंगे। अगर आप भारतीय हमारी इस जीवन-पद्धति से सहमत होते हैं और हमारी नीतियाँ स्वीकार करते हैं तो आप भी हममें शामिल हो सकते हैं। लेकिन आप बहुत स्वतन्त्र बुद्धि के हैं इसलिए अभागे हैं। आप अपनी अलग और स्वतन्त्र जीवनप्रणाली बनाये रखना चाहते हैं। और खुद की अपनी स्वतन्त्र सामाजिक नीतियाँ विकसित करना चाहते हैं—यह हम आपको कैसे करने दें ?"

इस वक़्त वह विदेशी उपरोध से हँस पड़ा और उसने एक और पैग खाली किया। उसकी दाम्भिकतापूर्ण बात पर कोई प्रतिक्रिया ज़ाहिर करने की किसी की इच्छा नहीं हुई। सिर्फ़ उसके साथ एक दूसरा विदेशी पत्रकार था, वह अपनी टूटी-फूटी अँग्रेज़ी में बोलने की कोशिश कर रहा था।

"डर्टी"'डर्टी"'बहुत गन्दा" और फिर उल्टी करने का अभिनय करता हुआ वह बोला, "सफ़ाई, हायजिन"'बिल्कुल ही नहीं है"'मृत्यु "'बीमारियाँ"'"

उसे बीच में ही काटते हुए वह स्वयंसेवक बोला, "ऐसी अपेक्षा भी आप कैसे रख सकते हैं ? यह आपका सामाजिक पूर्वग्रह है। जिनके पास पानी नहीं, अनाज नहीं, कपड़े नहीं ऐसे एक करोड़ भूखे-कंगाल लोग अगर एकाएक सीमा से आप के देश में घुस आते हैं तो क्या आप भी पाल सकेंगे यह स्वच्छता और हायजिन"'? स्वच्छता आदि कहना आसान होता है—लेकिन साधन-सामग्री ही न हुई तो यह कैसे सम्भव होगा ? पहले महायुद्ध के खन्दकों के और दूसरे महायुद्ध के कान्सन्ट्रेशन कैम्प के आपके देश के ही रिपोर्ताज पढ़िए"'।"

"ओ नो"—उस दूसरे विदेशी पत्रकार ने कहा, "तुम मुझे ग़लत समझ रहे हो। मुझे अपनी बात पूरी करने दो। मैं कुछ अलग ही कहना चाहता हूँ। मैं तुम पर टिप्पणी नहीं करना चाहता। सुनो, सफ़ाई, गन्दगी, दरिद्रता, दीनता, अन्याय, बीमारियाँ, संकट, मृत्यु, भीषण मृत्यु, त्रासदी—यह सब यहाँ भरपूर हैं लेकिन उसी के साथ-साथ ज़बरदस्त आशा। जीवन"'ज़िद, ताक़त "'जीवन पर आस्था"'नतमस्तक करनेवाली मृत्यु, हँसना-खेलना, खाना-पीना, बच्चों का खेलना—बेहतर कल की आशा। कल कुछ अच्छा होगा, यह अपेक्षा "'यह विलक्षण

जीवनोद्वेग···अलग अनुभव मुझे हिलाकर रख देता है ···उसके आगे मैं सिर झुकाता हूँ···।"

वह दूसरा विदेशी पत्रकार कृश क़द-काठी का था और छह फ़ीट से भी अधिक लम्बा था। उसने एक मैली-सी जीन्स और जर्सी पहन रखी थी। पैरों में चप्पलें थीं। उसके चमकते सुनहरे बाल अस्त-व्यस्त बढ़े हुए थे। दाढ़ी और मूँछें भी सुनहरी थीं। उसकी नाक सीधी थी और आँखें मध्यसमुन्दर की तरह नीली। बोलते हुए उसने सचमुच ही अपना सिर झुकाया। सिर उठाया तब उसकी नीली आँखों से आँसू टपक पड़े थे।

उसके बाद विश्वम्भर फिर ग़ायब हो गया। फिर वह पुणे में ही मिला।

आसपास के सेनाधिकारियों से श्रीधर ने जगत के यूनिट के बारे में पता लगाना चाहा लेकिन उसका कोई पता नहीं मिला। सेना की गतिविधियाँ तेज हो चुकी थीं। बाद में कैम्प में ही श्रीधर टाईफाइड से बीमार हो गया। धनंजय ने उसे उठाकर एक जीप में डाला, उसे कलकत्ता ले गया और वहाँ से ट्रेन से पुणे ले आया।

छब्बीस

सूरज काफ़ी ढल चुका था। क्योंकि पूर्वी हिमशिखर डूबते सूरज की तिरछी सुनहरी किरणों से चमचमा रहे थे। साथ में जो ऊँचे पहाड़ थे, उनकी वज़ह से नदी के पात्र में पहले ही अन्धकार जमने लगा था। ऊपर छाया हुआ आकाश गहरा नीला था और ऊपर घूमनेवाले चील और गरुड़ों की संख्या कम होने लगी थी। सफ़ेद बगुलों की मालाएँ मोतियों की लड़ी जैसी जल्दी-जल्दी घर लौट रही थीं। अलकनन्दा के कल-कल निनाद में यात्रास्थान के मन्दिरों की आरतियों के मन्द घण्टानाद और शंखध्वनि सुनाई दे रहे थे।

श्रीधर उठा। अपना कुर्ता-पैज़ामा सँवारकर नंगे पाँव वह बढ़ते अन्धकार से नदी के किनारे की ढलान से आगे बढ़ने लगा। और तभी अचानक उसके सीने में आशा भोसले के मारवे के नाद का दर्द उठा—

"मितवा रे···रहा दूर मेरा गाँव···।"

श्रीधर का मन अपार खिन्नता से भर आया। सच, आजतक के जीवन में इतने प्रयत्न

करने के वावजूद मैं इस खिन्नता को, विफलता को मन से निकाल क्यों नहीं पाया ? और इसमें गीता, उपनिषद्, वाइविल, कृष्णमूर्ति इनमें से कोई भी हमारी मदद क्यों नहीं करता ? यह पराजय सिर्फ़ मेरी अपनी है। मैं ही स्वयं को समझ नहीं पाया। इससे तो अच्छा था कि सीधे-सीधे अपने आपको किसी आन्दोलन में या कैरियर मे झोंक देता। उससे कम से कम इस सिरदर्दी से तो छुटकारा पा जाता। वैसे भी ज़्यादातर विश्व यही करता है, अन्तिम सत्य से दूर ले जानेवाला पलायनवाद का मार्ग अपनाता है, यही कृष्णमूर्ति की भी कल्पना हुई। जग जैसा व्यवहार करना पलायनवाद कैसे हो सकता है ? गीता तो कहती है कि यही सच्चा पुरुषार्थ है। शशी ठीक ही कह रही थी। कृष्णमूर्ति का तत्त्वज्ञान सहज और सरल अवश्य लगता है, लेकिन समझने के लिए मुश्किल है। कृष्णमूर्ति क्या जग के व्यवहार से संन्यास लेने के लिए कहते हैं ? लेकिन यह भी सच था कि चाहे आन्दोलन हो या कैरियर श्रीधर, अपने आपको भूलाने में असमर्थ था। और चूँकि किसी आन्दोलन में या इतने समृद्ध कैरियर में श्रीधर समाधान प्राप्त नहीं कर पाया, उसी से यह साफ़ ज़ाहिर था कि वह इस तथाकथित पलायनवाद का मार्ग स्वीकारना नहीं चाहता था। और प्रेम कितनी गहन और दाहक वात है, उसने अच्छी तरह जान लिया था। शास्त्री का कहना था—प्रेम करो। प्रेम ही इस विश्व के उत्क्रान्ति की सर्वोच्च अवस्था है। फिर शशी के प्रेम में वह दोनों कहाँ से कहाँ तक जा पहुँचे थे…और वह भूचाल उठानेवाला प्रेम अभी भी उन्हें डावाँडोल कर ही रहा था। और फिर यशोधरा ने उसकी क्या अवस्था कर डाली थी। कृष्णमूर्ति कहते हैं कि प्रेम का मतलब है निरामय शान्ति, अन्तिम साक्षात्कार। और श्रीधर के अनुभव-कोश में प्रेम था अधीर अस्वस्थता, प्रेम यानी शरीर और हृदय को जलानेवाली आग, प्रेम यानी विफलता, निराशा, असूया, मत्सर, क्रूरता, हिंसा…।

श्रीधर ने कुछ समय तक वह विचार मन से निकाल दिया। पहाड़ी चढ़कर वह ऊपर आया तो शुद्ध, ठण्डी हवा से और भी तरोताज़ा और उत्साहभरा लगने लगा था। थकान का तो ज़रा भी अनुभव नहीं हो रहा था। उसने अपनी कलाई और वाजुओं पर नज़र डाली तो उसे आश्चर्य हुआ। बम्वई से जब वह चला था तब ट्रेन के उस शीशे में उसने अपनी छवि देखी थी। उसे तो न जाने कितने दिन हो चुके थे। वीच में लगभग एक हफ़्ता तो उपवास में ही चला गया था। और फिर भी उसे लग रहा था कि उसके गाल अधिक मांसल हो गये हैं। हाथों के पोरों में भी चरबी चढ़ गयी है। यह क्या हो रहा है ? उसकी यात्रा किस दिशा में चला रही है ? किसलिए घर से बाहर निकला था ? यह भेद सिर्फ़ मेरे शरीर पर ही नहीं, मेरी बुद्धि पर भी सवार हो रहा है। कहीं भी न जानेवाले मार्ग पर मैं आ गया हूँ। मुझे यहीं से वापस लौटकर दूसरा मार्ग ढूँढ़ना होगा।

बाबा के मठ की सड़क गाँव में से होकर गुज़रती थी। घरों में दीये जल उठे थे। गाँव की गलियों के पीछे से जाते हुए श्रीधर कौतूहल से रुक गया। एक आदमी एक ऊँचे पत्थर के पास लालटेन लिये खड़ा था और एक सात-आठ वर्षीय लड़का एक मेमने को उसकी गरदन में बाँधी गयी रस्सी से खींचता हुआ ज़वरदस्ती उस पत्थर की तरफ ले जा रहा था। मेमना बें-बें कर रहा था।

"अबे···खींच···क्या ज़रा भी ज़ोर नहीं है तुझमें ?" वह आदमी चिल्ला रहा था।

घृणास्पद उत्सुकता से श्रीधर के पाँव उस तरफ बढ़ गये। उस आदमी ने लालटेन नीचे रखी और हाथ में जो लम्बी छुरी की धार थी उसे छूकर देखने लगा। उस मेमने ने दो-तीन बार गरदन छुड़ानी चाही। उस लड़के की तरफ डरी हुए आँखों से देखा और अपने पेट से दिक्-काल को भेद कर निकलनेवाला आर्त सुर निकाला :

बें···बें···।

श्रीधर के शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये। उसका कलेजा धक् से रह गया। पेट में कुछ मचलने लगा और सिर चकराने लगा।

अब उस लड़के ने रस्सी को ज़ोर से खींचा। मेमने को अपने भविष्य की अपरिहार्यता मालूम हो गयी थी। उसने अपने फिसलते पैर सँभाले, गरदन झुकायी और चुपचाप वह पत्थर के साथ खड़ा हो गया। श्रीधर की साँस और भी तेज हो गयी, और एक झटके से वह लम्बी छुरी उसकी गरदन पर घूमी। सिर्फ़ अस्फुट बें···की आखिरी करुणार्त आवाज़ निकली और सब शान्त हो गया।

श्रीधर के माथे पर पसीना आ गया था।

"अरे, बर्तन कहाँ है ? जल्दी से बर्तन ला···।" वह आदमी चिल्लाया और श्रीधर होश में आया। दो गलियाँ छोड़कर ही पुजारी के उच्च स्वर में मन्त्र-जागर सुनाई दे रहा था।

जीवन-मृत्यु के इस दर्शन ने श्रीधर को झँझोड़कर रख दिया, ऐसा तो खैर कह नहीं सकते क्योंकि मृत्यु के इससे भी उग्र और बीभत्स रूप वह देख चुका था। जब वह पूर्व बंगाल से आये निराश्रितों की छावनी में स्वयंसेवक बनकर गया था, तब कण-कण से खोखला करनेवाली मृत्यु भी उसने देखी थी। वह स्वयं मांसाहारी था। लेकिन इस मेमने के कटने से उसे बहुत दु:ख हुआ था। उन आखिरी क्षणों में क्या उस मेमने को जीवन, मृत्यु, वह स्वयं और शाश्वत ब्रह्म सभी एक हैं जैसे अन्तिम सत्य का साक्षात्कार हुआ था ? या इस विश्व का शाश्वत सत्य समझ लेने की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ मानव-प्राणी की है ? बें···उस मेमने ने अपना निषेध अवश्य व्यक्त किया था और वह आर्त स्वर श्रीधर के हृदय को चीरकर निकल गया था।

"क्या है—क्या चाहिए ?" उस आदमी ने श्रीधर को घूरते हुए पूछा। श्रीधर ने अपने आपको सँभाला। उस आदमी को उस पर सन्देह होना स्वाभाविक था क्योंकि उस तीर्थस्थान के विशिष्ट भाग में जानवरों के क़त्ल पर मनाही थी। और वह क़त्ल क़ायदे से बाहर था।

श्रीधर मुड़ा और धीमी गति से चल पड़ा। अब उसका रास्ता वहाँ के प्रमुख देवस्थान से गुजर रहा था। पत्थर की फ़र्श से बने सँकरे रास्ते पर फूल और पूजा के सामान तथा मिठाई की दुकानों की एक कतार थी। उन दुकानों से पेट्रोमैक्स या मिनमिनाते लालटेन की रोशनी भिखारियों के चेहरों पर पड़ रही थी। श्रीधर देवस्थान की सीढ़ियाँ चढ़कर अन्दर के प्रशस्त प्रांगण में गया। अन्दर वाद्यों के ज़ोर-ज़ोर से बजने की आवाज़ और आरती सुनाई दे रही थी। देश के विभिन्न भागों से आये विविध वेशभूषाओं के यात्री वहाँ इकट्ठे हुए थे। श्रीधर बाहर देवस्थान की सीढ़ी पर बैठा रहा। सामने ही आस लगाये भिखारी ललचायी आँखों से आने-जाने वालों को देख रहे थे और आरती के बाद मिलने वाले प्रसाद का इन्तज़ार कर रहे थे। लँगड़े, लूले, बूढ़े, महारोगी...आज की उसकी मनःस्थिति में उसे उन पर और भी तरस आ गया। भिखारी उसके लिए कोई नयी बात नहीं थे। बम्बई की कई सड़कों पर उन्हें पैरोंतलें रौंदे जाते हुए उसने देखा था। लेकिन उस वक़्त वह अपने-आप में मस्त था। यश की चोटी पर था। भिक्षा देना उसके सिद्धान्त के खिलाफ था। अभी भी उसका यही विश्वास क़ायम था। फिर भी आज अगर उसकी ज़ेब में पैसे होते तो वह सब पैसे बाँट देता। आज उसका मन करुणा से बहुत भर आया था। उनकी दीनता, उनकी शारीरिक वेदना, उनके देह के अस्थिपंजर देखकर उसे बहुत कष्ट हो रहा था और उनके अस्तित्व पर करुणा भी हो रही थी। यह लोग किस सामर्थ्य से जी रहे हैं, इस बात पर उसे आश्चर्य हो रहा था। मिले सो खा लेना, सोना और दूसरे दिन फिर वही भिक्षापात्र लेकर आगे बढ़ना। क्या मतलब है, ऐसे जीने का ? क्या कहें इन्हें ? जानवर या निःसंग महायोगी ?

विश्वम्भर स्वयं भी भिखारियों को भीख देने के तात्त्विक विरोध में था। लेकिन कभी-कभी करुणा से उसका मन इतना ऊब जाता था कि वह चीज़ें खरीदकर भिखारियों में बाँट देता था। चर्चाओं में भिखारियों को जानवर...आदि कहकर पुकारने का वह सख्त विरोध करता था। "तुम क्यों नहीं देखते ?" विश्वम्भर कहता, "इनमें जीने की ज़बरदस्त इच्छा है, दृढ़ता है। यह जीने की ज़िद बहुत सुन्दर और महत्त्वपूर्ण बात है। हमारी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था ने उन्हें पैरोंतले रौंदकर उनकी मनुष्यता को मार डाला है, उनका मन विदीर्ण कर डाला है, उनकी आशा, आकांक्षाएँ, उनकी सृजनता सबका गला घोंट दिया है। लेकिन वह भी हमारी तरह ही इन्सान हैं। अगर उनकी परिस्थितियों में फ़र्क होता है, तो उनमें भी आकांक्षाएँ जाग

उठेंगी…।"

यह जीवनेच्छा कहाँ से आती है ?

श्रीधर सोच रहा था। आरती खत्म होने पर मन्त्र पुष्पांजलि का घन गम्भीर आवाज़ में उद्घोष होने लगा। भिखारियों में बेचैन हलचल होने लगी। मन्त्र खत्म होने के बाद आरती और थाली घुमायी गयी। तब तक देवस्थान के दो नौकर बाम्बू का बड़ा-सा पिटारा लेकर मुख्य द्वार तक आये। तब तक भूखे भिखारी एक-दूसरे को धक्के मारते हुए आगे बढ़ रहे थे।

उनमें से दो सेवकों ने पिटारा दरवाज़े के पास रखा और एक हट्टा-कट्टा सेवक अपनी लाठी सँभालता आगे बढ़ा।

"ए, चलो, पीछे हटो…" वह चिल्लाने लगा, "क़तार लगाओ सीधे से। इन जानवरों का तो रोज़ का रोना है। चलो, हटो…क़तार छोड़ी तो एक दाना तक नहीं मिलेगा…"

उस सेवक का ध्यान श्रीधर की तरफ गया। दिनभर जंगल के भ्रमण की वज़ह से श्रीधर के कपड़े मैले हो चुके थे। दाढ़ी और बाल तो अस्त-व्यस्त थे ही। उसके पैर के पास लाठी खड़काते वह सेवक चिल्लाया, "ओए, तू क्या कर रहा है यहाँ…चल निकल…क़तार में जा… उठ…उठ कह रहा हूँ न…कुत्ता कहीं का उठ…निकल !"

किसी कुत्ते को जैसे लाठी से थोड़ा-सा धकेलकर हकाला जाता है, उसी तरह उसने श्रीधर के पीठ पर एक लाठी का सौम्य प्रहार किया। उस पिटारे के पास खड़े सेवक ने उसे आवाज़ देकर कहा, "अबे केहर सिंह…छोड़ दे उसे…भिखारी नहीं है वह।"

श्रीधर तटस्थता से बैठा रहा। उसे न उस सेवक पर ग़ुस्सा आया, न अपने आप पर तरस। उसका मन अपार करुणा से भर गया था, करुणा केवल भिखारियों के लिए नहीं, सम्पूर्ण मानवजाति के लिए, बल्कि प्राणी मात्र के लिए, अस्तित्व की वास्तविकता के लिए। यहाँ तक कि करुणा और श्रीधर के अस्तित्वों में कोई फ़र्क़ ही नहीं बचा था। जब वह वहाँ से उठा, तो भिखारियों में प्रसाद बँट चुका था।

सत्ताईस

श्रीधर के पुणे लौटने के वाद शशी ने श्रीधर को पूरी तरह अपने वश में कर लिया। उसने धनंजय को उसके पास फटकने तक नहीं दिया। सुवह से शाम तक वह अस्पताल में वैठी रहती थी। शशी और श्रीधर के सम्वन्धों की घनिष्ठता लोगों के सामने आयी। जव श्रीधर पूरी तरह स्वस्थ हो गया, तव उसने उसे वड़ी वेदिली से छात्रावास जाने दिया। स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू हुए काफ़ी दिन वीत चुके थे। वंगाल के अनुभव के वाद श्रीधर अव मन से आन्दोलन में हिस्सा ले रहा था।

उसका वाचन और पढ़ाई साथ-साथ चल रहे थे। वाँग्ला देश के युद्ध के वाद वह पुणे के स्थानीय युवकों के एक गुट के साथ वीड़ और उस्मानावाद जाकर अकाल के कामों में जुट गया। विहार के अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए वह विहार भी हो आया। सुवह से रात तक काम-काम, वाचन और पढ़ाई। अपने वे सभी प्रश्न श्रीधर ने वहुत निश्चयपूर्वक सिर से वाहर रख दिये। विभिन्न व्याख्यानों में वह जाने लगा। इन सभी आन्दोलनों से, वाचन और शिविरों से तथा अभ्यास से उसे प्रेरणा मिल रही थी। उसकी जानकारी का क्षेत्र वढ़ रहा था और ज्ञान भी। समाज के हित के लिए लड़ना, अनेकानेक के हित और कल्याण के वारे में सोचना, विपमता से संघर्प करना, दुर्वलों की मदद करना, यही जीवन का भव्य ध्येय हो सकता है, ऐसा वह सोचने लगा था। अनेक महापुरुपों को लोगों के प्रेम से प्रेरणा और शक्ति पाते हुए उसने देखा था और फिर समाज यानी यह सृष्टि ही असली परमेश्वर है—यह समीकरण उसे स्वीकरणीय लगने लगा। यह सव होने के वाद भी उसके वे सवाल जो उसने मन की काल-कोठरी में वन्द कर रखे थे, अपनी चिनगारी अपना अस्तित्व जव-तव दिखा देते थे। ऐसा क्यों था ? या यह भयानक शाप सभी को होता है ! और फिर उस दाहक चिनगारी को वुझाने की कोशिश में श्रीधर अपने आपको अधिकाधिक काम में व्यस्त कर लेता।

यशोधरा विश्वम्भर के गुट से जुड़ी हुई थी। फिर वह कम्युनिस्ट वनी। फिर मार्क्सिस्ट गुटों की अन्तरंग मतभिन्नता में वह दोनों विरोधी गुटों में वँट गये, और एक-दूसरे के हास-परिहास के पात्र वन गये।

धनंजय के अन्धश्रद्धा निर्मूलन आन्दोलन के दिनों से श्रीधर यशोधरा को देखता आया था। उसके वाद वह युवक क्रान्ति दल, फिर युवा शान्ति सेना और फिर जहाल मार्क्सिस्ट गुट की सदस्या वनी थी। उसके इन परिवर्तनों की परिक्रमा को भी वह देख रहा था। यशोधरा भी श्रीधर की मानसिक यात्रा देखती आयी थी। विहार में उन्होंने साथ-साथ काम किया और उनकी पहचान और भी दृढ़ हो गयी।

यशोधरा बड़ी वारीक़ी से उसका निरीक्षण कर रही है, इस बात का आभास उसे पुणे लौटने पर हुआ। यशोधरा केवल निरीक्षण नहीं कर रही थी, उसके मन का अन्दाज़ा भी ले रही थी, विश्लेषण कर रही थी। उसका विश्लेषण वहुत मर्मभेदी और श्रीधर के मन में छिपी बेचैनी की कभी न ठीक होनेवाली वेदना की तीव्रता बढ़ाने वाला था।

बस्तर और गड़चिरोली के आदिवासी जनजाति में काम करनेवाले गुट के लिए चन्दा इकट्ठा करने के लिए श्रीधर और यशोधरा साथ-साथ घूम रहे थे, तव एक दिन होटल में चाय पीते हुए उससे यशोधरा कह वैठी, "मैं इतने दिनों से तुम्हें आन्दोलनों में देखती रही हूँ, लगता है आन्दोलन तुम्हारे स्वभाव का एक असहज अंग है।"

"क्यों ? ऐसा क्यों लगता है तुम्हें ?"

"बस। यों ही, अपना-अपना अन्दाज है।"

"यानी ?"

"यानी कि अगर धनंजय या विश्वम्भर के सम्पर्क में नहीं आते तो शायद तुम अपने आप आन्दोलन में नहीं आते। तुम्हें क्या लगता है, क्या तुम आन्दोलनों में स्वयं आ जाते ?"

श्रीधर सोच में पड़ गया।

"अगर तुम्हारे कहने का यह अर्थ है कि मुझे सामाजिक प्रश्नों में दिलचस्पी नहीं है या मेरे पास वह संवेदनशीलता नहीं है तो वह ग़लत है, इतना ही मैं कहूँगा। हाँ, स्वयं कोई आन्दोलन आयोजित करने के लिए जो स्वभावविशेष चाहिए या जो सृजनशीलता आवश्यक होती है, वह शायद मुझमें नहीं है।"

"नहीं, मैं यह कभी नहीं कहूँगी कि तुम्हारे पास सामाजिक संवेदनशीलता की कमी है," यशोधरा ने कहा, "तुम्हें वह काम मन से अच्छा लगता है, उसके लिए तुम्हारे मन में आस्था है, कन्सर्न है, उसे तुम अपना उत्तरदायित्व मानते हो। स्वाध्याय, ज्ञान और काम करने के लिए भी तैयार हो, फिर भी यह नहीं लगता कि इन सबमें तुमने अपने आपको भुला दिया है। तुम इस काम में रत होते हुए भी, खुद के प्रति सदैव सचेत रहते हो। पता नहीं क्यों, लेकिन ऐसा लगता है कि यह तुम खुद के साथ प्रायोगिक तौर पर कर रहे हो। ऐसा क्यों है ?"

श्रीधर सहम गया, जैसे उसके मर्म को किसी ने पकड़ लिया हो। क्या यह बात मैं स्वयं जानते हुए भी खुद से छिपा रहा था ? यशोधरा ने वड़ी सहजता से इस रहस्य का भेदन किया था, श्रीधर को ऐसा लगा जैसे वह रँगे हाथों पकड़ा गया हो। अपनी झुँझलाहट छिपाने के लिए उसने सिगरेट जलायी, और एक ही कश लेकर बुझा दिया। फिर यशोधरा को ऐसा लगा जैसे वह कुछ ज़्यादा ही बोल गयी

थी और वह भी चुप हो गयी। सोच में पड़ा श्रीधर वोला, "जो वस्तुस्थिति मैं खुद से छिपा रहा था, वही तुमने मुझे सुनायी है···थैंक्स···।"

यशोधरा ने कन्धे झटक दिये।

"और मुझे झिंझोड़ कर रख दिया है।"

"मुझे माफ़ कर दो···" यशोधरा ने चौंककर कहा।

"तुमने मुझसे पूछा, आखिर क्यों ? यही प्रश्न वहुत अस्वस्थ करनेवाला है। अव मैं तुमसे पूछूँ ?"

"पूछो।"

"तुम्हें हमेशा, यानी कि जो शाश्वत संवेदनाएँ होती हैं, उनको लेकर क्या कोई प्रश्न कभी सताता नहीं है ?"

"जैसे कि···"

"जैसे कि जीवन को लेकर या मृत्यु से सम्वन्धित, जीवन का अर्थ, हमारे जीवन का प्रयोजन। किं व़हुना, इस समूचे विश्व का प्रयोजन। हम क्यों हैं ? यह जग क्यों है ?···"

यशोधरा खिलखिलाकर हँस पड़ी और श्रीधर के कान लाल हो गये। जव उसे यह महसूस हुआ कि श्रीधर को उसका हँसना अपमानास्पद लग रहा है, तो उसने अपने आपको सँभाल लिया।

"सॉरी···" उसने रुखाई से कहा, "हम भारतीयों ने इन वेकार प्रश्नों का वहुत ही ज़्यादा वतंगड़ वना रखा है।"

"लेकिन मुझे वताओ, क्या तुम्हें यह प्रश्न कभी नहीं सताते ?"

"इस तरह के स्वार्थी प्रश्नों के वारे में सोचने के लिए मेरे पास विल्कुल वक़्त नहीं है···"

"इन प्रश्नों को तुम स्वार्थी कहती हो ?" श्रीधर की भौंहें तन गयीं।

"स्वार्थी कहो या कुछ और। आत्म-गुंजन में रत होनेवाले ऊहापोह में, मेरा जीवन, जग, विश्व आदि के विषय में प्रश्न उठाना जिज्ञासु-तत्त्वज्ञानी को शोभा देता है। लेकिन रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में इस तरह के प्रश्नों से परेशान होकर होश खो वैठना मुझे दुर्वलता का प्रमाण लगता है। और फिर इन क्षुद्र प्रश्नों की तरफ ध्यान देने के लिए मेरे पास समय कहाँ है ? लोगों के, समाज के, जग के क्या कम प्रश्न पड़े हैं ? सच, इस दुनिया में हमारे इर्दगिर्द लाखों-करोड़ों लोग दरिद्रता से, अन्याय से, शोषण से पीड़ित हैं और इसीलिए इस स्थिति में इन प्रश्नों का बतंगड़ वनाना वहुत क्षुद्र और हास्यास्पद है—क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता ? अन्याय का, शोषण का, विषमता का उच्चाटन करने-जैसा एक वड़ा ध्येय अगर सामने रखो तो ऐसे प्रश्न दिमाग़ के आसपास फटकते तक नहीं हैं···।"

श्रीधर को यशोधरा का प्रामाणिक अभिनिवेश और सात्त्विक सन्ताप अच्छा लगा। बरसों पहले यशोधरा ने अपना सम्पन्न परिवार त्याग दिया था, लेकिन अब भी उसकी मुलायम कान्ति पर उसके खानदानी तेज की आभा और चेहरे पर एक विशेष तरह की कोमलता थी। उसने जो एक ढीला-ढाला मलिन कुर्ता और उतनी ही ढीली और रंग उड़ी हुई जीन्स पहन रखी थी, वह उस पर जँच रही थी और वह मन से बात कर रही थी। श्रीधर सोच में पड़ गया, और फिर धीरे से मुस्कुराता हुआ बोला, "तुम जो कुछ कहती हो वह सब सच है। मैं भी वैसा ही सोचता हूँ, मुझे भी लगता है कि इन सब ध्येयों के लिए अपना जीवन दे देना चाहिए। इसीलिए बिल्कुल बचपन से अपने को सताने वाले ये प्रश्न मैं हमेशा दबाकर रखने की कोशिश करता आया हूँ। लेकिन यह चिनगारी बुझाये नहीं बुझती "लाख कोशिशों के बावजूद।"

उसने बेचैन मन से दूसरी सिगरेट लेकर लम्बा कश लिया और विचारपूर्वक कहा, "मेरा पीछा करने वाले ये प्रश्न गूढ़ और आध्यात्मिक हैं, तत्त्वचिंतनात्मक हैं। हमारे आसपास के इस भयानक सामाजिक वास्तविकता के सामने उन्हें उठाना भी शायद सही नहीं है। लेकिन जीवन का यथार्थ इतना भयानक और कठोर है कि उसके सामने किसी को भी इन प्रश्नों का आत्यन्तिक, व्यक्तिगत, अप्रस्तुत, क्षुद्र, आत्मगुंजनात्मक और इसीलिए हास्यास्पद लगना सहज सम्भव है। स्वयं मुझे भी वह कभी-कभी वैसे लगते हैं। फिर भी मैं उन्हें भुला नहीं पाता। कठोरता से उनको दबोचकर खत्म नहीं कर सकता। एक बार अगर यह कीड़ा पैदा हो जाता है तो संवेदनाएँ अछूती नहीं रह सकतीं। और, सच बताओ, मैंने देखा है कि तुमने भी तो यह नहीं कहा कि यह सवाल तुम्हें कभी पड़े ही नहीं हैं। तुमने उत्तर देना टाल दिया था, मुझे तो अब ऐसा सन्देह होने लगा है कि सनातन प्रश्नों से दूर भागने के लिए या उनसे छुटकारा पाने के लिए तुम स्वयं भी इन बड़े-बड़े मसलों में मन और शरीर को व्यस्त रखती हो। आन्दोलनों में खुद को झोंक देती हो। अगर मैं कहूँ कि यह भी एक तरह का पलायनवाद ही है तो ?"

यशोधरा ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला लेकिन तुरन्त उसने होंठ भींच लिये। शायद वह बहुत बुरा मान गयी थी या फिर वह अपनी सम्भ्रमित अवस्था छिपाना चाहती थी। लेकिन उसकी उस स्थिति को अनदेखा करने का नाटक करते हुए श्रीधर ने आगे कहा, "मैं अपने आपमें ईमानदार हूँ। इसीलिए मन से तुम्हें कहता हूँ। सामाजिक वास्तविकता से लड़कर मनुष्य की स्थिति में सुधार लाना, शोषण या अन्याय का प्रतिरोध करना—ये बातें मेरे लिए हरगिज़ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। लेकिन उसी के साथ-साथ मुझे ऐसा भी लगता है कि मेरे प्रश्न भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। बल्कि अधिक मूलभूत हैं। आत्मशोध यानी समाज का शोध। खुद के इन प्रश्नों

को दुर्लक्षित करना मुझे अच्छा नहीं लगेगा और उन दोनों में प्राथमिकता किसे देना चाहिए, इसको लेकर भी मैं परेशान हूँ।"

श्रीधर और भी वहुत कुछ कहना चाहता था। लेकिन वह चुप रहा। यशोधरा मेज़ पर रखे अपने हाथों को निहार रही थी। अपनी उफनती झुँझलाहट को दवाती वह संयम के साथ वोली, "हाँ, यह तो वहुत ही बढ़िया है"'आत्मशोध का उदात्तीकरण करके समष्टि के प्रश्नों को दोयम दर्ज़ा देना, हमारे भारतीय समाज की परम्परागत विशेषता है। इस गूढ़वाद के पीछे लगने से ही हमारा समाज पिछड़ गया है। और कमाल की वात तो यह है कि समाज के लिए तन-मन से लड़नेवालों को पलायनवादी की संज्ञा देना या आन्दोलनों में कष्ट झेलनेवालों पर अपने आपको भुलाने का आरोप लगाने जितनी दाम्भिकता कोई हो ही नहीं सकती। मैं तो कहूँगी कि समाज की, मानवीय जीवन की भयानक वास्तविकता से भाग निकलने के लिए, इस वास्तविकता को वदलने के हिंस्र, कठोर संघर्ष से पिण्ड छुड़ाने के लिए तुम आत्मवाद का ढोंग रचाकर सीधा-सादा मार्ग चुन रहे हो। क्या यह पलायनवाद नहीं है ?"

"मैं कहता हूँ वह आत्मवाद नहीं है।"

"उसके लिए कोई भी प्यारा-सा नाम तुम दे सकते हो। तुमने गीता पढ़ी है न! कुरुक्षेत्र पर रथ में हतोत्साहित और मतिभ्रष्ट अर्जुन को कर्तव्य के प्रति सचेत करने के लिए श्रीकृष्ण ने कौन से अपशव्द का प्रयोग किया था, जानते हो ?"

श्रीधर का चेहरा कुछ ऐसा हो गया कि जैसे किसी ने उसके मुँह पर चाटा मार दिया हो। यशोधरा इतनी कठोरता से कुछ कह सकती है, ऐसा उसने सोचा तक नहीं था। कुछ देर के लिए उसके मुँह से शव्द नहीं फूटा। फिर खुद को थोड़ा सँभालने के लिए और थोड़ा यशोधरा को उकसाने के लिए उसने कहा, "खुद की वेचैनी या वैयक्तिक असमाधान से बचने के लिए समाज के काम में जुटा लेना क्या पलायनवाद नहीं है ?"

"कितने गम्भीर हेतु आरोपित कर रहे हो तुम। सिर्फ़ मुझपर नहीं, उन सब पर भी जिन्होंने जीवन भर अपना तन-मन मानवता के कल्याण में लगा दिया है, आज तक के इतिहास में जो महानुभाव पैदा हुए हैं उनके जीवनकार्य की भव्यता और उदात्तता पर तुम छींटाकशी कर रहे हो"' ।"

"आत्मशोध या 'स्व' जितना कुछ और भव्य या उदात्त हो सकता है इस दुनिया में ? इस विश्व की भव्यता हमें अपने आप खोजनी होती है"'।"

यशोधरा समझदारी से मुस्कुरायी।

"अव तुम दूसरे सिरे तक वात खींच रहे हो"'इसीलिए ऐसी वातें करते हो। चलो, किसी और विषय पर वात करते हैं।"

अट्ठाईस

"उस अर्थ में तुम्हारी यह पीढ़ी अभागी है। अभी तुम्हें अपनी पीढ़ी का समर्थ नेतृत्व करनेवाला नेता नहीं मिला।"

युवकों के एक नये अभ्यास वर्ग को एक सौम्य साम्यवादी सम्वोधित कर रहे थे। उनकी उम्र सत्तर के क़रीब थी। उन्होंने आधुनिक कपड़े पहन रखे थे। कई वैचारिक तूफ़ानों से गुज़रकर, आन्दोलनों से निकलकर अव वह विरक्त मार्क्सवादी बन चुके थे। उन्होंने तिलक को देखा था, कुछ काल तक वह सावरकर के हिन्दूराष्ट्रवाद से प्रभावित थे। फिर वह साम्यवादियों के क्रान्तिकारी आन्दोलन में शामिल हुए। उन्होंने ब्रिटिशों का कारावास झेला था और फिर नेहरू जी के काल में उन्होंने अपने आपको कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन को सौंप दिया था।

"हमारे काल में आदर्श महापुरुषों की कमी नहीं थी। हमें तिलक मिले, सावरकर का लाभ हुआ। लाख-लाख लोगों को गान्धी मिले, नेहरू मिले। हमारी पीढ़ी बहुत भाग्यवान थी। वह आदर्शवाद की पुकार थी। देश के लिए, मूल्यों के लिए, जीवन न्योछावर करने की तैयारी थी और योग्य मार्गदर्शन करने वाले नेता थे—लेकिन आप लोगों को भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। आप लोग यहाँ मुझे सुनने के लिए एकत्रित हुए हैं। इसका मतलव यह है कि आप को भी आदर्शवाद पुकार रहा है। आप लोगों में कई युवक ऐसे भी हैं जो प्रत्यक्ष आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता हैं। हमारी पीढ़ी के सामने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करना प्रमुख ध्येय था। आज देश के स्वतन्त्र होने के बाद आप को कई चुनौतियों का सामना करना है, जो हमारे समय में दोयम स्थान पर थीं। आज हमारे देश ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को अपनाया है। इस व्यवस्था के प्राणतत्त्व व्यापारिक स्पर्धा, अधिकाधिक मुनाफ़ा और खुद की उन्नति है, जिनके पास साधन और शिक्षण हैं उन सबको, हमको, आपको, हमारे मध्यमवर्ग के आधिकांश को यह अर्थव्यवस्था मोह लेने वाली है। लेकिन एक वात का ध्यान रखिए…

"हमारे जैसे देश में जहाँ अस्सी-नब्वे प्रतिशत लोगों के हाथ में मुनाफ़ा कमाने की कोई साधन-सामग्री नहीं है, वहाँ यह विषमता क्रूर अत्याचार और शोषण का साधन बन सकती है। इस स्वतन्त्रता का और आर्थिक विकास का लाभ सिर्फ़ कुछ गिने-चुने लोगों के साथ जा सकता है और बाक़ी जनता क्रूरता से कुचली जा सकती है। मानवीय सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से यह कहाँ तक उचित है, यह आपको सोचना होगा, तभी आपके सामने खड़ी यह चुनौति कितनी ताक़तपूर्ण है, इसका अनुमान आप लगा पाएँगे। ऐसे समय में आह्वान का सामना करने के लिए मार्ग-दर्शन

करनेवाले नेता नहीं हैं, यह कोई समाधान नहीं है। इस नये युग में विचार और तत्त्व ही आपका नेतृत्व करेंगे। आपको मार्क्स ने विचार दिया है, आपने नेहरू से भी विचार पाया है, उंस विचार पर निष्ठा रखिए और आह्वान झेलकर लड़ने के लिए स्वयं को तैयार कीजिए। आपकी पीढ़ी से भी अपने नेता अपने आप उभरेंगे जो आपका और आनेवाली पीढ़ी का मार्गदर्शन करेंगे।"

भाषण खत्म हुआ और वह वृद्ध विचारवन्त प्रश्नों की अपेक्षा में आराम से बैठ गये। अभ्यासवर्ग में मुश्किल से तीस-पैंतीस युवक-युवतियाँ उपस्थित थे, जिनमें से अधिकांश समाजवादी गुट से थे। विश्वम्भर ऐसी गोष्ठियों में कभी नहीं होता था, क्योंकि वह खुद को स्वयं शिल्पी मानता था, आज श्रीधर के साथ शशी भी थी।

पहला प्रश्न धनंजय ने पूछा, "आधुनिक युग में विज्ञान-विचार ही आदर्शवाद है, क्या आप ऐसा नहीं सोचते ?"

"विज्ञान पर निष्ठा अच्छी बात है लेकिन उस पर अति-निर्भरता ठीक नहीं। विज्ञान समाज-रचना को बदलने का अत्यन्त उपयुक्त साधन हो सकता है लेकिन वह हमारे सामाजिक व्यवहार का केन्द्रीय तत्त्वविचार नहीं हो सकता। उसके लिए राजकीय प्रणाली का ही विचार होना चाहिए। लेकिन एक बात ध्यान में रखनी होगी कि निसर्ग हो या विज्ञान—दोनों कठोरता से समता तत्त्व पर चलते हैं। निसर्ग या विज्ञान का उपयोग यह उच्च-नीच को या अमीरी-ग़रीबी के भेदभाव को और गहरा कर सकता है।"

"क्या आपका यह मतलब है कि जयप्रकाश नारायण आदर्श नेता नहीं हैं ?" एक लड़के ने तैश में आकर पूछा।

विचारवन्त ने धीरे से मुस्कुराकर प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। इससे पहले कि दूसरा लड़का प्रश्न उठाता, पहले ने उसे रोककर पूछा, "अण्णा, आपने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।"

"उत्तर पर ज़ोर न दीजिए, कदाचित् सुनने में आपको बुरा लगेगा···।" अण्णा ने फिर मुस्कुराते हुए कहा।

"क्यों ? क्यों ? क्यों कर ?" उस लड़के ने ठनककर कहा। वह युवक शान्तिसेना से आया था, यह सब जानते थे। "जयप्रकाश जी जैसा उज्वल चरित्र का, सत्चरित्र और निःस्वार्थी नेता आज कोई और है ?"

"नहीं।"

"तो फिर ?"

"मैंने कह जो दिया कि मेरा मतप्रदर्शन आपके लिए अप्रिय हो सकता है···।" अण्णा ने थोड़ा परेशान होकर भी मुस्कुराते हुए कहा, "आप बहुत ज़ोर दे रहे हैं इसलिए बता रहा हूँ। नेता को सत्शील और चरित्रवान् तो होना ही चाहिए। लेकिन

उससे कुछ नहीं होता क्योंकि हम मध्यमवर्गीय लोग कुछ और कर नहीं सकते इसलिए हमें सत्शील और चरित्रवान् बने बग़ैर कोई चारा नहीं होता···।"

श्रोतागण हँस पड़े, प्रश्नकर्त्ता का चेहरा प्रक्षुब्ध होने लगा था।

"माफ़ कीजिए। मैं किसी का मज़ाक़ नहीं उड़ाना चाहता था। मैं सिर्फ़ अपने मानदण्ड बता रहा हूँ, और वह मेरे विचार में वैश्विक मानदण्ड है। चरित्रवान् होने के साथ-साथ नेता का जीवन-विषयक और विश्व को लेकर दृष्टिकोण इतना सुस्पष्ट और सबको आसानी से समझने वाला होना चाहिए कि वह कैसी समाज-रचना चाहता है, उसके कार्य की क्या दिशा है, इस सवके बारे में उसकी कल्पनाएँ स्पष्ट और शक्यता के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं, यह लोगों की समझ में आना चाहिए। समाज और देश को नयी दिशा देने की प्रतिभा, साहस और गतिशीलता उसमें होनी चाहिए। उसे सृजनशील होना चाहिए···यह सूची और भी लम्बी हो सकती है लेकिन फिलहाल इतना ही काफ़ी है···।"

अण्णा जव रुके तव शान्तता फैली हुई थी। बहुतांश युवकों को शायद अण्णा का यह विश्लेषण पसन्द नहीं आया था। लेकिन अण्णा हल्के से मुस्कुराये जा रहे थे। इस गुत्थी से निकलने के लिए शशी ने जानवूझकर चंचलता से पूछा, "हमारे आदर्श के रूप में कृष्णमूर्ति आपको कैसे लगते हैं ?"

"कृष्णमूर्ति ? मैं तो इस नाम के किसी नेता को नहीं जानता। ओ हो ! आप जिधू कृष्णमूर्ति की बात कर रही हैं ! वह तो योगी पुरुष हैं, महा-मानव हैं। उनके लिए मेरे मन में बहुत आदर है। लेकिन वह आपको प्रेरणा कैसे दे सकते हैं ? वह तो आपको इस जग की तरफ और अपनी तरफ अलिप्त दृष्टि रखने के लिए कहते हैं। समग्र दर्शन से विकारों का लय करने के लिए कहते हैं, वह आपको लड़ने के लिए क्या प्रेरणा देंगे ? उनसे तो गुण्डों को पीटनेवाला हिन्दी-सिनेमा का हीरो मेरे लिए ठीक रहेगा···।"

फिर हँसी की एक लहर। शशी ने श्रीधर की तरफ करारी नज़र से देखा।

"हमारे देश में क्या साम्यवादी क्रान्ति सम्भव है ?" किसी ने पूछा।

"क्रान्ति तो मैं भी चाहता हूँ। लेकिन अगर आपके इस प्रश्न का उत्तर देना है तो मुझे अपने साम्यवादी दोस्तों को नाराज़ करना होगा।"

"क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान में क्रान्ति असम्भव है ?"

"ऐसा मैंने कब कहा ? मैं इतना ही कहना चाहता था कि आज की स्थिति में साम्यवादी क्रान्ति के आसार मुझे कहीं नज़र नहीं आते। पूँजीवाद ने हमारा गला पकड़ रखा है और अपने मध्यमवर्ग ने तो सोचना ही बन्द कर दिया है। और फिर हमारी साम्यवादी पार्टियाँ होकर भी न होने के बराबर हैं।"

फिर उसी भुनभुनाते युवक ने पूछा, "कम्युनिस्ट विचारप्रणालियों में मानवीय

मूल्यों का कोई स्थान नहीं। क्रूरता, हिंसा और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन—इस राज्य-व्यवस्था के प्रमुख घटक हैं। क्या आप नहीं सोचते कि आज के युग में मार्क्स की विचारप्रणाली अप्रस्तुत, कालवाह्य और निरुपयोगी हो चुकी है ?"

अण्णा ने उसकी तरफ क्षमाशील नज़रों से देखते हुए कहा, "मार्क्सवाद का तात्त्विक विरोध मैं समझ सकता हूँ लेकिन उसके बारे में कोई ज्ञान न रखते हुए, केवल प्रचार पर विश्वास कर, मार्क्सवाद का द्वेष करना बुरी बात है। साम्यवादी क्रान्ति के आसार शायद अभी दिखाई न देते हों लेकिन आज के पूँजीवाद पर भी मार्क्सवाद का कितना प्रभाव है, इसकी आप कल्पना नहीं कर सकते…"

अण्णा धीमी गति में बोलते गये। मार्क्सवाद के बारे में संक्षिप्त जानकारी और उसके हमारे देश में न पनपने के कारणों का विश्लेषण करने के बाद उनकी आवाज़ काँप गयी। मार्क्सवाद के विरोधकों पर और मार्क्सिस्ट पक्ष की ग़लतियों पर उन्होंने कड़ा हमला किया और फिर मार्क्सवाद जग में सबसे बेहतर कैसे है—यह पुनः बताया।

अभ्यास वर्ग जब खत्म हुआ तब काफ़ी वक़्त हो चुका था। श्रीधर, धनंजय, शशी और यशोधरा एक होटल में बैठकर चाय पी रहे थे। सिगरेट फूँकते हुए और हँसते हुए धनंजय ने कहा, "अनाड़ी लोगों की आस्था को हम लोग अन्धश्रद्धा कहते हैं। अण्णा की मार्क्सवाद में जो आस्था है उसे क्या कहना चाहिए ?"

"अपनी बकवास का अर्थ जानते हो ?"—यशोधरा एकदम उफनकर आवाज़ चढ़ाकर बोली। "तुम अण्णा के बारे में नहीं जानते और न ही मार्क्स के बारे में कोई ज्ञान रखते हो, वरना यह सब कहने की तुम्हारी हिम्मत ही नहीं होती।"

"क्यों ? क्या हुआ ?" अब धनंजय भी लड़ने के तैश में आकर बोला, "अण्णा भी तो एक तरह से श्रद्धालु ही हुए।"

"जरा सोचकर बोलो।" यशोधरा बरस पड़ी। "अण्णा विचार पर विश्वास करते हैं। इन विचारों की तर्क-शुद्धता उनका आधार है, और उसमें भी परिवर्तन की प्रचण्ड शक्ति छिपी हुई है, ऐसा उनका पूरा विश्वास है। भगवान की भक्ति और अन्धश्रद्धा का यहाँ क्या सम्बन्ध है ? आग को आग कहना क्या अन्धश्रद्धा है ? जो मुँह में आये बकते हो—मार्क्स को बिना पढ़े ही इतनी बकवास कैसे कर लेते हो, यह मेरी समझ में नहीं आता।"

"हूँ…। पढ़ना ज़रूरी थोड़े ही है।" धनंजय ने उसे जान-बूझकर चिढ़ाने के लिए कहा, "तुम कुछ भी कहो, मुझे तो अण्णा गाँव की किसी महिला से कम अन्धश्रद्धालु नज़र नहीं आते।"

"तुम अब चुप भी करोगे या…।" यशोधरा ने अपना पर्स मारने के लिए ऊपर उठाया और धनंजय खिलखिलाकर हँस पड़ा। फिर यशोधरा से भी हँसी रोकी नहीं

गयी।

चाय के आने के बाद श्रीधर ने कहा, "मैं तो धनंजय जैसा मज़ाक़ नहीं उड़ाना चाहता। लेकिन उन्होंने एक बात ठीक कही कि कोई भी विचार कितना भी तर्कशुद्ध और व्यवहार्य क्यों न हो, उसे पूर्ण रूप से अमल में लाने के लिए उस विचार पर और उसके सामर्थ्य पर श्रद्धा होनी चाहिए जो बुद्धिवाद या तर्क से निकली है। धर्म और वैचारिक श्रद्धा में यही फ़र्क है। इसे हम वैचारिक निष्ठा कह सकते हैं। इसी श्रद्धा के बल पर तो एशिया में और चीन में इतनी बड़ी क्रान्तियाँ सम्भव हो पायी। श्रद्धा में दुनिया का उलट-पुलट करने का सामर्थ्य है। यह अवश्य है कि श्रद्धा या निष्ठा बुद्धिवाद से थोड़ी आगे निकल जाती है…।"

"यही…यही तो मैं कह रहा था।" धनंजय ने चीत्कार किया। "आखिर तर्कबुद्धि को छोड़ श्रद्धा का आश्रय…।"

"तुम ज़रा चुप भी बैठोगे ?"

यशोधरा ने फिर ज़रा चिढ़कर कहा, "हर समय विज्ञान-विज्ञान की रट लगाये रहते हो। एक बात का ध्यान रखो—तुम्हारी यह अति विज्ञाननिष्ठा और बुद्धिप्रामाण्यवाद की भी अन्तिम सीमा श्रद्धा ही है। इसे पता है क्या कहते हैं ? वैज्ञानिक गूढ़तावाद या साइण्टिफ़िक आब्सक्युरिज़्म।"

"मेरी श्रद्धा तो कम-से-कम विज्ञान पर है।" धनंजय ने कहा।

"लेकिन श्रद्धा तो श्रद्धा है जो बुद्धि से परे है।" श्रीधर ने कहा।

"यह मत भूलो कि आइन्स्टाइन तक ने कहा है कि ज्ञान के पार भी कोई एक महान् शक्ति है।" यशोधरा ने उसे फटकारा।

अब धनंजय सचमुच निरुत्तर हो गया और चाय का प्याला मुँह से लगाकर सोचता रहा। शशी अब तक चुप थी, बोल पड़ी, "लेकिन अण्णा की एक बात सराहनीय है, पता है क्या ? कृष्णमूर्ति से तो हिन्दी फ़िल्म का लड़नेवाला हीरो भला। नहीं ? आप लोग क्या सोचते हैं ?"

"मुझे दोनों नागवार हैं। न कृष्णमूर्ति आदर्श बन सकते हैं और न ही हिन्दी फ़िल्म का हीरो …।" धनंजय ने कहा।

"तुम कृष्णमूर्ति को निष्कारण ही इस पचड़े में खिंच रही हो।" श्रीधर ने किंचित नाराज़ होकर कहा। "यह प्रश्न पूछना क्या आवश्यक था ?"

"क्यों ? उसमें मैंने ऐसा क्या कह दिया ?"

"अरे भाई, इस सबसे कृष्णमूर्ति का क्या सम्बन्ध ! वह कोई नेता नहीं है और न ही गुरु। इतना ही नहीं, उन्होंने किसो एक विचारप्रणाली को स्वीकार किया है, ऐसी भी कोई वात नहीं है। उनका भला इस चर्चा में क्या काम !" श्रीधर ने कहा।

"क्यों नहीं ? उनका सम्बन्ध इससे अवश्य है।" शशी तैश में आकर बोलने

लगी। "वह गुरु नहीं, उनका कोई शिष्य परिवार नहीं, वगैरह सब ठीक है। तो फिर आप लोग, कृष्ण जी यह कहते हैं, वह कहते हैं, कहने वाले शिविर क्यों आयोजित करते हैं ? कृष्ण जी की महिमा उजागर करने वाली पत्रिकाएँ निकालते हैं···और कहो न कहो कृष्णमूर्ति का एक संघ वनाना चाहते हैं। यह तो सच है कि कृष्णमूर्ति महामानव हैं। लेकिन उनका आदर्श धोखादायक है। उनके जैसा बर्ताव करेंगे, ऐसा अगर हर कोई सोचे तो यह जग पीठ के पीछे हाथ बाँधकर खड़ा है, ऐसा आभास होगा। नहीं तो कल रजनीश, महेश योगी, नित्यानन्द महाराज ही हमारे आदर्शों का स्थान लेंगे।"

"विल्कुल सही।" धनंजय चिल्लाया। "मुझे तुम्हारा कहना सौ प्रतिशत मान्य है।"

शशी के आवेग को देखकर यशोधरा भी मुस्कुराकर और गरदन हिलाकर उसे समर्थन दे रही थी।

छात्रावास लौटते हुए धनंजय ने श्रीधर से कहा, "तुम कुछ भी कहो। लेकिन आज के अण्णा के भाषण से भी उसके वाद में हुई चर्चा अधिक फलदायी थी। कई बातें हँसते-हँसते कही-सुनायी जा सकती हैं। वहुत गम्भीर बातें भी सहजता से की जा सकती हैं।"

उनतीस

अनायास ही श्रीधर के क़दम लक्ष्मीदास बाबा के मठ की तरफ मुड़े, इस बात का श्रीधर को भी आश्चर्य हुआ। उसके क़दम मठ की तरफ ही क्यों मुड़ते हैं और वह क्या है, जिसने उसे यहाँ बाँध रखा है, यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था।

जव वह वहाँ पहुँचा तब रात्रि का भोजन खत्म करके लालटेन की रोशनी में वावा एक मोटी पुस्तक पढ़ रहे थे। माई उसी की प्रतीक्षा कर रही थी। माई एकभुक्त थी। वह रात को भोजन नहीं करती थी।

"अरे श्रीधर, कितनी देर कर दी ? तुम गये कहाँ थे ?" उसे देखकर चैन की साँस लेते हुए माई ने कहा, "हम लोग यहाँ चिन्ता करने लगे थे कि कहीं पहाड़ों में तुम रास्ता भूल तो नहीं गये। क्या जाने तुम्हारे बारे में, तुम ठहरे नि:संग आदमी। एक दिन जैसे आये, कौन जाने वैसे चले भी जाओ। कहाँ गये थे ?"

"कहीं नहीं माई, शाम को देवस्थान गया था और वहाँ से मैं निकल ही नहीं

पाया। उस वातावरण ने तो मुझे जैसे बाँध रखा था।'' श्रीधर ने कहा।

''वाह ! अच्छा है। यानी कि तुम अव मन्दिरों में जाने लगे। वहुत खुशी की बात है। अरे भाई, जव तक उसकी शरण में नहीं जाते, इस जीवन में कुछ नहीं हो पाता। अच्छा, चलो तुम। मैं तुम्हारा भोजन गरम कर लाती हूँ। तव तक तुम हाथ-पैर धो लो। तुम्हारे लिए बादाम का हलवा वनाया है।''

माई की इस प्रेम-वर्षा से श्रीधर का दम घुटने लगा। उसको अजीब-सा लग रहा था। फिर हाथ-पैर धोकर, रसोई में माई के पास जव वह भोजन करने वैठ गया, तो उसके के मन में विचार आया, कि यह माई का प्रेम किस तरह का प्रेम है ? उसके पीछे किस तरह की अपेक्षा है ? दूसरे ही क्षण उसे अपने-आप पर ग्लानि हुई। ऐसा विचार मन में लाना भी उस प्रेम के लिए अपात्र होने का प्रमाण है। बल्कि प्रेम की कल्पना का मेरा आकलन ही पूर्ण नहीं है।

जीवन में इतना कुछ झेलने के बावजूद, प्रेम को लेकर इतने आघात सहने के बाद भी ···उसे धनंजय के वोल याद आये, 'तुमने किसी से सच्चा प्रेम किया ही नहीं है और कर भी नहीं पाओगे।' अब तक वह यह निर्णय नहीं नहीं कर पाया था कि शशी से उसे जो भी था, क्या वह सच्चा प्रेम था या कुछ और ! प्रेम केवल निरपेक्ष, प्रतिसाद की अपेक्षा न करनेवाला हो ही नहीं सकता यह वात उसके दिमाग़ में पक्की बैठ गयी थी, जिसका उसे खेद हुआ। वैसे अनन्त अपार करुणासागर की तरह निरुद्देश्य, निरपेक्ष और निरामय प्रेम, एक स्वप्नरंजन की कल्पना थी, ऐसा उसे अब भी लग रहा था। और इन परस्पर विरोधी विचारों के आवर्त में छटपटाते हुए उसे बार-वार यही लग रहा था कि उसकी जो आशंका है वह ग़लत, कुरूप और कृतघ्नता नहीं वल्कि सहज है। माई का प्रेम वदले में किस चीज़ की अपेक्षा करता है ?

खाते हुए श्रीधर बोला, ''माई, आप भी कमाल करती हैं। मैं न जाने कौन कहाँ का, न आपके घर का न घाट का, न भाषा का, न ही किसी रिश्ते का और न ही जाननेवालों में से···फिर भी आप मेरा इतना विश्वास क्यों करती हैं ? मुझसे इतना स्नेह क्यों करती हैं ?''

उसकी तरफ ममत्व से देखती हुई माई बोली, ''इस तरह भी छानबीन करता है कोई ! कोई प्रेम करता है तो निःसन्देह भाव से उसे स्वीकारना चाहिए, वही ठीक रहता है। लेकिन तुम्हारे मन में यह प्रश्न उठा ही क्यों ? क्या हमारी तरफ से कोई कमी रह गयी ?''

देखते-ही-देखते माई का गोरा चेहरा काला पड़ने लगा और उनका गला रुँध गया।

''न···न···माई। आप ऐसा सोचें भी नहीं। ऐसा होना ही असम्भव है। —मुझे

ऐसा कहना नहीं चाहिए था।"

माई ने कुछ नहीं कहा। वह सिर्फ़ बाहर के गहरे अँधेरे में देखती रही।

तीस

एक दिन बाबा का भोजन दुकान पहुँचाकर दोपहर में घूमने के लिए मुख्य देवस्थान के रास्ते से गुज़रते हुए श्रीधर रास्ते में ही रुक गया। सामने पुरानी वस्तुओं की दुकान से बाहर निकालते हुए उस दम्पती की तरफ एक बार देखते हुए, वह आगे बढ़ा। अचानक उसकी स्मृति में कुछ हलचल हुई। ठीक से याद नहीं आ रहा था लेकिन फिर भी चेहरा याद था। श्रीधर मुड़ा और अब उस पुरुष को ग़ौर से देखने लगा। सड़क पर तरह-तरह की नक्काशीदार रजाइयाँ बेचने वाली एक दुकान के सामने वह दम्पती खड़े थे और चीज़ें परख रहे थे।

श्रीधर को अब पूरा विश्वास हो गया। कितने वर्ष हुए होंगे ! पन्द्रह-सोलह तो निश्चित ही। उम्र बढ़ने के बाद भी वही चेहरा था। भव्य और तेजस्वी। अब उम्र छप्पन या सत्तावन हो सकती है—ज़्यादा-से-ज़्यादा साठ साल। चेहरे पर थोड़ा-सा झुर्रियों का जाल बिछा था। लेकिन ताज़गी, बुद्धि का तेज और ज्ञान की प्रभा और भी विस्तृत लग रही थी। वही चौड़ा माथा, पीछे की तरफ घुमाये हुए सफ़ेद बाल, जो अब बहुत विरल हो चुके थे। छाती तक पहुँचनेवाली दाढ़ी काटकर अब छोटी कर ली थी और उन्होंने काफ़ी शानदार विदेशी कपड़े पहन रखे थे। चेहरे पर वही संयत हँसी। निःसन्देह वह प्रोफ़ेसर शास्त्री ही थे। श्रीधर का कौतूहल जाग उठा।

उनके साथ जो गौरांगना थी उसने उसे भी देखा। वह नवयुवती बहुत सुन्दर थी। सुनहरे बाल, नीली-हरी आँखें और उम्र होगी कुछ बीस-पच्चीस के बीच। उसने पाश्चात्य पद्धति की जीन्स और कमीज़ पहन रखी थी। उसका यूरोपियन वर्ण स्पष्ट झलक रहा था। शास्त्री बीच-बीच में उसकी कमर में हाथ डाल रहे थे और वह उनकी बाज़ू पर अपना सिर थाम रही थी।

श्रीधर स्तब्ध खड़ा रहा। उसे लगा कि तीव्रता से आगे बढ़कर प्रोफ़ेसर शास्त्री को अपना पुनःपरिचय कराये। शायद वह अब उसे पहचान भी न पायें···लेकिन परिचय ताज़ा करने में, श्रीधर के मन में उन्हें चिढ़ाने का भाव नहीं था। जो भी हो, उसने प्रोफ़ेसर शास्त्री को पाँच-सात महीने ऋषितुल्य माना था और बाद में घटी

कुत्सित घटना से उनकी प्रतिमा भंग हो चुकी थी लेकिन आश्चर्य की बात थी कि बावजूद इसके उनके प्रति उसके मूलभूत आदर को क्षति नहीं पहुँची थी। उस दिन प्रोफ़ेसर शास्त्री की सामाजिक रूप से पगड़ी उछालने के बाद धनंजय रात को सो नहीं पाया था, यह बात श्रीधर नहीं भूला था। बाद में साल भर विज्ञान शाखा के छात्र प्रोफ़ेसर शास्त्री को कोस रहे थे लेकिन उनके जैसे अफ़लातून शिक्षक और बुद्धिमान वैज्ञानिक को खोने पर पछता भी रहे थे।

उन दोनों ने कोई एक छोटी-सी चीज़ खरीद ली। उस गौरांगना ने उसे अपने थैले में डाल दी और दोनों हँसते-बोलते वहाँ से गुज़रने लगे। श्रीधर उनसे बहुत दूर तो नहीं था। प्रोफ़ेसर शास्त्री की नज़र उससे गुज़र कर आगे बढ़ी लेकिन कुछ आन्तरिक संवेदन से वह घूमकर फिर श्रीधर के चेहरे पर पलभर के लिए स्थिर हुई और वह आगे बढ़े। श्रीधर जानता था कि इतने वर्षों बाद प्रोफ़ेसर शास्त्री उसे पहचान नहीं पाएँगे। तब वह उन्नीस-बीस वर्षीय युवा छात्र था। आज वह छत्तीस-सैंतीस के क़रीब था। माई के बनाये सात्त्विक आहार की चरबी उस पर चढ़ गयी थी, दाढ़ी बढ़ी हुई थी और बीच के अनुभवों की रेखाओं ने चेहरे पर अपनी छाप छोड़ी थी। और फ़िर श्रीधर कभी उनका छात्र तो रहा नहीं था।

जब श्रीधर ने उनकी नज़र अपने चेहरे पर स्थिर होती देखी तो वह दो क़दम आगे बढ़ा और किंचित् हँसकर और नम्रःपूर्वक आदर से उन्हें अभिवादन करता हुआ बोला, "नमस्कार सर, मुझे पहचाना ?"

प्रोफ़ेसर शास्त्री रुके। वह युवती भी ठिठक गयी। शास्त्री ने भौंहें सिकोड़ कर श्रीधर की तरफ़ देखा। उनकी नज़र में आंशिक स्मरण था। शायद वह, उसे कहाँ देखे थे, यह याद कर रहे थे।

"आप को याद आना मुश्किल है, सर !" श्रीधर ने विनम्रता से कहा, "मैं पुणे में कला संकाय का छात्र था—श्रीधर।"

"श्रीधर ?" शास्त्री अब भी दिमाग़ पर ज़ोर डालते लग रहे थे।

"श्रीधर''हम कॉलेज के पीछे पहाड़ी पर भोर में घूमने जाया करते थे।"

अब शास्त्री की आँखें विस्फारित हो गयीं, चेहरा खिल उठा, होंठों पर चौड़ी मुस्कान फैल गयी। दोनों हाथ उठाकर उसकी बाजुओं पर रखते हुए, वह बहुत प्रसन्न होकर बोले, "ओ श्रीधर''माय ब्वॉय''यंग मैन''हाऊ आर यू डूइंग''हाऊ आर यू ?" उनके उच्चारण पर अमरीकी प्रभाव साफ़ नज़र आ रहा था।

"ऑफ कोर्स, आई रिमेम्बर यू''यू लिटल फ़िलासफ़र''अभी मेरी याददाश्त पूरी तरह साबित है। और बताओ, तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

उनके स्वर में घनगम्भीर तार क़ायम अवश्य था लेकिन अमरीकी वातावरण के प्रभाव से शब्द और बोलने में कुछ खुलापन आ गया था।

"मैं···मैं···यूँ ही भटक रहा हूँ सर···।"

"भटक रहे हो ? यानी···हाँ···याद आया। तुम अव भी उस अन्तिम सत्य और रहस्य की खोज में हो···ओह···इनसे मिलो। यह है मार्टीना। मेरी दोस्त, सखी, शिष्या, प्रियतमा और मेरी वागदत्ता वधू।

डार्लिंग, मीट माई फ्रेण्ड, श्रीधर, ए फ़िलासफ़र वाण्डरिंग इन सर्च ऑफ ट्रुथ।"

श्रीधर ने हाथ वढ़ाया।

"आह् हाऊ रोमैण्टिक···" कहती हुई उस लड़की ने आगे वढ़कर श्रीधर के गले में वाँह डाल दी और दूसरे हाथ से उसका सिर अपनी तरफ़ खींचकर, उसके गाल का चुम्वन ले लिया।"

"हाऊ इण्टरेस्टिंग। इतने सालों वाद हम मिल रहे हैं।" प्रोफ़ेसर शास्त्री ने कहा, "क्या तुम तव से सचमुच सिर्फ़ भटक रहे हो ?"

"नहीं सर, खूव पढ़ाई की, कैरियर वनाया। खूव पैसा कमाया और धन-दौलत जोड़ी। और अव फिर से सव छोड़-छाड़कर निकल पड़ा हूँ।"

"हा हा" प्रोफ़ेसर शास्त्री ने हँसकर मार्टीना से कहा, "सुना तमने डार्लिंग ? यह युवक सर्वसंगपरित्याग करके सत्य की खोज में निकल पड़ा है। वेल, यंग मैन···कहाँ तक पहुँची है तुम्हारी खोज ?"

श्रीधर ने उनके प्रश्न को टालकर कहा, "और आप सर ? आप इन दिनों कहाँ हैं ?"

अव प्रोफ़ेसर शास्त्री समझदारी से हँसे और उन्होंने कहा, "वेल, आप लोगों ने मुझे उठाकर वाहर फेंक दिया और मैं सीधा अमरीका चला गया। फ़िलहाल कैलीफोर्निया में हूँ, शोध कर रहा हूँ। वहीं मैंने अपनी इस प्रियतमा को पाया।"

उन्होंने अपनी वाँह फिर मार्टीना की कमर में डाली और वोले, "अरे हम लोग यहाँ खड़े-खड़े क्या रह रहे हैं ? चलो हमारे गेस्ट हाउस तक, वहाँ चलकर चाय पीते हैं। मुद्दतों वाद मुझे पुणे का कोई व्यक्ति मिल रहा है।"

प्रोफेसर शास्त्री ने टैक्सी नीचे वहुत दूर पार्क की थी। वह लोग वहाँ से गेस्ट हाउस गये।

"यू नो, मार्टीना को हमारे भारतीय अध्यात्म के वारे में काफ़ी जिज्ञासा है," प्रोफ़ेसर शास्त्री ने कहा, "इसीलिए हमारी जान-पहचान हो गयी। और इसीलिए अव वह मेरे साथ आ गयी है, अध्यात्म की खोज में।"

"हू इज़ युवर गुरु ?" मार्टीना ने पूछा।

"आई हैव नो गुरु।"

"यानी ? फिर तुम्हारा मार्गदर्शन कौन करता है ?"

"किस सन्दर्भ में ?"

"वेल...तुम्हारी इस खोज में ?"

मार्टीना अब असमंजस में पड़ गयी थी।

"वेल मार्टीना", प्रोफ़ेसर शास्त्री ने मुस्करा कहा, "तुम जो चाहती हो न, वह इसके पास नहीं मिलेगा। क्योंकि इसकी खोज बिलकुल अलग है।" फिर श्रीधर की ओर मुड़कर वह बोले, "रजनीश की भक्त थी बेचारी। ओरेगॉन के उनके आश्रम में हर छुट्टियों में जाया करती थी।"

"योर भगवान लेट मी डाउन।" उसने कन्धे झटकाकर कहा।

"तुमने ग़लत भगवान का चयन किया।" श्रीधर ने कहा, "उनसे तो प्रोफेसर शास्त्री अच्छा मार्गदर्शन कर सकते हैं।"

"सो आई गेस। इसीलिए मैं यहाँ चली आयी।"

उसकी नीली-हरी आँखों में झील-सी गहरी उदासीनता नज़र आ रही थी।

"बेचारी ने अपने जीवन में काफ़ी कुछ सहा है।" प्रोफेसर शास्त्री ने आह भरकर कहा, "एनी वे, भारत ने उसे काफी उत्साह दिया है।"

"इन्होंने मेरे जीवन को कुछ ध्येय दिया है..." उसने कहा।

"कौन-सा ?" श्रीधर ने अधीरता से पूछा।

"हिमसेल्फ !" मार्टीना ने प्रोफेसर शास्त्री की तरफ अंगुलिनिर्देश करते हुए पूर्ण गम्भीरता और आवेग से कहा, "माई फ्रैण्ड, माई गाइड, गुरु, फ़िलासफर एण्ड माई लवर।"

प्रोफ़ेसर शास्त्री अपने पाइप में तम्बाकू डाल रहे थे। वह भी चंचलता-मिश्रित प्रामाणिक गम्भीरता से बोले, "तुम्हें पन्द्रह साल पहले मैंने जो कहा था, वह याद है, श्रीधर ? प्रेम, प्रेम सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है। पुणे में मेरे नाम पर चरित्रहीनता की कालिख लग गयी थी इसीलिए तुम लोगों ने मुझे निकाल दिया। मैं तुम लोगों पर कोई दोषारोपण नहीं कर रहा। लेकिन उसी के साथ यह बात भी सच है कि इससे मेरे तत्त्व की सच्चाई पर कोई आँच नहीं आती। विश्व की उत्क्रान्ति की प्रक्रिया में प्रेम सर्वोच्च चीज़ है, यह ध्यान में रखना। हमारे पुराणों में, देवों ने सागरमन्थन करके अनेक चीज़ें निकालीं—ऐसा लिखा है। इस जग के साथ भी वही बात हुई है। अच्छी, बुरी—दोनों क़िस्म की चीज़ें निकलने के बाद अमृत निकला, जो उत्क्रान्ति का सर्वोच्च आविष्कार यानी प्रेम है। मानो इस दिव्य आविष्कार की पूर्ति के लिए ही विश्व की उत्क्रान्ति की प्रक्रिया शुरू हुई। आदिम महास्फोट भी इसी के लिए हुआ। प्रेम इस विश्व की अत्यन्त उदात्त सुन्दर और सर्जनशील बात है, श्रीधर । क्या तुमने ग्रीक तत्त्वज्ञ पढ़े हैं ? ज़रूर पढ़े होंगे। फिड्रस नामक एक कवि था। साक्रेटिस का समकालीन। वह कहता था, मुझे प्रेमियों की सेना दीजिए, मैं जग को जीत लूँगा। और साक्रेटिस तो कहता था—प्रेम यानी सौन्दर्य और सौन्दर्य यानी

सत्य और सत्य का मार्ग यानी परमेश्वर तक पहुँचने का महामार्ग·

प्रोफ़ेसर शास्त्री ने अत्यन्त सन्तोषपूर्ण अन्दाज में अपना पाइप सुलगाकर कुछ कश भरे। मार्टीना मन्त्रमुग्ध होकर उन्हें देखती जा रही थी। उसकी आँखों से आँसू की लड़ी निकल पड़ी। प्रोफ़ेसर शास्त्री का हाथ अपने हाथों में लेकर उसे चूमकर वह वोली, "ओह, लव मेक्स मी क्राई।"

प्रोफ़ेसर शास्त्री ने वहुत मार्दव से उसका सिर थपथपाया और श्रीधर की ओर सहानुभूति से देखते हुए वह वोले, "प्रेम क्या है यह समझ लो। प्रेम करो। उससे तुम्हें समूचे विश्व का आकलन होगा, खुद से पहचान होगी। अपने और विश्व के अस्तित्व का प्रयोजन समझ में आ जाएगा···"

प्रोफ़ेसर शास्त्री रुके। अपनी पाइप का तम्बाकू उन्होंने ठीक किया और सुनहरे लाइटर से उसे फिर सुलगाकर वह हँसते हुए वोले, "मैंने जीवन भर मन से प्रेमदेवता की पूजा की है—उत्कटता से। इसीलिए आपके पुणे के शिखाधारी पण्डित छात्रों पर मुझे तरस आ रहा था। उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वह समझ रहे थे कि मैं लड़कियों को धोखा देता हूँ। हाः। मैंने जीवन में किसी से कोई वंचना नहीं की है। पूछ लो चाहो तो मार्टीना से भी। जाने दो। न तो मुझे अपना वचाव करना है और न तो किसी से कोई गिला है। आई एम ऍज हैप्पी ऍज एवंर ! तू पुणे का लड़का, वड़े दिनों बाद मिला, इसलिए वोल पड़ा। मुझे किसी के प्रति कोई घृणा नहीं। तुम मेरे छात्र तो थे नहीं। है न ? वाई द वे श्रीधर, तुम कैसे हो, तुम्हें प्रेम का साक्षात्कार हुआ है या नहीं ? अगर तुम प्रेम को नहीं पहचानोगे तो तुम्हारी यह खोज व्यर्थ सावित होगी। श्रीधर, तुम इस तरह क्यों भटक रहे हो ? यह यात्रा या तपस्या तुम्हें कुछ नहीं देगी। अन्तिम सत्य है प्रेम । और जो इसे समझते हैं, वह सुखी रहते हैं।"

प्रोफ़ेसर शास्त्री ने श्रीधर को घूरते हुए पूर्ण गम्भीरता से कहा, "यह बेकार की तृष्णा मत रखो श्रीधर, उसमें कुछ नहीं धरा, पूछो मार्टीना से। तुमने शायद अभी किसी से प्रेम नहीं किया है। उफ़ ! वड़े अभागे हो। मेरी सुनो, वापस लौट जाओ और अपने प्रेम का पात्र ढूँढ़ निकालो।"

फिर प्रोफ़ेसर शास्त्री खुलेपन से मुस्कुराये। अन्य वातें हुईं। घण्टे भर में वह लोग वहाँ से चल पड़े। हिमालय के भ्रमण के वाद उन्हें अपनी प्रियतमा और शिष्या को लेकर वाराणसी जाना था। वहाँ से प्रयाग, जगन्नाथपुरी, तिरुपति, पण्ढरपुर···और यही उनकी भारतीय आध्यात्मिकता की परिक्रमा थी।

प्रोफ़ेसर शास्त्री आये और चले गये। लेकिन उन्होंने श्रीधर को सोचने पर मज़बूर कर दिया, क्योंकि वह जो भी कह रहे थे, मन से कह रहे थे। उनकी दृष्टि से उनके कथन में तथ्य था, सुसंगति थी। पुणे में पहाड़ी पर भोर की शीतल हवा में, श्रीधर

के साथ गम्भीरता से बात करनेवाले प्रोफ़ेसर शास्त्री और हिमालय के आलीशान गेस्टहाउस में, अपने से आधी उम्र की प्रियतमा के पास वैठकर पाइप में तम्वाकू भरते हुए वोलनेवाले शास्त्री में वैसे कोई फ़र्क नहीं था।

इकतीस

विद्यापीठ की अन्तिम परीक्षा देते हुए भी श्रीधर के अन्य काम चल ही रहे थे। धनंजय भौतिकशास्त्र की विशेष शाखा में प्रवीणता पाने के पीछे पड़ा था, इसलिए आन्दोलन से कम सम्पर्क रखता था। श्रीधर और शशी हफ़्ते में दो-तीन वार तो अवश्य ही मिलते थे। विद्यापीठ की अन्तिम परीक्षा खत्म होने के वाद विहार के अकाल-पीड़ित गुट की मदद के लिए जानेवाले गुट में उसने नाम दे दिया। जाने से पहले शशी ने उससे पूछा, "अव तुम आगे क्या करना चाहते हो ?"

"इसके आगे यानी ?"

"मतलव एम.ए. खत्म करने के वाद ?"

श्रीधर विचारमग्न हो गया। सच तो यह था कि यह प्रश्न उससे कभी किसी ने किया ही नहीं था। इतना ही नहीं, उसने भी अपने-आपसे नहीं किया था। लेकिन जीवन में रोज़ी-रोटी कमाने के लिए क्या करना है, यह भी तो उसने कहाँ सोचा था! श्रीधर जो चाहे वह करता था। चाहे तो हिमालय में भटकने के लिए भी जा सकता था। या फिर विश्वम्भर के या यशोधरा के आन्दोलन में अपने आपको झोंक सकता था। या अगर चाहता तो काफ़ी कमाई करने वाली नौकरी भी कर सकता था।

विश्वम्भर पुणे छोड़कर किसी आदिवासी क्षेत्र में भटक रहा था। यशोधरा भी वम्वई जानेवाली थी। श्रीधर से पूछनेवाला या रोक-टोक करनेवाला कोई नहीं था। सिर्फ़ शशी थी।

काफ़ी देर तक श्रीधर ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह दोनों विद्यापीठ के वनस्पतिशास्त्र उद्यान से गुज़र रहे थे। दोपहर का समय था। गर्मी लगभग शुरू हो गयी थी, धूप काफी तेज़ थी। दोनों एक विशाल वृक्ष की छाँव में वैठ गये।

"वैठो यहाँ, थोड़ी देर"—ज़मीन पर रूमाल विछाती शशी वोली। श्रीधर सहजता से उस पर बैठ गया। शशी ने फिर पूछा, "क्या सोच रहे हो, कब से ?

आज तक क्या तुमने इस विषय में सोचा ही नहीं था ?"

सौम्य मुस्कराहट से साथ श्रीधर ने कहा, "आज तक ग़लती से भी मैंने कभी इस दिशा में सोचा ही नहीं था। यह विचार मेरे मन में कभी आया ही नहीं।" श्रीधर रुक गया और घास पर पैर फैलाकर वैठ गया। फिर अपनी हथेलियों का निरीक्षण करता हुआ वोला, "वैसे तुम्हारा प्रश्न बहुत गम्भीर और गहन है।"

"फिर वही !" शशी ने हँसकर कहा। "तुम एक बेचैन आत्मा हो, यही सच है। नव्वे प्रतिशत लड़के एक सेकण्ड में वड़े आत्मविश्वास के साथ इस प्रश्न का उत्तर दे देंगे। और तुम, इस विषय में क्या करना है, कुछ न सोचते हुए यों ही दिशाहीन भटकना चाहते हो ?"

"एक्ज़ैक्टली ! यों ही भटकते रहना है…" श्रीधर ने कहा। और फिर उसने अचानक पूछा, "और तुम शशी ? तुमने क्या सोचा है अपने लिए ? तुमने आगे क्या करने की सोची है ? विवाह…वच्चे…गृहस्थी…?"

शशी का चेहरा गम्भीर हो गया। "तुम उत्तर देना टाल रहे हो।"

"तुम भी तो वताओ न !"

"मेरी वात अलग है। मैं तुम्हारी तरह वेचैन आत्मा नहीं हूँ। मैंने सोच रखा है। दादाजी के होते मैं उनकी देखभाल करूँगी और फिर छोटे ग़रीव वच्चों के लिए स्कूल चलाऊँगी।"

"उससे क्या होगा ? क्या तुम दुनिया वदल पाओगी ?"

"दुनिया जव वदलती है वदले। मैं, अपने इन दो हाथों से, मेरे आसपास जो स्थिति है, उसे सुधारने की कोशिश करूँगी, वह मेरे लिए काफ़ी है। 'जग वदलने की क्षमता नहीं है' कहकर हाथ पर हाथ रखकर वैठने से क्या यह अधिक ठीक नहीं है ?"

श्रीधर चुप रहा, घास, पेड़, आकाश को देखता रहा, उसके चेहरे पर शिकन के बादल छा गये।

"मुझे भी जग बदलने की आकांक्षा है, ऐसा तो नहीं है।" उसने आह भरते हुए कहा, "और यह भी नहीं, कि नहीं है। सिर्फ़ मैं यह नहीं जानता कि मुझे क्या करना है। सच, मैं क्यों पैदा हुआ, कहाँ जा रहा हूँ, जीवन का प्रयोजन क्या है, यह भी मैं कहाँ जानता हूँ ! यह सब गुत्थमगुत्थ सुलझाने के बाद ही तो पता चलेगा कि क्या करना है।"

"फिर वही…" शशी ने एक ठण्डी आह भरकर कहा। हँसती हुई वह बोली, "मालूम नहीं तुम वास्तविकता में कब उतर पाओगे ? कृष्णमूर्ति को सुनने के लिए जानेवाले या भगवान रजनीश के पास जानेवाले लोग नितान्त यथार्थवादी होते हैं, वह किसी-न-किसी भोग्य ईप्सित के पीछे लगे रहते हैं, जानते हो न ?"

"जानता हूँ, और मैं किसी स्वामी के पीछे पड़ा नहीं हूँ इसलिए शायद मेरी ऐसी स्थिति है "मैं सिर्फ़ जानना चाहता हूँ। मैं क्या ढूँढ़ रहा हूँ, यह मैं नहीं जानता। कदाचित् तुम यह कह सकती हो कि मैं जीवन की खोज करना चाहता हूँ। परमेश्वर के बारे में जिज्ञासा रखता हूँ, चाहे जो संज्ञा तुम इसे दे दो। लेकिन यह जो आन्तरिक वेचैनी है, उसका मूल नष्ट किये बिना मुझे सन्तोष नहीं मिलेगा। मैं नहीं जानता यह कैसे सम्भव होगा। इसलिए मैं सिर्फ़ सभी उपलब्ध मार्गों से उसको तलाश रहा हूँ। मेरे अन्दर यह जो आग है, उसकी दाहकता तुम नहीं जानती, शशी।"

"जानती हूँ !" शशी ने गम्भीरता से कहा, "अच्छी तरह जानती हूँ। इसीलिए तुम्हारे अन्तरंग का यह सनातन दाह और बाहर के चराचर की ऊष्मा सुसह्य करने के लिए मैं एक सीधा-सादा उपाय सुझाना चाहती हूँ।"

"कौन-सा उपाय देवीजी ? तुरन्त बताने की कृपा करें। मैं अधीर होकर आपकी शरण में आ चुका हूँ।"

"वत्स !" शशी गम्भीरता से अँगुलि निर्देश करती हुई वोली, "अपनी दृष्टि ज़रा दक्षिण की तरफ़ घुमाकर देखो। वहाँ उस विशाल कदम्ब वृक्ष के नीचे जो सफ़ेद प्रासाद नज़र आ रहा है, उसमें इस विद्यापीठ का रुचिपूर्ण खाद्य-पदार्थ तैयार करनेवाला उपहारगृह है, जहाँ शीतपेटी में अतिशीतल किये हुए और अस्वस्थ आत्मा की दाहक अवस्था तथा गर्मी से तपे शरीर की बेचैनी शान्त करनेवाले दुग्धपदार्थ या मधुर पेय मिलते हैं—वहाँ जाकर क्या हम अपनी अन्तरात्मा शान्त कर सकते हैं ?"

"आ···हा···हा। देवीजी, आपके इस साक्षेपी मार्गदर्शन से यह शिष्य पूर्ण प्रभावित है और आपके निर्देश का पालन करने के लिए अति उत्सुक है···"

बत्तीस

प्रिय श्रीधर,

वहुत दिनों बाद लिख रहा हूँ, माफ़ करना। माफ़ तो खैर कर ही दोगे क्योंकि मैं यह पत्र अस्पताल से लिख रहा हूँ। पिछले चार महीनों से मैं यहाँ हूँ। डॉक्टर ने अब कहीं थोड़ी-बहुत हल-चल करने की इज़ाज़त दी है। एक-दो महीने बाद बाहर निकल पाऊँगा। मम्मी यहीं पर हैं, वह समझती हैं कि मैं मरते-मरते बच गया, इसलिए मुझे मौत के मुँह से निकालने के लिए, उन्होंने मेरे केश तिरुपति को अर्पण करने का और

तिरुपति की पहाड़ी चढ़कर जाने का संकल्प किया है। केश-अर्पण का कार्यक्रम मेरे पूरी तरह ठीक हो जाने के वाद ही होगा।

अव तुम कहोगे, मैं इतना मरणासन्न कैसे ? उसकी भी राम-कहानी सुनाता हूँ। मैं अपनी भारतीय सेना में एक अधिकारी हूँ, यह तो तुम जानते ही हो। (यानी कि अगर भूले नहीं हो तो) भले आदमी, एक-दो पंक्तियों की चिट्ठी भेजने में क्या वहुत नुकसान होता है ? हमारे देश की पाकिस्तान से पिछले दिसम्वर में जो लड़ाई हुई थी, उसके वाद वंगला देश का निर्माण हुआ, यह तो तुम जानते ही हो। मेरी वेस सिलीगुडी था और मैं अक्टूवर से ही सीमा पर चला गया। (तव से मम्मी ने भगवान को तंग करना शुरू किया) संक्षेप में, मैं एक नया कोरा रंगरूट वनकर युद्ध में गया और एक फेफड़े में शार्पनेल के टुकड़े लेकर लौटा। कैप्टन का ओहदा और कुछ पुरस्कार प्राप्त हुए।

एक वात वता दूँ। युद्ध के वारे में मेरा सव स्वप्नरंजन अव खत्म हो चुका है। लड़ाई वहुत क्रूर और अमानवीय चीज़ है। इन्सान को जानवर से भी घृणास्पद और तिरस्करणीय वनानेवाली। विलावज़ह सामने खड़े आदमी को मार देना, आखिर क्यों ? मैं इन्फण्ट्री में हूँ, इसलिए ज़मीन पर दुश्मन से हमारा आमना-सामना होता है। दुश्मन के वहुत क़रीव आने पर वायोनेट्स निकालने पड़ते हैं। मैं सवसे जूनियर अफ़सर हूँ इसलिए अपने जवानों के साथ रहना पड़ता है, और वक़्त पड़ने पर जानवर की तरह सामने खड़े इन्सान पर टूट पड़ना होता है। और तुम हो कि जीवन-मृत्यु के वारे में दिन-रात सोचते रहते हो…इस वार मुझे भी उपर्युक्त अनुभव को जीना पड़ा, और अगर वैसा न करता तो आज यह पत्र लिखने के लिए जीवित न रहता।

अव भी पूरा तो वता नहीं सकता लेकिन अपने शौर्य की कथा सुनाता हूँ। हम मधुमती नदी को पार कर जेसोर पर कव्जा कर चुके थे, खुलना की पक्की सड़क जोती हुई लग रही थी। रॉकेट्स और मशीनगन्स की गोलियों से जगह-जगह गड्ढे हो गये थे। जली-भुनी, टेढी-मेढ़ी जीप्स, टैंक और मुर्दे। मुर्दे मरणकल्लोल की वेदना में टेढे-मेढ़े हुए, जले, कुछ भुने, कइयों के जख्मों पर मक्खियों के अम्वार और ऊपर आसमान में मँडराते चील-कौए। यह सव करतूत हमसे पहले की वटालियन ने की थी। टैंक, आर्मी के वाहन और हम सैनिक धीरे-धीरे आगे वढ़ रहे थे।

आगे दुश्मन अपनी फौज की रचना कर रहा था, तोपों के गोले आसपास आकर गिरने लगे। हमें आगे वढ़कर दुश्मन के कैम्प पर कव्जा

करना था। दुश्मन की बौछार वैसे ही चल रही थी और हम लोग धीरे-धीरे आगे वढ़ रहे थे। उनके कैम्प और तोपें शायद सीमेण्ट के वंकर में थे इसलिए उन पर हमारी तोपों का कोई असर हो नहीं रहा था। उल्टे हम पर ही मशीनगन की वर्षा हो रही थी।

मैं ज़्यादा विस्तार से सव लिखूँगा नहीं। एक तो तुम पढ़कर ऊव जाओगे और दूसरी बात यह है कि मेरा हाथ दुखने लगता है। यह पत्र भी रुक-रुककर लिख रहा हूँ। लंग में घुसे शार्पनेल के टुकड़े निकाल दिये गये हैं। जख्म भर आये हैं लेकिन अभी वदन में पूरी ताकत नहीं आयी है ···खैर—

मैं बिलकुल आगे की टुकड़ी में था। मेरे साथ के दो सैनिक मुझसे दस फीट की दूरी पर मारे गये लेकिन वह सोचने या दुखी होने का अवसर नहीं था। हमारा नेतृत्व होशियार सिंह नाम के अनुभवी लेफ्टीनेण्ट कर रहे थे। उन्होंने वॉकी-टॉकी से कमाण्डर को स्थिति से अवगत कराया। दुश्मन की बौछार ज़ारी थी और हमें लौटने की जल्दी। सच कहता हूँ, इसमें शौर्य आदि की कोई वात नहीं थी। जान वचानी थी और वैसे ही आगे बढ़ना खुदकुशी थी। हम उसी स्थिति में दो-तीन घण्टों तक रहे। इतने में शाम के नील-श्यामल आकाश में हमारे दो हवाईजहाज ऊपर से आये और सारा वातावरण उनकी गड़गड़ाहट से गूँज उठा। फिर नीचे ज़मीन के समान्तर आकर उन्होंने दुश्मनों पर ज़ोरदार हमला किया। दो मिनट में उनकी तोपें ठण्डी पड़ गयीं। हम आगे बढ़े। दुश्मन के कैम्प पर कब्ज़ा किया। उनकी तरफ से प्रतिकार का कोई चिह्न नज़र नहीं आ रहा था।

अव आगे का ठीक से याद नहीं लेकिन अचानक आग का तूफ़ान उठा। मेरे साथ खड़े लान्स नाईक के पेट में बन्दूक की गोली जाती दिखाई दी। सब मूक फ़िल्म की तरह याद है। इतना शोर-शराबा था कि कुछ याद नहीं, शायद मैं भी आवेश में चिल्ला रहा था। हमें वही ट्रेनिंग दी जाती है। हरभजन पर हमला करनेवाले का क्या हुआ यह याद नहीं।

स्मृति का अगला फ्लैश। कोई दुश्मन का सैनिक मुझ पर हमला करने आता है। आत्म-बचाव के लिए मैंने क्या किया, वह याद नहीं लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने उसके पेट में गोलियाँ भर दीं। उसके फूले हुए गाल, फटीफटी-सी आँखें और गोलियाँ। एक भयानक चीख—जैसे सिनेमा की रुकी पड़ी साउण्ड मशीन अचानक शुरू हो गयी हो। और फिर पेट में तीव्र वेदना। अगली स्मृति त्रिपुरा के अस्पताल में आँख खुलने की।

अब ठीक हूँ। पड़ा-पड़ा सोचता रहता हूँ। युद्ध को लेकर कितनी भोली-भाली, रोमांचकारी कल्पनाएँ मैंने दिमाग़ में पाल रखी थीं। अकादमी में हमें दिखाई गयी युद्ध फ़िल्में भी एक तरह की अवास्तविक स्वप्नरंजन ही तो थी। अब मुझे युद्ध से नफ़रत हो गयी है। यह बात खैर ठीक ही हुई है कि मेरे इन फेफड़े के जख्मों के बाद अब मैं ज़्यादा कष्टप्रद काम नहीं कर पाऊँगा। इसलिए शायद मुझे कोई दफ्तरी ज़िम्मेदारी सौंपी जाएगी। अर्थात् इससे पदोन्नति के अवसर कम होंगे लेकिन कोई बात नहीं । युद्ध से पहले प्रशिक्षण के लिए मुझे अहमदनगर भेजने वाले थे, वह सब अब कैन्सिल।

अस्पताल में पड़े-पड़े मैं तुम्हारे परमेश्वर की खोज को याद कर रहा था और फिर याद आता था युद्ध-भूमि का बर्बरतापूर्ण संहार। सोचता था अगर परमेश्वर है भी तो वह ऐसा क्यों है ? मानव-जाति को यह किस गुनाह की सज़ा मिल रही है ? इसमें कोई न्याय नहीं, तत्त्वज्ञान नहीं। परमेश्वर हो भी तो वह दुष्ट, अन्यायी और विकृत है। मम्मी से मैं इन सब बातों की चर्चा नहीं करता। उनका सीधा-सा तर्क है, "ये पिछले जन्मों के पाप हैं।" हमारे हिन्दू धर्म ने सारे अन्याय और विषमता का समर्थन इसी आधार पर किया है। कितना भयावह है यह !

इन सब बातों को लेकर सोचने लगा, तो लगा तुमसे पत्र लिखकर बात कर लूँ।

खैर, मैंने तो अपनी रामकहानी बहुत लम्बी खींची। तुमने इतने दिन कोई पत्र क्यों नहीं लिखा ? तुम बंगला देश के निवासियों की छावनी में जानेवाले थे, उसके बारे में भी तुमने कुछ नहीं लिखा। तुम्हारी परमेश्वर, जीवन-मृत्यु वाली खोज क्या अभी ज़ारी है ? तुम्हें रस मिलेगा इसलिए युद्ध के बारे में विस्तार से लिखा है। तुम्हारी शिक्षा, उपाधियाँ, नौकरी आदि ? विस्तार से लिखना। छुट्टी लेकर इस तरफ आ सकते हो तो आ जाना। मम्मी तुमसे मिलना चाहती है और मुझे भी तुमसे ढेर सारी बातें करनी हैं।

तुम्हारा,
जगत

पुनश्च—

अरे हाँ, मैं तो भूल ही गया। पिछले पत्र में तुमने किसी लड़की के प्रेम में फँस जाने की बात लिखी थी। अभिनन्दन ! मुझे इस दिशा में

प्रगति से अवगत कराना। अभिनन्दन करने में बहुत देर हो गयी न !…यह लड़ाई और अस्पताल।

जगत

तेतीस

श्रीधर डेढ़-महीना बिहार में लगाकर आया । अलग-अलग जगहों से इकट्ठा किया हुआ अनाज, कपड़ा-लत्ता, बर्तन, दवाइयाँ, टॉनिक आदि के वितरण की व्यवस्था बनाने के लिए पटना, पलामू, डाल्टनगंज, गया जैसी जगहों में हो आया। विविध संस्थाओं के विविध सहायता केन्द्र थे। विश्व हिन्दू परिषद्, युवा शान्ति सेना, समाजवादी युवक मण्डल, विद्यार्थी परिषद् आदि के सैकड़ों युवा कार्यकर्ता जी तोड़कर काम कर रहे थे। देश के विभिन्न भागों से और मुख्यतः मध्यमवर्ग से आये ये सुशिक्षित युवक भूख प्यास भुलाकर अपने स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए जिस तरह खप रहे थे, उन्हें देखकर वह उत्साहित हो रहा था। उसी के साथ बिहार के ग़रीब खेत-मज़दूर और किसानों की गिरी हुई हालत देखकर बुरा भी लग रहा था। कन्दमूल की खोज में मीलों तक भटकने वाले वच्चे, अनाज के आते ही अपनी बची-खुची ताक़त लगाकर उसके पीछे पड़नेवाले ग़रीब बच्चे देखकर उसका मन विदीर्ण हो जाता था। बूढ़े अपनी झुग्गियों में ही सहनशीलता से वैठे रहते। एक तरफ यह दृश्य था और दूसरी तरफ होटलों में संगीत की धुनें, पिक्चर हॉल पर जमा भीड़, शादी-ब्याह की बारातें और जूठन पर टूट पड़ने वाले भिखारी। श्रीधर को लगता, यह लोग विद्रोह क्यों नहीं करते ? लेकिन उनमें विद्रोह करने की शक्ति भी कहाँ थी ? असंघटित, अशिक्षित और दिशाहीन युवक किस बलबूते पर कल के सपने देखते ? पिछले चौबीस-पच्चीस साल की स्वतन्त्रता ने उन्हें क्या दिया ? और जव यह लोग भुखमरी से इस तरह तड़प-तड़प कर मर रहे हैं, तो मुझे दो वक़्त पेट भर खाने का क्या अधिकार है ?

श्रीधर स्वयं को अपराधी महसूस कर रहा था। गया के पास एक गाँव के सर्वोदय आश्रम में उनके निवास का प्रबन्ध किया गया था। आश्रम के संचालक सुन्दरसिंह और अन्य स्वयंसेवक तड़के ही नहाकर, सामुदायिक प्रार्थना के वाद, नाश्ता करके जीप्स लेकर निकल पड़ते और एकदम रात को लौटते।

जब श्रीधर वहाँ पहुँचा, तो उसी रात सन्देश आया कि वहाँ पास ही में जो

गाँव है, वहाँ केलोग भुखमरी से मर रहे हैं। सभी कार्यकर्ताओं के कार्यक्रम सुनिश्चित थे इसलिए दूसरे दिन सुवह जब सव लोग अपने-अपने कामों से चले गये तो सुन्दरसिंह ने एक जीप ली। उसमें दो वोरी अनाज, खिचड़ी और दवाइयाँ लीं और श्रीधर को साथ लेकर वह चल पड़े। रास्ते में उन्होंने पूछ लिया, "कहाँ के हो तुम ? मध्यप्रदेश के ?"

"नहीं! महाराष्ट्र, पुणे का हूँ।"

"अरे वाह ! आपके महाराष्ट्र के कई गुट यहाँ काम कर रहे हैं। अच्छी स्पिरिट है आप लोगों में।" उन्होंने कहा। जाते-जाते उन्होंने अपने बारे में भी सुना डाला। वह प्रामाणिक थे, साहसी थे और ग़रीबों के लिए सर्वोदयी मार्ग से काम करने में आस्था रखते थे। वह विनोबाजी के भूदान यज्ञ से जुड़े हुए थे, उनकी आज्ञानुसार उन्होंने यहाँ इस आश्रम की स्थापना की थी और आसपास के दस-बारह गाँवों में ग्रामदान की योजना सफल कर दिखायी थी।

"योजना सफल हुई यानी क्या हुआ ?"

"यही कि लिखित रूप से ज़मीन पर सवका हक़ हो गया। जिस गाँव में बड़े ज़मींदार नहीं थे, वहीं पर यह सम्भव हो पाया।"

"वहाँ पर भी अकाल है ?"

"अकाल हर तरफ एक-सा ही है। हमारे कार्यकर्ता जिस गाँव में कार्य करते हैं, वहाँ के ग़रीव लोग अपनी ज़मीनें बेच डालते हैं और फिर जैसे थे की स्थिति।" सुन्दरसिंह उद्विग्नता से बोले।

आगे की सड़क पर उन्हें भुखमरी के क्षेत्र में ले जानेवाला मार्गदर्शक मिलने वाला था। वह कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। सारा शहर छान मारा। भुखमरी के बारे में निश्चित कोई नहीं जानता था। दोपहर के बारह बज गये। चिलचिलाती धूप से बदन झुलसने लगा। सड़क के किनारे के एक छोटे-से होटल में वह घुस गये।

"आओ श्रीधर", सुन्दरसिंह ने कहा, "इन लोगों का यही हाल है, अब आधा-पौन घण्टा के बाद कहीं वह प्रकट होगा। तब तक चलो हम पेट-पूजा कर लें। नहीं तो हम भी भुखमरों की संख्या बढ़ाएँगे।"

धूप से टीन की छत गरम हो चुकी थी। नाक-मुँह में जानेवाली उष्ण हवाओं से श्रीधर परेशान हो गया था और फिर कल के अकाल के दृश्यों से उसकी भूख मर गयी थी।

"भूख नहीं है, खाना खा नहीं पाऊँगा।" उसने अपराधी स्वर में कहा।

"अरे भाई, आओ...ऐसा करने से क्या लाभ...खाना तो पड़ता ही है। अपने सामने पड़ी टूटी-फूटी बेंच पर बिठाते सुन्दरसिंह बोले। उन्होंने रोटी और साग का

ऑर्डर दिया और किंचित् विषादपूर्ण मुस्कुराहट के साथ बोले, "तुम्हारी हालत मैं जानता हूँ। शुरू में मुझे भी ऐसा ही होता था। तुम्हें लगता होगा कि आसपास इतने भूख-वलि होने के वावजूद यह आदमी खाना कैसे खा सकता है ? पहले मुझे भी ऐसा लगता था, लेकिन वह अतार्किक मूर्खता है; क्योंकि हमारा यह जो शरीर है, उसके भी व्यवहार हैं। अगर हम उन लोगों की मदद करना चाहते हैं तो शरीर चुस्त रखना ही होगा। इसलिए आहार के मामले में मैं कोई लापरवाही नहीं करता। हर-एक को अपना शरीर आरोग्यपूर्ण रखना है—ऐसा गाँधी जी कहते थे। वह इसीलिए अपने आरोग्य के लिए शरीर की कितनी देखभाल करते थे, जानते हो न ? हर रोज़ नियमित पौष्टिक आहार, शरीर की वर्जिश, कसरत—सब आवश्यक था। क्या उनके कहने में कोई तथ्य नहीं था ? तो तुम यह पागलपन छोड़ो और इस पूरे दौरे में जहाँ भी, जो भी मिले, वह ठीक-ठाक से खा लिया करो।"

होटलवाले ने पानी के भरे गिलास लाकर रख दिये थे। श्रीधर ने सूखा गला गीला करने के लिए एक गिलास उठाया, वह सुन्दरसिंह ने मानो झपटकर ले लिया।

"ऊँ हूँ।" वह श्रीधर पर वरस पड़े, मरना है, वह पानी पीकर ?" फिर होटल के लड़के को बुलाकर वह बोले, "क्यों वे भैरोसिंह, वम्बई से आये मेहमान को क्या घटिया कुएँ का पानी पिलाएगा ? जा, पहले दो चाय ला।"

"जी साब !" कहते हुए छोकरे ने तत्परता से गिलास उठाये।

"यहाँ के सभी लोग यही पानी पीते हैं ?" श्रीधर ने पूछा।

"उनकी वात और है। उन्हें आदत हो चुकी है। तुम तो चौवीस घण्टे के अन्दर बिस्तर पर गिर जाओगे या किसी-न-किसी वीमारी के शिकार हो जाओगे।"

"साव, वम्वई से आये हो क्या ?" लड़के ने चाय के प्याले रखकर मक्खियों को हटाते हुए पूछा।

"हाँ।"

"बम्बई में समन्दर है न ?"

"है तो सही।"

"आप उसे रोज़ देखते होंगे।"

श्रीधर सिर्फ़ मुस्कुराया।

"और बम्बई में दिलीप कुमार रहता है, उसे भी रोज़ देखते होंगे..."

सुन्दरसिंह ने चाय के बाद जमकर रोटी और साग खाया। वह यहाँ के जीवन में उनके पूरी तरह समा जाने का प्रमाण था। बड़ी मुश्किल से उनका कहना मानकर श्रीधर ने जैसे-तैसे आधी रोटी खत्म की। दोनों हाथों से मक्खियों के साथ लड़ाई ज़ारी थी ही और सुन्दरसिंह की अखण्ड बकवास।

रोटी-साग के बाद उन्होंने गुलाबजामुन मँगवाये। श्रीधर के बहुत मना करने पर

भी उस लड़के ने दो प्लेटों में मोटे-काले गुलावजामुन मक्खियों के बीच लाकर रख दिये।

"खाओ श्रीधर, खाओ। शरमाना नहीं…"

"नहीं, नहीं।"

"क्यों ? तुम्हें मधुमेह जैसी कोई वीमारी तो नहीं है ?"

"नहीं, नहीं।"

"अरे तो फिर खाओ न !"

"मुझे पसन्द नहीं है।"

"अरे चखकर तो देखो। नहीं तो मैं भी खा न पाऊँगा। मुझे गुलाब-जामुन वेहद पसन्द हैं। तुम्हारे विल्कुल न खाते हुए मेरा अकेले खाना क्या ठीक लगता है ?"

वड़ी वेमनी से श्रीधर ने चम्मच से एक टुकड़ा तोड़ा। चाशनी में जो भी था, उससे देखा नहीं जा रहा था। मन कड़ा करके उसने आँखें वन्द कीं और वह टुकड़ा अपने मुँह में रखा और तत्काल उसका जी मचलने लगा। झटके से उठकर वह होटल के वाहर आया और उसने जो भी पेट में डाला था, उलटकर निकाल दिया। "अरे…अरे क्या हुआ…" कहते हुए सुन्दरसिंह भी उसके पीछे दौड़े आये। रोटी, सब्जी, चाय, सवेरे का नाश्ता सव कुछ वाहर निकल चुका था।

सुन्दरसिंह श्रीधर की पीठ थपथपाने लगे। उन्होंने पानी मँगवाकर श्रीधर का मुँह धुलवाया, उसे थोड़ा पानी पिलाया। फिर कुर्ते की जेव से लौंग का टुकड़ा निकालकर उसे दिया।

"आई एम सॉरी…व्हेरी सॉरी।" रूमाल से मुँह पोंछता हुआ श्रीधर बुदबुदाया, "तवीयत पहले ही ठीक नहीं थी।" उसकी शर्म से जान निकल रही थी। मेज़ पर गुलावजामुन की प्लेटें वैसे ही पड़ी थीं, जिन पर मक्खियाँ मुक्त संचार कर रही थीं। उनकी तरफ देखकर श्रीधर ने सुन्दरसिंह से कहा, "आप लीजिए न…सच…।"

"कोई वात नहीं…"

तव तक वह मार्गदर्शक आ पहुँचा था। सुन्दरसिंह अब थोड़े गम्भीर नज़र आ रहे थे। वगल में श्रीधर था और पीछे मार्गदर्शक।

"मुझे सच, माफ़ कर दीजिए। आपको वह खा लेना चाहिए था।" श्रीधर अपने आपको वहुत अपराधी महसूस कर रहा था। "न…न…ऐसा मत सोचना।" जीप स्टार्ट करते हुए सुन्दरसिंह बोले, "अरे भाई, माफी किस चीज़ की।" और फिर जीप मुख्य सड़क की तरफ मोड़ते हुए वह वोले, "हाँ भाई हनुमान प्रसाद, कहाँ से निकलें ?"

हनुमान प्रसाद से मार्गदर्शन लेते हुए वे जीप का धूल से सने एक रास्ते पर

लाये और कुछ देर बाद बोले, "लेकिन इस तरह कब तक रहोगे तुम ? यह बहुत देर तो चल नहीं सकता। तबीयत पर बुरा असर होगा।" फिर कड़ुवाहट भरी मुस्कान से वह बोले, "ग़लती मेरी भी थी। मुझे भी वह नहीं मँगवाना चाहिए था। लेकिन मिठाई मेरी कमज़ोरी है···क्या करूँ !"

चारों तरफ धूल उड़ाती जीप निकल पड़ी। नाक, कान और मुँह में भी धूल भर रही थी। रास्ता कच्चा था। आसपास शुष्क वीरान ज़मीन और सूखे पेड़ों पर भी मिट्टी की सफ़ेद परतें। रास्ता कठिन था या फिर स्थिति गम्भीर होने की वजह से सुन्दरसिंह एकदम चुपचाप थे। उनका ध्यान जीप चलाने पर लगा हुआ था। सूरज ढलने लगा था। ऊष्मा और धूल से श्रीधर का जी मिचला रहा था। सड़क के किनारे झुग्गियाँ थीं। जानवरों का कहीं अता-पता नहीं। चारों तरफ क्षितिज से मिलनेवाली सूखी बंजर ज़मीन, चिलचिलाती धूप और धूल के उठते हुए बादल। आसमान भूनकर राख हुई ढिबरी की तरह।

रास्ते से दूर खेत के किनारे एक झुग्गी थी। सुन्दरसिंह ने जीप रोकी और सिर पर कसकर गमछा बाँधकर उस तरफ चल पड़े। श्रीधर और हनुमान प्रसाद उनके पीछे-पीछे चल पड़े।

झुग्गी में दो बूढ़ी औरतें और एक वृद्ध बैठे हुए थे।

"आटा, चावल कुछ है घर में ?"

बुढ़िया ने मटके से कुछ काले दाने निकालकर दिखाये। सुन्दरसिंह ने साथ लायी थैली से आटा और कुछ विटामिन की गोलियाँ उनको थमा दीं और आगे चल पड़े।

ऐसे ही चलते हुए जब जीप एक विशाल खेत के मध्य की झुग्गी तक पहुँची, तब साँझ ढलने को थी। झुग्गी थोड़ी ऊँचाई पर थी। चारों ओर खेत थे। कुछ वृक्ष पीले थे और कुछ धूल से सने। आकाश सलेटी-लाल रंग से सना हुआ था और उसकी पार्श्वभूमि पर थी यह जीर्ण कुटिया।

झुग्गी के बाहर एक बूढ़ा बैठा हुआ था और अन्दर के अँधेरे में एक और बूढ़ा पड़ा हुआ था। तभी श्रीधर को ख्याल आया कि यहाँ वृद्धत्व और तारुण्य में कोई फ़र्क नहीं है। सभी स्त्री-पुरुष एकदम बाल, किशोर हैं या एकदम बूढ़े हैं। बीच की कोई अवस्था नहीं।

झोंपड़ी के सामने जो बूढ़ा था, वह शून्य नज़र से क्षितिज को देख रहा था, जीप के सामने आने पर भी उसकी नज़र में कोई हलचल नहीं थी। सुन्दरसिंह उसके सामने आ बैठे।

"कैसे हो ? अन्दर आटा, चावल कुछ है ?"

अब कहीं उस आदमी की आँखों में कुछ जान आयी। उसके होंठ हिलकर कुछ बुदबुदाने लगे। लेकिन गले से आवाज़ निकल नहीं रही थी। उसके चेहरे की

चमड़ी सूख गयी थी और हड्डियाँ साफ़ नज़र आ रही थीं। हाथ-पैरों पर झुर्रियाँ; और सिर के बाल काटे हुए हैं या झड़ चुके हैं यह समझने का कोई मार्ग नहीं था।

सुन्दरसिंह ने श्रीधर से कहा, "अन्दर जाकर देखो क्या है ? इसका केस बहुत विगड़ा लगता है।"

श्रीधर ने अन्दर के घने अँधेरे में क़दम रखा तो खाट पर पड़ा व्यक्ति उसे नज़र आया। श्रीधर पास गया। वहाँ की हल्की रोशनी में कुछ भी ठीक से नज़र नहीं आ रहा था लेकिन वह व्यक्ति बिल्कुल निश्चल पड़ा था, यह साफ़ नज़र आ रहा था। धीमी गति में ऊपर-नीचे होने वाली छाती से साँस चलने का अनुमान हो रहा था।

श्रीधर ने आवाज़ देकर सुन्दरसिंह को अन्दर बुलाया। उन्होंने दूसरे आदमी को भी बुलाया। अन्दर पड़े बूढ़े की नब्ज़ देखी, आँखें खोलकर देखीं और फिर बोले, "बहुत बुरी हालत है।"

उन्होंने जीप से पानी की बोतल मँगायी। टॉविल गीला करके उसके होठों पर लगाया और कुछ सोचकर वह श्रीधर से बोले, "इसकी हालत बड़ी गम्भीर है। इसे इस अवस्था में यहाँ से हिलाना भी मुश्किल है। तुम यहाँ रुको। बीच-बीच में उसके मुँह में पानी डालते रहो। हम उस दूसरे को जाकर हस्पताल में भरती करवाकर डॉक्टर को लेकर आते हैं। हनुमान प्रसाद के हाथ बच्चों को भी कहलवा भेजता हूँ। यहाँ पर कुछेक कार्यकर्ताओं की ज़रूरत है। यहाँ आसपास और खेतों के बीचों-बीच तुम्हें काफ़ी सारी झुग्गियाँ नज़र आएँगी। पता नहीं और कितने लोग वहाँ भूख से तड़प रहे हैं। रुकोगे न यहाँ ?

"हाँ।"

"घण्टे दो घण्टे में हम लौटते हैं।"

फिर तीनों ने मिलकर उस दूसरे बूढ़े को उठाकर जीप में लिटाया। जाने से पहले अपनी थैली से बिस्कुट का एक पैकेट निकाल कर श्रीधर को थमाया।

"यह लो। तुम्हें भूख लगेगी। पेट तो खाली हो चुका है। यह पानी की थैली भी रख लो।" यह कहकर सुन्दरसिंह ने जीप चलान शुरू की।

श्रीधर झुग्गी के सामने खड़ा था। सूरज डूब चुका था। शाम ढल रही थी। और श्रीधर को काफ़ी देर तक धूल उड़ाती जीप खेतों से घूमकर आगे जाती दिखाई दे रही थी। आकाश में चाँदनी नज़र आने लगी थी।

श्रीधर अन्दर आया। उसने कपड़ा गीला करके उस आदमी के होठों से लगाया। कोई परिणाम नहीं निकला। श्रीधर को यह सब अवास्तविक और भीषण स्वप्न जैसा लग रहा था। यह कौन अजनबी, इससे मेरा न कोई रिश्ता न नाता और इसकी मृत्युशय्या पर बैठकर मैं इसे पानी पिला रहा हूँ। माँ और बाबा की मृत्यु के वक़्त

तो मैं उनके पास नहीं था। श्रीधर को इस विरोधाभास पर उस विचित्र स्थिति में भी हँसी आ गयी। झुग्गी में चारों तरफ घना अँधेरा था। खुले दरवाज़े से सिर्फ़ सितारों से उजला आकाश नज़र आ रहा था और उसकी मद्धिम रोशनी में खटिया पर पड़े उस आदमी की सेहत का अन्दाज़ किया जा सकता था। उसकी तरफ से कोई हलचल नहीं थी और श्रीधर को अब बहुत भूख लगी थी। क्या करें ? कितना वक़्त बीत गया है, इसका अनुमान लगाना मुश्किल हो गया था। आख़िर में श्रीधर ने सुन्दरसिंह का दिया बिस्कुट का पैकिट खोला। भूख से मरणासन्न उस आदमी के पास बैठकर वह एक के बाद एक बिस्कुट खाने लगा। बैग से पानी निकालकर पीते हुए उसे लगा कि अँधेरे में कुछ हलचल है। उसका कलेजा हिल गया। फिर अचानक उसे यह लगा कि सामने लेटे उस आदमी ने आँखें खोली हैं। रात की वह मद्धिम रोशनी उस आदमी की आँखों में प्रतिबिंत हुई थी और उसकी आँखें चमक रही थीं।

श्रीधर ने गरदन झुकाकर प्यार से पूछा, "पानी चाहिए ? बिस्कुट खाओगे ?"

उसके उत्तर की अपेक्षा न करते हुए श्रीधर ने एक बिस्कुट पानी में डालकर पतला-सा घोल बनाया और वह उसके मुँह में लगाया। बन्द होठों में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। श्रीधर का बदन काँप गया और तुरन्त समझ गया कि फीकी चाँदनी की तरह चमकनेवाली आँखें खुली पड़ी हैं। वह निमिष मात्र के लिए भी बन्द नहीं हो रही हैं। उन स्फटिकवत् आँखों को श्रीधर ने ग़ौर से देखा और उसकी देह पर रोंगटे खड़े हो गये। लगा जैसे कि उसके पैर से ज़मीन खिसक रही हो। उसका पसीना छूट गया। वह समझ गया था। वह साक्षात् मृत्यु थी। नयेपन से घ्राणेन्द्रिय को अपने अस्तित्व से अवगत कराने वाली क्या वह मृत्यु की दुर्गन्ध थी ?

कुछ क्षण वह निश्चल बना रहा, मानो शक्तिपात हुआ हो। जैसे उस भयानक अँधेरे से मृत्यु अब उस पर भी झपट पड़ने वाली हो। अन्धकार में तैरती वे स्फटिकवत् आँखें श्रीधर को आश्चर्य से घूर रही थीं। उस नज़र में थी जमी हुई अशक्त वेदना, मौत के साथ आ खड़े होने का क्षीण आश्चर्य और विफल प्रतिकार।

मुश्किल से श्रीधर ने अपने आपको सँभाला। उसका धड़कता हृदय कुछ स्थिर हुआ। उसने उस आदमी को छूकर देखा—स्पर्श ठण्डा था। नब्ज़ नहीं थी। छाती स्तब्ध थी और नाक के पास भी कोई हलचल नहीं थी। श्रीधर ने उसकी आँखें बन्द कीं। लगा जैसे झुग्गी की कोई मन्द बत्ती बुझ गयी हो।

श्रीधर बाहर आया। अँधेरे में लहलहाते खेत और मन्द हवा। गहरा-काला आकाश। मानो दूर से समुद्र की गर्जन सुनाई दे रही थी या पृथ्वी आह भर रही थी। वह निस्तब्ध खड़ा रहा और फिर धम्म से दीवार से सटकर बैठ गया।

न जाने वह वैसा कितनी देर तक बैठा रहा। अब उसे न कोई भूख थी न प्यास। डर तो रत्ती मात्र भी नहीं । भूत और भविष्य दोनों से वह बेखबर था।

क्षितिज पर कोई हलचल नहीं थी। यह दृश्य आज का भी हो सकता था, दो सौ वर्ष पहले का या दो लाख वर्ष पहले का भी। आकाश और उसके बीच का अन्तर और काल-प्रवाह निरर्थक हो चुके थे।

उस मरण-समाधि से श्रीधर को एक विसंगति ने बाहर खींच निकाला। पहले घरघराहट-सी आती आवाज़ तेज हो गयी, और उस गहरे सन्नाटे को चीरता एक आधुनिक, अति वेगवान जेट निकल गया। और फिर अचानक उसे समय का ध्यान आया। क्या बजा होगा ?

क्या बजा होगा ? कितना समय बीत चुका है ? श्रीधर को अपने अस्तित्व का, व्यक्तित्व का और इतिहास का ध्यान आया। सुन्दरसिंह अभी तक क्यों नहीं लौटे हैं ? कहाँ गये हैं ? अपने काम के चक्कर में भूल तो नहीं गये होंगे ! यानी मेरी अपनी अवस्था भी इस प्रेत से बहुत अलग तो नहीं है। क्षितिज पर कोई हलचल दिखाई नहीं दे रही थी। श्रीधर झुग्गी के अन्दर गया। फिर से उस लाश की नब्ज़ देखने की कोशिश की और पानी की बोतल उठाकर वह बाहर आया।

अब ठण्डी हवा चल रही थी। हवा पर झूमनेवाले खेतों की आवाज़ दूर कहीं रौरव नृत्य करनेवाले समुन्दर की तरह थी। और प्रमुख बात तो यह थी कि पूर्व क्षितिज पर चन्द्रमा निकल आया था—उसकी चाँदनी फीकी पड़ रही थी और सूखे खेत मटमैली चाँदी की तरह हो गये थे।

श्रीधर ने बोतल से मुँह लगाया, गटागट वह सारा पानी पी गया। उसका गला सूख गया था। फिर पैर फैलाकर वह दीवार से सटकर बैठ गया। अब भोर दूर नहीं थी क्योंकि क्षितिज-रेखा अब और भी गहरी काली लग रही थी और बहुत दूर कहीं अपरिचित पक्षियों की अभद्र धूत्कार सुनाई दे रही थी।

सुन्दरसिंह की जीप आयी तब तक सूरज काफ़ी ऊपर जा चुका था। उन्होंने कन्धे से हिलाकर श्रीधर को जगा दिया।

"उठो श्रीधर, उठो ''चलो अब।"

"क्या हुआ ?" आँखें मलते हुए श्रीधर ने पूछा।

"रास्ता भूल गया, टायर पंक्चर हुआ। सब कुछ हुआ।" सुन्दरसिंह ने कहा और अन्दर नज़र डालते हुए वह कहने लगे, "वह कैसा है ?"

"खत्म।"

"ओह !" सुन्दरसिंह ने आह भरकर कहा।

"और वह दूसरा ?"

उन्होंने लम्बी साँस लेते हुए कहा, "वह भी चल बसा बेचारा। अस्पताल तक भी पहुँच नहीं पाया। हम घण्टे भर में अस्पताल पहुँचे थे। टायर का पंक्चर, रास्ता भूलना आदि तो वापसी में हुआ।"

आगे के पन्द्रह दिन श्रीधर नींद, प्यास, भूख—सब-कुछ भुलाकर सुन्दरसिंह के साथ उस वीरान इलाक़े में रात-दिन भटकता रहा। उन्होंने इलाक़े का नक़्शा बनाकर सभी स्वयंसेवकों में काम बाँट दिया था। आनेवाले पथकों से अनाज, दवाइयाँ आदि लेकर वह उन्हें जगह-जगह पहुँचा रहे थे। डॉक्टरों के पथक बुलवा रहे थे और कलेक्टर की कचहरी के चक्कर भी काट रहे थे। कभी कुपोषण से आसन्नमरणों को वह अस्पताल ले जाकर छोड़ते थे। श्रीधर उन्हीं के साथ चौबीसों घण्टे चक्कर काट रहा था। उनके काम की ज़बरदस्त कार्य-क्षमता देखकर श्रीधर उन्हें सराहने लगा था। कभी-कभी वह अथक अड़तालीस घण्टे काम करते, और बहुत नींद आने पर जीप सड़क के किनारे खड़ी कर, चक्के से सिर टिकाकर झपकी ले लेते थे। उनकी कार्यतत्परता से दर्जनों लोगों के प्राण बचे हुए श्रीधर ने देखे थे। पहले दिन होटल में उनकी खाबूगिरी को देखकर श्रीधर का जी मचलने लगा था। भुखमरी के क्षेत्र में भी उनको बड़े आराम से गुलाबजामुन खाते देखकर उसका माथा ठनका था। उसे मक्खियाँ देखकर नहीं, बल्कि घिन से उलटी आयी थी।

लेकिन एक-दो दिन में ही श्रीधर समझ गया कि भरपूर भोजन और मिष्टान्न यही सुन्दरसिंह की एकमात्र कमज़ोरी है। अन्य कुछ भी नहीं। इतना निरलस और पूर्ण निर्मोही आदमी श्रीधर ने नज़दीक से पहली ही बार देखा था। सच्चा त्यागी। उस दिन जब वह गाँव से लौट रहे थे तब धूप तेज हो गयी थी। जब जीप पक्की सड़क पर आयी तो विरुद्ध दिशा में एक तेरह-चौदह वर्षीय लड़का उन्हें दिखाई दिया।

सुन्दरसिंह ने जीप रोककर पता किया। सड़क के पास के दो-चार अकाल-पीड़ित परिवारों के लिए वह सहायता केन्द्र से रोटियाँ ले जा रहा था। पक्की सड़क तपी हुई थी इसलिए वह लड़का बार-बार अपने नंगे पैर झटक रहा था। सुन्दरसिंह ने जल्दी से अपने पैर जीप से बाहर निकाले और चप्पलें सड़क पर छोड़ दीं। "ये लो सँभालो।" कहकर वह जीप लेकर आगे बढ़े। श्रीधर जब तक वहाँ रहा, उसने फिर कभी सुन्दरसिंह के पैरों में चपलें नहीं देखीं।

बाहर की बस्तियों में तो दलित खेत-मज़दूरों के परिवारों की दरिद्रता इतनी भयानक हुआ करती थी कि बर्तन तो दूर, कपड़ों की भी तंगी हुआ करती थी। स्त्रियों के बदन पर चिथड़े, पुरुषों की लंगोटियाँ, ज़्यादा से ज़्यादा घुटने तक की धोती और फटी बण्डी। दो-चार बार श्रीधर ने देखा, आश्रम से पूरे कपड़े पहनकर निकले सुन्दरसिंह किसी को शर्ट, किसी को गमछा, किसी को धोती, किसी को बनियान देकर केवल जाँघिये पर गाड़ी चलाकर वापस लौटते थे। वह देखकर श्रीधर

ने भी उनके बहुत मना करने के बावजूद अपनी कमीज़ें उन्हें दे डालीं। स्वयंसेवकों की शहरों से लायी कपड़ों की गठरियाँ कुछ ही क्षणों में खत्म हो जातीं।

एक दिन रात को लौटते वक़्त शरीर पर धूल की परतें लेकर सुन्दरसिंह सिर्फ़ जाँघिये में और श्रीधर बनियान और पैजामे में रह गये थे। आश्रम लौटते वक़्त दूर की बस्ती की एक सूखकर लकड़ी बनी दलित महिला ने आकर रोते-रोते अपनी विधवा बहन की कहानी सुनायी। बहन भी वहीं एक बस्ती में रह रही थी। झुग्गी में अनाज का एक दाना तक नहीं था और वह पिछले आठ-दस दिनों में वहाँ आयी नहीं थी।

"चलिए, हो आते हैं।" कहकर सुन्दरसिंह टॉर्च और आटे की बची हुई थैली लेकर चल पड़े। पीछे-पीछे श्रीधर बड़ी मुश्किल से ऊबड़-खाबड़ रास्ते से, नालों से गुज़रते हुए उन झग्गियों तक पहुँचे। चारों तरफ घना अँधेरा था। किसी भी झुग्गी में दीया नहीं था। लेकिन बैटरी की रोशनी में जगह-जगह से उखड़ी मिट्टी तथा सूखी लकड़ियों की बनी दीवारें सड़े, गन्दे मुर्दों की तरह नज़र आ रही थीं। पास पहुँचने पर सुन्दरसिंह ने आवाज़ दी, "कोई है ?"

कोई उत्तर नहीं आया। उस अँधेरे में कुछ भी नज़र नहीं आ रहा था। कुत्ते तक वहाँ से नदारद हो चुके थे।

"अरे भई, कोई है यहाँ···" उन्होंने झुग्गी के खुले पड़े दरवाज़े से टॉर्च की रोशनी अन्दर डालकर पूछा। सर्वत्र शान्तता और स्तब्धता थी।

तीसरी झुग्गी के पास आने पर अन्दर से खड़-खड़ की आवाज़ आयी। टॉर्च की रोशनी में दरवाज़े पर एक पाँच-सात वर्षीया धूल से सने बालों वाली लड़की सामने आयी। उसके हाथों में किसी फल की काली-सी गुठली थी जो वह बीच-बीच में चूस रही थी।

"माँ अन्दर है।" उसने कहा।

सुन्दरसिंह ने टॉर्च घुमायी और अन्दर जाने के लिए क़दम बढ़ाये, तो अन्दर से क्षीण चीख सुनाई दी : "भीतर नहीं आना···भीतर नहीं आना···"

सुन्दरसिंह और श्रीधर वहीं रुक गये।

"माँ जी, हम आटा लाये हैं···"

कुछ क्षण शान्ति और अन्दर से दबी, अशक्त सिसकी और कराहने की आवाज़।

"आटा लाया हूँ, पानी है।" सुन्दरसिंह ने फिर कहा।

"रख दो दरवाज़े में।" फिर कराहने की आवाज़।

"बाहर आइए माँजी, या हम अन्दर आयें ?" सुन्दरसिंह ने सौम्य आवाज़ में कहा। "हम दवाई लाये हैं। अगर आपकी तबीयत ठीक नहीं है तो अस्पताल ले जा सकते हैं···।"

"न···न···भीतर न आना।" और कुछ देर बाद, "क्या करूँ बाबूजी, शर्म आती है। बदन पर कपड़ा नहीं है।"

सुन्दरसिंह स्तब्ध रह गये। टॉर्च नीचे झुक गयी थी। उनके हाथ काँप रहे थे और साँस की आवाज़ सुनाई दी थी। उस अँधेरे में शायद काफ़ी देर बाद श्रीधर की समझ में आया, उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे और उनका बदन काँप रहा था। श्रीधर दंग रह गया। वह भी हिल चुका था।

उसने अपना बनियान और पैजामा उतारकर उस लड़की को पकड़ाते हुए कहा, "यह लो और माँ जी को पहना दो। साड़ी कल ला देंगे।"

कुछ देर बाद वह अन्दर गये। टॉर्च की रोशनी में देखा। बदन पर पैजामा लिपटाकर वह कृश स्त्री ज़मीन पर लेटी हुई थी। उतने श्रम से ही उसे पसीना आ गया था। सुन्दरसिंह ने उसकी नब्ज़ देखी। और फिर श्रीधर को टॉर्च पकड़ाकर बहुत मार्दव के साथ उस महिला को समझाकर उसे अपनी पीठ पर लाद लिया और वे नीचे की बस्ती की तरफ चल पड़े।

रात देर से लौटते वक़्त वे दोनों सिर्फ़ जाँघियों में थे। सुन्दरसिंह चुपचाप जीप चला रहे थे, उनका चेहरा कठोर और गम्भीर नज़र आ रहा था।

कच्चे रास्ते से पक्की सड़क पर आने के बाद श्रीधर बोला, "यह कैसा देश है···कैसा समाज है हमारा ?"

सुन्दरसिंह ने एक बार सिर्फ उसकी तरफ देखा।

"यह दरिद्रता, यह अकाल···" श्रीधर चिढ़कर बोलने लगा। "यह हम सब कितनी आसानी से सह लेते हैं ! आप, आपके मुट्ठीभर स्वयंसेवक और यह संगठन कितनों के प्राण बचा सकेंगे ? सबके तो नहीं। सैकड़ों लोग भुखमरी के शिकार हो रहे हैं। यहाँ की सरकार कुछ करती क्यों नहीं ? सरकार के बिना यह संकट रोकना मुश्किल है। यह सरकार चुपचाप क्यों बैठी है ? यह देश, समाज हिलता क्यों नहीं ? लगता है, एक मशाल लेकर इस सरकार नाम की बला में आग लगा दूँ। इस मुर्दा बनकर पड़े समाज को ज़ोर-ज़ोर से हिला दूँ।"

श्रीधर काफ़ी देर तक गुस्से से बोलता रहा और सुन्दरसिंह शान्ति से सुनते रहे। उसकी बात खत्म होने पर भी कुछ देर वह चुप रहे और बाद में उसकी तरफ मुड़कर देखकर फिर रास्ते पर नज़र रखते वह बोले, "यह तो कह नहीं सकते कि सरकार कुछ नहीं कर रही, श्रीधर। सरकार बहुत कुछ करती है। बहस करती है, चर्चा करती है, विधानसभा में वाद-विवाद होते हैं, सभा-त्याग होते हैं। हमारे मुख्यमन्त्री विमान से दिल्ली, बम्बई की यात्राएँ करके अकाल-निवारण-निधि के लिए रुपये इकट्ठा करते हैं। केन्द्र के मन्त्री भी अकाल का जायजा लेने के लिए उस विभाग के दौरे करते हैं। कोटि-कोटि रुपयों का अनुदान मंजूर किया जाता है।"

"फिर भी यहाँ भूख से मरनेवालों की कोई कमी नहीं है। यह राशि जाती कहाँ है ?"

"कुछ यहाँ तक पहुँचती है, कुछ नहीं पहुँचती। तुमने वह अकबर और बीरबल की कहानी सुनी है न ? राज्य का रेवेन्यू इतना कम क्यों है, यह दिखाने के लिए बीरबल एक बड़ा-सा बर्फ़ का टुकड़ा लाता है, दरबार के सभी सरदारों के हाथ से बादशाह के हाथ तक पहुँचने तक वह इतना-सा हो चुका होता है और सबके हाथों में थोड़ा-थोड़ा पानी लगा होता है। यह वही प्रक्रिया है। सिर्फ़ उल्टी। बादशाह के हाथ से ग़रीबों तक पहुँचते-पहुँचते आखिर हाथ गीले तक नहीं होते।"

"यह तो सरासर भ्रष्टाचार और क्रूरता हुई।" श्रीधर ने कहा।

"हाँ, बर्फ़ तो पिघलेगी ही। वह तो नैसर्गिक प्रक्रिया है।"

"अकाल के मामले में भी ? यह कैसे सम्भव है ? भ्रष्टाचार की कोई तो मर्यादा होनी चाहिए।"

"भ्रष्टाचार की कैसी मर्यादाएँ ? कैसी और क्या नीति ?"

सड़क पर जब सुन्दरसिंह ने हमेशा के होटल के पास गाड़ी रोकी, तब पैट्रोमैक्स की बत्ती में होटल के सामनेवाले बेंच पर हमेशा की तरह दो-चार ट्रक वाले थे। फ़िल्मी गाने बज रहे थे।

"मुझे तो बड़ी भूख लगी है, श्रीधर। तुम्हें ?" नीचे उतरते ही सुन्दरसिंह बोले।

उतरते हुए श्रीधर को ख़्याल आया कि उसने भी सुबह नाश्ते के बाद कुछ नहीं खाया था और वह भी उन्हीं की तरह अर्धनग्न था। सुन्दरसिंह हमेशा की तरह हँसते हुए उस होटलवाले से बोले, "भोलेराम, क्या बात है ? अरे भई, बड़ी ज़ोर से भूख लगी है···कुछ रोटी-सोटी खिलाओगे या नहीं ?" ···"देख भाई, आज तो तुम्हारे पैसे दे नहीं सकेंगे। कपड़े तक नहीं है, तो पैसे कहाँ से दें :"

"मैंने पैसे के लिए आपको कभी कहा है साब···?" भोले ने गम्भीरता से हाथ जोड़कर कहा। और फिर आगे कुछ न कहते हुए झटपट टेबल पोंछकर काम में लग गया।

श्रीधर और सुन्दरसिंह की जोड़ी जब उस हुलिये में खाने के लिए बैठ गयी तो सामनेवाले ट्रक-चालक हँस पड़े। उनकी तरफ उनका ध्यान ही नहीं था। हमेशा की तरह पहले उनके सामने चाय रखी गयी···चाय का घूँट भरता हुआ श्रीधर बोला, "यह सब देखकर हम मुफ़्त में सिर खपा रहे हैं। ऐसा नहीं लगता सुन्दरजी ?"

"नहीं, नहीं। क्या कह रहे हो तुम ?" चाय का प्याला नीचे पटकते सुन्दरसिंह जी आश्चर्य, भय और गुस्से की मिश्र भावना से उत्तेजित होकर बोले।

"बिलकुल ग़लत बात है। यह देखो, तुमने खुद कम से कम दर्जन-दो दर्जन लोगों को मौत के मुँह से बचाया है। क्या यह काफ़ी नहीं ? मैं तो हर एक आदमी

को मौत से बचाना महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। और एक आदमी को, सिर्फ़ एक आदमी को पानी में डूबते देखकर उसका प्राण बचाने के लिए तैरना न जाननेवाले व्यक्ति पानी में कूद पड़ते हैं और मौत का ख़तरा मोल लेते हैं।"

"नहीं !" श्रीधर उनके आवेग को देखकर दबी आवाज़ में बोला, "मैं सिर्फ़ इतना कहना चाहता हूँ कि हमारे देश में जब हज़ारों लोग जीवन से इस तरह हाथ धो रहे हैं तो लोगों के जीवन में क्या परिवर्तन आएगा ? फिर एक-दो साल बाद वही अकाल पड़ेगा, इनकी यही स्थिति होगी। अकाल के न होते हुए भी इस परिस्थिति में कुछ ज़्यादा फ़र्क तो नहीं पड़ेगा। इस पूरे समाज की स्थिति को बदले बिना या अकाल फिर आये, ऐसे हालात निर्माण किये बिना केवल मानवता की भावना से यहाँ आकर पाँच-पचास लोगों में अनाज बाँटना, चार भिखारियों को भिक्षा देने के बराबर है। दरिया में खसखस की तरह···आप क्या सोचते हैं ?"

"ग़लत···बिलकुल ग़लत···तुम ख़तरनाक तत्त्वज्ञान बता रहे हो।" सुन्दरसिंह प्रयत्नपूर्वक अपने गुस्से को काबू में रखते हुए बोले। "तुम क्या समझते हो, जब तक वह आदर्श स्थिति निर्माण नहीं होती, हमें अपने-अपने घर में बैठकर आराम करना चाहिए और इन लोगों को मरने देना चाहिए ? बड़ा सुविधाजनक तत्त्वज्ञान है और क्रूर भी।"

"क्यों ? इस परिस्थिति को बदलने के लिए काम करना क्या अधिक मानवतापूर्ण और महत्त्वपूर्ण नहीं होगा ?"

अब तनाव कम हुआ और सुन्दरसिंह हँसकर बोले, "मैं अपनी तरफ़ से वह भी करता हूँ। एक तरफ़ समाज को बदलने का प्रयत्न और दूसरी तरफ़ मानवीय करुणा को ध्यान में रखते हुए मानव-प्राणों को बचाने की कोशिश।"

श्रीधर यह समझ रहा था लेकिन उसे वह मंजूर नहीं था। बंगला देश निर्वासितों की छावनी में उसने एक जान बचाने के आनन्द का अनुभव किया था। वह एक सुन्दर व्यक्तिगत समाधानपूर्ति का अनुभव था। लेकिन बाद में उसे लगा कि वह समाधान बहुत तुच्छ है। ख़ुद की कमी को ढाँकने के लिए वह उसमें पनाह ले रहा है। असली समस्या पाँच-पचास प्राणों की नहीं है।

लेकिन श्रीधर ने कुछ कहा नहीं। उसके भी विचार स्पष्ट और सुनिश्चित कहाँ थे ! वह भी छाती ठोंककर क्या कह सकता था ! वह सिर्फ़ सवाल खड़े कर सकता था और उससे सुन्दरसिंह के सारे जीवन का समाधान छीने जाने का ख़तरा था। सुन्दरसिंह अब अच्छे मूड में थे और बोलते-बोलते उन्होंने अपनी जीवन-कथा संक्षेप में बता दी :

"मैं यह सब क्यों कर रहा हूँ, यही तुम पूछते हो न ! तो सुनो ! मैं यहाँ अपने अन्दर की आग बुझाने के लिए हूँ! मुझे किस चीज़ की प्यास है, तुम समझ सकते

हो क्योंकि यह प्यास तुममें भी है। मैं अमीर घर से हूँ। पिताजी की काफ़ी सारी ज़मीन-जायदाद थी। वह सब मैंने छोड़ा। कुछ काल के लिए मैं साम्यवादियों के तेलंगण आन्दोलन के प्रति आकर्षित हुआ था लेकिन मेरा भाग्य है कि मेरे सिर से वह भूत उतर गया। विनोबा ने नया मार्ग दर्शाया और मैं उनके साथ चल पड़ा। मेरा बड़ा भाई चीनी के कारखाने का मालिक है। राजनीति में भी है। आज-कल में मिनिस्टर भी बन जाएगा। छोटा सर्जन है। मेरी अपनी खेती-बाड़ी मेरा दशमग्रह यानी दामाद देखता है। मैं वह सब छोड़कर आया—क्यों ? क्योंकि यह प्यास है। यह काम करने में मुझे जो समाधान मिलता है, वह वहाँ नहीं मिल पाता। हमें क्या करना है, यह सोचकर चलें तो उसमें सन्तोष और आनन्द मिलता है।"

सुन्दरसिंह भोजन का पूरा आनन्द भी उठा रहे थे। आख़िर में उन्होंने अपने मिठाई के शौक़ के लिए बूँदी मँगवायी।

"कितने पैसे हुए ? मेरे नाम पर लिख रखना···" उन्होंने भोलेराम से कहा, "गिरवी रखने के लिए भी आज मेरे पास कुछ भी नहीं है। भरोसा है न ?"

"ऐसी बात फिर कभी न कहना साब"—अपमानित स्वर में भोलेराम ने कहा। "इस खाने के पैसे मैं नहीं लूँगा। आप गरीबों के लिए इतना कुछ करते हैं, मुझे आप लज्जित न करें।"

सुन्दरसिंह ने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप जीप की तरफ चल पड़े। इतने में, अभी तक सामने बैठकर गप्पें हाँकनेवाले ड्राइवरों में से एक सिख सामने आकर आदरयुक्त स्वर में बोला, "माफ़ करना साब। ग़लती हुई। आप कितना बड़ा काम कर रहे हैं। दिन-रात कैसे खप रहे हैं, यह हमें भोले ने बताया। आखिर हम भी इन्सान है। साहब, यह हमारी हमदर्दी की निशानी समझिए, बुरा न मानिए। ज़्यादा नहीं। हमने पचास-पचास रुपये इकट्ठे किये हैं···"

डर-डरकर उसने अपने हाथ में पकड़ी नोटों की गठरी आगे बढ़ायी। सुन्दरसिंह ने कुछ देर सोचा और फिर कुछ कहते हुए उसे स्वीकार किया और सिर झुका लिया। दूर टेबल पर बैठे हुए ड्राइवर्स अपेक्षायुक्त नज़रों से उन्हीं की तरफ देख रहे थे। सुन्दरसिंह ने उनकी तरफ देखकर हाथ हिलाया और वह जीप में जा बैठे। बगल में श्रीधर। पैसे रखने के लिए जेब नहीं थी, सो सीट के नीचे ही रख दिये, और रात के अँधेरे में गाड़ी तेज रफ्तार से आगे दौड़ चली।

चौंतीस

पटना से इलाहाबाद। वहाँ से फिर इटारसी और नागपुर से आगे बस से आनन्दवन वरोरा। बिहार के आश्रम में डेढ़ महीना काम करने के बाद वापस लौटते हुए सुन्दरसिंह ने उसे पवनार के आश्रम के लिए एक पहचाननुमा पत्र दिया और वहाँ हो आने का आग्रह किया। श्रीधर के कई मित्र, बावा आमटे के सोमनाथ और आनन्दवन के युवा शिविरों में जाकर वावा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लौटे थे। कुछ निराश होकर बाबा को दोष भी दे रहे थे। इसलिए श्रीधर स्वयं भी आनन्दवन देखने का उत्सुक था।

वरोरा के बस स्टैण्ड पर जब वह उतरा, तब लम्बी यात्रा से वह थक गया था, उसका सामान तो नहीं के बरावर था। पहनी हुई जीन्स और कमीज़ का एक मात्र जोड़ा। कन्धे पर लटकाये झोले में टुवाल, अन्तर्वस्त्र, पुस्तकें, साबुन, दाँत साफ़ करनेवाला ब्रुश आदि। श्रीधर की नयी-नयी दाढ़ी और मूँछें निकल रही थीं। पीठ पर थैला डालकर वह आनन्दवन का पता ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर देख रहा था, इतने में, जिसकी आँखें अन्दर धँसी हुई थीं, चेहरे पर असमय वृद्धता के चिह्न थे, कृश हाथ की सूजी हुई नसें फूटकर बाहर निकल रही थीं और गढ़े पैर जख्मों की तरह घायल लग रहे थे—ऐसा एक अनिश्चित उम्र का व्यक्ति उसके सामने आकर खड़ा हुआ।

"कहाँ जाना है साब ? आनन्दवन ? चलिए रिक्शे से।"

उसने कहा, "क्या लोगे ? और तुम कैसे जानते हो कि मुझे आनन्दवन जाना है ?"

"आप जैसे वम्बई-पुणे से आनेवाले वहीं जाते हैं, बाबा के पास चलिए, दीजिए थैला··· ।"

"क्या लोगे ?"

"दीजिए, वही जो आपको ठीक लगे।"

श्रीधर उसके रिक्शे पर बैठना नहीं चाहता था। जानवर की तरह एक आदमी उसका भार खींचे, यह कल्पना ही उसे अमानुष और असह्य लग रही थी। कलकत्ता में उसने लोगों द्वारा खींची जानेवाली गाड़ी देखी थी और उसे ज़बरदस्त आघात लगा था। फिर कलकत्ता, पटना, गया और बिहार में अन्यत्र ऐसे रिक्शों पर बैठना उसने प्रयत्नपूर्वक टाला था। और यहाँ यह कृश आदमी ज़ोर देकर उसे रिक्शे पर बैठने का आग्रह कर रहा था।

"चलिए न भाई !" उसकी आँखों में भूख और याचना नज़र आ रही थी। "ठीक-ठाक पहुँचा दूँगा, मेरी भी बोहनी हो जाएगी।" रिक्शेवाला कह रहा था।

श्रीधर के सामने एक बड़ा सवाल था। अगर इस रिक्शे पर न बैठे तो उसकी रोज़ी-रोटी को खतरा था। न जाने कल भी उसने कुछ खाया था या नहीं। आखिर उसे धनंजय का कलकत्ता में किया तर्क याद आया। उसे कोई भी उद्योग न देकर, उसके रिक्शे का बहिष्कार करने का मतलब था उसे भूखा मारना।

मन कड़ा करके श्रीधर रिक्शे में बैठ गया। रिक्शा तो फटा-पुराना था। सीट फटी हुई थी। एक पैडल उखड़ चुका था। चेन बार-बार फिसल रही थी और पहियों का बॉलबेअरिंग जैसे घिसकर फट गया था, इसलिए रिक्शा आगे खींचते हुए मुश्किल लग रहा था। चन्द्रपुर जिले में गर्मी अब तक खत्म नहीं हुई थी। सूरज भी मध्याह्न में आकर पृथ्वी पर आग बरसा रहा था। बीच-बीच में शर्ट की बाँह से पसीना पोंछता हुआ रिक्शेवाला ज़ोर लगाकर पैडल मार रहा था। जहाँ चढ़ाव आता, वहाँ वह नीचे उतरकर रिक्शा आगे खींचता। श्रीधर भी चढ़ाव के दूर से नज़र आते ही झट से रिक्शे से उतर जाता था।

"बैठे रहिए भाई साहब, कोई तकलीफ़ नहीं है।" कहता हुआ, रिक्शेवाला उसे उतरने से मना कर रहा था। सामने से आते लोगों को देखकर श्रीधर की गरदन शर्म से झुक जाती थी। उसे लग रहा था कि शोषण करनेवाले वर्ग का वह भी एक प्रतिनिधि है। लेकिन जल्दी ही उसका रिक्शा, जब एक रिक्शे से आगे निकल रहा था तो उसने देखा कि उस रिक्शे में सामान खचाखच भरा पड़ा था। अन्दर एक मोटा-ताज़ा जोड़ा बैठा हुआ था और उस दयनीय स्थिति में रिक्शावाला रिक्शा खींचता जा रहा था।

श्रीधर का रिक्शेवाला हँसकर चिल्लाया, "क्यों बे, नारायण्या, निभता नहीं है तो इतना बोझा क्यों उठाकर चलता है ?"

उस स्थिति में भी मुफ़लिसी की मुस्कान ओढ़कर वह रिक्शावाला नीचे उतरकर रिक्शा खींचता रहा।

"बड़ा घनचक्कर आदमी है, साहब।" श्रीधर के रिक्शावाले ने कहा, "इसकी बीवी बर्तन माँजकर इसका पेट पालती है। लेकिन यह है कि मानता ही नहीं, इसे जुए का ऐब है, अब टी. बी. की बीमारी हो चुकी है। लेकिन इसका वही रोना…।"

आनन्दवन का रास्ता लम्बा था। उसमें काफ़ी उतार-चढ़ाव थे। रास्ते में रिक्शा एक पेड़ के नीचे कुछ देर के लिए रुक गया।

"आप ज़रा रुकिए, साब।' रिक्शावाले ने श्रीधर से कहा, "मैं उसकी गाड़ी पार करवाये देता हूँ। नहीं तो वह बेवक़ूफ रास्ते में ही मर खप जाएगा।"

इतना कहकर वह नंगे पाँव दौड़कर पीछे चला गया। पीछे का रिक्शा धीरे-धीरे रेंगता आगे बढ़ रहा था। वह जोड़ा आराम से बैठा हुआ था…।

श्रीधर को गर्मी लग रही थी। दो दिन की यात्रा की नींद बाक़ी थी। मुँह धोना

था। शरीर के नित्यकर्म पूरे करने थे···लेकिन यह अकृत्रिम प्रेम, यह मदद करने की सहज प्रवृत्ति देखकर वह हिल गया। उसकी नींद उचट गयी और वह अपने रिक्शावाले की तरफ अधिक आदर से देखने लगा। मानवता का स्रोत, कहाँ कब नज़र आएगा, यह तो कहा नहीं जा सकता और वैसे देखा जाय तो श्रीधर ने सर्वत्र मानवता देखी थी। जहाँ भी गया था, उसका दर्शन हुआ था, खासकर अजनबियों में, सामान्यों में, नौकरों में, कुलियों में, बल्कि निजी सम्बन्धों में उसने अमानुषता का बर्ताव आज तक नहीं देखा था। श्रीधर ने याद करने की कोशिश की। मानवता के इस विलोभनीय दर्शन से उसका मन प्रसन्न हुआ था। शरीर में उत्साह का संचार हुआ था। कभी लगता कि लोग ऐसी ही किसी प्रेरणा की चिनगारी के लिए जीते हैं। सुन्दरसिंह स्वयं कितनों के लिए ध्येयवाद की प्रेरणा बन चुके थे, आदर्श बन रहे थे, यह उसने देखा था। वहाँ से विनोबा के पास। यह लोग दिखाते हैं कि कैसे जीया जाता है। वह आपके जीवन को अर्थ प्रदान कर सकते हैं। प्रयोजन निर्माण कर सकते हैं। सुन्दरसिंह ने जीवन में जो अर्थ का संचार किया था, वैसे ही विनोबा या महात्माजी ने लाखों-हज़ारों को जीना सिखाया था। उनको जीने का निश्चित प्रयोजन प्रदान किया था। उस अभ्यास वर्ग में अण्णा जो कह रहे थे वह भी अपनी तरफ से ठीक ही कह रहे थे। हमारी पीढ़ियों को अभी ऐसा कोई आदर्श ही नहीं मिला है, जो हमारे जीवन को प्रयोजन दे दे।

श्रीधर जब ऐसे विचारों में डूबा हुआ था तब उसका रिक्शेवाला ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा, "अबे ओ नारायण्णा ! रुक रुक···सामने ढलान है···रुक जा···!!"

श्रीधर ने देखा, आगे लम्बी ढलान थी और उसके रास्ते से वह सामान से लदा रिक्शा ज़ोर से नीचे जा रहा था। श्रीधर का रिक्शेवाला ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था। लेकिन उन्होंने सिर्फ़ उस रिक्शे को फिसलते देखा। क्षणार्ध में रिक्शा उलट गया और सामान अस्तव्यस्त बिखर गया। वह जोड़ा और रिक्शेवाला, ज़मीन पर पड़े हुए थे। इन तीनों को अस्पताल में दाखिल कर जब वह लौटे तो शाम हो रही थी। उस दम्पती को तो खास कुछ हुआ नहीं था लेकिन रिक्शावाला बेसुध ही था। दोपहर को धूप में धधकता आसमान अब तप्त राख की तरह लग रहा था। गर्म हवा सिर पर बरस रही थी। दिनभर के साथ के बाद श्रीधर को रिक्शेवाले का नाम आदि पता चला था। आनन्दवन के द्वार पर जब दौलती ने रिक्शा रोका तो श्रीधर ने उसके हाथ में दस-दस के दो नोट रखे।

श्रीधर ने एक दिन और दो रातें आनन्दवन में बितायीं। बाबा आमटे की कार्य-शैली देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ। धनंजय और उसके जैसे कुछ लोग एक समय बाबा से इतने प्रभावित क्यों थे, यह वह समझ गया। कुष्ठरोगियों के पुनर्वसन का बाबा का कार्य तो सचमुच अपूर्व था। उससे भी बड़ी बात यह थी कि

वावा को रसवन्ती-वाणी का वरदान था। उनके शब्दों के जादू से, कोई भी भावुक युवक जीता जा सकता था। उनके शब्द मूर्तिमन्त कविताएँ थीं। बाबा के परिवार ने सहज अपनेपन से अपना उत्तरदायित्व मानकर प्रकल्प को पारिवारिक अपनापन दिया था। स्थानीय कार्यकर्ताओं ने श्रीधर की पूछताछ की और उसके ठहरने का प्रवन्ध किया। दूसरे दिन सुवह वावा के घर चायपान का कार्यक्रम आयोजित किया गया था। वहाँ पर बाबा के एक बहुत प्रिय जर्मन-दम्पती से मिलने का सौभाग्य श्रीधर को प्राप्त हुआ। उस दम्पती का विवाह भी पिछले वर्ष इसी आश्रम में हुआ था। उनके लिए वावा ने वड़े प्रेम से सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया था। कुष्ठरोगी, उनके स्वस्थ, नीरोग बच्चे और उनके स्कूल, इन सवने इस कार्यक्रम में भाग लेकर उस दम्पती का मनोरंजन किया।

वावा के लिए श्रीधर के मन में सम्मान दोगुना हो गया। बाबा धैर्यवान् समाजसेवक तो थे ही, अपने स्वास्थ्य की, परिवार के आरोग्य की परवाह न करते हुए उन्होंने कुष्ठरोग की सेवा में अपने आप को पूरी तरह समर्पित कर डाला था, वहुत कठिनाइयाँ झेली थीं और इस महाकाय प्रकल्प का निर्माण किया था। यहाँ के हर पत्थर, फूल, पेड़, इमारत और प्राणी पर बावा के प्रभावी व्यक्तित्व की छाया नज़र आती थी। वावा ने अनेक के जीवन में उजियारा ला दिया था। आधे हाथवाले, लँगड़े पाँववाले, विद्रूप चेहरे के असंख्य रोगी, जिनको समाज ने हमेशा के लिए नाकारा वना दिया था, उन्हें वावा ने आश्रय देकर अपनों में मिलाया था। बाबा को अपने लिए जीवन का प्रयोजन मिला था। और कर्मयोगी की तरह वह अपने कार्य में जुट गये थे। लेकिन श्रीधर को लगा, वह उसका क्षेत्र नहीं है। वह बाबा के अनुशासन में बैठनेवालों में से नहीं था। वावा की प्रतिभा के सामर्थ्य को झेलने की क्षमता उसमें नहीं थी। बाबा महामानव हैं और उनके स्वयंप्रकाशी दीप्तिमान तेज में अपनी आँखें सिर्फ़ कौंध सकती हैं इसलिए अपनी आँखें बन्द करके, उनकी उँगली पकड़कर चलना होगा। मेरा अपना निजी मार्ग उस प्रकाश में ढूँढ़ने का कोई मौक़ा नहीं मिलेगा। और इस तरह अपनी आँखें वन्द कर किसी की उँगली पकड़कर चलने में, श्रीधर की रुचि नहीं थी और वावा के निर्माण किये मर्यादित क्षेत्र में खुद को गाड़ लेने की उसकी तैयारी नहीं थी। उसका मन उसे कह रहा था कि उसकी अपनी शोध-यात्रा की दिशा कुछ और है।

उस जर्मन-दम्पती की देखभाल में उलझे होते हुए भी वावा ने समय निकाल कर वड़ी सहजता से श्रीधर की देखभाल की। उसके अनेक मित्र बाबा के युवा शिविरों में आकर मार्गदर्शन ले गये थे, उनके बारे में श्रीधर के बताने पर बाबा ने वहुत प्रेमपूर्वक उनकी भी पूछताछ की। बिहार के अकाल निवारण के वारे में जानकारी ली और श्रीधर का उत्साह देखकर उसे रचनात्मक कार्य में स्वयं को अर्पित

कर देने की प्रेरणा भी दी।

दूसरे दिन थोड़ी उदासी के साथ श्रीधर ने आनन्दवन से विदा ली। आनन्दवन आते समय उसकी कोई अपेक्षाएँ नहीं थीं। बाबा की महत्ता को वह जानता था। ज्वाला और फूल जैसी पुस्तकें उसने पढ़ी थीं इसलिए केवल बाबा के दर्शन का दिव्य अनुभव लेने के लिए वह वहाँ आया था और उनसे प्रभावित भी हुआ था। फिर भी आनन्दवन छोड़ते हुए न जाने क्यों उसका मन बहुत उदास लग रहा था।

उसने दौलती को पहले से बता रखा था, उसके मुताबिक दौलती सुबह रिक्शा लेकर आनन्दवन के प्रवेश-द्वार पर हाज़िर था। सूर्योदय के पहले ही श्रीधर ने आश्रम छोड़ा, दौलती उसी दिन की तरह नज़र आ रहा था, रत्ती मात्र फ़र्क़ नहीं था। वही मैले कपड़े और आँखों में वही याचना।

रिक्शे में बैठने के बाद श्रीधर ने पूछा, "अरे वह परसों वाले लोग कैसे हैं, अस्पताल में ठीक-ठाक तो हैं ?

"नारायण मर गया, साब।"

"हैं !"

"हाँ जी, कल।"

"और वह दोनों ?"

"उन्हें क्यों कुछ होने लगा। वह तो आराम से लेटे हैं गद्दों पर।"

इसके बाद श्रीधर ने कुछ नहीं कहा। दौलती ने उसे वर्धा की बस में चढ़ा दिया। बस चल देने के बाद भी उसकी उदासी नहीं गयी थी। अब वह पुणे पहुँचने के लिए बेताब था। उसे शशी की याद आ रही थी। डेढ़-महीना विहार में गुज़ार कर उसने क्या हासिल किया, यह भी वह नहीं समझ पा रहा था। वर्धा से बस बदलकर श्रीधर पवनार चला गया। सुन्दरसिंह के पत्र से उसकी व्यवस्था हो गयी। विनोबाजी अस्वस्थ थे, उनका मौन चल रहा था। यहाँ के आश्रम के वातावरण ने उसे और भी उदास बना दिया था। सर्वत्र दुर्लक्ष्य था। बारिश के अभाव में पेड़ निर्जीव लग रहे थे। फूल-पत्तों पर भी धूल-मिट्टी की पर्त चढ़ गयी थी। उसने अच्छी तरह घूमकर आश्रम देखा। गीता पर प्रवचन सुने। अस्वस्थता की वजह से डॉक्टरों ने विनोबा को मिलनेवालों से मिलने के लिए मना कर दिया था। श्रीधर ने सिर्फ़ एक खिड़की से उनका दर्शन किया। एक तो वृद्धावस्था और फिर अस्वस्थ होते हुए भी विनोबा जी का लाल-गोरा चेहरा तेजस्वी लग रहा था। वह कटोरी से कुछ सफ़ेद द्रवपदार्थ का सेवन कर रहे थे।

दूसरे दिन सुबह उनके स्वास्थ्य में कुछ सुधार लगा और भली सुबह में वह अपनी लाठी लेकर कमरे के बाहर चल पड़े। उनका दिन भोर होने से काफ़ी पहले शुरू हो जाता था। स्वस्थ होने पर वह सूर्योदय से पहले आश्रम के बाग़ का एक

चक्कर हमेशा लगाया करते थे। सुन्दरसिंह जी के पत्र का उपयोग हुआ और सुबह विनोबा के साथ सैर करने का मौक़ा श्रीधर को मिल गया। विनोबा का मौन भी समाप्त हो गया था।

विदर्भ में गर्मी अभी खत्म नहीं हुई थी। रात भर शरीर को झुलसाने वाली गर्मी। लेकिन भोर में सुखद हवा चलती, रात भर की परेशानी से कुछ राहत मिलती। भोर जल्दी होने वाली थी और आकाश में तारे साफ नज़र आ रहे थे। विनोबा हाथ में लाठी लेकर बाहर निकले। आश्रम के दूर की बत्ती की मद्धिम रोशनी में उनकी मूर्ति स्फटिकवत् लग रही थी। सिर पर हमेशा की तरह टोपी, कन्धे पर शॉल और कमर में छोटी-सी धोती, उन्होंने पहन रखी थी। विनोबाजी ने जग के प्रायः सभी तत्त्वज्ञानों का अभ्यास किया हुआ था। वेद पढ़े थे, गीता पढ़ी थी। विनोबा ब्रह्मवेत्ता थे। उन्होंने महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलन को अपना जीवन सौंप दिया था। गरीबों दुखियारों के लिए सारा जीवन लगा दिया था। उनसे कुछ सुनने के लिए श्रीधर उत्सुक था। लेकिन उसे केवल दो प्रश्न पूछने की अनुमति मिली थी।

विनोबाजी ने बगीचे का एक चक्कर काटा और फिर वह अपने कमरे में आकर आँखें मूँदकर, पालथी मारकर बैठ गये। श्रीधर उनके पीछे-पीछे ही था। "पूछिए।" विनोबा की शिष्या ने कहा।

श्रीधर ने अपना परिचय देकर कहा कि वह बिहार से लौट रहा है।

"जानता हूँ, सुन्दरसिंह का पत्र आया है।" विनोबा ने कहा।

"जल्दी से पूछ लीजिए, बाबा की योगसाधना का समय हो रहा है।" शिष्या फुसफुसायी।

"बाबा, सर्वश्रेष्ठ आत्मिक समाधान किसमें है, ऐसा आप सोचते हैं ?"

"लोक-सेवा में।" विनोबा ने धीमे से कहा, "निरन्तर, निःस्वार्थ निरपेक्ष जनसेवा—यही श्रेष्ठ समाधान है।"

श्रीधर ने पूछा, "आपके जीवन की सबसे बड़ी सन्तोष की और असन्तोष की बात कौन-सी है ?"

विनोबा ने आँखें खोलीं और किंचित् मुस्कुराकर बोले, "जन-सेवा का निरन्तर श्रेष्ठ समाधान तो है ही और एक बात मेरी माँ के होते हुए, मैं गीताई लिखकर उन्हें नहीं दे पाया। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद, मैंने वह काम पूरा किया। उस वक़्त मुझे जीवन का सबसे बड़ा समाधान मिला।"

विनोबा क्षण भर रुके। शायद माँ की याद से वह किंचित् भावाकुल हो गये थे। फिर आँखें मूँदकर उन्होंने कहा, "मेरे माँगने पर जनता-जनार्दन ने मुझे लाखों एकड़ भूमि का दान दिया। हज़ारों ग्राम-दान के संकल्प घोषित किये गये। लेकिन मुझे पर्याप्त और सक्षम कार्यकर्ता नहीं मिल पाये और इसीलिए मेरी भूदानमूलक

क्रान्ति अधूरी रही। उसका अधूरापन मेरे जीवन का सबसे बड़ा असन्तोष है।"

श्रीधर उनसे और भी काफ़ी कुछ पूछ लेना चाहता था लेकिन साथ खड़े शिष्य ने उसे आँखों से संकेत किया। उस ऋषितुल्य महापुरुष को नमस्कार कर श्रीधर बाहर निकल आया।

उस दिन सेवाग्राम छोड़कर श्रीधर वर्धा आया और वहाँ से पुणे। पूरी यात्रा में वह विचारमग्न बना रहा। अपनी तटस्थता और सशंक वृत्ति को वह कोस रहा था। विनोबा और बाबा आमटे से वह प्रभावित हुआ था। वे दोनों महापुरुष थे। विनोबाजी ज्ञानी थे। बाबा आमटे का त्याग और धैर्य अतुलनीय था, लेकिन उसे लग रहा था कि वे दोनों इतने बड़े होने पर भी 'मैं' को नहीं भुला पाये थे ···श्रीधर को यह लग रहा था कि बिहार में स्वत्व को भुलाकर पूरी तरह जनमानस में खोये हुए छोटे-मोटे कार्यकर्त्ता भी मेरे लिए अधिक प्रेरणादायी हैं। महापुरुषों से हमें अवास्तव अपेक्षाएँ नहीं करनी चाहिए, वह अनुचित है।

पैंतीस

जितनी सहजता से श्रीधर बाबा लक्ष्मीदास के आश्रम आ गया था, उतनी सहजता से वह आश्रम छोड़ नहीं पा रहा था। बाबा और माई ने उसे बहुत स्नेह दिया था। माई का प्रेम तो उसे अत्यधिक लगने लगा था और अब उसे डर लगने लगा था कि कहीं बाबा के आश्रम में वह सुखासीनता का बन्दी तो नहीं बन रहा है ! माई दोनों समय अच्छा पौष्टिक भोजन खिलाती थी और श्रीधर उसका भरपूर आस्वाद लेकर खूब सोता था, शरीर पर चरबी बढ़ रही थी, मन और शरीर की माँगें बढ़ रही थीं। उसका आहार किसी राक्षस जैसा हुआ था, कान्ति तेजस्वी हुई थी। बाजुओं और पिण्डलियों में बल का संचार हुआ था।

श्रीधर में वह खोयेपन की भावना फिर जागरित हो गयी। मैं यह क्यों कर रहा हूँ ? किसलिए मैं इस आश्रम से चिपका पड़ा हूँ ? मैं सब छोड़कर क्या इसीलिए बाहर निकला था ? यह शरीर-पुष्टि किसलिए ? रह-रहकर उसे बाबा लक्ष्मीदास और माई पर आश्चर्य हो रहा था। यह सब रहस्यमय लगने लगा था। इस तीर्थस्थान में हज़ारों भिखारी या भूले-भटके आते हैं, उनमें से उसी को बाबा मदद के लिए उठाकर घर क्यों लाये थे, यह भी एक अज़ीब बात थी।

बावा के घर भविष्य-श्रवण के लिए सैकड़ों लोग आते थे। लेकिन उस दम्पती का इतना सहज प्रेम सिर्फ़ उसी को मिला था। माई ने भी उसे बिना किसी हिचकिचाहट से अपनाया था और वह उससे पुत्रवत् स्नेह करने लगी थी। लेकिन अपनी इस सशंकता के लिए श्रीधर अपनेआप को अपराधी महसूस करने लगा। प्रेम निःस्वार्थ, निरामय हो सकता है, इस पर शंका क्यों होनी चाहिए ? किसी कृति को हेतु चिपकाना तो सरासर क्षुद्रता है। फिर भी यह आशंका मन में दाखिल होने के वाद संशय और शंका की एक लड़ी श्रीधर के मन में चुभने लगी, उसके विरोध के वावजूद। यह सव सुखासक्त और खाली मन के निरर्थक उपचार थे। लेकिन श्रीधर, आशंकाएँ मन से नहीं निकाल पा रहा था। उसे अधिकाधिक अपराध-बोध होने लगा था। माई और वावा का जोड़ा वेजोड़ था। माई जितनी दिखती थी उतनी वयस्क नहीं थी और उसी के आग्रह पर, वावा इस तीर्थस्थान में आ बसे थे, सर्वसंग परित्याग करके । लेकिन इस सव के वावजूद माई अपने शरीर की ताज़गी छुपा नहीं पा रही थी, लक्ष्मीदास वावा तो उम्र से साठ के उत्तरार्ध में चले गये-से लगते थे और माई पैंतालीस की भी नहीं लगती थी। अनेक व्रत-नियम, उपवास आदि से शरीर को कष्ट देकर और तीर्थ-क्षेत्र में अपने वयस्क पति के साथ जीवन बिताकर भी माई की शरीर-कान्ति अव भी तेजस्वी लगती थी। आँखें साफ़ और सजल थीं, शरीर मांसल था, उनके बाल रेशम की लड़ी जैसे सीधे सरल थे, उनमें रुखाई का कहीं नामोनिशान ही नहीं था। उनके चेहरे पर जो मन्द सात्त्विकता थी। उसमें झुर्रियों का कोई चिह्न नहीं था। शायद वावा के सहवास से वह महिला प्रौढ़ा की तरह बोलने की अभ्यस्त हो गयी थी। मानो वह जल्दी-जल्दी अपनी उम्र की सीमाओं को पार कर, असमय वृद्धत्व में दाखिल होने की कोशिश कर रही हो। उसका आरोग्यपूर्ण, जीवन-रस से भरपूर शरीर उसका यह प्रयास सहजता से लौटा रहा था।

माई दिनभर काम में लगी रहती थी। भोर का स्नान होने के पश्चात् बाबा के पास आने-जाने वालों का ध्यान रखना और फिर बाबा का नाश्ता, बाबा की दुकान पर पहुँचाने पर माई का दूसरा दिन शुरू हो जाता था। पूजा से पहले, वह कुएँ से पानी निकाल कर नहाती और गीले वस्त्रों से तुलसी की परिक्रमा करती। फिर घण्टा भर पूजा करती, फिर भोजन बनाना आदि घर के सभी काम वह स्वयं करती थी। श्रीधर के वहाँ आने से पहले बावा का भोजन दोपहर में दुकानदार ले जाने के लिए एक नौकर आता, श्रीधर के आने पर उसे सिर्फ़ वही काम सौंपा गया । अन्यथा वह छोटे-मोटे कामों में माई की मदद करता था। उसके नहाने का पानी कुएँ से निकालाकर देने का काम भी उसने अपने आप पर ले लिया था।

श्रीधर को दो बाल्टियाँ पानी देने के बाद, माई गुनगुनाती धूप में स्नान करती।

उस वक़्त श्रीधर बाबा के ग्रन्थालय में होता या बावा की आराम कुर्सी धूप में डालकर बैठा होता। तुलसी-परिक्रमा और पूजा खत्म करने के बाद माई तुलसी का तीर्थ पहले उसी के हाथ पर डालती और फिर सूखे वस्त्र पहनकर पूजा में लग जाती। पोथीवाचन के वाद भी पहले प्रसाद का हक़दार श्रीधर ही हुआ करता था।

यह सब इतनी सहजता से हो रहा था कि उसके कुछ अलग से होने की आशंका भी श्रीधर के मन में नहीं आयी थी। पहले तीन-चार दिन तो बेसुधी में ही गुज़रे थे, वाद में विश्राम और पौष्टिक खुराक से उसका ध्यान अव यहाँ-वहाँ भटकने लगा था। वह नज़र चुराने लगा था। माई की आँखें इतनी साफ़ थीं कि वह उसकी आँखों की चंचलता को समझ नहीं पाएगी, ऐसा श्रीधर का अनुमान था। सवेरे बाहर पढ़ते वक़्त उसकी आँखें माई को ढूँढ़ने लगीं। उनके स्नान करते वक़्त वह उनके कान्तिमान अवयवों के अस्फुट दर्शन के लिए विचलित होने लगा। दो-तीन दिन ऐसा होने के बाद उसकी नज़र अधिकाधिक फिसलने लगी। सुबह ध्यान-धारणा शुरू करने से पहले या रात को सोते वक़्त माई की मूर्ति उसकी आँखों के सामने आने लगी और वह चौंक गया। उसके पिछले आठ-दस वर्ष के स्वच्छन्द जीवन में श्रीधर ने कम स्त्रियों को देखा था लेकिन अब के इस शोधमग्न अवस्था में ढलते यौवन की पुरन्ध्री से उसे यह मोह होने का अपराधपूर्ण खेद था। दूसरे दिन माई को पानी देकर वह अन्दर के कमरे में बैठकर पढ़ रहा था। उसकी आँखें पुस्तक पर थीं लेकिन मन और कान बाहर की तरफ लगे हुए थे। इतने में माई ने उसे पुकारा। श्रीधर ने पहले तो ध्यान ही नहीं दिया। उसे लगा कि यह उसके मन का खेल है। लेकिन फिर स्पष्ट आवाज़ सुनाई दी।

"श्रीधर, ज़रा यहाँ आना !"

अब उसे उठना ही पड़ा। माई गीले वस्त्रों में अब भी कुएँ के पास बैठी हुई थी।

"अरे श्रीधर बेटा, एक बाल्टी और निकालकर दोगे ? मेरी भरी बाल्टी ज़मीन पर लुड़क गयी।"

श्रीधर ने कुएँ से पानी निकाला।

"डाल दे, सारा मुझ पर डाल दे !" माई ने कहा।

श्रीधर की नज़र घूमने लगी। माई के वक्ष से पल्लू नीचे आ गया था। उनके स्वर्णिम तेजस्वी पुष्ट अवयवों पर उसकी नज़र ठहर गयी।

माई हँसी। विमुक्त हँसी।

"श्रीधर, ऐसे क्या देख रहा है ? डाल पानी। क्या कभी कोई स्त्री नहीं देखी है ?"

हड़बड़ाकर श्रीधर ने पानी डाल दिया, और अन्दर चला गया। माई ने परिक्रमा

पूरी की और गीले वस्त्रों में वह श्रीधर के सामने आ गयी।

"यह ले तीर्थ।"

सिर नीचा किये ही श्रीधर ने दाहिना हाथ आगे बढ़ाया।

"कितना शर्मीला है तू श्रीधर ..." माई ने तीर्थ देकर कहा।

श्रीधर ने नज़र ऊपर उठायी।

माई की शान्त, पारदर्शी आँखों से सात्त्विकता फूट पड़ रही थी। क्या कारण था, जिस वज़ह से श्रीधर के मन में यह अनामिक चाहत जाग उठी थी ?

अपराध भाव से श्रीधर का दम घुटने लगा। उसने अपनी चुरायी हुई नज़र माई के नाज़ुक गीले पैरों पर टिकायी। वहाँ भी उन गुलाबी कलियों जैसी उँगलियों ने उसे हैरान किया। फिर अपने अपराध को छिपाने के प्रयास में हल्के विनोद के स्वर में उसने कहा, 'कितनी ठण्ड है माई, और आप इस तरह... जुकाम नहीं हो जाएगा ?"

"मुझे इसकी आदत है,"— माई लौट रही थी। वह रुकती हुई बोली, "ठण्डा पानी मुझे ठीक लगता है, गरम पानी से सर्दी होती है।"

"लेकिन इतने जप-तप, उपवास...आप किसलिए करती हैं ?"

माई मुस्कुरायी। इस बार उदासी में मुस्कुरायी। उसके पीछे करुणा छिपी लगती थी। उस उदासी ने श्रीधर को हिलाकर रख दिया। लेकिन उसी वक़्त श्रीधर को उस हँसी में अब तक दबाये रखी किन्तु उफनती भावनाओं के दर्शन का आभास हुआ। उसे उनकी शान्त, संयमी आँखों से, मन में छिपाये वेदना के तूफ़ान की झलक मिली और वह दंग रह गया। माई ने कहा, "अरे बाबा, कितना भी देव-धर्म करो, स्त्री कभी अपने स्त्रीत्व को भुला सकती है ! गोद हरी हो, बस यही कामना वह परमेश्वर पूरी करे इसीलिए यह सब..." माई ने दीर्घ श्वास लिया। नज़र झुकायी और फिर अस्थिर आँखों से श्रीधर को एक नज़र देख लिया। उनके विलग होठ थरथरा रहे थे और साँस किंचित् तेज चल रही थी। आँखों में धूमिल भारीपन था। "बाबा तो एक महन्त हैं, विद्वान् हैं। उन्हें यह सामान्य आकांक्षाएँ या वासनाएँ ज्यादा परेशान नहीं करतीं, लेकिन बेटा मैं तो एक सामान्य स्त्री हूँ..."

अब श्रीधर ने माई से अपनी नज़र मिलायी। किंचित् सन्ताप, विषाद, निराशा और वासना का विचित्र मिश्रण माई की सजल आँखों में उमड़ता पाया, अपने गीले पल्लू से पीठ ढँकती हुई माई पूजा-घर चली गयी। श्रीधर उनकी पीठ को देखता रह गया। उनके अन्दर जाने के काफ़ी देर बाद भी वह वहाँ से हिल नहीं पाया। अनिश्चितता की अवस्था में वह वैसा ही खड़ा रहा। पूजा हो जाने के बाद माई ने श्रीधर को प्रसाद लाकर दिया। फिर वह भोजन की व्यवस्था में जुट गयीं। मोटी रोटियाँ, गाढ़ी दाल और सरसों के तेल में बनायी गयी आलू की सब्ज़ी। बाद में

गेहूँ की खीर। माई ने सामने बैठकर बड़े जतन से उसे भोजन परोसा। उनसे नज़र बचाते हुए श्रीधर ने भोजन किया। दाटा का डिब्बा श्रीधर को पकड़ाती हुई वह बोली, "आज कहाँ जाओगे घूमने ?"

श्रीधर ने कुछ नहीं कहा।

"अगर मन न लगे तो लौट आना।" उसकी तरफ स्थिर दृष्टि से देखते हुए माई ने कहा।

श्रीधर ने उनकी आँखों में देखा। जो वह देख रहा था, वह आमन्त्रण था या उसके मन का विभ्रम, इसका वह निर्णय नहीं कर पाया। फिर पीछे मुड़कर न देखते हुए वह डिब्बा लेकर चल पड़ा।

श्रीधर बाहर निकलकर अत्यन्त अस्थिर और बेचैन मनःस्थिति में दुकान की तरफ चल पड़ा। उसके मन में जगी लालसा को शब्द-रूप देने में भी उसे शरम आ रही थी। और आश्चर्य की बात तो यह थी कि माई की शान्त, पारदर्शी आँखों में वासना साफ़-साफ़ नज़र आ रही थी, जिसे देखकर वह अपने आपको स्वयं अपराधी महसूस कर रहा था। यह क्या मुसीबत उसके पीछे पड़ गयी, वह समझ नहीं पा रहा था। शान्ति, समाधान, मुक्ति, अन्तिम मोक्ष—जैसे गहन विचारों को भुलाकर इस वक़्त क्षुद्र लालसा में जकड़ा जाना, उसे बुरा लग रहा था। उसे गाँधीजी की जीवनी में उनके पिता की मृत्यु के बारे में लिखी वह बात याद आयी और वह शरमा गया। मैं सारी दुनिया पीछे छोड़कर किसलिए चल पड़ा ? पहले शशी के और फिर बाद में यशोधरा के प्रेम में, वह बुरी तरह झुलस चुका था। उस वक़्त के प्रेम में तारुण्यसुलभ उदात्तता की झलक थी। लेकिन यह तो प्रेम भी नहीं था, यह निरी वासना थी। पिछले सात-आठ वर्षों के व्यावसायिक जीवन में उसने अपनी तमाम आकांक्षाओं और वासनाओं को खुला छोड़ दिया था। उसी में से तो श्रीधर का रूपान्तर एक राक्षस में हुआ था। अब उसे सारे नाम भी याद आने मुश्किल थे। अब इन्हीं दिनों में याद आनेवाली थी विनू जुत्शी और लोर्ना। विनू ने जैसा कहा था वैसी ही आत्महत्या कर दिखायी थी । और उस आखिरी दिन लोर्ना क्या कहना चाहती थी ! श्रीधर और भी बेचैन हो गया। लोर्ना की याद में उसे झटका-सा लगा। यह सब छोड़ने से पहले कम-से-कम उसे लोर्ना को तो बताना चाहिए था। लोर्ना उसकी केवल सचिव ही नहीं, और भी बहुत-कुछ थी।

माई के बारे में उसका अपना अपराध-बोध ज़रा आश्चर्यकारक था। उनकी आँखों में अगर वासना थी, अभिलाषा थी, तो उसमें उसकी क्या ग़लती थी ? लेकिन अचानक वह समझ गया कि माई की आँखों में जो नज़र आया, उसे केवल काम-वासना मानना, यही मेरा अपराध है, मेरी दूषित विकृत-दृष्टि का कसूर है। उनके दिमाग़ में जो है, उसमें दैहिक वासना का अंश तक नहीं है—वह है एक

आकांक्षा, पुत्रप्राप्ति की आकांक्षा। प्रकृति द्वारा उन्हें दी गयी भूमिका की परिपूर्ति करने की सनातन आस। अपना अस्तित्व नये जीव के रूप में आगे चलाने का दिव्य स्वप्न। यही तो मानव का एक स्वप्न होता है कि वह अपने अस्तित्व को अजरामर करे। अपना अस्तित्व मर्यादित रहता है इसलिए तो प्राणीमात्र की यह नैसर्गिक आकांक्षा होती है। उसमें माई की क्या दोष ? उसमें हीनता देखना अपनी ही विकृति है। उनकी भावना सहज है। सन्तान-प्राप्ति की कामना भी सहज सुलभ है। ऐसी आकांक्षा रखने का उनका अधिकार है। उनकी कोई ग़लती नहीं है। नियोगव्रत से पुत्रप्राप्ति की प्राचीन परम्परा हमारी संस्कृति में है। आज के जमाने में टेस्टट्यूब के जरिये यही तो हो रहा है ! माई को हीन समझना मेरा ही अपराध है।

लेकिन श्रीधर अधिक बेचैन हो रहा था, यह सोचकर कि कहीं वह माई के साथ अन्याय तो नहीं कर रहा ! इस प्रश्न का सही निर्णय असम्भव था। श्रीधर इस प्रश्न का सामना भी नहीं करना चाहता था, इसलिए वह उससे दूर भाग रहा था।

सन्तति की इच्छा, हमारी प्रजा अनन्त-काल तक जीवित रहे, यह स्वप्न। अपने रक्त का, अस्तित्व का यह प्रवाह दीर्घ काल तक बहता रहे, यह भावना भी बहुत दिलासा देनेवाली है और वह नैसर्गिक भी है। यह प्रवाह बीच में तोड़ने की आत्मनाशी विकृति निसर्ग के खिलाफ़ है। श्रीधर का मन भर आया। अपराध की एक और लहर उस पर सवार होने लगी। शशी का असमय गर्भपात उसे याद आया। उस समय उसे उस घटना से कुछ भी नहीं लगा था। इतना ही नहीं, बल्कि उसने शशी की भावनाओं को भी दखलन्दाज़ किया था। वह उसकी तटस्थता थी, विकृति थी या क्रूरता ? और आज भी वह वही क्यों कर रहा था ? और मैं तब से मुँह मोड़कर बाहर क्यों निकला हूँ ? विरक्ति के लिए ? संन्यास के लिए ? हिमालय की गोद में स्वयं को देहदण्ड देकर प्राणत्याग करने के लिए ? या फिर जग के रहस्य को खोलने के लिए, अर्थ समझ लेने के लिए ?

आत्मनाश की मूर्खता वह करना नहीं चाहता था। जग से मुँह मोड़ लेने पर भी प्रकृति के साथ जुड़ा सम्बन्ध वह तोड़ नहीं सकता था। इस दुनिया में समरस होकर कर्तव्य करना, यही एक मार्ग था और उन्हीं विचारों से वह बेचैन हो रहा था।

बाबा की पुस्तकों की दुकान पर उसने डिब्बा रखा और आवाज़ देकर अपने जाने की सूचना दी। वैसे तो श्रीधर कभी इस तरह विदा नहीं लेता था। बाबा किसी भगत के साथ गूढ़ चर्चा में उलझे हुए थे। उन्होंने भौंहें उठाकर श्रीधर की तरफ देखा और अपना सम्भाषण बीच में ही रोककर वह बोले, "जा रहे हो ! अच्छा ठीक है।" बाबा ने एक लम्बी साँस ली और श्रीधर निकल पड़ा। विचारों के तूफ़ान

में उसे यह भी पता नहीं चला कि कव वह मठ के सामने आकर खड़ा हो गया है। मठ के चारों तरफ़ ऊँची दीवारें थीं। प्रवेशद्वार अधखुला था। उसे धकेलकर श्रीधर अन्दर गया। सामने ही गुनगुनी धूप में माई बैठी हुई थी।

उसे देखते ही वह धीरे से मुस्कुरायी और उठकर बोली, "आओ, मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी। पानी निकाल दो तो पहले नहा लूँ।"

छत्तीस

शुरू में श्रीधर से चंचल मित्रता और वाद में मुग्ध प्रेम करनेवाली शशी अव उसके प्रेम में पूरी तरह डूव चुकी थी। उसकी चाहत हर दिन बढ़ती ही जा रही थी। खैर, उसके इस स्वभाव की झलक तो श्रीधर ने पहचान होने के एक हफ़्ते वाद ही देखी थी। लेकिन प्रेम की उस तूफ़ानी वाढ़ के कुछ कम होने पर वह शान्त हुई थी। श्रीधर की पढ़ाई में बिल्कुल वाधा न डालते हुए वह उसकी मदद कर रही थी। अपना मेल-जोल उसने संयत रखा था। दादा जी की वज़ह से वह पुणे से वाहर निकल नहीं सकती थी लेकिन श्रीधर जव भी किसी सामाज़िक कार्य के लिए निकल पड़ता, वह उसे स्टेशन छोड़ने ज़रूर जाती। जाते वक़्त घर में बनायी खान-पान की चीज़ें उसे देती। उम्र के तेरहवें साल के वाद श्रीधर को घर से वना खाना नसीव नहीं हुआ था, यह उसे मालूम था। वह जहाँ भी जाता उस स्थान का पता लेकर वह नियमित रूप से उसे संयमपूर्ण और सभी वातों से अवगत रखनेवाले पत्र भेजती। उसकी इस संयत आराधना के चलते हुए, शुरू की सम्मोहावस्था को छोड़कर, श्रीधर वैसे तटस्थ ही था। उसे शशी अच्छी लगती थी, वह उसकी तरफ खिंचाव भी महसूस करता था लेकिन उसकी तरह सम्मोहित होकर अपने आपको भुला देने की क्षमता को समान्तर प्रतिसाद देना, उसके लिए मुश्किल हो गया था।

कुछ दिनों वाद शशी ने श्रीधर के घर की व्यवस्था का भी जिम्मा ले लिया। उसके कमरे में चाय का इन्तजाम कर दिया। जब वह सुबह घूमकर आता तो वह उसके लिए चाय वनाकर रख देती। चाय के वर्तन धोना, घर की साफ़-सफ़ाई, उसकी पुस्तकें ठीक से रखना, कपड़े धोना, गृहिणी और कामवाली की दोहरी भूमिका वह करने लगी। जिस दिन वह घर से खाना ला नहीं सकती थी, उस दिन वह दोनों होटल में खाना खाने जाते। उसका रात का खाना लाना भी वड़ा ढंग का हुआ

करता था। वावू के वुने वक्से में स्टील का एक वड़ा-सा डिव्वा हुआ करता था और रुमालों में लिपटी प्लेटें, वाउल्स तथा चम्मच। किसी पंचतारांकित होटल की तरह पैक किया हुआ। फिर वह दोनों एक साथ खाना खाते थे।

एक दिन इसी तरह खाना खाते हुए श्रीधर ने पूछा, "क्या तुम्हारे दादा जी को यह सब पसन्द है ? तुम्हारा हर समय घर से बाहर रहना ?"

"वह कभी आपत्ति तो उठाते ही नहीं हैं। और फिर पिछले छह महीनों से तो वह वीमार ही चल रहे हैं। लिक्विड डाइट पर हैं। शाम को डॉक्टर आते हैं, तो उस वक़्त मैं वहीं पर होती हूँ। उनकी वाक़ी देखभाल करने के लिए एक पुराना नौकर है। उनके खान-पान की व्यवस्था मैं देखती हूँ।"

"लेकिन क्या वह तुमसे कुछ पूछते भी नहीं ?"

"पूछते तो हैं। उन्हें मेरे विवाह की जल्दी पड़ी है, उनके मरने से पहले मेरा विवाह हो जाना चाहिए, यही वह चाहते हैं।"

"तो ?"

"हमारे खानदानी सम्बन्ध ग्वालियर, जयपुर, इन्दौर की तरफ हैं। वहाँ के सरदार घरानों से उपवर लड़के वह ढूँढ़ रहे हैं।"

"तो ?"

"तो क्या !" शशी हँसती हुई वोली, "मुझे विवाह-बन्धन में बँधकर फँसना नहीं है, यह तो तुम अच्छी तरह जानते हो। मैं बात टालती रहती हूँ।"

"लेकिन इस तरह तुम कव तक टालती रहोगी ?"

"इसीलिए मुझे तुम्हें एक बार घर ले जाकर उनसे मिलाना है···"

"शशी···हम···"

"डरो मत। हम विवाह न भी करना चाहें और दादा जी वैसा समझते रहें तो उसमें क्या वुराई है ?

एक दिन शशी उसे पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार अपने घर ले गयी। उसके वँगले पर जाने का श्रीधर का यह तीसरा मौक़ा था। पहली बार रात को उसने शशी को सिर्फ़ वँगले के प्रवेशद्वार पर छोड़ा था, दूसरी बार भी रात का समय था। लेकिन अबकी बार शाम थी। सूरज अभी-अभी डूबा था। इसीलिए उसके बँगले की प्रशस्तता और सुन्दरता पहली ही वार श्रीधर जान पाया। बाहर के बगीचे में दो माली काम कर रहे थे। पोर्च की तरफ जाने वाले रास्ते पर दो लम्वी-चौड़ी गाड़ियाँ पार्क कर छोड़ी थीं और उनके चालक गप्पें मारते खड़े थे। बँगला बहुत सुन्दर और सुरुचिपूर्ण कौशल का नमूना था।

शशी ने खुद की गाड़ी पोर्च में छोड़ी और श्रीधर के साथ पोर्च की सीढ़ियाँ

चढ़कर जब वह अन्दर आयी, तो बँगले में काफ़ी हलचल नज़र आ रही थी। एक युवा नौकरानी बत्ती जलाकर पर्दे ठीक कर रही थी। शुभ्रवेशधारी एक मध्यवयीन नौकर बहुत सुन्दर चाय की ट्रे लेकर सामने के बड़े हॉल से वाजू के बरामदे में जा रहा था। एक छोटा-सा लड़का हॉल के दरवाज़े और खिड़कियाँ साफ़ कर रहा था। हॉल में दीवार से दीवार तक कीमती कालीन बिछे हुए थे। अन्दर का फर्नीचर समृद्ध और पुराने पारसी ढंग का था। दीवार पर घराने के पूर्वजों के भव्य तैलचित्र लगे हुए थे। एक मजबूत लकड़ी की मेज़ पर छत्रपति शिवाजी महाराज की एक फीट ऊँची, ब्राँज की एक अत्यन्त सुन्दर अश्वारूढ़ मूर्ति और लोकमान्य तिलक की एक छोटा-सी मूर्ति थी। कोने में, हाथ में टॉर्च लिये हुई एक सुन्दर स्त्री की ग्रीक शैली की संगमरमर की मूर्ति और ऊँचे छत पर टँगे दो नक्काशीदार रंगीन झूमर।

हॉल में प्रवेश करते ही चाय ऊपर ले जानेवाले नौकर से उसने कहा, "काका, हमारी चाय मेरे कमरे में भेजना, हाँ !"

"जी दीदी।"

"और वह मेहमान कब तक रहेंगे ?"

"चाय के बाद चले जाएँगे, दीदी।"

"ठीक है, उनके जाने के बाद मुझे वताने आ जाना।"

"जी दीदी।"

हॉल से होते हुए वह पहली मंज़िल पर आ गये। शशी ने उसके कमरे का दरवाज़ा खोला। यह कमरा भी बेडरूम की तुलना में बड़ा था। आधे हिस्से में कालीन पर सोफा सेट रखा था। बाकी के आधे भाग में पुराने ढंग की अलमारी, ड्रेसिंग टेबल और पलंग। दीवार पर कई नये पुराने देशी-विदेशी भित्तिचित्र। पलंग के साथ की सेटी पर फ्रेम में शशी के माँ-बाप की तस्वीर। दीवार की एक तरफ पुस्तकों से खचाखच भरे सेल्फ, उसमें पुराने क्लासिक्स, पाश्चात्य और पौर्वात्य तत्त्वज्ञों के ग्रन्थ और शशी के विषय की यानी मनोविज्ञान की आधुनिक पुस्तकें।

"वावा रे !" एक सोफ़े पर धड़ाम से गिरता हुआ श्रीधर बोला, "मैं तो डर गया तुम्हारा घर देखकर ! क्या इसीलिए यहाँ लायी हो ?"

"हाँ, इसीलिए। तुम पर दबाव डालकर तुमसे विवाह की रजामन्दी पाने के लिए।"

"बाप रे, लेकिन प्रिये, इतनी क्रूर तो न वनो !"

"लेकिन मेरे राजा, इसमें कैसी क्रूरता ?"

ट्रे में बड़े सजीले पात्रों में चाय आयी। चाय ले आयी वही युवा नौकरानी।

"चाय रख दो, गुलाब।" शशी ने उससे कहा, "हम खुद बना लेंगे।"

गुलाब ने बीच के टेबुल पर ट्रे रख दी और कप लगा दिये।

"मौसी जी को खाने के लिए क्या बताऊँ दीदी ?" उसने पूछा।

"हाँ। अच्छा याद दिलाया। दोनों के लिए खाना बनाने के लिए कहना।" शशी ने कहा, "ए, तुम्हारे लिए क्या बताऊँ ? रहने दो। मैं ही बताती हूँ। बिल्कुल सीधा-सादा खाना बनाने के लिए कहना। चावल, दाल, सब्जी, भरता···ठीक है ना, श्रीधर ?"

"बढ़िया।"

गुलाब ने जाते हुए मुड़कर पूछा, "खाना कहाँ लगायें दीदी, यहाँ या नीचे ?"

"ऐसा करो, नीचे ही बड़े टेबल पर लगा दो।"

शशी ने अपने नाज़ुक हाथों से चाय बनायी और एक कप श्रीधर की तरफ बढ़ाया।

चाय की चुस्की लेता हुआ श्रीधर बोला, "यह एक जो पता चल गया सो ठीक ही हुआ। नहीं तो मैं समझ रहा था कि रोज़ तुम डिब्बे में डालकर जो बढ़िया खाना लाती हो वह तुम्हारा ही बनाया होता है।"

"नहीं, नहीं।" हँसकर हाथ झटकती शशी बोली, "मैं और खाना ? असम्भव है। मैंने तो शायद ही कभी रसोई में क़दम रखा हो। अरे, चाय भी मैं बड़ी मुश्किल से बना पाती हूँ।"

गम्भीर होता हुआ श्रीधर बोला, "फिर शशी, तुम यह क्या कर रही हो ?"

"मतलब ?"

"मतलब तुम अच्छी तरह जानती हो।" उसे घूरते हुए श्रीधर ने कहा, "मेरे कमरे में तुम क्या-क्या करती रहती हो ?"

शशी उसकी आँखों में आँखें डालकर स्निग्ध मुस्कुरायी। "तुम भी अच्छी तरह जानते हो कि वह क्या है।" उसने आत्मविश्वास के साथ कहा, "तुम कहो तो मैं तुम्हारी नौकरानी की तरह रह सकती हूँ। तुम्हारे कपड़े धोऊँगी, बर्तन माजूँगी। बोलो तैयार हो ?"

"यही तो मेरी समझ में नहीं आता।"

"यही आश्चर्य की बात है कि तुम्हारी समझ में नहीं आता श्रीधर, और अगर यह तुम्हारी समझ में ना आये न श्रीधर, तो तुम कभी समझ नहीं पाओगे कि प्रेम क्या चीज़ है।"

"लेकिन···लेकिन···प्रेम के लिए···।" श्रीधर मौन हो रहा। शशी उसे अपलक निहार रही थी और उसे वह क्या कहे, यह श्रीधर की समझ में नहीं आ रहा था। उसके प्रेम में पहली बार उसे बेचैनी-सी लगी।

चाय खत्म होने से पहले ही काका ऊपर आया।

"दीदी, मेहमान चले गये।"

"तो तात्यासाहव से कहना कि मैं अभी आ रही हूँ···फ़ौरन।"

काका के जाने के वाद शशी ने श्रीधर से कहा, "तुम यहाँ वैठो और चाय पीओ। मैं आगे जाकर तुम्हें वुला भेजती हूँ। जव तक तात्या कमरे में हैं, ठीक हैं।" अन्दर वेड पर लेट जाने के वाद वह किसी से नहीं मिलते।" यह कहकर शशी जल्दी-जल्दी काका के पीछे गयी। सीढ़ियाँ उतरते वक़्त उसके पैर की चप्पलों की खटखट सुनाई दी। श्रीधर ने चाय ख़त्म की और सिगरेट जलाकर वह कमरे का निरीक्षण करने लगा। कमरा कलात्मक ढंग से सजाया हुआ था। सजावट पर शशी के सुंसस्कृत व्यक्तित्व की छाप थी। श्रीधर को विलावजह वेचैनी हो रही थी। ऐशट्रे ढूँढ़ने के लिए वह उठकर खड़ा हो गया। वेड के पास एक तस्वीर थी, जिसने उसका ध्यानाकर्पण किया था। पास जाकर श्रीधर वह फ्रेम उठाकर देखने लगा। शशी के माँ-वाप। वह शायद पच्चीस-तीस वर्ष पुरानी तस्वीर थी। पिताजी युवा थे। नाक-नक़्श अच्छा था। उन्होंने पाश्चात्य वेप पहन रखा था। शशी की माँ के भी वाल कटे हुए थे। वह पारसी पद्धति की साड़ी और कटी वाँह का ब्लाउज़ पहने हुए थीं। सुन्दर भी वहुत थीं। शायद शशी ने अपना रूप उन्हीं से पाया था। सिर्फ़ शशी की आँखें उसके पिता जैसी थीं···और इस तस्वीर में वह कैसे भाव थे? वह कौन-सा विलक्षण तेज था ?

शशी उसके पीछे खड़ी होकर फ़ोटो देखती हुई वोली, "यह चालीस साल पुरानी तस्वीर है। उस वक़्त माँ और पापा दोनों लन्दन में पढ़ रहे थे···"

श्रीधर ने पीछे मुड़कर देखा।

"मैं किसके जैसी लगती हूँ ? माँ पर गयी हूँ न ? सव यही कहते हैं। लेकिन मुझे लगता है, मैं पापा जैसी भी हूँ। तुम्हें क्या लगता है ?"

श्रीधर ने उसकी आँखों में झाँककर देखा और उसके गाल पर दाहिना हाथ रखकर वोला, "तुम दोनों जैसी लगती हो। तुम्हारी आँखें तुम्हारे पापा जैसी हैं।"

"थैंक्यू। अच्छा अव चलो···" उसका हाथ खींचती हुई शशी वोली। "तात्या साहव तुम्हारी राह देख रहे हैं।"

"तुमने उन्हें क्या वताया है ? मैं क्या कहूँगा ? कैसे पेश आऊँगा, मैं तो नर्वस हो गया हूँ···।

"कुछ भी नहीं। तुम हमेशा की तरह पेश आओ। जैसे वोलते हो वैसे ही वोलो और मैं जानती हूँ कि तुम किसी वात से नर्वस नहीं होते। नखरे मत दिखाओ···।"

वह दोनों सीढ़ियों से उतर कर नीचे आ गये। यह कमरा भी पुराने तरीक़े से सजाया हुआ था। भव्य ग्रन्थालय की तरह पुस्तकों के शेल्फ ज़मीन से लेकर छत तक लगे हुए थे। कमरे का एक दरवाज़ा पीछे के खुले वरामदे में खुल रहा था।

उस शाम कोयल की कूक अन्दर के हॉल में साफ़-साफ़ सुनाई दे रही थी। बरामदे में बड़ी बैठक की रचना थी। शशी के दादा जी बगीचे की तरफ मुँह करके, दरवाज़े से पीठ लगाकर बैठे थे। बाहर आकाश में सन्धि प्रकाश था। इसलिए बाग़ का हरा रंग धुल चुका था। बरामदे में टँगे बल्व से वह हिस्सा प्रकाशमान था। शशी के दादाजी के सफ़ेद बाल उस बत्ती के प्रकाश में सुनहरे रंग से चमक रहे थे। वह जिस सोफ़े पर बैठे थे, उससे घूमकर शशी सामने आयी।

"तात्या, यह श्रीधर···।"

तात्या तटस्थ चेहरे से और भावविहीन नेत्रों से दूर बगीचे में देख रहे थे। वह पूरी तरह सोफ़े में पीठ के बल लेटे थे। उनके पाँव कमर से नीचे सफ़ेद शॉल से ढँके हुए थे। बरामदे के दूर के कोने में एक धकेलने वाली कुर्सी थी। श्रीधर समझ गया कि उनके चेहरे पर जो तटस्थता थी वह उनके अस्वास्थ्य की निशानी है। श्रीधर ने दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

"हेलो यंग मैन···हाऊ आर यू···टेक ए सीट···रिलैक्स।"

दूसरी बार शशी के कहने के बाद तात्या के चेहरे पर भाव बदले। उनकी बातों में कम्पन और कफ़ का मिश्रण था और अँगरेज़ी खास ब्रिटिश ढंग की थी।

"क्या नाम बताया तुमने इनका ? एस श्रीधर। प्लीज़ टेक ए सीट···शशी तू भी बैठ बेटा। आ, पास आ, बैठ ! सो···हाऊ आर यू यंग मैन ?"

"आई एम फाइन सर, हाऊ आर यू ?"

"ऑल राईट···यंग मैन···लगता है एक-दो साल और जीऊँगा।" उनके साथ वाली कुर्सी पर बैठी शशी की पीठ थपथपाकर वह बोले।

"क्या कर रहे हो तुम इन दिनों ?"

"डॉक्टरेट कर रहा हूँ···सामाजिक अर्थशास्त्र में।"

"व्हेरी गुड···गुड···शशी, चाय के लिए कह दिया न ?"

"हम चाय पी चुके हैं, तात्या···"

"वेल, तो फिर मैं क्या कहूँ ? तुम खुश हो ?"

"सर !" श्रीधर चकरा गया। "यह सवाल ऐसे कैसे ?"

"एस ?"

"मेरा मतलब यह है···" श्रीधर हड़बड़ा गया।

वैसे तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था, और वैसे देखा जाय तो यह बहुत ही मूलभूत विचारणा थी। उन्होंने यह प्रश्न किस अर्थ से पूछा था ?

"ऑफ कोर्स सर।" श्रीधर ने जल्दी से कह गया, "जीवन में वैसे कोई अभाव तो नहीं है।"

"व्हेरी गुड। मुझे इस तरह के आनन्दी बच्चे अच्छे लगते हैं। मुझे नाखुश बच्चे

अच्छे नहीं लगते। क्यों बेटा ? मैं चाहता हूँ, मेरी शशी का सहचर खुशमिजाज हो। उसने ज़िन्दगी में बहुत कुछ सहा है ···।"

"तात्या, आज डॉक्टर आ नहीं रहे ?"

"नहीं। आज उनकी छुट्टी। खैर, मेरी दवाई का वक़्त हो गया है। शशी बेटा, हरी से कहकर मँगवा लो। वेल यंग मैन, क्या नाम बताया तुमने अपना ? ओ यस, श्रीधर। शशी से सुना है कि तुम काफ़ी सारे आन्दोलनों से जुड़े हुए हो। आई एप्रिसिएट, कैरियर बनाने के साथ-साथ इस तरह सामाजिक ज़िम्मेवारियों को न भुलाकर वच्चों को ज़रूर योगदान देना चाहिए। वट आई डोण्ट नो, तुम वच्चों को इसमें से क्या एचीव करना है ?··क्रान्ति ?"

श्रीधर भाँप गया कि तात्या थोड़ी ठिठोली, थोड़ी गम्भीरता और थोड़े उपहास में कह रहे हैं, उसने भी उसी स्वर में जवाब दिया, "हाँ···कुछ युवक क्रान्ति करना चाहते हैं, कुछ क्रान्ति करने का समाधान चाहते हैं। कुछ लोग चाहते हैं कि क्रान्ति न हो और उसी के लिए वह काम करते हैं। कुछ केवल दयाबुद्धि से काम करते हैं, तो कुछ ग़रीबों का उद्धार करने की उदात्त भावना से आन्दोलन में शरीक़ होते हैं लेकिन एक बात साफ है कि इस सवमें सामाजिक सरोकार निश्चित रूप से होता है।"

"ब्रेव्हो, आई लाइक दैट। तुम कौन से प्रकार के हो ?"

"अँ ? मैं इनमें कहीं नहीं बैठता। मैं खोज रहा हूँ स्वयं को। किस तरह की क्रान्ति से ज़्यादा से ज़्यादा लोगों का भला हो सकता है, इसमें मेरी अपनी भी खोज है···"

"इण्टरेस्टिंग। इसलिए तुम कृष्णमूर्ति को सुनते रहते हो। लेकिन उनके कहने से कुछ नहीं होता, यह याद रखो। उल्टा आदमी और भी उदासीन हो जाता है, कृष्णमूर्ति की सुनो तो किसी भी आन्दोलन में हिस्सा न लो। कोई प्रयास ही न करो···"

"वेल, क्योंकि मैं अपनी तरफ से प्रयास करता ही रहा हूँ, उससे साफ ज़ाहिर है कि कृष्णमूर्ति को सुनकर भी मैं अपने नैसर्गिक स्वभाव के अनुसार चल रहा हूँ···।"

तात्या साहब थोड़े मुस्कुराये। लेकिन उतने से भी उन्हें खाँसी का दौरा पड़ गया और अन्दर से शशी दौड़कर आ गयी।

भोजन-कक्ष में बीस आदमियों के लिए काफ़ी टेबल पर श्रीधर और शशी ने खाना खाया। उस वक़्त शशी ने कहा, "तात्या को तुम अच्छे लगे।"

"वह कैसे ? और वह मेरा इण्टरव्यू किसलिए ले रहे थे ?"

"वह उनकी आदत है।"

उसके वाद वीच-वीच में शशी श्रीधर को अपने घर खाने-पीने के लिए ले जाने लगी। उसकी व्याकुलता और भी बढ़ गयी। वह कुछ इस तरह सोचकर चलने लगी कि श्रीधर का पूरा जीवन ही उसपर निर्भर हो। निहित समय पर अगर वह न मिले तो वह परेशान होने लगी। श्रीधर अपने अनुसन्धान-कार्य के लिए चार ही दिन में दिल्ली हो आया। उसे लेने शशी स्टेशन गयी थी। श्रीधर वुखार में तप रहा था। शशी उसे सीधे अपने साथ घर ले गयी। डॉक्टर को बुलावा भेजा और शुश्रूषा के लिए उसे वहीं रख लिया। जव दादा जी ने आपत्ति का संकेत दिया तो वह तड़ाक से श्रीधर को लेकर वाहर निकल आयी। उसके पापा का एक छोटा-सा लेकिन प्यारा-सा बँगला गणेशखिण्ड रास्ते पर था। उसने श्रीधर को वहाँ रख लिया।

"लेकिन तात्या साहब ने ऐसा क्या कह दिया जो तुम यों चली आयी ?" श्रीधर ने हताश होकर पूछा।

"वैसे तो कुछ कहा नहीं, लेकिन विवाह से पहले मेरा तुम्हें अपने घर में रख लेना उन्हें शायद ठीक नहीं लगा।"

"ठीक ही तो है।"

"ग़लत";—शशी ने निर्धारपूर्वक कहा। "प्रेम में विवाह करने न करने में कोई अन्तर नहीं है।"

"अरे लेकिन उनकी इच्छा का सम्मान वगैरह कुछ..."

"श्रीधर, तुम समझ क्यों नहीं रहे ? तुम्हारे सामने मुझे दुनिया की कोई परवाह नहीं है..."

श्रीधर दंग रह गया। उसके प्रेम के कठोर दर्शन से कृतज्ञ हो गया। उसके लिए शशी ने दादाजी को छोड़ने की कितनी बड़ी जोखिम उठायी थी !

"चाहे जो भी हो, तुम्हें मेरे लिए दादा जी को नहीं छोड़ना चाहिए था। आखिर उन्होंने तुम्हारा लालन-पालन किया है।"

"यह भी ग़लत"—शशी ने हँसकर कहा, "मैंने उन्हें नहीं छोड़ा है। मैंने उनका वँगला छोड़ा है। जैसे पहले तुमसे मिलने आया करती थी वैसे अव दिन में दो वार उनसे मिलने जाया करूँगी।"

शशी ने बँगले का नीचे का हिस्सा पहले ही किराये पर दे रखा था। ऊपर के मंजिल के सिर्फ़ चार कमरे उसके पास थे। उसे सजाने के लिए उसने न जाने कहाँ-कहाँ से सामान मँगाया। तात्या ने भी अपने बँगले से काफ़ी फर्नीचर आदि भेजा। घर के रख रखाव के लिए कुछ दिन काका आया था। मौसी ने आकर उसे खाना बनाना सिखा दिया।

"तात्या और उनकी यह पोती, दोनों मनस्वी हैं...।" मौसी ने श्रीधर से कहा। शशी उस वक़्त स्नान-गृह में थी। मौसी शायद शशी की कोई दूर की रिश्तेदार थी,

"एक बार मुँह से शब्द निकले तो उसे वापस नहीं लेंगे।"

श्रीधर की बीमारी ठीक होने पर मौसी और काका का आना-जाना कम हो गया और उसकी शशी पर निर्भरता और भी बढ़ गयी।

सैंतीस

श्रीधर के दोस्त बिखर गये थे। आभियान्त्रिकी में उपाधि पाने के बाद विश्वम्भर अपनी नौकरी छोड़कर यहाँ-वहाँ भटक रहा था। और अब वह धुले जिले के दुर्गम प्रदेश के आदिवासियों को संगठित करने में कार्यरत गुट के साथ जुड़ गया था। धनंजय स्नातकोत्तर उपाधि पाने के बाद बम्बई की एक शोध-संस्थान में अच्छे पद पर नौकरी कर रहा था। यशोधरा ने अब झुग्गी-झोंपड़ी के काम में अपने आप को समर्पित कर दिया था। और उसके लिए हफ़्ते में वह पुणे, बम्बई के तीन-चार चक्कर अवश्य लगाती थी। बाँगला देश के युद्ध के बाद जगत का जो पत्र आया था, उसके बाद उसकी कोई खबर नहीं थी। उनका पत्र-व्यवहार लगभग रुक गया था।

बम्बई से धनंजय के पत्र आते थे। उसकी नयी नौकरी उसे बहुत अच्छी लग रही थी और बम्बई का दौड़धूप वाला, गतिशील जीवन उसे अच्छा लग रहा था। उसके दोनों माँ-बापों के पास आते-जाते उसके पास पुणे आने को वक़्त बचता नहीं था। एक दिन कुछ घण्टों के लिए धनंजय अपनी संस्था के किसी काम के लिए पुणे आया था। तब वह श्रीधर से भी मिला और उसे देखकर दंग रह गया।

"आई सी··· तो वह तुमसे प्रेम करती है।" धनंजय ने कहा।

"अँ···हाँ···।"

"लेकिन ऐसा क्यों है ? मैं तुम्हारी आँखों में कोई चमक नहीं देख रहा !"

"तुम्हें याद है, एक बार तुमने मुझे शाप दिया था।"

"शाप ? मैंने ? क्या कह रहे हो तुम ?"

श्रीधर विषण्णता से हँसकर बोला, "तुमने यह कहा था कि मैंने कभी किसी से प्रेम नहीं किया है और कर भी नहीं पाऊँगा। याद है ?"

"वह शाप था या वास्तविकता का निवेदन ?"

"जो भी हो, खैर मैंने तुम्हारी वाणी को झुठलाने की भरसक कोशिश की। स्वयं को सम्मोहित होने दिया, बहकने दिया लेकिन अन्त:करण में बसी निर्विकार तटस्थता को मैं भुला न पाया। अब मुझे उ:शाप दो।"

धनंजय हँस पड़ा।

"मैं तो शाप देने के भी क़ाबिल नहीं···उ:शाप कैसे दूँ ?"

श्रीधर हँस पड़ा तो जल्दबाज़ी में धनंजय ने कहा, "अर्थात् शाप, उ:शाप जैसी बातों पर मेरा तनिक भी विश्वास नहीं है, यह तो तुम जानते ही हो। लेकिन वह रहने दो, मैं कहना यह चाहता था कि तुम भाग्यवान् हो। शशी जैसी लड़की तुमसे मुग्ध प्रेम करती है। वैसे तुम अभागे भी हो क्योंकि इस प्रेम का सच्चा प्रतिसाद देने के लिए तुम असमर्थ हो।"

श्रीधर उदास और विचारमग्न हो गया। सिगरेट जलाकर उसने कहा, "लेकिन मुझे वह बहुत अच्छी लगती है। बहुत ही अच्छी लगती है। उसका साथ अच्छा लगता है। उसकी बातें, उसका हँसी-मज़ाक़, उसका उन्दापन अच्छा लगता है। जिस दिन वह न मिले मैं बेचैन हो जाता हूँ।"

"तो ?"

"क्या इसे प्रेम नहीं कहते ?"

"यह तुम मुझसे क्यों पूछते हो श्रीधर ? जिसे ऐसा प्रश्न पूछना पड़ता है, उस आदमी को मैं अभागा मानता हूँ।"

धनंजय भी विचारमग्न था। उसने अभी सिगरेट की लत से अपने आपको बचाकर रखा था। वह बोला, "बात यह है श्रीधर कि" अमुक एक चीज़ की तरफ इशारा करके, "यह कहा नहीं जा सकता कि यह प्रेम है। तुम मेरे माँ-बाप का क़िस्सा जानते हो। अब उन लोगों की उम्र काफ़ी बढ़ गयी है। लेकिन देखते ही एक नज़र में समझ में आ जाता है कि यह सुखी हैं और एक-दूजे से प्रेम करते हैं। मेरे दोनों माँ-बापों के घरों में ऐसी सुख-शान्ति है। इसीलिए कहता हूँ कि प्रेम का अर्थ पूछना नहीं पड़ता। हम हमेशा इस बात को लेकर लड़ते थे कि विज्ञान से परे तीसरी अदृश्य शक्ति का होना सम्भव है या नहीं। मैं नहीं मानता कि ऐसा कुछ है। लेकिन एक बात सम्भव है। विज्ञान-जितनी ही श्रद्धा मुझे प्रेम पर है और प्रेम के लिए कभी-कभार बुद्धिप्रामाण्यवाद से भी समझौता करना ठीक है।"

अड़तीस

शशी के असीम प्रेम की परिसीमा होने से पहले ही श्रीधर को यशोधरा का साथ भी

अच्छा लगने लगा था। अपने अभ्यास के सिलसिले में कई बार यशोधरा से मिलना होता था। और आश्चर्य की बात तो यह थी कि उससे मिलना, उससे बातें करना उसे एक चुनौती-जैसा लग रहा था। वह उससे बार-बार मिलने की अपेक्षा कर रहा था, लेकिन यह सब करते हुए उसे शशी के प्रति अपराधीपन की भावना का आभास भी हो रहा था। एक तरफ शशी उसे बहुत प्रेम दे रही थी। नयी-नयी माँ अपने प्रथम अपत्य का, या कोई बच्ची अपनी गुड़िया या पाले हुए कुत्ते का जिस तरह प्यार-दुलार करती है उसी तरह वह श्रीधर के लिए सब कुछ कर रही थी। सुबह उठकर उसके हाथ में पेस्ट लगाकर ब्रुश थामने से लेकर उसके पैर में जूते पहनाकर उनके फीते बाँधने तक, उसका खाना-पीना पसन्द-नापसन्द, कपड़े-लत्ते, सिगरेटें, उसके मूड, उसको बाहर ले जाना और वापस लाना जैसे सब काम वह किसी काम वाली की तरह कर रही थी। वह जैसे अपना अस्तित्व मिटाकर उसमें विलीन हो जाने का प्रयास कर रही थी। यह प्रयास भी इतनी लगन और ईमानदारी से कर रही थी कि उसकी अपनी कोई सोच भी बाकी नहीं बची थी। जैसे वह स्वतन्त्र विचार करना ही भूल गयी हो। श्रीधर की दोस्त मण्डली अब उसकी दोस्त मण्डली बन चुकी थी। श्रीधर अब अर्थशास्त्र की किसी शाखा में डॉक्टरेट कर रहा था, उसके लिए सन्दर्भ ढूँढ़ निकालना, उसके नोट्स बनाना, उन्हें सूचीवार लगाना और किताबों की तलाश में रहना जैसे काम भी वह बड़े प्रेम और निष्ठापूर्वक कर रही थी। शशी का वह विस्मयकारी प्रेम सर्वत्र चर्चा का विषय बनकर रह गया था।

शशी अमीर थी, अकेली थी और श्रीधर से प्रेम शुरू होने से पहले से ही वह अपने जान-पहचान वालों में चर्चा का विषय थी। अब श्रीधर के मित्र परिवार में भी उसके चर्चे होने लगे थे। उनके सम्भाव्य विवाह के बारे में अन्दाज किया जा रहा था, सवाल पूछे जा रहे थे। श्रीधर को धीरे-धीरे यह आभास होने लगा था कि उसके लालची और चालाक प्रेम के अधिक दबाव के नीचे उसका दम घुटता जा रहा है। वह अगर अन्य आन्दोलनों में जी-जान से लगा हुआ होता तो शायद यह प्रेम उसके लिए सुसह्य होता लेकिन उसे यह लग रहा था कि वहाँ भी वह तटस्थ ही है। यशोधरा ने तो कितने दिन पहले से ही इस ओर उसका ध्यानाकर्षण किया था। शशी की प्रेम की वर्षा के नीचे श्रीधर के सनातन प्रश्न भी दब गये थे। विश्वम्भर ने जब उसे झिंझोड़ा तब वह फिर सजग हो उठा।

"यह जो चल रहा है, वह तुम्हारे जीवन का अध:पात है, क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता ?" विश्वम्भर ने वह सब देखकर और श्रीधर की स्थिति को भाँप कर पूछा।

विश्वम्भर अब उसके आदिवासी क्षेत्र में बस गया था। इतना कठोर, क्रान्तिकारी होने के बावजूद विश्वम्भर का पारिवारिक प्रेम रत्ती-भर भी कम नहीं हुआ था। अभी-अभी वह अपनी चौथी बहन का ब्याह निबटाकर लौटा था और पुणे स्थित

अपने चाचा-चाची से मिलकर उसी रात वह अपनी कर्मभूमि की तरफ प्रस्थान करने वाला था। उसके स्वर में सखेद आश्चर्य था और प्रामाणिक चिन्ता भी।

"यह प्रेम है और प्रेम में कैसा अधःपात ?" श्रीधर ने अपनी हड़बड़ाहट छुपाकर मुस्कुराते हुए कहा।

"प्रेम ? यह कैसा प्रेम है ?" विश्वम्भर ने सिगरेट जलाकर कहा। उसका हुलिया अव मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी की प्रतिमा से पूरी तरह मिलता-जुलता था। झुलसा हुआ चेहरा, अस्तव्यस्त केश, बढ़ी हुई तथा दुर्लक्षित दाढ़ी और मूँछें, शरीर से लगभग ग़ायव चरवी, जीन्स और ऊपर मैली-कुचैली जर्सी, कन्धे पर इस दुनिया में उसकी मलकियत की सभी चीज़ों से भरी चमड़े की थैली और पाँवों में चप्पलें।

शाम को शशी जव दादा जी से मिलने गयी तो दोनों दोस्त इरानी के होटल में वैठे चाय पी रहे थे। विश्वम्भर के सफर से मैले चेहरे पर अंगीकृत क्रान्तिव्रत की निष्ठा का तेजोवलय साफ़-साफ़ नज़र आ रहा था और उसी के साथ क्रान्ति से बाहर किसी अस्वस्थता की झलक भी साफ़-साफ़ दिखाई पड़ रही थी।

"यह कैसा प्रेम है ?" विश्वम्भर ने तनिक हैरान होकर पूछा। "मैंने जो समझा वह मुझे कुछ विचित्र लग रहा है। शशी को तुमसे वहुत प्रेम है, यह बात साफ़ है। लेकिन इस प्रेम में वह तुम्हें पूरी तरह से ग़ुलाम वना रखने की कोशिश में है, वह तुम्हारा स्वत्व सोख रही है। प्रेम को इतना वन्धनकारी क्यों होना चाहिए ?"

श्रीधर का चेहरा शर्म से लाल हो गया, छुपाने के लिए वह हल्के से मुस्कुराया। उसे विश्वम्भर पर ग़ुस्सा नहीं आया क्योंकि विश्वम्भर उसका घनिष्ठ मित्र था, और उसे इस तरह के प्रश्न पूछने का अधिकार भी प्राप्त हुआ था।

श्रीधर हैरत में पड़ गया। शशी अव उसके जीवन में छाया-सी फैल चुकी थी यह तो सच्चाई थी लेकिन वह छाया अव भी सुखकारक, आनन्ददायी और मनचाही लग रही थी, दम घुटाने वाली नहीं। वैसे शशी ने उसपर कोई वन्धन नहीं डाला था। सिर्फ़ वह उसका निरन्तर साथ चाहती थी। वह उसके अत्यन्त क़रीब रहना चाहती थी। शारीरिक, भावनिक और मानसिक दृष्टि से वह श्रीधर से एक-जान होना चाहती थी। वह दोनों का अपना एक संग, अभिन्न अस्तित्व चाहती थी। शायद शशी का पूर्वजीवन मानसिक दृष्टि से सुरक्षित नहीं था। बचपन में ही वह माँ-बाप गँवा वैठी थी। पिता जी की मौत के वाद माँ ने दूसरी शादी की थी और वह परदेश चली गयी थी। और तव से शशी दादाजी के पास ही थी और अब वह प्यार, अपनत्व ढूँढ़ रही थी। वह प्रेम के लिए तृषित थी। शायद श्रीधर से पहले एक-दो दोस्तों ने उसे धोखा दिया था। इसीलिए वह तृषार्त हो गयी थी। एक तरह से श्रीधर शशी के प्रति कृतज्ञ था। किसी और के जीवन में उसके अस्तित्व को ऐसा महान् सन्दर्भ पहली ही बार प्राप्त हो रहा था। लेकिन ऐसा होते हुए भी विश्वम्भर

जो बोल रहा था उसमें तथ्य अवश्य था। इतना ही नहीं, विश्वम्भर जो कहना चाह रहा था वह श्रीधर अन्दर से समझ चुका था। लेकिन स्वयं अपनी परिस्थिति का आकलन करने के लिए श्रीधर ने कहा, "गुलामी और बन्धन ? और फिर हँसकर उसने कहा, "यह तो प्रेम के बन्धन हैं।"

विश्वम्भर ने कुछ नहीं कहा। सिगरेट का एक कश लेकर वह श्रीधर को घूरता रहा। उसकी नज़र में करुणा थी। और "यह तुम कह रहे हो श्रीधर?" जैसा उपहासात्मक प्रश्न भी था। श्रीधर ने आगे कठोर तटस्थता से कहा, "और जब तक मैं इसे गुलामी नहीं समझता, तब तक मेरा स्वत्व क़ायम है। जब तक मैं स्वीकार न करूँ, मुझ पर कोई बन्धन डाल नहीं सकता।" श्रीधर की कृत्रिम मुस्कुराहट में झूठ की झलक थी, "और विश्वम्भर, प्रेम में गुलामी, बन्धन, डिजनरेशन, स्वत्व कोई मायने नहीं रखता। प्रेम आखिर प्रेम है। हमारे आकलन से परे है।"

श्रीधर के सम्भाषण का प्रवाह बीच में ही रुक गया और वह बौखलायी नज़र से विश्वम्भर की तरफ़ देखता रह गया।

विश्वम्भर ने उसे भरपूर देखकर हँसते हुए कहा, "तुम्हें सचमुच ऐसा लगता है श्रीधर ? आगे-पीछे तुम्हें पछतावा तो नहीं होगा ? यह सब एकाएक क्या हो गया था ऐसा नहीं लगेगा, ऐसा तुम विश्वास के साथ कह सकते हो ?"

श्रीधर इस तरह मुस्कुराया जैसे कोई गुनहगार अपना अपराध मान लेता है। फिर उसने दो चाय का ऑर्डर दिया। काँपते हाथों से अपना सिगरेट जलाकर कुछ कश लेकर वह होटल से बाहर के यातायात को देखता रहा।

"तुम एक बात जानते नहीं होंगे, विश्वम्भर…" श्रीधर ने विचारपूर्वक कहा, "शशी मुझसे जी-जान से प्रेम करती है…मैं अब तक खुद भी समझ नहीं पाया हूँ कि क्या वह सचमुच मुझसे इतना प्रेम करती है ?…वह मुझे अच्छी लगती है, उसका साथ अच्छा लगता है, उसका सम्भाषण अच्छा लगता है…उसकी हर बात अच्छी लगती है। लेकिन इस तरह सब कुछ अच्छा लगना ही क्या प्रेम है ? अब भी कोई कमी है अपनी तरफ से, ऐसा मुझे हमेशा लगता आया है…।"

श्रीधर बोलते-बोलते रुक गया।

विश्वम्भर ध्यानपूर्वक सुन रहा था। वह जो कह रहा था, वह विश्वम्भर अच्छी तरह जान रहा था। यह जानते हुए श्रीधर ने आगे कहा, "शशी के प्रेम से मैं उल्लसित अवश्य हुआ हूँ। मेरा व्यक्तित्व बदल रहा है। शशी ने मुझे पल्लवित किया है, खोला है और लोकाभिमुख किया है। लेकिन…लेकिन फिर भी मुझे अपने आप को कुछ अभाव महसूस हो रहा है। मेरे भीतर से पूरी तरह से मैं खिल उठा हूँ, ऐसा तो मुझे प्रतीत नहीं होता। मेरे दर्दनाक सनातन प्रश्न इस प्रेम की आग की लपटों से जलकर भस्मसात् नहीं हुए हैं। सम्पूर्ण समाधान की क्या ऐसी अवस्था

होती है ? वह मुझे इस प्रेम में कभी हासिल नहीं होगी। मैं अब भी तटस्थ ही हूँ और कठोर तटस्थता से इस अवस्था की ओर देख रहा हूँ। क्या यह कृष्णमूर्ति के विचारों का प्रभाव है ? मैं नहीं जानता। लेकिन मैं शशी पर अन्याय तो नहीं कर रहा, यह सोचकर मैं अपने को अपराधी महसूस करता हूँ और मेरी बेचैनी बढ़ जाती है···।''

विश्वम्भर ने गरदन हिलायी और लम्बी आह भरी, कुछ देर तक वह मौन रहा। कुछ देर बाद फिर आह भरकर उसने कहा, ''यह सब शोकान्तिका की तरफ बढ़ रहा है···यह शोकान्तिका तुम्हारी नहीं, शशी की है।''

श्रीधर के बदन पर रोंगटे खड़े हो गये और वह अत्यन्त बेचैन गया। उसने सिगरेट जलाकर लम्बा कश लिया। प्रेम से शान्ति और सन्तोष की निर्मिति होनी चाहिए। जिस प्रेम में शोकान्तिका के बीज हैं, वह प्रेम नहीं है। यह सोचकर वह एकदम चौंक गया। और फिर उसे यह भी लगा कि शशी पर अन्याय होने की आशंका से ही तो वह जाने कब से बेचैन है। सिर्फ़ यह सब सवाल अब तक अलमारी में बन्द कर रखे थे, इसलिए वह उनके अस्तित्व से बेखबर था। और आज जब विश्वम्भर ने वह बन्द दरवाज़ा खोला है तो वह धड़ाधड़ उस पर बरस रहे हैं। वह उदास हो गया। उसने विश्वम्भर की तरफ देखा। विश्वम्भर भी न जाने क्यों परेशान-सा लग रहा था। सिगरेट के लम्बे कश भरता बाहर निकलते धुएँ को देख रहा था। ऐसा लग रहा था कि उसकी नस-नस में तनाव भर चुका है। श्रीधर ने पूछा, ''विश्वम्भर, हम बड़े दिनों बाद मिल रहे हैं, और न जाने कितने वर्षों के बाद यूँ खुलेपन से बोल रहे हैं। मैं भी तुमसे पूछना चाहता था, क्या तुमने प्रेम किया है ?''

विश्वम्भर बाहर की तरफ देख रहा था। यह प्रश्न सुनते ही उसने श्रीधर की ओर देखा। उसने सिगरेट का एक और कश लिया और फिर अपने शरीर को ढीला करता हुआ वह इस क़दर खुलेपन से मुस्कुराया जैसे उसे इसी प्रश्न की प्रतीक्षा थी।

''प्रेम में, मनस्वी प्रेम की आग में जलकर भस्मीभूत होकर फिर फिनिक्स पंछी की तरह उठकर मैं नवजीवन जी रहा हूँ।''

श्रीधर अविश्वास से उसे देखता रहा।

''यानी ?''

''यानी यह कि जिस आवेग से शशी तुमसे प्रेम कर रही है, उससे दोगुने आवेग से मैंने एक लड़की से प्रेम किया था। वह भी मुझसे उतना ही या उससे भी अधिक प्रेम करती थी।'' विश्वम्भर रुका। उसकी आवाज़ में कड़ुवाहट, आवेग और मीठी यादों का मिश्रण था। ''सिर्फ़ तीन साल का यह नाटक···।'' फिर उसने शान्त स्वर में कहा, ''मैं यहाँ इंजीनियरिंग के आखिरी वर्ष में पढ़ रहा था, और पिछले वर्ष

सब कुछ खत्म हो गया। वह दुनिया की सबसे सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान लड़की थी। वह भी क्रान्तिकारी विचारों की थी…"

"फिर !"

"उसने आत्महत्या कर ली।"

विश्वम्भर के इस सपाट वक्तव्य ने जैसे श्रीधर के मुँह पर तमाचा मार दिया। वह दंग रह गया। विश्वम्भर ने अपनी दायीं-बायीं जेबें टटोलीं। और आखिर में श्रीधर से लेकर सिगरेट जलायी। उसे अन्त तक जलाकर कहीं उसने उसे बुझाया। फिर मेज़ पर झुककर, हाथ सामने रखकर शान्त स्वर में और खुलेपन से वह काफ़ी देर तक बोलता रहा। अब उसके बोलने में न कड़ुवाहट थी और न ही वह आवेग।

"प्रेम, अपार प्रेम, अतिप्रेम, संशय, मत्सर, कटुता, कपट, हिंसा इस पूरे चक्र से हम गुजर गये, और फिर भी आखिर तक हम दोनों को एक-दूसरे पर पूरा विश्वास था। हम यह पूर्णरूप से जानते थे कि हमें एक-दूसरे से मनोमन प्रेम है। एक-दूसरे को नीचा दिखाते समय, मारते समय, कपट करते वक़्त भी हमें इस बात का अनुभव हो रहा था। आखिर में उसके आत्मघात के लिए भी मैं ही ज़िम्मेदार था। लेकिन उसे मुझसे इतना प्रेम था कि मरते समय भी उसने मुझपर कोई दोषारोपण नहीं किया। उसने वह ज़िम्मेदारी भी अपने आप पर ले ली। मैं अगर उसके जैसा होता, तो मैं भी आत्मघात ही करता लेकिन हम दोनों में एक फर्क था, वह इस प्रेम को ही सब कुछ मानती थी। मैं भी मानता था। लेकिन उसी के साथ-साथ मैं समाज से भी प्रेम करता था। सामाजिक कर्तव्य को मानता था। लेकिन सच बताऊँ ? सच्चा प्रेम—स्त्री-पुरुषों के बीच का प्रेम अपनी अन्तिम सीमा कभी पा नहीं सकता। प्रेम अन्तर रखकर और व्यवहार की मर्यादाएँ सँभालकर ही करना चाहिए। नहीं तो सर्वनाश अटल हो जाता है। प्रेम की मर्यादाएँ नहीं होतीं। वह विनाशकारी भी साबित हो सकता है। दो स्त्री पुरुष जब एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं, तो पहले उन्हें सामाजिक मर्यादाओं को देखना पड़ता है। एक-दूसरे से क्या लेना है, क्या देना है, यह अच्छी तरह सोच-समझकर वह व्यवहार करते हैं, उसे हम यशस्वी प्रेम, आदर्श प्रेम, रोमांचकारी प्रेम कहते हैं। लेकिन यह प्रेम सच्चा प्रेम नहीं होता। सच्चा अन्तिम प्रेम वही है जो इन मर्यादाओं को नहीं मानता। इस तरह के प्रेम में स्त्री-पुरुष स्वयं को पूरी तरह समर्पित कर डालते हैं। वह एक-दूजे में पूर्णरूप से विलीन हो जाना चाहते हैं। शरीरों के रोम-रोम से, मन से, बुद्धि से और संवेदशीलता से वह एक होना चाहते हैं। वह एक संघ, एक जीव अस्तित्व का निर्माण करना चाहते हैं। भला यह कैसे सम्भव है ? दो स्वतन्त्र शरीर, स्वतन्त्र अस्तित्व के दो मन और व्यक्तित्व एक-दूसरे में पूरी तरह कैसे समाये जा सकते हैं ! यह सिर्फ़ एक मार्ग से सम्भव है, जो है मृत्यु। मैं अभी अच्छी तरह नहीं जानता। मृत्यु के बाद भी ऐसा

एकात्म अस्तित्व सम्भव हो पाता है या नहीं, इसके बारे में मैं अभी कुछ कहना नहीं चाहता। इसलिए प्रेम भयानक है। इसीलिए प्रेम उससे करना चाहिए जो हमसे कोई अपेक्षा नहीं करता, जैसे—समाज, जीवन, मानव-जाति···स्त्री-पुरुषों के बीच का प्रेम कभी सर्वोच्च और विशुद्ध प्रेम का स्तर नहीं पा सकता और कभी भी सच्चे अर्थ से यशस्वी नहीं हो सकता, निरामय समाधान नहीं दे सकता।"

आखिरी वाक्य अधिकारवाणी में कहकर विश्वम्भर चुप हो गया।

उसकी बातें सुनकर श्रीधर वैसे ही बौखला गया था। डर गया था, परेशान हो गया था। यह बात नहीं थी कि विश्वम्भर जो भी कह रहा था उससे वह पूर्णरूप से सहमत था। लेकिन उसकी वातों में बेचैन करने वाला तथ्यांश अवश्य था। अनुभवों की दाहकता थी। दोनों ने फिर सिगरेट जलायीं और चाय का ऑर्डर दे दिया।

"तुमने जो कहा है उसमें थोड़ी अतिशयोक्ति ज़रूर है, लेकिन वात कुछ हद तक सही भी है।" श्रीधर ने विचारपूर्वक कहा। "लेकिन तुम्हारे अनुभवों की वज़ह से मुझे लगता है, तुम बहुत अतिरेकी दृष्टिकोण अपनाते हो। प्रेम हमेशा हिंसक हो ऐसा नहीं···।"

"मनस्वी प्रेम वैसा हो सकता है, यह समझ लो।"

"क्या यह बदला नहीं जा सकता ? मनस्वीपन कम करके संयम लाया नहीं जा सकता ? शशी को थोड़ा समझाना पड़ेगा···।"

"यह बातें किसी के समझाने-बुझाने से बदलती नहीं हैं, श्रीधर। उसका स्वभाव बदल नहीं सकता और इस प्रेम में अगर तुम्हारा सिर्फ़ डीजनरेशन हो रहा है तो उसका तो पूरा विनाश हो सकता है, इस बात पर ग़ौर करो।"

उनतालीस

"स्सक···स्सक।"

चार घण्टे ग्रन्थालय में बिताने के बाद बोर होकर श्रीधर घूमकर ज़रा दिमाग़ को तरोताज़ा करने के लिए बाहर निकल पड़ा था तो पीछे से एक आवाज़ सुनाई दी। उसने मुड़कर देखा। कोई अठारह-उन्नीस वर्षीय, ठीक-ठाक नज़र आनेवाली एक लड़की पुरानी तरह की केश-रचना और अनास्था से मुरझाया चेहरा लेकर उसके

पीछे आ रही थी। उसकी साड़ी साधारण थी, लेकिन वह उसने ठीक से पहन रखी थी। श्रीधर को उसका चेहरा कुछ जाना-पहचाना-सा लगा, उसकी वड़ी आँखें कहीं देखी हुई थीं।

"माफ़ कीजिए···क्या मैं एक मिनट बात कर सकती हूँ ?" उसने दवी आवाज़ में पूछा, आँखों में एक अनामिक अपेक्षा थी।

श्रीधर ने सिर्फ गरदन हिलाकर हाँ की, दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करती हुई वह बोली, "मैं सुलभा···" उसने अपना पूरा नाम बताया और यह कहा कि वह कस्बा पेठ में रहती है।

अब उसकी आँखों में अपेक्षा और गहरी हो गयी। श्रीधर के दिमाग़ में एक तार झनझनाया लेकिन समझ नहीं आया कि यह कैसा नाद है। और उस लड़की की यह अपेक्षा भी वह समझ नहीं पा रहा था। उसने सिर्फ़ गरदन हिलायी। उसकी यह प्रतिक्रिया देखकर उस लड़की की आँखों में निराशा उमड़ आयी जिससे श्रीधर और भी असमंजस में पड गया।

"हाँ···क्या काम था ?" उस लड़की का अपेक्षाभंग देखकर उसे न जाने क्यों कुछ करुणा-सी लगी और उसने मार्दव से पूछा। वह लड़की ठिठककर बोली, "माफ़ कीजिए, लेकिन आप ही श्रीधर हैं न ?"

"हाँ।"

"मेरी माँ आपसे मिलना चाहती है···"

अब श्रीधर थोड़ा-सा खीझ गया। यह अपरिचित लड़की अचानक आकर कहती है कि उसकी माँ मुझसे मिलना चाहती है···यह कौन, कहाँ की···?

"आपकी माँ को मुझसे मिलना है ? भाई, मुझे तो···" श्रीधर बीच में ही रुक गया और उस लड़की को घूरकर देखने लगा। अब तक उसके दिमाग़ में बात आ गयी थी।

"सुलभा···यानी तुम ?"

"हाँ···मैं आपकी चचेरी बहन।"

उसकी आँखों में पहचान दिलाने की कृतज्ञता तथा किंचित् पानी के तरेरने का आभास था और चेहरे पर समाधान। मुझे तो उसे नाम बताने से पहले ही पहचानना चाहिए था। चेहरे पर खानदान के नाक-नक्श की आभा थी। बिलकुल वृन्दा जैसी ही तो नहीं थी लेकिन कुछ-कुछ वैसा ही नाक-नक्श। श्रीधर की स्मृति पन्द्रह साल पुरानी थी। वृन्दा के गुज़रने के बाद उतना काल गुज़र चुका था। कहते हैं कि लड़कियों पर उनके घराने की छाप अवश्य रहती है। और फिर उसने सुलभा के पिता को तीन-चार साल पहले देखा था, उसके बाद वह फिर कभी मिले ही नहीं थे। और वह भी उन दोनों की पहली और आखिरी मुलाक़ात थी। और अब यह

लड़की उस रिश्ते का वास्ता दे रही थी। श्रीधर को याद आया कि जब उसने सुलभा के पिता को दो टूक जवाब देकर टरका दिया था, तब धनंजय नाराज़ हुआ था। नये रिश्ते की सम्भावना को ठुकराने को लेकर। और अब यह लड़की, श्रीधर का हृदय पिघल गया। शायद वृन्दा से साम्य था इसलिए या सिर्फ़ अपने-आपको उसकी बहन बताने वाली, एक असहाय उम्र में उससे छोटी लड़की उसके सामने आयी थी और उसका मन भावुक हो चला था। उसके बाप के अपने चाचा के सन्दर्भ में उत्पन्न हुई क्षणिक कटुता वह भूल गया था। लेकिन उस चाचा की पत्नी होगी, बच्चे होंगे और उनके साथ कोई सम्बन्ध जुड़ सकता है—इस सम्भावना को लेकर उसने सोचा तक नहीं था।

"अब पहचाना ?" सुलभा पूछ रही थी। "शायद आपने मुझे कभी देखा भी न हो··· लेकिन माँ ने कहा, इसलिए मैं आ गयी ।"

"पहचाना···" श्रीधर ने कहा। फिर कुछ देर सोचकर उसने कहा, "चलो मैं कैण्टीन जा रहा था चाय पीने।तुम भी चलो, वहीं बैठकर बातें करते हैं।"

"नहीं···नहीं···चाय की कोई आवश्यकता नहीं है।"

"चल !" उसकी बाँह को ममत्व से छूकर श्रीधर बोला और आगे बढ़ा। थोड़ा-सा अन्तर रखकर वह भी साथ चल पड़ी।

श्रीधर को खुद से आश्चर्य हो रहा था, उसने कभी सोचा भी न था कि वह इतना भावाकुल होगा। उसने जिसे देखा तक नहीं था, जिसके अस्तित्व की कल्पना तक नहीं की थी और जिस परिवार से उसने क्षणमात्र में सम्बन्ध तोड़ दिया थी—उसी परिवार की यह लड़की जब बहन के नाते खून का रिश्ता जोड़ने आयी तो वह इतना कैसे पिघल गया, इस बात से वह अचम्भित हो रहा था। उसके मन में यह भी भावना उठी थी कि इस लड़की की सुरक्षा और भले-बुरे की कुछ जिम्मेवारी उस पर भी है···या तत्सम कोई भावना। दूसरे किसी से कभी मिलकर ऐसा नहीं लगा था, इस पारदर्शी मृदुता का अनुभव नहीं हुआ था।

"बैठो सुलभा !" कैण्टीन में अपनी कुर्सी सीधी करता हुआ श्रीधर बोला, "आजकल क्या करती हो तुम ? क्या पढ़ती हो ?"

"मैं बी.ए. फाइनल में हूँ। एस.पी. कॉलेज में।"

"अरे वाह !"

"और पार्ट टाइम नौकरी करती हूँ—टाइपिस्ट हूँ।"

"अच्छा ! और तुम्हारे कितने बहन-भाई हैं ?"

"सिर्फ़ एक छोटी बहन है। दसवीं में पढ़ती है।"

वेटर के पास आने पर श्रीधर ने पूछा, "क्या लोगी ? ठण्डा या गरम ? कुछ खाना भी पड़ेगा···क्या पसन्द है तुम्हें ?"

"नहीं···नहीं···मैं खाना खाकर आयी हूँ।"

"अभी चार बजे हैं।" श्रीधर मन्द मुस्कराकर वोला, तुम कॉलेज से या दफ़्तर से लौट रही होगी ···हाँ भाई, क्या है खाने के लिए ? सुलभा, तुम क्या खाओगी ? अभी तो गरम कुछ भी ठीक नहीं होगा। सैण्डविच खाओगी ? वह ठीक-ठाक होते हैं यहाँ। एक सैण्डविच और दो चाय लाना···नहीं··· चाय एक ही लाना और तुम्हारे लिए, सुलभा ? ऐसा करो, एक चॉकलेट-आइस्क्रीम लाओ।"

सुलभा की आँखें मेज़ पर टिकी हुई थीं। और श्रीधर सोच रहा था, यह तो कुछ अलग ही था। इस लड़की को इतने ममत्व से खिलाना-पिलाना, ऐसा शशी या यशोधरा के लिए तो कभी नहीं लगा था।

सैण्डविच आने पर उसने भी सुलभा के साथ थोड़ा-सा खाया और पूछा, "माँ मुझे किसलिए मिलना चाहती है ?"

नीचे देखकर सुलभा ने कहा, "वह तो पिछले कई दिनों से मुझे कह रही है—किसलिए···यह तो खैर मैं नहीं जानती।"

"काफ़ी दिन से, मतलव कब से ?"

"अँ···यानी पाँच-सात महीनों से···शायद साल भी।"

"तो फिर ?"

सुलभा ने कुछ नहीं कहा।

"पिताजी···यानी मेरे चाचा··· वह क्या करते हैं ?"

उसे लगा कि सुलभा की आँखों में पानी तैरने लगा है। वह पानी का गिलास उठाकर सारा पानी पी गयी और रूमाल से हाथ पोंछती हुई वोली, "घर पर ही हैं।"

"मतलब ?"

सुलभा फिर मौन···अब श्रीधर को डर लगने लगा, कहीं वह रो न पड़े। इसलिए उसने जल्दी-जल्दी कहा, "अच्छा वह सब अभी रहने दो। पहले आइस्क्रीम ख़ाओ।"

श्रीधर के दिमाग़ में विचारों का तूफ़ान उठा क्योंकि आज तक उसने कभी कोई ज़िम्मेवारी नहीं ली थी। मित्र मण्डली, शशी, यह उसी के जोड़े हुए पाश छोड़कर, वह कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र था और अव यह कैसी नयी समस्या उसके सामने आयी थी ? एक तरफ उसमें उलझने के लिए उसे अपने आप पर थोड़ा-सा गुस्सा भी आया। लेकिन उसने सुलभा की तरफ देखा और दुविधा में पड़ गया।

सुलभा स्वयं पर काबू पाकर आइस्क्रीम खाने की कोशिश कर रही थी। लेकिन उसके गले में कुछ रुँधा हुआ था और उसे खाते वक़्त बहुत कठिनाई होती नज़र आ रही थी। सुलभा को कुछ और समय देने के लिए वह सोचता हुआ चाय पीता रहा। इतने में एक लड़का विना साइलेन्सर की मोटर साइकिल ढर्रर से चलाता हुआ

वगल से निकल गया और सुलभा जैसे चौंककर सतर्क हो गयी। फिर यथार्थ में आकर वह श्रीधर की तरफ़ देखकर खुलेपन से मुस्कुरायी। उसका मुस्कुराता चेहरा देखकर श्रीधर की आँखों के सामने वृन्दा की छवि आ गयी। वह भी दिलासा देनेवाली हँसी हँसा।

सुलभा में अब शायद आत्मविश्वास आ गया था। उसने आइस्क्रीम खत्म की, रूमाल से मुँह साफ़ किया और पहली ही वार श्रीधर की आँखों में आँखें डालकर उसने कहा, "आपको माँ का सन्देश देना था सो मैंने वह कर दिया। वह बहुत पीछे पड़ी थी, इसलिए। लेकिन अगर आप मुझसे पूछें तो मुझे ऐसा नहीं लगता कि आपको उससे मिलना ही चाहिए।"

"पहले तो तुम मुझे यह 'आप-आप' कहना वन्द करो। मैं तुमसे उतना बड़ा तो नहीं हूँ। और दूसरी वात, अगर मेरा उनसे मिलना आवश्यक नहीं, तो तुम उनका सन्देश लेकर आयी ही क्यों ?"

सुलभा मौन रही। कुछ देर तक वह अपने रूमाल से खेलती रही फिर उसे सच वता दिया, "मैंने आपको सन्देश दे दिया है, यह मैं माँ को कव से वताती आयी हूँ। झूठ में ही। मैंने आपकी ओर से उसे आश्वस्त भी किया था कि आप उससे ज़रूर मिलेंगे। लेकिन लगातार आश्वस्त करने के वाद भी जव आप नहीं आये तो उसे आप पर सन्देह होने लगा। इस वात से आप अनजान न रहें इसीलिए मैं आपको बताने आयी हूँ।"

श्रीधर अव सोच में पड़ गया। सुलभा स्वतन्त्र वृत्ति की और अपने निर्णय स्वयं करनेवाली लग रही थी। कुछ देर पहले वह असहाय और मुरझायी हुई-सी अवश्य लग रही थी लेकिन अव यह साफ़ नज़र आ रहा था कि उसकी अपनी स्वतन्त्र सोच है।

"लेकिन तुमने मुझे इतने दिन से बताया क्यों नहीं ?" श्रीधर ने पूछा।

"तु···आपकी इसमें कोई दिलचस्पी होगी, ऐसा मुझे नहीं लगा।" सुलभा रुकी और कुछ निर्णय लेकर कहने के अन्दाज़ में उसने कहा, "माफ़ कीजिए, मैंने आपको तकलीफ़ दी। लेकिन सच कहूँ, मैं किसी पर कोई नाता लादने के पक्ष में नहीं हूँ। मैं यह जानती थी कि हमारे एक चाचाजी हैं। लेकिन जब मेरे पिता आपको वह सन्देश देने आ रहे थे, तव पता चला कि हमारा एक भाई भी है। उसमें मेरी कोई रुचि नहीं थी। आपके न आने से बात भी वहीं पर खत्म हो गयी थी। लेकिन माँ है कि पिछले पूरे साल भर से मेरे पीछे पड़ी है। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। बिलावजह किसी पर भी सम्बन्ध लादना···इसलिए कहती हूँ, माफ़ करना। मैंने केवल कर्तव्य मानकर माँ का सन्देश आप तक पहुँचाया। अब मैं माँ को बता सकती हूँ।"

"लेकिन अगर मुझे तुम्हारी माँ से मिलने में दिलचस्पी हो तो ?"

सुलभा देखती ही रह गयी।

"कब आऊँ ? अभी चलूँ तुम्हारे साथ ?"

"हमारे घर ?" उसने आँखें फैलाकर कहा "ना···ना···वह बाहर ही कहीं मिलेगी आपसे।"

"तो उसे मेरे घर ले आओ, गणेशखिण्ड मार्ग पर···"

"नहीं, वहाँ भी नहीं।" उससे नज़रें चुराती सुलभा बोली, "मैं उसे यहीं पर ले आऊँगी रिक्शे से। कल इसी समय। ठीक है ?"

उस दिन वाद में श्रीधर विचारमग्न वना रहा। शाम को शशी मिली तो उसके पूछने पर बताया, "एक अनजान नाता वँध रहा है। मेरी चचेरी वहन मिली थी आज ।"

"बहन ?" शशी ने चौंककर पूछा। "लेकिन···पहले तो तुमने कभी वताया नहीं था ···"

"मैं भी कहाँ जानता था !"

श्रीधर ने पहली वार चाचा से हुई मुलाक़ात का ब्यौरा दिया। वह सुनकर शशी दंग रह गयी।

"यानी ? तुम्हारे पिता का सगा भाई···इस जग में बचा तुम्हारा एकमात्र खून का रिश्तेदार, यहीं पुणे में रहता है, और तुम आज तक उससे मिलने तक नहीं गये ?"

"तुम जानती हो शशी, मैं तो उन्हें भूल भी गया था। मेरे पिताजी और इन चाचा जी ने जीवन-भर एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रखा था। और अभी तक तो मैं उनके अस्तित्व तक से वेखबर था।"

"तो फिर सुलभा को घर क्यों नहीं ले आये ?"

"देखता हूँ। कल उसकी माँ से मिलना है।"

शशी के स्वभावानुरूप उसने श्रीधर की और श्रीधर से संम्बन्धित हर बात को अपनाने की कोशिश में इस रिश्ते को भी अपने कब्ज़े में लेना चाहा। श्रीधर के पिता के बारे में, चाचा जी के बारे में, श्राद्ध की घटना और सुलभा को लेकर उसने काफ़ी सारे सवाल कर डाले। श्रीधर ने अगर उसे मना न किया होता तो दूसरे दिन वह चाची से मिलने भी अवश्य आती।

चाची अपेक्षा अनुरूप ही थी। सुलभा से भी नाटा कद। पुरानी साड़ी ठीक-ठाक पहने हुई। बालों में सफ़ेदी और चेहरे पर बहुत दुख सहने का भाव।

नियोजित समय पर सुलभा उसे कैण्टीन ले आयी। श्रीधर पहले से ही वहाँ वैठा हुआ था।

"मैं तुम्हारी चाची···" कुर्सी पर बैठती हुई वह बोली। और आँखें पोंछने के

लिए उन्होंने रूमाल निकाला।

"माँ, मैंने तुमसे कहा था न···" कहकर सुलभा उन्हें डाँटने लगी और गुस्से में चुप होकर, वह कहीं और देखने लगी।

आँखे पोंछकर चाची ने कहा, "हममें से किसी को तुम जानते नहीं हो न! दोनों भाई एक से हैं। अकेले···यह तुम्हारे घराने को शायद शाप ही है। फिर भी वह थोड़ा-बहुत तो करते थे। तुम्हारी माँ के देहान्त के बाद वह सिलीगुडी हो आये थे। लेकिन तुम्हारे पिता से भेंट नहीं हो पायी।"

"मैं तो कुछ भी नहीं जानता था।"

"तुम कैसे जानोगे ? न कभी पत्र, न सम्बन्ध। इसीलिए कहा कि श्राद्ध भी क्यों करना चाहते हो ···तो घर सिर पर उठा लिया।" चाची ने फिर आँखें पोंछीं।

"तुम सोचोगे, न जाने यह औरत क्यों टेसुए बहाये जा रही है। बहुत सारे रिश्तेदार हों तो कुछ नहीं लगता। लेकिन जब कोई नहीं होता तो रिश्तेदारों का महत्त्व पता चलता है। मैं भी अकेली हूँ। मेरी तरफ के कोई रिश्तेदार नहीं हैं। जब पता चला कि तुम मेरे जेठ के बेटे यहाँ हो तो बहुत अच्छा लगा। लेकिन इन्होंने उस श्राद्ध को लेकर इतना बखेड़ा किया कि बात वहीं पर खत्म हो गयी। इन्होंने तो तुम्हारे बारे में, तुम क्या हो, क्या करते हो, कहाँ रहते हो, कुछ भी पता नहीं लगने दिया। आखिर इसने सब ढूँढ़ निकाला—उन दिनों में, जब तुम भाषण दिया करते थे।"

"चाचा आजकल क्या करते हैं ?"

"बस वही···बोतल सीने से लगाये बैठे हैं। उसी के पीछे दो वर्ष पहले अपनी नौकरी से भी हाथ धो बैठे। तब से यह हालत हुई है। यह लड़की करती है थोड़ा-बहुत, और मैं भी छुटपुट काम करती हूँ, जैसे-तैसे गुज़ारा कर रहे हैं।"

चाची की अब सिसकी निकलने वाली थी। सुलभा ने चिढ़कर कहा, "माँ, अब एक शब्द भी और कहा तो मैं यहाँ से चली जाऊँगी।"

"बोलने दे न उनको···" श्रीधर ने नरमाई से कहा।

"देख···देख···वह मेरी बात समझ रहा है। यह तो नकचढ़ी है। अरे, यह सब बातें कहने के लिए है तो कोई मेरा सगा-सम्बन्धी ! इसे लगता है, मैं तुमसे रुपये ऐंठने···"

"माँ !"

"अरी सुन तो ले, जो मैं कह रही हूँ। मैं सिर्फ़ तुमसे मिलने आयी हूँ, श्रीधर। तुम अपने हो इसलिए । यही बताने आयी थी कि जो भी बुरा था, उसे भुला दो। वह दोनों भाई जो भी थे सो वही जानें। तुम हमारे घर को अपना घर समझो। भुला दोगे न ? तुम्हारी दो छोटी बहनें हैं, यह भी याद रखो···"

"माँ, बस भी करो।"

सुलभा गुस्से से लाल-पीली हुई जा रही थी। "मैं अव चलती हूँ।" कहकर वह उठ खड़ी हुई।

"अरे चाय तो पी लो।"

सुलभा ने चाय नहीं पी। जाते समय चाची ने कहा, "आना कभी घर, अगर चाहो तो। शाम के पाँच वजे के वाद। पाँच वजे वह पीने चले जाते हैं ..."

जाते वक़्त चाची की आँखों में फिर पानी भर आया था। सुलभा ने उसकी तरफ देखा तक नहीं। गुस्सा और अपमान से उसको भौंहें सिकुड़ गयी थीं और नाक लाल हो गयी थी।

श्रीधर ने जव शाम को यह सव शशी को सुनाया तो उसने कहा, "मुझे मिलना पड़ेगा, इस सुलभा से एक दिन।"

"लेकिन तुम इस पचड़े में क्यों पड़ती हो शशी ?" श्रीधर ने आश्चर्य से पूछा।

"अरे वह तुम्हारी वहन है और स्वाभिमानिनी है। तुम्हारी समझ में नहीं आएगा और न तुमसे निभेगा।"

श्रीधर वेचैन हो गया था। आज तक उसे रिश्ते-नातों को लेकर किसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ा था। इसलिए अव यह झमेला कैसे निपटाया जाये, इसका निर्णय वह कर नहीं पा रहा था। अगर चाहता तो वह यह सम्वन्ध वड़ी सहजता से तोड़ सकता था। लेकिन इन हालातों में सम्बन्ध तोड़ना उसे क्रूरता लग रही थी। मदद करे तो सुलभा के स्वाभिमान को ठेस पहुँच सकती थी और न करे तो...तो क्या करे, यह समझ में नहीं आ रहा था। न जाने क्यों वृन्दा का चेहरा वार-बार आँखों के सामने आ जाता था और सुलभा के लिए मन व्याकुल हो उठता था। सुलभा अच्छी लगने वाली लड़की थी।

इस समस्या का समाधान शशी ने अपनी तरफ से ढूँढने की कोशिश की। दो-तीन दिन वाद जब श्रीधर घर लौटा तो देखा कि सुलभा शशी के साथ खुलेपन से गप्पें मार रही है।

"एस. पी. कॉलेज में उससे मिलकर मैंने स्वयं ही उसे अपना परिचय दिया।" शशी ने कहा।

फिर कुछ देर वाद सुलभा ने कहा, "शशी को लेकर हम लोग न जाने क्या-क्या सोच रहे थे लेकिन यह तो बहुत ही अलग निकली। एकदम अपना बनाने वाली।"

शशी ने फिर वह समस्या भी अपने हाथों में ले ली। सुलभा हर दो-तीन दिन वाद उनके घर आने लगी। फिर एक वार उसकी छोटी वहन सुषमा भी आयी। शशी शायद एक वार उनके घर जाकर चाची से मिल भी आयी थी। कभी-कभी वह सुलभा और सुषमा को भी खाने के लिए रोक लेती। अब वह अच्छा खाना

वनाने लगी थी। वात का सार यह निकला कि श्रीधर के लिए वह समस्या रही ही नहीं।

कुछ दिनों बाद श्रीधर को पता चला कि सुषमा को किसी सामाजिक संस्था की छात्रवृत्ति मिल गयी है और सुलभा को वैंक में वढ़िया तनख्वाह देने वाली नौकरी भी। सुलभा का आना-जाना वढ़ गया। उसके रहन-सहन में थोड़ा-बहुत फ़र्क नज़र आने लगा। वह अधिक खुलेपन से वोलने लगी। शशी ने आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर स्त्रियों की मानसिकता का अभ्यास करने का प्रकल्प हाथ में लिया था। उसमें सुलभा उसका हाथ वँटाने लगी।

शशी का फैलाव वढ़ता जा रहा था। श्रीधर के लिए उसने तरह-तरह के पदार्थ वनाने की प्रवीणता पा ली थी। श्रीधर ने एक वार उससे पूछा भी, "शशी, यह सव तुम किसलिए करती हो ?"

"किसलिए यानी ? हम दोनों के लिए, हमारे प्रेम के लिए।"

"हाँ, लेकिन इतना सव कुछ करने की क्या आवश्यकता है ? तुम्हारे आराम से रहने से, क्या हमारा प्रेम घट जाएगा ?"

शशी हँस दी।"

"प्रेम में कोई नाप-तोल नहीं होता। हम बीच में हैं, या दाहिनी या बायीं तरफ झुक रहे हैं, यह कोई मायने नहीं रखता। हम जो करते हैं वह सहज ही होता है, उसके लिए कोई प्रयत्न आवश्यक नहीं होता।"

चारों तरफ से शशी की इस तरह की प्रेम की संरक्षक दीवार होते हुए भी श्रीधर को असुरक्षित लग रहा था।

एक बार सुलभा ने उससे कहा, "शशी तुमसे बहुत प्रेम करती है, मनस्वी प्रेम है। लेकिन यह सव मुझे अजीब-सा लगता है, वेचैन करता है।"

यह सुनकर श्रीधर को बुरा लगना चाहिए था लेकिन न जाने क्यों उसे ऐसा नहीं लगा। बहुत कम अवधि में सुलभा ने उससे खुलकर बात करने का अधिकार पा लिया था। और श्रीधर भी उसके विचारों का सम्मान करता था।

"क्या मतलव ?" उसने पूछा।

"मतलब…मतलव मैं वता नहीं सकती। लगता है कहीं विस्फोट होगा। डर लगा रहता है।"

इस तरह की असुरक्षितता की, अनिश्चितता की भावना बढ़ती ही जा रही थी। शशी की मन्त्रमुग्धता और श्रीधर की तटस्थता बढ़ रही थी। यशोधरा से बात करने का मौक़ा आता तो वह उसके आत्मशोध पर व्यंग्य करना न चूकती। श्रीधर के शोध को निरा ढोंग, स्वार्थ, बेईमानी जैसे विशेषण देकर उसे उकसाती। श्रीधर को लगता कि उसकी आत्मशोध की यात्रा यानी अपनी सनातन असुरक्षितता या

अनिश्चितता भगाने का प्रयास था—अपनी वेचैनी या असन्तोष को भगाने की कोशिश। वह ऐसी कोई निश्चित और सुरक्षित जगह चाहता था, जहाँ उसे चिरन्तन सुख और समाधान मिल सके। क्या सचमुच उसका आत्मशोध यशोधरा के कहने के अनुसार आत्मवाद, आत्यन्तिक स्वार्थवाद था ?

और ऐसा सुरक्षित स्थान, उसे शशी के प्रेम में क्यों नहीं मिल पा रहा था ? शशी का प्रेम भी समान प्रतिसाद न देते हुए स्वीकारना, यह भी क्या उसके तटस्थ आत्मवाद का एक अविष्कार था या उसका परिणाम ?

यशोधरा ने उसके तटस्थतावाद पर टिप्पणी करते हुए, अचानक गम्भीर होकर कहा था : "शशी का तुमसे प्रेम ? मुझे तो वेचारी पर तरस आता है—यह भी क्या तुम्हारे आत्मशोध की तटस्थ यात्रा है ? यह तो सरासर शशी का शोषण है। मैं तुम्हें जानती हूँ इसलिए तटस्थ कहकर छोड़ देती हूँ लेकिन वास्तव में यह स्वार्थ है, साफ़-साफ़ स्वार्थ, धूर्तता और शोषण···"

"शोषण ? स्वार्थ ?" श्रीधर ने हड़वड़ाकर पूछा।

श्रीधर को गुस्सा वहुत कम आता था इसलिए अव भी वह उदास हो गया, उसके शव्दों में उदासी की धार आ गयी और आवेश में आकर उसने कहा, "लेकिन यशोधरा···वह मुझसे प्रेम करती है और···और मैं भी उससे प्रेम करता हूँ, यह तुम क्यों भूल जाती हो यशोधरा ?"

यशोधरा सिर्फ़ मुस्कुरायी। कुछ इस तरह मुस्कुरायी कि उसकी हँसी श्रीधर को बहुत दाहक लगी। उसे लगा कि आज तक इतनी कठोरता से किसी ने उसका वस्त्रहरण नहीं किया था। यशोधरा की बातों का तथ्यांश तो वह मन-ही-मन समझ चुका था लेकिन उसमें वह स्वीकारने की हिम्मत नहीं थी। और अब तो उसने जैसे सीधे मुँह पर तमाचा मारा था। क्या मेरा स्वसमर्थन का प्रयास हास्यास्पद है ? ढोंगी है ? क्या मैं ऐसा हूँ ? या ऐसा हो सकता हूँ ? आत्मशोध की लगन यानी जग के भीषण यथार्थ से दूर भागने का प्रयास है, कायरता भरा पलायनवाद है ? शशी से प्रेम यानी मेरे तथाकथित आत्मशोध के लिए उसका तटस्थ शोषण तो बहुत वड़ी क्रूरता हुई। लेकिन ऐसा भी हो सकता है। यह भी एक सम्भावना ही तो है।"

श्रीधर का विदीर्ण चेहरा देखकर यशोधरा को उस पर तरस आ गया। वह फिर हल्के से मुस्कुराकर बोली, लेकिन अब उसकी मुस्कुराहट में पारदर्शी प्रेम था, अपनापन था।

"माफ़ करना, मेरी वात का बुरा न मानना," उसने कहा, "तुम तो जानते हो, मैं साफ़ सीधा वोलती हूँ। याद है, एक बार तुमने भी मुझपर यह पलायनवाद का इल्ज़ाम लगाया था। तुमने कहा था कि मैं अपने बारे में, इस जग के बारे में और जन्म-मृत्यु जैसे सनातन प्रश्नों से वचने के लिए अपने आपको इन आन्दोलनों में गाड़

लेती हूँ, खुद से दूर भागने के लिए। याद है? ठीक है। तुम ऐसा कह सकते हो। तुम्हारे कहने के अनुसार मेरा यह पलायनवाद भी हो सकता है। इस वक़्त मैं यह सोचती हूँ कि मेरा अस्तित्व अटूटता से और अपरिहार्यता से इस जग से जुड़ा है। इस सारे जग के सन्दर्भ के विना मैं अपना विचार कर ही नहीं सकती। या इस विश्व के अलावा मेरा अस्तित्व शेष भी नहीं रहता। इस जग का, समाज का, जो दाहक वास्तव है, सो मेरा भी दाहक यथार्थ है। तो तुम्हारी थ्योरी के अनुसार मुझे आत्मसमाधान-प्राप्ति के लिए, इस वास्तव की दाहकता को कम करने के लिए कोशिश करनी चाहिए। मेरा यथार्थ, समाज का यथार्थ है। क्या यह एक बड़ी बात नहीं है ? इसे तुम जो चाहो सो कहो···अगर पलायनवाद भी कहते हो तो मैं कहूँगी कि इससे दिव्य और उदात्तवाद कोई हो ही नहीं सकता।''

उस रात खाने के वक़्त श्रीधर और शशी दोनों ही थे। भोजन शान्ति से चल रहा था। लेकिन श्रीधर के दिमाग़ में यह समुन्दर-जैसा कोहराम मचा हुआ था।

एकाएक गम्भीर होकर उसने शशी से पूछा, "अगर हमें एक-दूसरे से अलग होना पड़े तो तुम्हें कैसा लगेगा शशी ?''

उसकी गम्भीरता देखकर शशी डर गयी लेकिन डर को जाहिर न करते हुए बोली, "मैं ऐसा होने ही नहीं दूँगी···कभी भी नहीं।''

"फिर भी मान लो कि वह अपरिहार्य हो जाता है तो ?''

"मैंने कह जो दिया कि मैं ऐसा होने ही नहीं दूँगी···'' शशी डरकर हँसने की कोशिश करती हुई बोली, "और मान लो, ऐसा हो भी जाता है, तो मैं तुम्हारे साथ ही चलूँगी··· चाहे कहीं भी···और वह भी सम्भव नहीं हो पाया तो यहाँ मैं तुम्हारे लिए घुट-घुटकर जान दे दूँगी···।''

श्रीधर की हँसी छूट गयी और उस पर टिकी शशी की घायल नज़र का सच्चा सरल आवेग देखकर वह कहीं हिल भी गया था। उसने मुस्कुराकर कहा, "तुम्हारी प्रेम की कल्पनाएँ बहुत रूमानी हो गयी हैं, क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता शशी ?''

शशी रोने पर आ गयी। स्थिर जख्मी नज़र से श्रीधर को देखने लगी और तीखे घायल स्वर में वोली, "यह तो मैं नहीं जानती। मुझे इतना ही मालूम है कि तुम पास नहीं होगे तो मैं जी नहीं पाऊँगी। लेकिन तुम ऐसे क्यों बोल रहे हो ? मुझसे कुछ भूल हो गयी है क्या ?''

श्रीधर अब जोर-जोर से हँसने लगा और फिर हँसते-हँसते वह अचानक गम्भीर हो गया।

उसने देखा शशी की आँखें भर आयी थीं। नज़र में आघात के भाव तो थे ही लेकिन उसी के साथ-साथ शक और डर भी था। उसे लगा, कितना स्खलन हो गया है शशी का। वह शशी, जो रजनीश के व्याख्यान के बीच योंही सिगरेट पी रही

थी, कृष्णमूर्ति के व्याख्यानों का मर्मग्राही विवेचन करती थी। हँसोड़ शशी, जानवाज़ शशी, सुलभा को अपना वना लेनेवाली शशी, पारदर्शी स्वभाव की शशी···और अव यह शशी। इसे यह क्या हो गया है ? क्या प्रेम ने इसकी ऐसी विकल स्थिति कर दी है ? लेकिन प्रेम से तो उल्लास आना चाहिए, शक्ति आनी चाहिए। सव सन्देह मिटने चाहिए। सम्भ्रम खत्म होने चाहिए। लेकिन ऐसा क्यों नहीं है ? श्रीधर ने पहली वार शारीरिक डर का अनुभव किया। फिर उसे सीने से लगाकर वह वोला, "यह तुम्हें क्या हो गया है शशी ? तुम्हें अपने आप पर विश्वास है न ? क्या तुम्हें कृष्णमूर्ति याद नहीं ? उनके भाषण सुनकर हमने जो चर्चाएँ की थीं उन्हें याद करो। उनकी प्रेम की परिभाषा चाहे जो हो लेकिन हम एक वात पर सहमत थे, वह याद करो। सच्चा प्रेम वही है जो शब्द विना, स्पर्श विना या सहवास के विना भी बोल सकता है। एक-दूसरे के·अस्तित्व का अन्तर्ज्ञान सच्चे प्रेम के लिए पर्याप्त है।"

"वह मैं कुछ नहीं जानती।" श्रीधर से लिपटकर जिद्दी स्वर में शशी वोली, "कृष्णमूर्ति वग़ैरह मुझे याद नहीं। मैं प्रेम की कोई परिभाषा भी नहीं करना चाहती। सच्चा प्रेम क्या है, मैं नहीं जानती। मैं सिर्फ़ तुम्हें चाहती हूँ। हमेशा के लिए। तुम्हारे विना मैं जी नहीं पाऊँगी···।"

उस समय श्रीधर को मज़ाक़ में लगा कि शशी प्रेम की इतनी भूखी है कि सम्भव होता तो वह श्रीधर को पूरा ही निगल जाती। उसी के साथ-साथ उसके मन को पहली बार चिन्ता और भय का स्पर्श हुआ था। वह खुद के लिए चिन्तित नहीं था, उसे शशी की चिन्ता हो रही थी, शशी के लिए डर लग रहा था। अपनी तटस्थता का इतना कठोर ज्ञान उसे पहली बार चौंका रहा था। उसके सामने सारे जग को तुच्छ समझनेवाली शशी का हृदय, उसके हृदय के पास धड़क रहा था। लेकिन उसे यह भी एहसास हो रहा था कि उसके हृदय का प्रतिसाद अपर्याप्त है। क्योंकि उस वक़्त भी उसकी अन्य संवेदनाएँ यथार्थ के प्रति सचेत थीं। अपना इतिहास, शशी का जीवन, यह समाज, राजनीति, यह जग, विश्व—वह कुछ भी भुला नहीं सकता था। अन्दर से वह खिल नहीं रहा था। श्रीधर को वहुत उदास लग रहा था और मन-ही-मन यह सब शशी जानती थी क्योंकि आज श्रीधर ने उसकी आँखों में अविश्वास और सन्देह देखा है।

चालीस

माई के मठ से श्रीधर जव वाहर निकला तो दोपहर ढल रही थी। तव से श्रीधर चलता जा रहा था। तीर्थस्थान की मुख्य सड़क छोड़कर एक पगडण्डी जंगल और पहाड़ की ओर वढ़ रही थी। जंगल से वाहर निकलने पर श्रीधर ने एक शिखर की ओर प्रस्थान किया, वह शिखर मानो उसके एक जीवन का ध्येय था। वह ज़िद से आगे वढ़ रहा था। वह नंगे पाँव था और चारों ओर ठण्ड बढ़ रही थी। कठिन रास्ते से आगे वढ़ते हुए, शाम कव हुई इसका पता ही नहीं चला। हिमालय में सूर्यास्त वड़ा मज़ेदार होता है, जव चारों तरफ पहाड़ होते हैं और पश्चिम के पास के ऊँचे पहाड़ों के पीछे सूरज कव का चला गया होता है। पूरब की ढलान पर पड़नेवाली सूरज की किरणें परावर्तित होकर, सारी घाटी मन्द प्रकाश से भर देती हैं। फिर धीरे-धीरे गहरे नीले आकाश में उत्तर की ओर ढलती सूरज की किरणों से सुवर्णमय वने हिमशिखरों के चमकते मुकुट नज़र आते हैं। आकाश अधिकाधिक गहरा नीला होता जाता है। हिमशिखरों पर गुलाबी लाली उतर आती है। फिर काफ़ी देर तक लाल-गुलावी कोहरा आकाश के किनारे से चिपका रहता है। फिर अचानक ध्यान आता है कि आकाश गहरा काला होता जा रहा है और चाँदनी निकल आयी है।

वह शिखर तो अव धुँधलके में छुप गया था। फिर भी श्रीधर आगे वढ़ता ही जा रहा था। जीवन-भर वह जिसे ढूँढ़ रहा था, वह अनामिक सत्य उसके सामने खड़ा था। अव उसकी खोज खत्म हो रही है, ऐसा उसे अकारण लग रहा था। उसकी अपराधी भावना कव की खत्म चुकी थी। वह उत्फुल्ल लग रहा था। क्या यह उस अविस्मरणीय क्षण के अनुभव का परिणाम था ? सच, वह क्षण दिक्काल जितना प्रदीर्घ और एक कोट्यांश निमिष मात्र से भी छोटा था। वह क्षण कालातीत था। वल्कि वह क्षण तो स्थल-काल-विरहित अनन्त विश्व का साक्षात् अवतार था। उस क्षण श्रीधर को प्रत्यक्ष महसूस हुआ कि यह सारा विश्व, यह पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, तारे, आकाश-गंगा, नदियाँ, आकाश, फूल, कीड़े, पत्थर और वह स्वयं एकजान हैं। इनमें कोई दूजा भाव नहीं। इस तरह यह विश्व के साथ एकजान होने का ही अर्थ है अस्तित्व। अस्तित्व का परमानन्द।

यह क्षण कव आकर चला गया, यह कहा नहीं जा सकता था। गया ऐसे कहना भी सही नहीं था। क्योंकि एक वार उस क्षण की भव्य अनुभूति का प्रत्यय आने के वाद फिर वह क्षण चिरकाल के लिए साथ रहेगा। फिर कोई डर नहीं। ऐसी लगभग उन्मनी अवस्था में श्रीधर स्वयं को भुलाकर आगे वढ़ रहा था। उसे इस बात का आश्चर्य हो रहा था कि अव तक उसे यह अनुभूति क्यों नहीं मिली थी।

जाते वक़्त उसके हाथ पर मिसरी रखकर माई ने भक्तिभाव से कहा था, "तुम्हें धन्यवाद में क्या कहूँ ?" माई की आवाज़ में प्रगाढ़ आत्मिक आनन्द और समाधान था।

श्रीधर ने केवल प्रश्नार्थक मुद्रा से उन्हें देखा। उनकी नज़र में अब भी झुँझलाहट थी। अनुभूति की गरिमा का अभी उन्हें अनुभव नहीं हुआ था। माई वहुत ममत्व से मुस्कुरायी।

"तुम क्या ढूँढ़ रहे हो श्रीधर, यह तो मैं जानती नहीं। लेकिन मेरी खोज खत्म हो गयी है। तुम अगर सोचो तो तुम्हें भी ख्याल आएगा कि तुम्हारी भी खोज खत्म हो चुकी है। एक बीज बोकर उसमें अपने जैसे ही एक नये जीव का निर्माण करना—यह कितनी महान् निर्मिति की प्रक्रिया है। क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता ? परमेश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया, उस की सृजनशीलता और इस सृजनशीलता में कोई फ़र्क नहीं है। इसे भी तुम एक नये विश्व का निर्माण समझ सकते हो, फिर तुम समझ पाओगे कि अपने जीवन को कितना भव्य तथा दिव्य अर्थ प्राप्त होता है। मैं आज तक जीवित रही वह इसी के लिए···।"

माई की पारदर्शी आँखों में दिव्य आँसू भर आये। श्रीधर की नज़र क्षण भर के लिए उनसे मिली और उसी क्षण उसके मनोमस्तिष्क में और हृदय में वह बिजली कौंध पड़ी। कुछ क्षण वह निश्चल, स्वयं को सँभालता हुआ, माई की आँखों से जैसे ठिठका हुआ वहीं खड़ा रहा। फिर उस दिक्काल को भेदकर जानेवाली बिजली की गड़गड़ाहट का पहला आवर्तन खत्म होने के बाद वह होश में आया। नीचे झुककर उसने माई का चरणस्पर्श किया। और वह चल पड़ा। श्रीधर के जीवन में, मन से किया हुआ वह पहला नमस्कार था। बाहर दोपहर का सूर्य शिखरों में ढल रहा था। और उस वातावरण में माई की आत्मा की स्वर्गीय सुगन्ध फैली हुई थी।

अब शाम ढलने लगी थी। धीरे-धीरे घाटियों से उभरता अँधेरा चारों ओर फ़ैल रहा था। आठ-पन्द्रह दिनों में माई के हाथ का रुचिपूर्ण भोजन खाकर जीभ लालायित हुई थी। पेट को आदत-सी पड़ गयी थी। शाम को जब उसे ज़ोर की भूख लगी तो उसे आश्चर्य हुआ। उसकी अपेक्षा थी कि उस विद्युत्मय क्षण के बाद भूख, प्यास, ठण्ड आदि सभी विकारों से उसे छुटकारा मिलेगा। लेकिन मस्तिष्क में अब भी कौंधती विजली के बावज़ूद उसे जोरों की भूख लगी थी। और अब कड़ाके की पहाड़ी ठण्ड भी महसूस होने लगी। लेकिन श्रीधर ने उसे अनदेखा कर दिया। मन्त्रमुग्ध-सा वह आगे बढ़ता गया। बीच में एक-दो बार उसे गहरी घाटी से बहती अलकनन्दा का शुभ दर्शन अवश्य हुआ। फिर गहरा अन्धकार और ऊपर सितारों से भरा आकाश, अदृश्य दिशाएँ। अब क्या करे ? कहाँ जाए ? मैं कहाँ हूँ ? कुछ भी कहना मुश्किल था। लेकिन वहीं पर बैठना या रुक जाना असम्भव था।

वड़ी मुश्किल से थोड़ा ऊपर चढ़ने के वाद श्रीधर को एक पत्थर के सांये में थोड़ी समतल जगह मिली और उस पर उसने अपने आपको फैला दिया। पेट में चूहे दौड़ रहे थे। और दिन भर की थकान से शरीर का हर अंग दर्द कर रहा था। ठण्ड भी वढ़ती जा रही थी।

उस ठण्ड में श्रीधर को प्रकृति का रौद्र रूप याद आया। फिर वह पर्वतारोहण का दिन जिसे उसने अकेले झेला था। वह गरजते बादल, कड़कती बिजली वर्षा का ताण्डव नृत्य और पर्वतशिखरों से गिरते शुभ्र प्रपात।

उस दिन निसर्ग का रौद्र रूप देखते हुए श्रीधर को भय का स्पर्श भी नहीं हो रहा था। और आज ! माई के उस विद्युत्मय दृष्टि-क्षेत्र से सारे जग का रहस्य खुलने का अनुभव होते वक़्त अव ऐसा क्यों लग रहा था कि वह मृत्यु के भीषण जबड़े में फँसा है। शायद उस समय उसे वक़्त की पहचान नहीं थी। और मृत्यु का भी इतना भयानक और अतिरेकी भय नहीं था। अव, जब रहस्य खुलने को है तो उसे पूर्ण रूप से जानने से पहले मृत्यु आये, इसका उसे खेद हो रहा था। ठण्ड की वेदना को भुलाने के लिए श्रीधर ने उस प्रपाती क्षण का पुनरानुभव करना चाहा लेकिन उससे कोई फायदा नहीं हो रहा था। प्रकृति के नियम तोड़ना मुश्किल है। गौतम वुद्ध भी महानिर्वाण की अवस्था प्राप्त कर चुके थे लेकिन उन्हें मृत्यु आयी विषैले मांसाहार से।

फिर श्रीधर के हृदय को ठण्डक पहुँची और उसका मन शान्त हुआ। उसे माई की स्निग्ध आँखें याद आयीं और फिर उस सर्वव्यापी दिव्य क्षण की अनुभूति। श्रीधर को वह लम्वी अन्धारयात्रा, वह ताँगेवाला, माँ, वृन्दा, बाबा, जगत, शशी, यशोधरा, धनंजय, विश्वम्भर, कृष्णमूर्ति, प्रोफ़ेसर शास्त्री, गुणे, खन्ना लोर्ना और जीवन में मिले हज़ारों मित्र, जीवन के वह सारे दिन और सभी क्षण—क्षण मात्र में इन सब का कोई अर्थ ही नहीं वचा था। गहरे श्यामल आकाश की साक्षी से उसकी आँखें अपने आप बन्द होने लगीं। अचेतन होने से पहले श्रीधर को लगा— क्या यह मृत्यु है? क्षणार्ध में सारे विश्व का दर्शन दिलानेवाली। लेकिन फिर यह तो मेरा पलायन हुआ! मेरा देह-त्याग व्यर्थ ही हो रहा है। सुन्दर जीवन, यह सारा सुन्दर विश्व सुसह्य करने के लिए स्वयं को अर्पित करना चाहिए, वह मैं यों ही फेंक दे रहा हूँ। मेरी यह मृत्यु निरर्थक है। वर्मा के आत्मनाश में और मेरे इस तरह मरने में फिर क्या फ़र्क वचा ? फिर से अगर जीने का मौक़ा मिले तो उसे इस तरह व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए।

इकतालीस

शशी में दिन-ब-दिन एक तरह का सूक्ष्म बदलाव आ रहा था और उसी के साथ-साथ श्रीधर को भी लगने लगा था कि वह भी बदल रहा है। उसकी हर बात शशीमय हो चुकी थी। उसके बगैर उसका साँस लेना भी मुश्किल हो गया था। जगत से पत्रव्यवहार रुक गया था। विश्वम्भर बीच-बीच में आता था। उसकी नज़र में श्रीधर की प्रतिमा में जो परिवर्तन आ गया था, वह श्रीधर देख रहा था। धनंजय अपनी ही दुनिया में मस्त था और यशोधरा भी आदतन सिर्फ़ नज़र से उसकी निर्भत्सना कर रही थी। धनंजय ने अपना आन्दोलन बम्बई में जारी रखा था। उसका पुणे का गुट अब अलग-थलग होकर विविध आन्दोलनों में और राजकीय पक्षों में विभाजित हो चुका था।

देश का राजनीतिक वातावरण भी धीरे-धीरे बदल रहा था। उन्नीस सौ सत्तर के सार्वत्रिक चुनाव और इकहत्तर के बांगला देश युद्ध के दरम्यान देश की प्रधानमन्त्री के लिए जो प्रेम की आँधी चली थी, वह धीरे-धीरे खत्म हो रही थी। भ्रष्टाचार का बोलबाला था। लेकिन अब श्रीधर को किसी राजनीतिक आन्दोलन में उस तरह की दिलचस्पी नहीं लग रही थी। उसमें वह पहलेवाला रचनात्मक उत्साह नहीं रहा, केवल पक्ष का अभिनिवेश बचा है, ऐसा उसे लग रहा था। और फिर पढ़ाई के अतिरिक्त सारा जीवन शशी की छाया ने घेर लिया था।

शशी में जो सूक्ष्म बदलाव आ रहा था उसका स्पष्ट संकेत शायद सबसे पहले सुलभा को मिला था। चार-पाँच महीनों की कालावधि में शशी ने सुलभा को भी पूरी तरह अपने प्रभाव में ले लिया था। सुलभा भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखती थी इसलिए दोनों में संघर्ष अटल था। वैसे देखा जाए तो शशी सुलभा को बहुत बहला-फुसला रही थी। बी. ए. की उपाधि प्राप्त कर लेने के बाद उसने सुलभा को जल्द ही अपने प्रकल्प के लिए काफ़ी अच्छी नौकरी दिलायी थी। इसलिए दिन के अठारह घण्टे वह दोनों साथ-साथ ही रहती थीं। शशी सुलभा के लिए साड़ियाँ खरीदती। सुपना के जन्मदिवस पर उसने उसे उपहार के रूप में साइकिल दी। साड़ियों के रंग, चुनाव आदि में वह अपनी पसन्द, नापसन्द सुलभा पर थोपने लगी। और सुलभा से भरपूर काम भी करवाने लगी। कहीं कोई चूक हो जाय, देर हो जाय, तो उसपर बरसने लगती और फिर उसके गले से लगकर रो-रो कर माफ़ी माँगने लगती। वह सुलभा को तरह-तरह के उपहारों से लादने लगी। शायद श्रीधर की पढ़ाई में बाधा न आए इसलिए वह अपना प्रेम सुलभा पर लुटाने लगी थी। लेकिन सुलभा सहम गयी थी। चाची तो बहुत प्रसन्न थीं। सुलभा के पिता तो घर छोड़कर कहीं लापता हो गये थे। सुपना की छात्रवृत्ति चल रही थी। और चाची

अब विवाह करने के लिए सुलभा के पीछे हाथ धोकर पड़ी थी। सुलभा और शशी में भी काफी मानसिक संघर्ष चल रहा था।

इधर श्रीधर के रूखे व्यवहार में शशी बहुत शक्की बनती जा रही थी। उसकी इस सम्मोहित अवस्था की शुरुआत श्रीधर पर पूर्ण विश्वास रखने के बाद हुई थी। श्रीधर से कुछ भी अपेक्षा न रखते हुए वह उस पर प्रेम करती रही थी, तृषित धरती पर जलधाराओं को बरसा कर, स्वयं रिक्त होनेवाले मेघ की तरह। लेकिन अब धीरे-धीरे वह हर बात को सन्देह की दृष्टि से देखने लगी थी। जैसे-जैसे वह ज़्यादा पजेसिव होने लगी, वैसे-वैसे उसका सन्देह भी बढ़ने लगा। यह भी बात नहीं थी कि वह हमेशा सन्देह ही करती रहती थी। जो भी था उसे भुलाकर वह जल्द ही पश्चात्ताप भी कर लेती थी।

पहले उसने अचानक सुलभा पर सन्देह करना शुरू किया। उसके काम में, व्यवहार में, बोलचाल में, वह दुःख निकालने लगी। लेकिन उसका कारण कुछ और ही था। उसका विस्फोट जल्द ही हुआ।

एक दिन सुलभा के काम में ग़लती निकालती हुई शशी बोली, "तुम यह जान-बूझकर कर रही हो, मुझे गुस्सा दिलाने के लिए। तुम क्या चाहती हो, यह मैं भली-भाँति जानती हूँ।" फिर वह तारस्वर में चिल्लाती हुई बोली, "तुम श्रीधर को मुझसे अलग करना चाहती हो। तुम उसके कान भरती रहती हो..."

"लेकिन शशी..." स्तम्भित होकर सुलभा ने कहा। लेकिन शशी कोई भी बात सुनने की स्थिति में नहीं थी।

"मुझे कुछ भी बताने की ज़रूरत नहीं है। तुम नाटकी और ढोंगी हो। बहन बनने का स्वाँग रचकर तुम उसको मुझसे छीनना चाहती हो लेकिन याद रहे, मैं भी कुछ कम नहीं हूँ...।"

सुलभा थर-थर काँपती सुन रही थी। शशी ने उसे न जाने क्या-क्या कहा सुना। शशी के कमरे से बाहर निकलते ही उसने अपनी नौकरी का त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र देकर वह लौटी ही थी, तो उसके पीछे वह त्यागपत्र लेकर शशी हाज़िर हो गयी। उसने वह त्यागपत्र फाड़ डाला, और सुलभा को खींचती हुई अपने साथ ले गयी। उसने हज़ार बार माफ़ी माँगी और सुलभा से लिपटकर रो भी पड़ी।

मन हल्का होने के बाद फिर से इतना-सा मुँह लेकर उसने कहा, "सुलभा, सब मुझे माफ़ कर दो, करोगी ना ? मेरा दिमाग़ ख़राब हुआ है...।"

शशी सुलभा को लेकर अपनी गाड़ी से जा रही थी। सुलभा ने सिर्फ उसकी बाँह थपथपायी।

"ऊँ हूँ...ऐसे नहीं।" शशी ने गम्भीरता से कहा, "कहो माफ़ कर दिया।"

"अच्छा भाई, मैं तो इसकी ज़रूरत नहीं समझती फिर भी कहती हूँ, माफ़

किया। ठीक है ?"

शशी मुस्कुरायी और एक ठण्डी आह भरकर उसने कहा, "मैंने न जाने तुझसे क्या-क्या कहा, न जाने क्या-क्या वकवास कर बैठी। भूल जाना वह सब, भुला देगी ना ?"

"भूल चुकी हूँ।" सुलभा ने उसे आश्वस्त किया। शशी की पारदर्शी सादगी देखकर वह दंग रह जाती थी। शशी ने जबसे उससे जान-पहचान बढ़ायी थी, तव से हर मुलाक़ात में सुलभा को शशी का एक नया रूप देखने के लिए मिलता था। उसके व्यक्तित्व का एक नया पहलू सामने आ जाता था।

"लेकिन मैंने कितनी ओछी बात की। तुम भुला भी कैसे सकती हो।" शशी ने उदास होकर कहा।

"शशी, तुम बहुत भावनाशील और मनस्वी हो। और श्रीधर से तुम बहुत प्रेम करती हो। शायद इसीलिए ऐसा होता है। मैं इसे विकृत नहीं मानती।"

"सच है।" शशी ने गाड़ी की गति धीमी करते हुए कहा, "मैं मन से प्रेम करती हूँ, यही कहना काफ़ी नहीं है। मैं इस प्रेम में जल कर खाक होना चाहती हूँ, अपने आपको भुला देना चाहती हूँ। मुझे लगता है, अपने सीने में छुरी भोंक लूँ और अपने खून से उसे पूरा सींच डालूँ।"

शशी ने सड़क के किनारे गाड़ी रोक दी। सड़क पर यातायात कम था। शाम हो रही थी। शशी व्याकुल हुई थी। उसकी साँस तेज चल रही थी। आँखें लाल हो चुकी थीं। उसने आँखें भींचकर गाड़ी के स्टियरिंग पर अपना सिर रख दिया। सुलभा ने हल्के से उसका सिर थपथपाया। कुछ देर बाद सिसकियों से शशी का बदन काँपने लगा। शशी ने दबी आवाज़ में रोकर जी हल्का कर लिया। फिर शान्त होकर उसने आँखें और मुँह पोछा और मुस्कुराती हुई सुलभा की तरफ देखकर बोली, "यह तुम्हें अजीब लग रहा होगा न ? सम्भव है। शायद यह नॉर्मल नहीं है। वैसे भी मैं नॉर्मल तो हूँ ही नहीं, लेकिन मुझे तहेदिल से ऐसा लगता है। और जब मैं देखती हूँ कि आसपास की दुनिया में और तो किसी को ऐसा नहीं लगता, तो मेरा पारा चढ़ जाता है, और मैं आपा खो बैठती हूँ। शायद इसीलिए ऐसा होता है। लेकिन सुलभा, तुम उसकी सगी न सही लेकिन बहन हो। मैं यह भी जानती हूँ कि श्रीधर को मैं तुमसे बेहतर जानती हूँ। लेकिन सम्भव है केवल रक्त की संवेदना से तुम मन-ही-मन जान जाओ। श्रीधर मुझ जैसा मनस्वी क्यों नहीं है ? वह कैसा सोचता है ? रुको। तुम शायद कहोगी कि वह तटस्थ है, भावनाशील नहीं है। हर बात को सोच-समझकर देखता है, आदि। लेकिन यह सब मैं जानती हूँ। हम दोनों ने कृष्णमूर्ति को सुना है। उनकी अनेक कथाएँ सुनी हैं। मुझे केवल इतना बताओ कि प्रेम में वह कैसे सोचता होगा ?"

"वह तुम से प्रेम करता है···" सुलभा ने मात्र इतना ही कहा।

शशी ने फिर लम्बी उदास आह भरी। सुलभा अन्दर से हिल गयी फिर सुलभा की तरफ पूरी तरह मुड़कर शशी ने पूछा, "मुझे एक बात बताओ, सुलभा। मेरी तरफ ध्यान से देखो। मेरी आँखों में देखो। तुम्हें मेरी आँखों में कोई विचित्र चमक नज़र आती है ? पागलपन की कोई छाया नज़र आती है ? साफ़ कहो।"

दस मिनट पहले शशी ने यह प्रश्न किया होता तो सुलभा ने उसके उत्तर में "हाँ" कहा होता लेकिन अब उसकी आँखों में झाँककर वह बोली, "यह तुम क्या कह रही हो शशी !"

"नहीं। ऐसे नहीं। मुझे ठीक से बताओ। झूठ मत बोलो !" सुलभा का हाथ पकड़कर शशी ने उत्कटता से कहा।

"मुझे तो तुम्हारी आँखें साफ़ और पारदर्शी नज़र आती हैं।" सुलभा ने मन से कहा।

शशी ने फिर लम्बी साँस ली और वह बोली, "शायद तुम नहीं जानती, मेरी आँखें बिल्कुल मेरे पापा जैसी हैं। और मेरे पापा पागल थे।" थोड़ी देर स्तब्धता रही। फिर माल से लदा एक ट्रैक्टर धड़धड़ाता हुआ निकल गया। "उनकी एक तस्वीर है। उसमें उनकी आँखों में वह झलक साफ नज़र आती है। और जब शीशे में देखती हूँ तो मुझे मेरी और उस तस्वीर में मेरी पापा की वह जो आँखें हैं, उसमें कोई फ़र्क नज़र नहीं आता। बिल्कुल वही ···।"

फिर कुछ देर और रुक कर उसने पूछा, "क्या सचमुच तुम्हें यह लगता है कि मैं पागल नहीं हूँ ?"

सुलभा ने अपनेपन से उसके कन्धे पर थपथपा कर कहा, "बिल्कुल नहीं। तुम बिल्कुल पागल नहीं हो। बिल्कुल मेरे जैसी और अन्य लोगों जैसी तुम नार्मल हो। यह पागलपन तुम अपने मन से निकाल दो। मन पर अंकुश लगाना सीखो···!"

"वही मैं करना चाहती हूँ लेकिन कर नहीं पाती। किसी न किसी का साथ चाहती हूँ। तुम मुझे मत छोड़ना। मैं कितना भी गुस्सा करूँ, ओछापन दिखाऊँ, तो भी मुझे छोड़ न देना ···।"

उस उद्रेक के बाद कुछ दिन शशी शान्त बनी रही। लेकिन किसी चक्र की तरह वह तनावग्रस्त होने लगी। तनाव बढ़ने के बाद कहीं-न-कहीं उद्रेक। फिर सन्देह। श्रीधर की हर हरक़त पर वह नज़र रखने लगी। उसे छोड़कर वह एक दिन के लिए भी बाहर जाए तो उसकी खबर लेने लगी। जहाँ तक सम्भव हो, वह उसी के साथ-साथ रहने लगी। कौन मिला, किसलिए मिला, किस चीज़ की चर्चा हुई, ग्रन्थालय से लौटने में इतनी देर क्यों लगी ? वहाँ यशोधरा क्यों आयी थी ? उसने क्या कहा ? आदि प्रश्नों की बौछार करती थी। क्या वहाँ यशोधरा आयी थी ?

वह क्या कह रही थी ? जैसे प्रश्न···विशेष रूप से उसे यशोधरा पर सन्देह था। वह उसके सन्देश भी श्रीधर को बताती नहीं थी। उसकी भेजी चिट्ठियाँ वह श्रीधर तक पहुँचने ही नहीं देती थी। अव तो उसने दादाजी के बँगले पर जाना तक छोड़ दिया था। एक उद्रेक को कारण मात्र बनाकर नौकरी भी छोड़ दी थी और अव उसने स्वयं को श्रीधर की खिदमत में लगा दिया था। उसके जीवन के हर क्षण, हर कण को खुद का साक्षी होना उसे नितान्त आवश्यक लगने लगा था। श्रीधर के लिए वह असहनीय था। शशी के मिलने तक, जीवन में वह किसी के भी प्रेम-वन्धन में नहीं वँधा था। सन्देह या मत्सर का उसे कोई अनुभव नहीं था। और अव तो वह प्रेम के इस तूफ़ान का केन्द्रविन्दु था। आखिर एक दिन कुछ मज़ाक़ और कुछ गम्भीरता से श्रीधर ने शशी से कहा, "शशी, मुझे तुम्हारे प्रेम का अपचन हो रहा है। क्या तुम उसकी मात्रा कुछ कम कर सकती हो ?"

"यानी ?" आँखें फाड़कर शशी ने पूछा। उस प्रेम में वह अपनी विनोद-बुद्धि भी खो वैठी थी, सरासर विवेक भी नहीं रहा था। यह देखकर थोड़ा-सा खुद से ही खीजकर श्रीधर ने पूछा, "शशी, ज़रा आँखें खोलकर देखो और समझने की कोशिश करो। मेरे लिए यह सब बहुत कष्टप्रद हो रहा है···।"

"मतलब ?" शशी का चेहरा विदीर्ण हो गया। आँखें लाल होकर उनमें आँसू भर आये। क्या इसका यह अर्थ है कि मेरा साथ तुम्हारे लिए असहनीय हो गया है। मैं आँखें बन्द रखकर निर्बुद्धिता से चल रही हूँ, ऐसा तुम्हें लगता है ?"

"शशी , यह तुम क्या कह रही हो ?"

"हाँ, मैं बुद्धिमत्ता में तुमसे वहुत कम हूँ इसलिए तुम मुझे नहीं चाहते, मैं तुम्हें असहनीय लगती हूँ···तुम उस यशोधरा के साथ जाना चाहते हो।"

शशी ने लड़ाई का पैंतरा लिया था। उसकी आँखों से आसूँ की धारा बह निकली थी और उसकी आवाज़ काँपने लगी थी।

श्रीधर शान्ति का महामेरु··· अपना सन्तुलन बनाये रखते हुए उसने उसे समझाने के स्वर में कहा, "वैसा नहीं है शशी···प्लीज़ समझने की कोशिश करो।···"प्लीज़ शशी, आओ यहाँ मेरे पास आओ···तुम जानती हो, मैं क्या कहना चाहता हूँ···"

"यही न ! कि मैं अब तुम्हारी दृष्टि को भी असहनीय लगती हूँ···"

"शशी···शशी ! यह क्या कह रही हो तुम ? ज़रा सुनो···सुनो शशी। मेरे लिए तुम्हारी यह स्थिति असहनीय हो रही है···इस प्रेम में तुम विकल हो गयी हो। उसके वोझ के नीचे तुम्हारा अपना दम घुट रहा है और तुम मेरा दम घोंट रही हो। तुम खुद के साथ छल कर रही हो···अपना नाश कर रही हो।"

"शशी ने अपने आपको झटक कर उससे अलग कर लिया और त्वेष से चिल्लायी, "छल···? नाश···? श्रीधर, मैं तुम्हारा छल कर रही हूँ ? तुम्हारा दम

घोंट रही हूँ···?"

"शशी···ज़रा स्वयं को सँभालो···"

"वस···वस···" उसने क्रोधातिरेक से कहा,"तुम मुझसे नफ़रत करते हो ··· तुम मुझसे ऊव चुके हो···मैं जानती हूँ, यह सव किसने तुम्हारे दिमाग़ में भर दिया है"—शशी अव फफक-फफककर रो रही थी।

"शशी !"

"कुछ मत कहो। तुम मुझे मरी देखना चाहते हो···" उसकी आँखें विस्फारित थीं। वाल विखरे हुए थे। साँस तेज चल रही थी। वीच-वीच में सिसकियों से वह हिल रही थी।

उसका यह रूप श्रीधर पहली वार देख रहा था। वह भी आँखें फाड़-फाड़कर उसे ताक रहा था। वड़ी मुश्किल से उसने अपने आपको कावू में रखा था। उसे बुरा भी लग रहा था और शशी के अकारण, निरर्थक हठीपन का और अमर्याद तमाशेवाज़ी का थोड़ा ग़ुस्सा भी आ रहा था। धीरे-धीरे उसका भी सन्तुलन ढलने लगा था। शशी तारस्वर में चिल्ला रही थी।

"तुम्हारे लिए मैंने अपने प्राण दे दिये। घर-द्वार छोड़ा, मित्र-परिवार छोड़ा, जग की लाज छोड़ी। अपना सर्वस्व तुम्हें अर्पण किया और अव तुम मुझे दूर धकेल रहे हो, श्रीधर ?"

"शान्त रहो, शशी। तुम्हें क्या हो गया है ?" श्रीधर का स्वर पत्थर की तरह सख़्त हो गया।

"मैं पागल हो गयी हूँ, यही कहना चाहते हो न !" शशी ने और भी आवेश में आकर कहा।

"शशी प्लीज़···" अव श्रीधर का चेहरा भी उग्र हो चला था।

"कहो ना, मैं पागल हो गयी हूँ। यही कहना चाहते हो न ? मेरे पापा भी पागल थे, इसलिए तुम्हें वैसा लगता है। कहो, वता दो सारे जग को। तुम तो बस मुझे छोड़ना चाहते हो···"

श्रीधर भी अपना संयम खो वैठा। क्योंकि एक अर्थ में, शशी जो कह रही थी वह सच भी था। उसे यह भी लग रहा था कि शशी प्रेम में पागल हो गयी है और उसकी उस दम घोंटनेवाली क़ैद से वह छुटकारा चाह रहा था, यह भी सच था। शशी ने उसके मर्म पर आघात किया था। जैसे-तैसे दीर्घ श्वास लेकर श्रीधर ने अपने आपको सँभाला। शशी के लिए अपार करुणा से उसका मन भर आया। वह आवेश में आकर जैसे स्वयं ही सम्मोहित हो चुकी थी। उसी के किये हुए दोषारोपण से सन्तप्त होकर उसे त्वेष चढ़ रहा था। उसे इस अवस्था से बाहर निकालना आवश्यक था।

एक क़दम आगे वढ़कर श्रीधर ने शशी के कन्धे पकड़े और उसे झकझोर कर कड़े स्वर में वह चिल्लाया, "शशी···जागो···शशी।"

"हा···हा···" शशी चिल्लाती, रोती, विकट हास्य करती वोली··· "कन्धे क्यों पकड़ रहे हो···तुम मेरा गला दवाना चाहते हो···लो दबाओ मेरा गला···ले लो मेरे प्राण।"

श्रीधर के संयम का तार टूट गया लेकिन शशी की पागल ज़िद पर उसे गुस्सा आ रहा था, साथ-साथ उस पर तरस भी आ रहा था। थोड़े ग़ुस्से से और थोड़ी करुणा से उस उन्मादित अवस्था से वाहर निकालने के लिए श्रीधर ने अपने दाहिने हाथ से शशी के गाल पर कसकर चाँटा जड़ दिया।

शशी खड़ी-खड़ी बुत वन गयी। उसकी विस्फारित आँखें अव लाल हो चुकी थीं, नथुने फूल गये थे, साँस तेज़ चल रही थी।

आगे वढ़कर चिल्लाकर उसने कहा, "मारो···मारो···और मारो···मार डालो। घोंट दो मेरा गला। वैसे भी तुम मुझसे छुटकारा चाहते हो···मार डालो मुझे।"

शशी जैसे पागल होकर चिल्ला रही थी और हँसती जा रही थी। और श्रीधर अपना आपा खोकर उस पर प्रहार करता जा रहा था। शशी हँस रही थी और चीख रही थी।

"और मारो···मार डालो···तुम्हारे हाथों से मौत भी आये तो मैं अपने आपको धन्य समझूँगी। मेरा जीवन सार्थक हो जाएगा···मारो···तुम्हें भी सन्तोष मिल जाएगा और मुझे भी···वैसे भी जीते-जी मैं तुममें पूर्ण रूप से समा तो नहीं सकती श्रीधर···! मारो···मुझे मार डालो···ओ हो हो···"

मारते-मारते श्रीधर जैसे नींद से जग गया। अविश्वास से उसने अपने हाथ की तरफ देखा और अपने पाँव की तरफ लुढ़की शशी को। शशी का सुन्दर चेहरा सुर्ख लाल और विद्रूप हो गया था। उसके होठ सूज रहे थे। दाँतों से, होठों के कोने से खून निकल रहा था। एक आँख सूजकर वन्द हो रही थी। उसकी आँखें खुली की खुली रह गयीं—मैं यह क्या कर रहा हूँ···इतना अधःपतन। जीवन में उसने किसी पर कभी हाथ नहीं उठाया था। वचपन में कीड़े-मकोड़ों को मारते हुए भी उसकी जान निकलती थी और अव उससे जी-जान से प्यार करनेवाली शशी, लहूलुहान होकर उसके क़दमों में आ गिरी थी। जीवन का अर्थ ढूँढ़नेवाला मैं, स्वयं को स्थितप्रज्ञ माननेवाला मैं, अनादि प्राणतत्त्व के आकलन के लिए व्याकुल होकर जग को ढूँढ़ने निकला हुआ मैं, गीता का, वेदों का, बाईबल का अर्थ समझने के लिए वेचैन होनेवाला मैं, मार्क्स एवं कृष्णमूर्ति का पारायण करनेवाला मैं···इस कदर गिर सकता हूँ! श्रीधर हतबुद्धि होकर अपने हाथों को और शशी को देखता, स्तब्ध खड़ा था।

शशी सिसक रही थी।

"मार डालो···मारो···मार डालो मुझे···लेकिन एक वात ध्यान में रहे। तुम्हारा अंश मेरे पेट में पल रहा है···उसे भी उखाड़कर फेंक दो···मेरा गला दवा दो···"

श्रीधर के गले से एक विलक्षण चीख निकली, गैस पर रखे चाय का पानी उवलकर भाप वन रहा था। उसने वह वर्तन हटाया और गैस की ज्वाला पर अपने दोनों हाथ रखे। उसी क्षण शशी भी जैसे होश में आ गयी और श्रीधर···श्रीधर कहते हुए वह जोर से उसे पीछे खींचने के लिए उस पर झपट पड़ी।

बयालीस

देश का राजनीतिक वातावरण तेजी से प्रदूषित हो रहा था। और उसका कुछ परिणाम सामान्य आदमी के दैनन्दिन जीवन पर होना भी अनिवार्य था। गुजरात और विहार में भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन जोर-शोर से चल रहे थे। वढ़ती महँगाई से जन-मानस में असन्तोष फैल रहा था। गुटवाज़ी वढ़ गयी थी और नेतृत्व को लेकर काफ़ी सरगर्मी थी।

इसी वजह से युवकों के आन्दोलन ठण्डे पड़ रहे थे। राजनीतिक झगड़े वढ़ रहे थे। श्रीधर और शशी के प्रेम-सम्वन्ध उद्रेक की परिसीमा तक पहुँच चुके थे लेकिन अव भी उनके घर में वैठकें होती थीं। चर्चाएँ होती थीं। और फिर एक चर्चा में विश्वम्भर और यशोधरा की ज़ोरदार वहस हुई। धनंजय ने शोध-कार्य छोड़कर फिर युवा शान्ति सेना में दो वर्षों के लिए न उतरने का निश्चय किया, उसी चर्चा में यशोधरा ने जीवन में फिर धनंजय का मुँह तक न देखने का निर्णय किया और उसी वक़्त शशी ने अपने नये अवतार की झलक दिखाकर सबको चौंका दिया, वह चर्चा उन्हीं के घर में हुई थी, यों ही संयोग से।

विश्वम्भर उसके आन्दोलन के काम से कृषि संचालक के पुणे कार्यालय आया था। वह अचानक शाम को शशी के वँगलें पर टपक पड़ा। उसी दिन यशोधरा वम्वई से दो दिन के लिए पुणे आयी हुई थी। अपनी वहन के लिए यानी सौतेले पिता की पुत्री के लिए वर खोजने के लिए। और वाद में उसी रात बम्बई वापस लौटने के इरादे से धनंजय भी वहाँ आया था। इनमें से हर एक का पुणे में ठहरने

का अलग-अलग ठिकाना था। लेकिन कई बार वह शशी के यहाँ ही रुकते थे यशोधरा को तो शशी के आग्रह से वहीं पर रुकना पड़ता था। शशी के बँगले के एक वृद्ध किरायेदार ने घर खाली कर दिया था, इसलिए जगह की भी कोई कमी नहीं थी। श्रीधर के साथ झगड़ों में शशी यशोधरा पर आग बरसाती, लेकिन प्रत्यक्ष मुलाक़ात में वह उससे इतने प्रेम से और अपनेपन से व्यवहार करती थी कि श्रीधर दंग रह जाता था।

शशी का असली रूप कौन-सा है, यह वह समझ नहीं पा रहा था। बीच-बीच के विस्फोटों को छोड़ दिया जाय, तो शशी की बोलचाल पूर्ववत् थी। फिर भी उस पूर्ववत्पन में उसमें धीरे-धीरे आनेवाले बदलाव की झलक मिलती थी।

उस दिन जब शशी ने झपटकर श्रीधर को गैस से पीछे खींचा था, तो श्रीधर की दोनों हथेलियाँ बुरी तरह जल चुकी थीं और जले हुए मांस की दुर्गन्ध चारों ओर फैल गयी थी। शशी ने प्रथमोपचार का प्रशिक्षण लिया हुआ था। उसने पहले श्रीधर के हाथ ठण्डे पानी से धोकर फिर उन पर वर्नाल का पूरा ट्यूब खाली कर दिया। फिर श्रीधर को नींद की गोलियाँ देकर विस्तर पर लिटा दिया। फिर उसने अपने चेहरे की तरफ ध्यान दिया ।

श्रीधर के घाव भरने में पन्द्रह दिन लग गये, दूसरे दिन सुलभा आयी। वह वहाँ का दृश्य देखकर दंग रह गयी। श्रीधर और शशी का बुरा हाल था। शशी बुखार से तप रही थी। बिना बोले ही सुलभा ने घर का जिम्मा ले लिया और आठ दिन दोनों की अच्छी तरह देखभाल की।

दोनों के चेहरे पर लड़ाई के निशान अब भी मौजूद थे। शशी के चेहरे पर जो जख्मी भाव था वह और भी गहरा गया था। श्रीधर अपराध की भावना में पत्थर का बुत बन गया था। दोनों के बाल अस्त-व्यस्त और कपड़े और चेहरे बुझे-बुझे-से रहने लगे। शशी ने तो नौकरी छोड़ ही दी थी। उधर हाथ जलने की वजह से श्रीधर ने भी ग्रन्थालय जाना छोड़ दिया था, और फिर हाथ ठीक होने के बाद भी वह वहाँ गया ही नहीं। दिनभर दोनों घर पर ही रहने लगे। एक-दूसरे से बड़े प्यार और जतन से पेश आने लगे। बीच में ही कोई खिटपिट होती तो आवाज़ें तपने लगतीं। शशी को उन्माद का उफ़ान आता फिर वही तोड़फोड़। जब-कभी सुलभा की उपस्थिति में भी झगड़ा हो जाता। लेकिन वह केवल हतबुद्धि होकर देखती रह जाने से ज़्यादा कुछ कर नहीं पाती थी। बीच-बीच में शशी की वह मौसी जी आकर खाना बनाकर चली जाती थीं। शशी ने दादाजी के घर जाना बिलकुल बन्द कर दिया था। कभी सुलभा खाना बनाकर छोड़ देती थी, कभी वह बाहर खा लेते थे। श्रीधर की दाढ़ी बढ़ने लगी, उसके हाथों में हमेशा सिगरेट दिखाई देने लगी। बीच-बीच में शशी भी यों ही सिगरेट पीने लगी । समय काटने के लिए दोनों ताश

खेलने लगे···और फिर दारू की बोतल भी निकलने लगी।

यह अधोगति बहुत धीरे-धीरे, किसी को विशेष ज्ञान हुए बिना हो रही थी। सिर्फ़ सुलभा यह सब नज़दीक से देख रही थी। इस प्रक्रिया को रोकने का उपाय उसकी समझ में नहीं आ रहा था। दर्शनी तौर पर लोगों से मिलने-जुलने में श्रीधर और शशी अत्यन्त सभ्यता से सभी उपचार निभाते थे लेकिन उसमें भी एक बेफिक्री का भाव होता था। किस को बुलाकर इस आधोगति को रोका जाय, यह सुलभा की समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन वह इतना तो जान ही चुकी थी कि विश्वम्भर, धनंजय और यशोधरा उनके गहरे दोस्त हैं। उनमें से किसको बताया जाय ? क्या उन्हें वह ठीक लगेगा ? और क्या वह कुछ कर सकेंगे ? इसका भी अनुमान लगाना कठिन था। सुलभा की स्थिति अजीव-सी हो गयी थी।

उस दिन यशोधरा जव सुवह बम्बई से आयी तो शनिवार का दिन था। संयोग से सुलभा की छुट्टी थी। वह शशी के घर की साफ़-सफ़ाई करने के उद्देश्य से आयी थी। शशी और श्रीधर सुबह देर तक नहीं उठते थे। सुलभा के पास एक चाभी रहती थी, इसलिए दरवाज़ा खोलकर वह सीधी अन्दर आ सकती थी। यशोधरा के आने पर सुलभा ने ही दरवाज़ा खोला। उसने यशोधरा को दो-तीन वार देखा था लेकिन यशोधरा ने शायद उसे नहीं पहचाना। इस बार वह पाँच-सात महीनों के वाद आ रही थी और बीच में जो भी कुछ घटा था उससे वह अनजान थी, इसलिए सुलभा ने उसे चाय बना दी।

"शशी और श्रीधर दिखाई नहीं देते ?" यशोधरा ने इधर-उधर देखकर कहा।

"अभी वह उठे नहीं हैं।"

"क्या ? श्रीधर भी ? आश्चर्य है···" यशोधरा ने आँखें फैलाकर कहा, "कल क्या सारी रात सोये नहीं थे ?"

"अँ ? हाँ···हो···"

"फिर भी वह दोनों इस तरह तो नहीं सोते···तबीयत तो ठीक है ?"

"हाँ···तबीयत भला क्यों बिगड़ने लगी ?"

फिर यशोधरा ने जैसे अचानक सुलभा के अस्तित्व पर ध्यान दिया, उसे लगा शायद उसने सुलभा को कहीं देखा है···शायद यहीं पर।

"तुम कब से यहाँ काम कर रही हो ?" यशोधरा ने पूछा।

सुलभा मुस्कुरायी। उसे वह अपमानजनक नहीं लगा।

"काम के लिए नहीं। मैं बीच-बीच में इन लोगों की मदद करने के लिए आ जाती हूँ।"

"उफ्फ। सॉरी···माफ करना···सच सॉरी। तभी मैं सोच रही थी कि इतनी स्मार्ट और तेज़ लड़की, माई गॉड···सचमुच मुझसे वहुत वड़ी भूल हो गयी है, माफ

करोगी ना ?"

सुलभा खुलेपन से हँसती हुई वोली, "उसमें क्या है ? आपकी कोई ग़लती नहीं है···।"

"सॉरी ! क्या हम दोनों का परिचय कभी कराया गया था ?"

"नहीं, आपने शायद मुझे सिर्फ़ दूर से देखा था। लेकिन प्रत्यक्ष परिचय कभी नहीं हुआ था। मैं श्रीधर की वहन···।"

"ओ हो, तो तुम ही हो वह ?··· अच्छा, श्रीधर जव वम्वई आया था, तव उसने मुझे तुम्हारे वारे में वताया था। सॉरी !"

दोनों ने मिलकर वात की। यशोधरा को सुलभा की आँखों में चिन्ता की परछाई साफ़ दिखाई दे रही थी। मौके का फ़ायदा उठाकर सुलभा ने कहा, "दो दिन आप हैं न यहाँ ? आपसे कुछ बात करनी है, आधा-पौना घण्टा।"

"बोलो न अभी···।"

"नहीं··· यहाँ नहीं, वाहर···कहीं भी।"

"क्या कहना है ?"

दूर से शशी के कमरे से आवाज़ आ रही थी। दोनों शायद जाग गये थे। सुलभा ने जल्दी से कहा, "आप उन दोनों से मिलेंगी तो पता चल ही जाएगा कि मैं क्या कहना चाहती हूँ···।"

इतने में बिखरे बालों को सँवारती शशी बाहर आयी। अभी भी वह नींद में बहकी-बहकी चल रही थी। साड़ी अस्त-व्यस्त थी।

"अरे, यशोधरा, तुम ?" मन से खुश होकर शशी ने कहा, "कव आयी, पहले बताया भी नहीं था !"

अपना सन्तुलन रखने के लिए शशी ने अपने आपको एक सोफ़े पर डाल दिया। यशोधरा ने देखा, शशी की आँखें अन्दर धँस गयी थीं, उनके नीचे काले निशान पड़ गये थे। उसकी त्वचा की फूल-सी ताज़गी न जाने कहाँ ग़ायब हो गयी थी। उसके कोमल होंठ स्याह पड़ गये थे और उन पर न जाने कैसी कड़ुवाहट आ गयी थी। खुद के कपड़े और हुलिए की तरफ शशी उदासीन थी, यह साफ़ नज़र आ रहा था। उसके चेहरे पर हैंग ओवर के निशान थे। उसने सिर दबाकर आँखें वन्द कीं और फिर बड़ी मुश्किल से खोलीं। वह यशोधरा को देखकर कुछ ऐसे खुश हो रही थी, जैसे पहली बार मिल रही हो।

"कैसी हो तुम शशी ?" यशोधरा ने सचिन्त होकर पूछा, "तबीयत तो ठीक है ?"

"वाह···एकदम ठीक।" उससे नज़र वचाती हुई शशी वहाँ से उठी, "रुको, मैं तुम्हारे लिए पहले चाय वनाकर लाती हूँ। अरे सुलभा···! तुम कव आयी ?"

"मैंने इन्हें चाय बनाकर पिला दी।"

"ओह ! हाऊ स्वीट सुलभा !"

कुछ ही देर बाद श्रीधर भी वहाँ आया, उसका तनावग्रस्त चेहरा, पिचके गाल, आँखें, बढ़ती हुई दाढ़ी और चेहरे पर असहायता की छाया यशोधरा ने एक ही नज़र से भाँप ली। शशी बहुत प्यार से और सहज अपनेपन से पेश आ रही थी। श्रीधर के व्यवहार में भी कुछ खास परिवर्तन नहीं था। लेकिन कुल मिलाकर यशोधरा को अज़ीब-सा लग रहा था। श्रीधर ने बताया कि उसके हाथ पर जो जख्म थे, वह शशी को खाना बनाने में मदद करते हुए हो गये थे। खाना वग़ैरह खाकर यशोधरा फिर अपने काम से बाहर चली गयी। शाम को निश्चित समय पर वह सुलभा से मिली। दोनों किसी होटल में जा बैठीं।

"कहो, क्या चल रहा है ?" यशोधरा ने अधीरता से पूछा।

"आपने देखा न उन दोनों को··· ?" सुलभा ने बताना शुरू किया, "मैं श्रीधर की बहन हूँ, यानी मैंने ही यह नाता उस पर थोपा है। लेकिन मुझे शशी से अधिक प्रेम है···।"

सुलभा ने पूरी बात खोलकर उसके सामने रख दी और पूछा, "अब बोलो, मुझे क्या करना चाहिए ? मुझसे यह देखा नहीं जाता···।"

"तुम कुछ भी नहीं कर सकतीं।" यशोधरा ने ठण्डी आह भर कर कहा।

"और तुम ? तुम कुछ कर सकोगी ? उन दोनों को ठिकाने लगानेवाला कोई तो चाहिए ··· और वह दोनों तुम्हारी बहुत इज्जत करते हैं···।"

"कोई भी कुछ नहीं कर सकता। वह दोनों ही अपने आप को बचा सकते हैं। और कोई यह आग नहीं बुझा सकता।"

"तो हम क्या करें ? सिर्फ़ देखते ही रह जाएँ ?"

"और हम कर भी क्या सकते हैं ? उन्हें जितना सम्भव हो, उतनी जल्दी अलग ले जाना चाहिए, लेकिन वह भी असम्भव है। वह तभी सम्भव होगा जब वह दोनों अपने आप अलग होंगे। तब तक कुछ ऊँच-नीच न हो, इतना ही बस हम देख सकते हैं, यानी विशेष रूप से तुम। क्योंकि तुम उनके सबसे क़रीब हो···।"

"तुम्हें··· उन दोनों पर इतना विश्वास कैसे है ?"

"क्योंकि मैं उन दोनों को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। उनके मन की बात भी समझती हूँ। शशी का स्वभाव है परवाने जैसा, खुद को शमा पर डालकर जल जाने वाला। और श्रीधर शमा की तरह सिर्फ़ जलता रहेगा···।"

दोनों कुछ देर तक चुप रहीं। उन्होंने चाय पी, फिर कुछ झिझकते हुए सुलभा ने कहा, "जानती हो ? शशी के पाँव भारी हैं···।"

"स्स !··· तब तो उसका और भी ख्याल रखना चाहिए···।" यशोधरा ने फिर

लम्बी साँस ली।

दोनों शाम को बँगले पर लौटीं तो वहाँ विश्वम्भर मिला। उनके आने के बाद कुछ ही देर में धनंजय भी आ पहुँचा। पूर्व नियोजित कार्यक्रम की तरह महफ़िल जम गयी। बातों का सिलसिला शुरू हुआ। बीच में उठकर शशी और श्रीधर गाड़ी निकालकर बाहर से खाना लाने के लिए गये आधा घण्टा बाद लौटे। जब वह लौटे तो उनके मुँह से मद्य की हल्की गन्ध आ रही थी, जो सिर्फ़ सुलभा जान गयी थी।

धनंजय ने राजनीति का विषय छोड़ा और चर्चा की दिशा बदल गयी।

"सारा समाज और देश भ्रष्टाचार से खोखला हो चुका है—" धनंजय तैश में आकर कह रहा था। "अरे विज्ञान शोध-संस्थान में भी भ्रष्टाचार! शोध-संस्थाओं के संचालकों के पदों की नियुक्ति भी राजनीतिज्ञों को सौंप दो तो और हो भी क्या सकता है! कीजिए बन्धु··· जो भी अन्वेषण कर सकते हों! झाड़ू लगाकर इस देश की सफ़ाई होनी चाहिए, तब कहीं हमारा देश सुधर सकता है।"

"इस तरह झाड़ू लगाकर कहीं देश की नैतिमत्ता सुधर सकती है?" विश्वम्भर ने उपहास में कहा, "झाड़ू लगाइए, डी. डी. टी. या फिर टिक ट्वेण्टी छिड़किए, फिर से समाज में कीटाणु पैदा होंगे ही!"

"ऐसा तुम कैसे कह सकते हो?" धनंजय ने आवेश में कहा, "यथा राजा तथा प्रजा, 'काला बाज़ार करनेवालों को सड़क पर लाकर फाँसी चढ़ाएँगे' जैसी घोषणाएँ करनेवाले राजकर्ताओं ने ही भ्रष्टाचार के प्रति दुर्लक्ष्य किया है। सम्मिश्र अर्थव्यवस्था लायी, लाइसेन्सेस, कण्ट्रोल्स, सार्वजनिक उद्योग लाकर भ्रष्टाचार के लिए छूट दे दी और स्वतन्त्रता पाने के इतने वर्षों बाद भी वही हो रहा है। तुम क्या सोचते हो, श्रीधर?"

श्रीधर लाचार-सा मुस्कुराया, अर्थशास्त्र का, विशेष रूप से सामाजिक अर्थशास्त्र का, उसे अच्छा-ख़ासा ज्ञान था। लेकिन बिना कोई मतप्रदर्शन किये वह सिर्फ़ मुस्कुराया। फिर अपनी कुर्सी के पीछे के रैक से मद्य की एक बोतल निकालकर बोला, "मुझे लगता है कि हम सब अब थोड़ी-थोड़ी दारू लेते हैं—चर्चा में और भी रंग आ जाएगा···"

सुलभा और धनंजय को छोड़कर सबने थोड़ा-थोड़ा मद्य लिया। श्रीधर चुपचाप पीता जा रहा था।

"हमारे देश के भ्रष्टाचार के लिए घरानेशाही ज़िम्मेवार है," धनंजय भुनभुना रहा था, "देश का नेतृत्व अगर किसी और को सौंपा जाय, तो सब ठीक-ठाक हो जाएगा।"

अब तक चुप बैठी यशोधरा अब उफनकर बोल पड़ी, मद्य का अमल उस पर भी होने लगा था, जिस पर धनंजय की टिप्पणी ने आग लगाने का काम किया।

"तुम्हें पता भी है, तुम क्या बकवास किये जा रहे हो, धनंजय ?" उसने खौलकर कहा, "बस मुँह में जीभ है इसलिए बोले जा रहे हो। किसी पर दोषारोपण करने से पहले उसका देश की उन्नति में जो योगदान है, उसका जायजा लेने का कष्ट किया है कभी ? मैं सिर्फ़ स्वतन्त्रता-संग्राम को लेकर बात नहीं कर रही हूँ।

"अगर नेहरू जी ने यह नियोजन की अर्थव्यवस्था लाकर आर्थिक और औद्योगिक स्वावलम्बन की दिशा न अपनायी होती तो वह पूँजीवादी देश, हमें कब के निगल गये होते। आज तुम मध्यमवर्गीय उच्चवर्गीय, व्यापारी और उद्योगपति जो मौज़ मना रहे हो वह किसके दम से है ? नियोजित अर्थव्यवस्था और औद्योगिक उन्नति का सारा फायदा तुम जैसों को ही तो मिला है। अब सरकार आग्रह करती है कि समाज के निम्नतम स्तरों को भी वह लाभ मिलना चाहिए, तो तुम्हें क्यों असुविधा हो रही है ? नेतृत्व में परिवर्तन लाकर तुम कौन-सा तीर मारनेवाले हो ?"

"यह सब कहकर तुम सरकार के भ्रष्टाचार को भुलावा दे नहीं सकती।" धनंजय ने जोर से प्रतिवाद किया।

"भ्रष्टाचार, भ्रष्टाचार··· भ्रष्टाचार की माला क्यों फेर रहे हो ? भ्रष्टाचार क्या सिर्फ़ सरकार और उनका पक्ष ही करता है ? हम-तुम क्या दूध के धुले हैं··· ?"

"वही तो मैं कह रहा हूँ। भ्रष्टाचार की जड़···"

"पहले मेरी बात पूरी तरह सुन लो और फिर बाद में बोलना। भ्रष्टाचार का स्रोत क्या कोई एक व्यक्ति है ? हमने जिस पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को स्वीकार किया है उस व्यवस्था का यह एक अभिन्न अंग है। यह व्यवस्था स्वयं ही भ्रष्टाचार का मूल स्रोत है···।"

"आप लोग व्यवस्था, सिस्टम, प्रणाली जैसे शब्द देकर मूल मुद्दे को बड़ी होशियारी से टाल जाते हैं।"

"कैसा मूल मुद्दा ?" यशोधरा गरज उठी, "भ्रष्टाचार क्या देश के सामने खड़ा सबसे बड़ा प्रश्न है ? सब लोगों के मुँह में चार कौर सुख से पहुँचने चाहिए और यह करते वक़्त हमारे देश के स्वातन्त्र्य और सम्मान को बनाये रखना यह हमारा प्रथम कर्तव्य है···।"

"वाह··· वाह··· बहुत खूब ! ग़रीबों के नाम पर अपना स्वाहाकर आराम बनाये रखना···।"

"पागल न बनो धनंजय···" अब विश्वम्भर भी मैदान में उतर आया। "यशोधरा जो कह रही है उसमें कुछ तथ्यांश है। हमारी व्यवस्था पूर्ण रूप से बदलने के अलावा इस देश के सामने कोई चारा नहीं है। भ्रष्टाचार इस व्यवस्था का अनिवार्य अंग है। इसलिए इस अव्यवस्था को बदलना ही हमारा पहला काम होना चाहिए। यशोधरा के आर्ग्युमेण्ट में एक ही बात पर मुझे आपत्ति है। कोई प्रधानमन्त्री इस व्यवस्था

को बदलना नहीं चाहता। बल्कि मेरा तो यह मानना है कि इस व्यवस्था को इसी तरह क़ायम बनाये रखना ही उनका उद्दिष्ट है···

उस पर काफ़ी ज़ोरदार बहस हुई। एक-दूसरे के पक्षों को और गुटों को लेकर काफ़ी छींटाकशी हुई। चर्चा में विश्वम्भर, यशोधरा और धनंजय तीनों अलग-अलग दिशाओं पर चल रहे हैं, इसकी पुष्टि हुई। धनंजय जयप्रकाश जी के भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन का समर्थक था, तो विश्वम्भर क्रान्ति का पुरस्कर्ता और शासन-विरोधी और यशोधरा का झुकाव शासन के पक्ष में था। श्रीधर और शशी का इस चर्चा में नाम मात्र सहभाग था। शशी बीच-बीच में एकाध वाक्य बोलती थी। लेकिन श्रीधर मन्द-मन्द मुस्कराता, पीता जा रहा था।

"जयप्रकाश जी की सम्पूर्ण क्रान्ति ही देश के लिए एकमेव मार्ग है।" धनंजय ने जाहिर किया।

"ब्राव्हो !" शशी ने उसकी पीठ थपथपायी।

"नॉन्सेन्स !" विश्वम्भर गरज पड़ा। "सम्पूर्ण क्रान्ति यानी क्या यह भी स्पष्ट रूप से बताया गया है। भला जो खुद कन्फ़्यूज़्ड हो, वह दूसरों का मार्गदर्शन क्या करेगा ?"

"सही बात है।" शशी ने हामी भरी।

"इनकी सम्पूर्ण क्रान्ति का एक ही नारा है—घरानाशाही हटाओ" यशोधरा ने कडुवाहट से कहा, "फिर इस देश का जो भी कुछ होना हो, हो जाए।"

"यानी तुम घरानाशाही के पक्ष में हो।" धनंजय ने कहा और गरम होकर विश्वम्भर की तरफ मुड़कर बोला, "अगर तुम जयप्रकाश जी की सम्पूर्ण क्रान्ति की कल्पना समझना चाहते हो विश्वम्भर, तो उनके भाषणों का संग्रह हाल में प्रकाशित हुआ है, उसे पढ़ो और फिर कहना···"

"मैंने उनका सब कुछ पढ़ा है।" विश्वम्भर को अपने अध्ययन पर बहुत गर्व था।

"मैंने निश्चय किया है कि जयप्रकाश जी की युवा क्रान्ति सेना और नवनिर्माण आन्दोलन को अपना जीवन अर्पण करूँगा।" धनंजय ने घोषणा की।

"ब्राव्हो !" शशी ने अपना गिलास उठाकर समर्थन किया।

"तुम्हें भगवान ही बचाये। यों तो तुम देश का नुकसान करोगे, उससे तो अच्छा है घर पर बैठकर मक्खियाँ मारो। यह देश की बेहतर सेवा होगी।" विश्वम्भर ने कहा।

सैद्धान्तिक मतभेद हाथा-पाई तक आ पहुँचे, यह देखकर शशी ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी, जिससे वातावरण का तापमान कुछ नीचे आ गया। उसका हँसना देखकर वह सब कुछ देर तक स्तम्भित रह गये।

"हाः हाः हाः" शशी हँस रही थी, "जयप्रकाश जी की जय हो, घरानाशाही ज़िन्दावाद ! सम्पूर्ण क्रान्ति आनी ही चाहिए, लोकशाही ज़िन्दावाद···अरे ! यह क्या वात है, मेरे साथ तुममें से कोई भी नारे क्यों नहीं लगा रहा ?" फिर अपनी आवाज़ नीचे लाकर उदास होकर वोली, "च् च् च्। वेचारा अपना ग़रीव देश। क्या होगा इस देश का ?"

श्रीधर अव तक सिर्फ़ चुपचाप वैठा था। उसने उठकर कहा, चलो खाना खायें···"

खाना खाते हुए यशोधरा ने धनंजय को सुना दिया, "तुम विचार-शक्ति खो वैठे हो। जव तक तुम इस आन्दोलन में हो, मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखूँगी।"

"यानी ज़िन्दगी भर तुम्हारी सूरत नहीं देखूँगी, ऐसा क्यों नहीं कहती ? और तुम्हारी अपनी विचार-शक्ति के क्या कहने जो भ्रष्टाचारी सरकार को गले से लगा कर वैठी है।"

खाना खाते वक़्त भी श्रीधर की आँखें वोझिल थीं। लेकिन चेहरे पर मन्द भीनी मुस्कान थी। वह चिड़िया-जैसा दाने चुग रहा था। शशी बीच-बीच में उसे निवाले खिला रही थी।

खाते वक़्त आँखें मूँदकर उसने यशोधरा से मात्र इतना ही कहा, "इस चर्चा में क्या तुम लोगों ने किसी एक भी मूलभूत विषय का स्पर्श तक किया ?···"

तैंतालीस

प्रिय श्रीधर,

पिछले साल भर में मैंने तुम्हें कम-से-कम तीन पत्र भेजे थे लेकिन तुमने किसी एक का भी उत्तर नहीं दिया। मैं बम्बई आया था, आने से पहले तार भी देकर तुम्हें बम्बई मिलने के लिए बुलाया था। लेकिन तुम्हारा कोई अता-पता ही नहीं है। तुम कहाँ हो, क्या तुम्हारा पता बदल गया है ? कुछ भी मालूम नहीं। तुमसे मुझे यह उम्मीद नहीं थी। फिर भी मैं अपनी तरफ से लिखता रहता हूँ, इतना ही समाधान काफ़ी है।

फ़िलहाल एक अजीव-सी दुविधा में पड़ा हूँ। एक लड़की को लेकर मम्मी से लड़ने तक की नौवत आ गयी है। इसी काम के सन्दर्भ में बम्बई आया था। मुलाक़ात होती तो विस्तार से वता पाता। इस पत्र का उत्तर

आया तो तुम्हारा पता ठीक है, यह समझकर आगे लिखूँगा।

तुम्हारा दोस्त,
जगत

प्रिय श्रीधर,

तुमने मेरे कई पत्रों का कोई उत्तर नहीं दिया। शायद तुम्हें जवाब भेजने में दिलचस्पी न रही हो या फिर मेरे पत्र तुम तक पहुँचते न हों, यह मानकर पत्र-व्यवहार यहीं पर समाप्त कर रहा हूँ। सिर्फ़ समय-समय पर अपना बदला हुआ पता तुम्हें बताने की कोशिश करूँगा।

—जगत

प्रिय श्रीधर,

यह पत्र डाक से न भेजकर, हेतुपूर्वक अपने एक कार्यकर्ता के हाथ भेज रहा हूँ। पढ़ते ही फाड़ डालना। पिछले हफ़्ते तुम्हारे घर में अचानक जमी महफ़िल काफ़ी विस्फ़ोटक हुई, लेकिन यह पत्र उसके लिए नहीं है।

वहाँ पर तुम्हारा और शशी का जो रूप देखा, उससे मैं बेचैन हो गया हूँ। मैं नहीं जानता कि मुझे अधिकार है भी या नहीं। लेकिन मैं सिर्फ़, हमारी कुछ दिन पहले जो बात हुई थी, उसकी याद दिलाना चाहता हूँ। तुम्हारा प्रेम-प्रकरण शोकान्तिका की तरफ बढ़ता नज़र आ रहा है। विस्फोटक होने से पहले या तो विवाह कर लो या एक-दूसरे से अलग हो जाओ। मुझे चिन्ता हो रही है, इसलिए समय निकालकर यह पत्र लिख रहा हूँ। फिलहाल, यहाँ के लोगों को बँधुआ-मजदूरी के खिलाफ़ संगठित करने में लगा रहा हूँ इसलिए अन्य किसी चीज़ के लिए समय नहीं है।

—विश्वम्भर

पी. एस. : पत्र का उत्तर देने का कष्ट करोगे ? तुम या तुम दोनों अगर कुछ दिन के लिए यहाँ आ जाते हो तो बहुत अच्छा होता।

महोदय···

बार-बार स्मरण-पत्र भेजने पर भी आपने अपने प्रबन्ध के मार्ग-दर्शक डॉ.··· से कोई सम्पर्क नहीं किया है। आपने पिछले कई महीनों से विद्यापीठ की और ग्रन्थालय की फीस नहीं भरी है। अगर आप इस शोध-कार्य को पूरा नहीं कर सकते तो आपके प्रबन्ध-विषय का रजिस्ट्रेशन

क्या रद्द नहीं किया जाए ! इसके वारे में पन्द्रह दिन के अन्दर विद्यापीठ को सूचित करने का कष्ट करें। अगर आपसे इस सन्दर्भ में कोई खुलासा जवाब प्राप्त नहीं हुआ तो रजिस्ट्रेशन कैन्सिल कर दिया जाएगा।

आपका

XXX

गहरी खाई में फिसलती चट्टान की तरह, श्रीधर और शशी की यात्रा शुरू हो गयी थी। उनका गिड़गिड़ाना कोई रोक नहीं सकता था। केवल अपनेपन से सुलभा जो घर की देखभाल कर रही थी सो कम-से-कम वह ठीक-ठाक था। सुलभा उन दोनों का पत्र-व्यवहार देखती थी। घर साफ़-सुथरा रखती थी और मुख्य रूप से दोनों के खान-पान का ध्यान रखती थी। वैसे तो उन दोनों का व्यवहारी जग से सम्पर्क पूर्णरूप से टूट चुका था। शशी तो अव पूरी तरह सुलभा पर निर्भर हो गयी थी।

श्रीधर को मद्यपान की लत पड़ चुकी थी। देखते-देखते वह शरावी बन चुका था, उसी के पीछे-पीछे शशी भी थी। श्रीधर का साथ देने के लिए शशी ने धूम्रपान भी शुरू कर दिया था। शराव पीने के वाद श्रीधर गुमसुम-सा बैठा रहता था लेकिन शशी उत्तेजित हो जाती थी। दारू पीने के वाद वह वहुत सुन्दर वातें करती, कविताएँ करती। अव श्रीधर से ज़्यादा, शशी धूम्रपान के अधीन हो चुकी थी। जागतेपन में भी उसके हाथों में हमेशा सिगरेट रहने लगी। मुँह की चिमनी और घर एक रक्षापात्र।

सुवह जागने के वाद मद्यपान का समय आने तक सुवह के कुछ घण्टे शशी साधारण स्थिति में रहती। नौकरी पर जाने से पहले, कुछ समय के लिए सुलभा वहाँ आती। एक वार चिढ़कर उसने शशी से कहा, "यह क्या चल रहा है तुम दोनों का ? क्या करना चाहते हो तुम दोनों अपने आप से ?"

शशी हैंग ओवर से भारी सिर सोफ़े पर दवाकर वैठी थी। उसने पूछा, "तुम कहना क्या चाहती हो ?"

"यही, मैं जो भी कुछ कहना चाहती हूँ, वह तुम अच्छी तरह से जानती हो। तुम दोनों सर्वनाश को निमन्त्रण भेज रहे हो।"

"तुम कुछ नहीं जानती।" उस अवस्था में भी मुस्कराने की कोशिश करती हुई शशी बोली, "इसे तुम सर्वनाश कहती हो ! तुमने कभी किसी से प्रेम नहीं किया इसलिए तुम समझ नहीं पाओगी।"

"यह भी कोई प्रेम हुआ ! प्रेम करने वाले मैंने बहुत देखे हैं लेकिन तुम दोनों तो दुनिया से हटकर…"

"हम दोनों दुनिया से हटकर ही हैं।"

"तुम लोगों का यह सब इसी तरह चलता रहा तो मैं कल से यहाँ नहीं आऊँगी।"

"मत आना।" शशी हँसती हुई बोली। वह अच्छी तरह जानती थी कि सुलभा ऐसा नहीं करेगी।

श्रीधर को कुछ कहना-सुनना बेकार था। किसी के कितने भी बोलने या डाँट-डपट पर भी वह सिर्फ़ पागल की नरह हँसता था। वह तो जैसे अपनी बुद्धि सरासर खो बैठा था। यह श्रीधर एक अलग ही श्रीधर था। दोपहर में या शाम को मद्यपान के बाद उन दोनों में बातें होतीं, शान्ति से और धीमे-धीमे। उसमें सभी विषय आते, सिर्फ़ मैं और तू को छोड़कर कविता, साहित्य, नव-विज्ञान, राजनीति, देश का शासन, जागतिक राजनीति, युवकों के आन्दोलन, वृत्त-पत्र, नये चित्रकार आदि। फिर उस वक़्त सुलभा आये भी तो उसे उनकी बातों में कोई स्थान नहीं होता था। किसी के आने पर वह बहुत सभ्यता से पेश आते लेकिन बातें सिर्फ़ एक-दूसरे से ही करते। तीसरा जैसे उनकी परिधि के बाहर ही रहता।

सिर्फ़ एक ही बार उनकी अपने सम्बन्ध में बात हुई लेकिन वह भी लड़ाई के रूप में। अनेक दिन ज़ोर देने के बाद सुलभा शशी को स्त्री-रोगज्ञ के पास ले जाने में सफल हुई—उसकी जाँच करवा कर, उसका नाम दर्ज़ कराने के लिए। और वह यह भी चाहती थी कि डॉक्टर धूम्रपान या मद्यपान के खिलाफ शशी को चेतावनी दे। स्वागत-कक्ष में शशी को बैठाकर वह स्वागतिका के पास उसका नाम आदि लिखवाने गयी। स्वागतिका दूरभाष पर बात कर रही थी। उसकी बात खत्म होने के बाद पीछे मुड़कर सुलभा ने देखा तो शशी अपनी जगह से ग़ायब थी। उसे आसपास ढूँढकर सुलभा सम्भ्रान्त अवस्था में बँगले पर आयी तो उसे शशी आराम से सोफ़े पर बैठी सिगरेट पीती मिली।

सुलभा का पारा चढ़ गया और उसने शशी को अच्छी-खासी डाँट पिलायी। हतोत्साहित होकर आखिर वह रो पड़ी। लेकिन शशी पर उसका कोई असर नहीं हुआ। वह चुपचाप सिगरेट फूँकती रही। थोड़ी देर बाद श्रीधर भी उसके पास आकर बैठ गया। पैकेट खत्म होने पर चुपचाप कपड़े बदलकर, बाहर जाकर पाँच मिनट में चार पैकेट लेकर वह लौट आया।

फिर सुलभा श्रीधर पर बरस पड़ी, उन दोनों की अन्दर धँसी आँखें और गाल और निरन्तर धूम्रमान देखकर सुलभा को लगा जैसे वह कोई बुरा सपना देख रही है। उसने श्रीधर से कहा, "लेकिन श्रीधर, कम-से-कम तुम्हें तो यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके पेट में एक जीव पल रहा है। धूम्रपान और मद्य के गर्भ पर होने वाले दुष्परिणामों से तुम अनजान नहीं हो। तुम्हें उसे सँभालना चाहिए, धूम्रपान से परावृत्त करना चाहिए, और तुम हो कि इन सबको बढ़ावा दे रहे हो! तुम करना

क्या चाहते हो ? तुम दोनों यह नाटक कब खत्म करने वाले हो ? कम-से-कम मुझे तो इस नाटक से मुक्ति दे दो। मेरे लिए यह असहनीय हो रहा है। मेरा और तुम लोगों का क्या सम्बन्ध है कि नादान बच्चों की तरह, मैं तुम दोनों की देखभाल करती जाऊँ ! वैसे भी मैंने यह नाता तुम पर लादा हुआ था। उसे छोड़ दो, भूल जाओ। शशी ने मुझे आत्मविश्वास दिया, आत्मसम्मान दिया, नौकरी दी, इसलिए मैं उसका ऋण चुका रही हूँ, ऐसा ही समझ लो। मैं उसके भले के लिए बोल रही हूँ, ऐसा ही मानकर चलो, तुम इसका क्या करने वाले हो ? और इसके होनेवाले बच्चे का ? तुम दोनों ने अपने भविष्य के बारे में क्या सोचा है ? सालभर पहले मैं जब तुम लोगों से पहली बार मिली थी तब तुम दोनों क्या थे और अब क्या हो ? मुझसे यह देखा नहीं जाता…सहा नहीं जाता…"

सुलभा का रोना छूट गया। श्रीधर कुछ बेचैन लग रहा था। लेकिन उन दोनों पर सुलभा के भावनिक विस्फोट का कुछ विशेष असर नहीं दिखाई दे रहा था। उनका धूम्रपान चल ही रहा था। दूरदर्शन पर देखी गयी किसी फ़िल्म की तरह उन्होंने सुलभा का कहा सुन लिया। सुलभा स्वयं बिलख-बिलख कर रोयी। उसने अपने आपको सँभाला । होटल से मँगवाया खाना दोनों को परोस दिया।

सुलभा के जाने के बाद दोनों ने ताश की बाज़ी लगायी। थोड़ा-बहुत मद्यपान भी किया। खेलते वक़्त प्रथम ही श्रीधर ने व्यक्तिगत मामला छेड़ा। उसे तो ऐसा लग रहा था कि इस विषय में उसने पहले भी बहुत कुछ सोच रखा था। पिछले कुछ दिन तो श्रीधर ने जैसे अपने सोचने की शक्ति को ताला लगा कर बन्द कर रखा था। जिस दिन से उसने शशी पर हाथ उठाया था और उसे पता चला था कि शशी गर्भवती है, उस दिन से वह बहुत चुपचाप रहने लगा था। जैसे उसकी विचार-क्षमता जम गयी थी। उसके सुन्न होने के दो कारण थे — एक तो यह कि अधःपतन की इस सीमा तक आकर वह शशी पर हाथ उठा सकता है, इस बात के एहसास से उसे काफ़ी बड़ा सदमा पहुँचा था और दूसरी बात थी शशी की यह घोषणा कि उसका बीज शशी के पेट में अंकुरित हो रहा है। यह विचार चकराने वाला था, श्रीधर की जीवन-मृत्यु विषयक तमाम कल्पनाओं को हिलाकर रखनेवाला। उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। आनन्द मनाये या दुःखी हो जाये ? प्रचलित कल्पनाओं के अनुसार शशी से विवाह कर जीवन भर के लिए उससे बँध जाए या भाग जाए ? क्या करे ? और यह नन्ही जान ? श्रीधर का दिमाग़ सुन्न हो गया था। आज सुलभा के आँसुओं से उसका बर्फ़ की तरह जमा हुआ दिमाग़ जीवन्त होने के कुछ आसार दिखा रहा था। कई सवाल उठ रहे थे जो उसे परेशान कर रहे थे।

"तुम्हारा क्या विचार है, क्या करना चाहिए ?" श्रीधर ने कहा।

"किस चीज़ के वारे में ?" शशी ने निर्विकार मुद्रा से पूछा।

"यही जो सुलभा कह रही थी।"

"पहले मुझे लाइटर दे दो।" शशी ने तुरन्त मुँह में सिगरेट ठूँसते हुए कहा। फिर लम्बा कश लेकर उसने पूछा, "हाँ, अव कहो क्या कह रही थी सुलभा ?"

"वह तुमने भी सुना है, शशी।"

शशी ने ताश से नज़र उठाकर ऊपर देखा और बोली, "वह हम दोनों सुन चुके हैं, क्या इतना ही काफ़ी नहीं है ?"

"लेकिन शशी, कुछ तो करना होगा…यह जो नन्ही जान तुम्हारे पेट में…"

शशी ने ताश के पत्ते नीचे डाल दिये और झटके से उठकर वह बोली, "तो अब तुम्हें यह ख्याल आ रहा है श्रीधर, इस नन्ही जान का ? इतने दिन तुमने ज़रा-सा भी पूछा नहीं था। मेरे तुमसे वताने के वाद भी तुमने एक बार भी उसके बारे में मुझसे कभी कुछ नहीं कहा, महीना हो गया तुम्हें बताये और आज तुम पूछ रहे हो कि क्या करना है ?"

"मैं बधिर हो गया था, शशी…मैं जो भी कर रहा था वह मैं स्वयं नहीं जानता था। मैं पशु हो गया था, राक्षस हो गया था। मुझे माफ़ कर दो शशी…मुझे तुम्हें मारना नहीं चाहिए था…।"

शशी का चेहरा और भी उग्र, विद्रूप हो गया। उसकी आँखें लाल हो गयीं। उसकी साँस की गति तेज़ हो गयी और वह उपरोधपूर्वक बोलने लगी :

"ओह… तो आज मुझसे मार-पीट के लिए माफ़ी माँगी जा रही है। वाह! क्या बात है ! लेकिन मैंने तो तुम्हें कब का माफ़ कर दिया है। तुमने भी अपना हाथ जलाकर खुद को सजा दे दी थी। तुमने इस नन्ही-सी जान के बारे में नहीं पूछा क्योंकि तुम संवेदनाएँ खो चुके थे … सच तो यह है कि तुम उसे नहीं चाहते हो। उसे खत्म करना चाहते हो और इसीलिए अब पूछ रहो हो कि उसका क्या किया जाए ? श्रीधर, मैंने यह नहीं सोचा था कि तुम इतने गिरे हुए होगे…।"

"शशी… शशी, यह तुम क्या कह रही हो !" श्रीधर का सर्वांग थरथरा रहा था। उसने अपने आपको स्थिर करने के लिए झट से शराब की बोतल निकालकर मद्य का एक घूँट लिया।

"क्या कह रही हूँ ?" शशी ने आवाज़ चढ़ाकर पूछा। "ठीक ही तो कह रही हूँ—तुम उसे नहीं चाहते इसीलिए तुम पूछ रहे हो कि उसका क्या करें ?—छुप-छुपकर बताने से अच्छा है कि साफ़-साफ़ कह दो कि उसे गिरा दो…।"

"शशी…" श्रीधर चिल्लाया, "मैंने इस अर्थ का एक शब्द भी नहीं कहा है।"

"शब्दों की क्या ज़रूरत है। क्या मैं नहीं समझती ? तुम पूछ जो रहे हो कि क्या किया जाए …।"

शशी की आँखों से अव आँसू वह रहे थे। श्रीधर हतबुद्धि होकर देख रहा था। उसने भावाकुल होकर शशी से कहा, "शशी, शशी··· ध्यान से सुनो, मैं यह जानना चाहता था कि हम विवाह कर लें या वैसे ही बच्चा होने दें ? अब तक हमारे समाज में···।"

"ग़लत··· बिल्कुल ग़लत··· ढोंगी··· यह अव तुम वन रहे हो···।" शशी चीख रही थी। उसने लात मारकर ताश भी उड़ा दी। साथ रखा रक्षापात्र भी नीचे गिरा और जलती सिगरेट कालीन में लग गयी, "तुम्हें यह बच्चा नहीं चाहिए श्रीधर, क्योंकि तुम्हें हमेशा के लिए मुझसे जकड़कर नहीं रहना है। तुम्हें मुझसे अब प्रेम ही नहीं रहा ···।"

शशी अव फूट-फूटकर रोने लगी। "विवाह ?··· तुम ? श्रीधर, अशक्य ··· यह सब ढोंग है··· मात्र ढोंग। तुम यह बच्चा नहीं चाहते···तुम उसे मार डालना चाहते हो··· तुम राक्षस···।"

श्रीधर ने आगे वढ़कर उसके कन्धे पर हाथ रखकर उसे खड़ा किया।

"ज़रा शान्त होओ, शशी, ठीक से सोचो। मैं सच कह रहा हूँ," श्रीधर ने उसे हिलाकर कहा, "हाँ, हम विवाह कर लेते हैं। हमारे बच्चे को समाज मान्य अस्तित्व देता है। वच्चे का होना कितने आश्चर्य की वात है, तुम जानती हो न शशी ? हम उसे अच्छी तरह पाल-पोस कर बड़ा करेंगे ··· उसे अच्छी शिक्षा देंगे··· शशी··· शशी, यह तुम क्या कर रही हो··· जागो शशी··· होश में आओ।"

शशी रोती-बिलखती कालीन पर लेट गयी थी। वहाँ हाथ-पैर पटक कर चिल्ला रही थी : "मैं भी नहीं चाहती··· तुम्हारी अनिच्छा का बच्चा मुझे भी नहीं चाहिए··· छिः ! मुझे तुमसे घिन आ गयी है··· राक्षस··· तुम्हारे किसी ने कान भर दिये हैं···।"

उसके चीखने-चिल्लाने के वीच श्रीधर को ख्याल आया कि उसकी दृष्टि धूमिल हो गयी है, आँखों में जलन हो रही है, दम घुट रहा है और गला अन्दर से दवोचने जैसा लग रहा है। शशी भी ज़ोर-ज़ोर से हाँफ रही थी।

चारों तरफ धुआँ फैला हुआ था। फिर उसने देखा कि जलती सिगरेट कालीन पर पड़ी है और उसी से कालीन जल रहा है। श्रीधर ने दौड़कर दो-चार बालटियाँ पानी कालीन पर डाला, खिड़की और दरवाज़ा खोलकर पंखा चला दिया।

कमरा पानी से भर गया था। अधजला कालीन पानी से गीला हो गया था। ताश भी भीगे पड़े थे। उसी कालीन पर शशी बुरी तरह हाँफ रही थी और उल्टियाँ कर रही थी। उसके कपड़े पानी से भीग गये थे। जलते कालीन के निशान उसके चेहरे पर साफ़ नज़र आ रहे थे।

श्रीधर उसे उठाकर वाहर लाया। शशी ने उसे कसकर पकड़ रखा था। उसकी आँखें तनी हुई थीं और वह भयभीत होकर श्रीधर का हाथ कसकर पकड़कर कह

रही थी—

"श्रीधर··· श्रीधर··· सॉरी मैंने क्या कहा··· श्रीधर··· माफ़ करना।"

"तुम चुप रहो, शशी··· थोड़ी देर शान्त रहो।" उसके मुँह से निकलती झाग पोंछकर श्रीधर ने नरमाई से कहा।

"डरो मत, कुछ भी नहीं हुआ है। तुम्हें धुएँ से थोड़ी तकलीफ हो रही है···बस।"

श्रीधर खूब सारी चीनी डालकर नींबू पानी लाया। शशी को पिलाया। वह भी उसके पेट में नहीं ठहरा। उलटी हो गयी। उसकी हिचकियाँ रुक गयी थीं। लेकिन वेदना से उसने आँखें भींच लीं और पेट पर हाथ रखकर सफ़ेद थरथराते होठों से वह मुनमुनायी, "श्रीधर··· श्रीधर··· डॉक्टर।"

श्रीधर की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। घर में और कोई नहीं था। श्रीधर ने गाड़ी निकाली, शशी को पिछली सीट पर लिटाकर नज़दीक के अस्पताल ले गया। लेकिन तब तक देर हो चुकी थी। शशी के कपड़े खून से भर गये थे। वार्डब्वाइज ने उसे स्ट्रेचर पर डालकर बाहर निकाला तब वह दर्द से छटपटा रही थी। उसे फ़ौरन शल्यक्रियागृह ले जाया गया। पन्द्रह मिनट बाद जब उसे बाहर लाया गया तब वह गहरी नींद सोयी हुई थी। एक स्त्री डॉक्टर बाहर आयी।

"क्या आप ही श्रीधर हैं ?" उसने श्रीधर की तरफ देखकर पूछा।

"हाँ।"

"वह आप ही का नाम ले रही थी।" उसने कहा, "अब चिन्ता की कोई बात नहीं है। गर्भ ठीक से विकसित भी नहीं हुआ था। शायद वह मानसिक तनाव से ग्रस्त थी। अगले समय ज़्यादा सावधानी बरतना, उसे अभी काम्पोज दिया है। शाम तक यहीं पर आराम करने दीजिए और फिर घर ले जाइए। मैं कुछ दवाइयाँ लिखकर दे रही हूँ, थोड़ा खून भी गया है। लौह तत्त्व की ज़रूरत होगी।"

कुछ दवाइयाँ देकर वह चली गयी। शान्त सोयी शशी का हाथ अपने हाथों में लेकर श्रीधर बैठा रहा। थोड़ी देर बाद एक नर्स आकर उसे एक इंजेक्शन लगाकर चली गयी। जाते हुए वह बोली, "आप अगर कहीं बाहर हो आना चाहते हैं, तो हो आइए । अब कम-से-कम दो घण्टे तक तो यह उठेंगी नहीं।"

बाहर आकर काँपते हाथों से श्रीधर ने सिगरेट जलायी। उसका मन सुन्न हो चुका था। एक बीज अंकुरित होने से पहले ही मसला गया था। वह शशी के और उसके खून का अंश था। श्रीधर को इस घटना का अर्थ ठीक से समझ में नहीं आ रहा था। पुनर्निर्मिति तो जग का क्रम है जिसमें हमारा भी सहभाग है। फिर यह ऐसा क्यों हुआ ? शायद यह होना ही नहीं था। मेरा बीज शायद शशी के पेट से जन्म लेनेवाला नहीं था।

श्रीधर बाहर निकलकर सुलभा के घर गया। चाचा कहीं गये हुए थे। सुलभा दफ्तर में और सुषमा कॉलेज में। चाची अकेली घर में थी। घर पुराना था। अँधेरा था, चाची ज़मीन पर दरी बिछाकर सोयी हुई थी। श्रीधर की आहट सुनकर वह जाग गयी।

"अरे श्रीधर !" वह उठ बैठी और पूछने लगी, "आओ, आज अचानक कैसे ? तुमने तो हमारे घर का जैसे बहिष्कार कर दिया था। और यह क्या ? तबीयत तो ठीक है तुम्हारी···?"

श्रीधर की दाढ़ी बढ़ गयी थी। बिखरे गाल। बाल अन्दर, धँसी हुई आँखें, कपड़ों की भी बुरी हालत थी।

"क्या हुआ है तुम्हें ?" उसे घूरती हुई सचिन्त स्वर में चाची पूछ रही थी, "सुलभा ने भी मुझे कुछ बताया नहीं !"

"कुछ नहीं।" श्रीधर ने शान्त स्वर में कहा, "सुलभा कहाँ है ?"

"वह दफ्तर गयी है। वह इस समय घर कैसे होगी ? लेकिन तुम बैठो ना !"

"नहीं, मैं जाता हूँ···।"

"अरे बैठो तो सही, कभी-कभार तो आते हो।" चाची के स्वर में आग्रह था जिसे वह टाल नहीं पाया। "बैठो !" कमरे में एक मात्र पलंग था। उस पर बिछी चादर जल्दी से ठीक-ठाक करती चाची बोली। पलंग पर तीन-चार पुराने गद्दे थे और नीचे सामान। कमरे के एक तरफ छोटा-सा बाथरूम और फिर रसोईघर, गैस, बर्तन। बैठो, मैं तुम्हारे लिए चाय बनाती हूँ। थके हुए लगते हो, चाहो तो थोड़ी देर लेट जाओ। यह भी तुम्हारा ही घर है। तुम मानो न मानो, हम तो रिश्ते को मानते हैं।" चाची का स्वर कुछ-कुछ भावाकुल होने लगा था। जल्दी-जल्दी उसने चाय का पानी गैस पर चढ़ा दिया।

श्रीधर को बहुत थकान महसूस हो रही थी। चाची का अपनापन, मार्दव उसे सुखकर लग रहा था। वह पलंग पर लेट गया। उसे शान्ति का अनुभव हुआ, यह कुछ नया-सा था। घर जाकर बँगले के फोम के गद्दे पर भी शायद इतना आश्वस्त नहीं लगता। ऐसा क्यों था ? यह खून का रिश्ता था या अनपेपन का प्रभाव ? उसने आँखें मूँद लीं।

"सोओगे थोड़ी देर ? ज़रा लेट जाओ, अच्छा लगेगा। चाय बाद में बनाऊँगी।" उसकी बोझिल आँखें देखकर चाची ने कहा।

"नहीं, चाय लेकर जल्दी जाना है।"

चाची गरम चाय का कप ले आयी, तो वह पलंग पर उठ बैठा। चाची भी अपना कप लेकर दरी पर बैठ गयी। फिर चाय की चुस्की लेती हुई बोली, "ठीक बनी है न ? चीनी कम ही डाली है।"

"अच्छी है।" श्रीधर को भी चाय पीकर अच्छा लग रहा था। उसका सिगरेट पीने को मन हुआ लेकिन चाची की तरफ देखकर उसने अपने आप को रोक लिया।

चाची ने पूछा, "सुलभा मिलती है न, बीच-बीच में ? वह तो कभी कुछ बताती नहीं ? शशी जी कैसी हैं ? ठीक तो हैं न ? यह तो कुछ वताती नहीं, और मुझसे रहा नहीं जाता। उसने तो मुझे तुम्हारे घर जाने के लिए भी मना किया है। उसके मन में क्या होता है, भगवान जाने। वहुत मनस्वी लड़की है, इतनी बड़ी हो गयी है। लेकिन ब्याह का नाम निकालने नहीं देती। तुम थोड़ा ध्यान रखना। तुम तो उसके वड़े भाई हो। देखना कोई लड़का, उसकी तुमसे और शशी जी से खूव पटती है, ऐसा सुना है। शशी जी ने हमारे लिए कितना कुछ किया इसलिए अब अच्छे दिन आये हैं···।"

"सुषमा की पढ़ाई कैसे चल रही है ?" श्रीधर ने विषय बदलना चाहा।

"अच्छी चल रही है। वह तेज तो है ही, खुद छात्रवृत्तियाँ पाती है··· मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं, चिन्ता सुलभा की है।"

श्रीधर के हाथ से खाली कप लेती हुई चाची दवी आवाज़ में बोली, "एक वात पूछूँ ? अगर बुरा न मानो तो···।"

श्रीधर को चुपचाप देखकर उन्होंने कहा, "रहा नहीं जाता इसलिए अपना मान कर पूछ रही हूँ।" कुछ देर वाद श्रीधर से नज़र चुराकर उन्होंने पूछा, "तुम दोनों व्याह कब करोगे ? ऐसा ही कब तक चलाने का इरादा है ? यह तो ठीक नहीं है न ?"

श्रीधर नज़रें झुकाये वैठा रहा। उससे कोई उत्तर न पाने पर चाची ने आँखें पोंछी, वह कहने लगी, "रहा नहीं गया इसलिए पूछा। बड़ी होने के नाते मेरा कर्तव्य ही था पूछने का। यह कर्तव्य तो वैसे तुम्हारे चाचा का है। तुम्हें न माँ है, न बाप। हम भी न पूछें तो··· और वैसे ही साथ-साथ रहना ठीक नहीं है, श्रीधर, जल्दी से व्याह कर लो। जैसे चाहो, वैसे करो। चाहो तो कोर्ट में जाकर कर लो। परम्परागत चाहते हो तो हम करवा देंगे। लेकिन व्याह कर लो, घर बसाओ, फूलो-फलो।"

फिर कुछ दृढ़ता से वह वोली, "हमारे परिवार में ले-देकर तुम दो ही पुरुष—तुम्हारे चाचा और तुम। अव तो खैर तुम ही वंश आगे चलाओगे। क्रियाकर्म करनेवाला तो कोई चाहिए। वह पहले कहते थे, 'श्रीधर है ···' लेकिन जब तुम्हें ढूँढ़ निकाला तो···" चाची ने फिर आँसू पोंछे। "एक वात है श्रीधर, तुम्हारे घराने को यह शाप ही है। दो पुरुषों में कभी नहीं बनती। न जाने क्यों ? लेकिन जो भी हो, तुम समझदारी से काम लेना··· समय आने पर इनका क्रिया-कर्म अवश्य करना! नहीं तो यह वेचैन रहेंगे। तुम्हारे चाचा आत्मा, क्रियाकर्म आदि में वहुत विश्वास रखते हैं, तुम्हारे पिता और उनमें अनवन थी लेकिन समय आने पर इन्होंने

सव कुछ किया। तुम्हारी माँ की मौत की ख़वर दो महीने वाद मिली थी। तव भी किया था। तुम बुरा न मानना। यह तो कभी न बोलेंगे, इसलिए मुझे बोलना पड़ रहा है। इनके लक्षण मुझे ठीक नहीं दिखाई देते ··· उनका सव विधिपूर्वक करना···।"

चाची के शब्दों में आग्रह था, अगतिकता थी। श्रीधर से कोई उत्तर न पाने पर उन्होंने कहा, "हमारा कोई बेटा होता तो तुम्हें कष्ट नहीं देती। लेकिन दुर्भाग्य से···।"

श्रीधर को उन पर तरस आ गया और ख़ुद से क्षोभ भी हुआ। उसके पिता के श्राद्ध के समय जव चाचा आये थे तो धनंजय ने जो कहा था, वह याद आया और मृदुता से उसने कहा, "ऐसा क्यों कहती हैं चाची, मैं तो आपके वेटे जैसा ही हूँ···।"

फिर चाची रो पड़ी अपनत्व से, खुलेपन से। कुछ देर बाद श्रीधर जाने के लिए निकला तो उन्होंने ममत्व से कहा, "आते-जाते रहना अपना मानकर, ब्याह कर लेना, बच्चे होने देना··· लड़का होगा तो वंश चलेगा··· मेरे कहने का बुरा न मानना···।"

नीचे आकर श्रीधर ने गाड़ी वाहर निकाली। बड़ी मुश्किल से उसने सुलभा के दफ्तर का पता याद किया और उस दिशा में गाड़ी घुमायी। अन्दर से वह प्रक्षुब्ध था, उसे अपने आप पर ग़ुस्सा भी आ रहा था और तरस भी। आज तक के अपने जीवन में उससे क्या किसी को निरामय आनन्द मिला, यह वह सोचने लगा। कुछ भी याद न आने पर वह निराश हुआ। सबसे अजीब वात तो यह थी कि चाची की डाँट से न तो उसे ग़ुस्सा आया था और न ही वह अस्वस्थ हुआ था। उसे तो अच्छा लगा था। चाची की झिड़की में अपनापन था, प्रेम था और मीठा-मीठा स्वार्थ भी था। उसी के साथ-साथ धार्मिक कर्मकाण्ड पर निष्ठा भी थी। उसे अब यह एक नयी जिम्मेवारी लगने लगी थी और इस नाते को नकारने का उसका मन नहीं हो रहा था। इस रिश्ते में भी मिठास हो सकती है। चाची के घर पलंग पर लेटे हुए अच्छा लग रहा था। कितना शान्त और स्वस्थचित्त ! न जाने कैसा अपनेपन का दिलासा था ! शशी वहाँ अस्पताल में पड़ी थी फिर भी इस नाते के अपनेपन में जो जादू था उसका उसने अनुभव किया था। स्वार्थ होते हुए भी उसमें पूरा आश्वासन था, सुरक्षा की दिलासा थी।

श्रीधर सुलभा को उसके दफ्दर से वाहर लाया। श्रीधर का हुलिया देखकर वह भी परेशान हो गयी।

"क्या हुआ ?" उसने पूछा।

"क्या अभी मेरे साथ चल सकती हो ?"

"कहाँ ?"

"अस्पताल में, शशी से मिलने।"

"शशी ? अस्पताल ?"

"हाँ।"

अव सुलभा समझ चुकी थी । वह चुपचाप आकर श्रीधर के साथ गाड़ी में बैठ गयी। दोनों खामोश थे। सिर्फ़ एक बार श्रीधर ने पूछा, "तुमने अपनी माँ को हमारे यहाँ आने से मना क्यों किया है ?"

सुलभा कुछ देर तक चुप रही, फिर वोली, "तुम एक बार उनसे मिले थे—अव और मिलोगे तो सारा पता चल जाएगा। और फिर उसे भी धक्का लगेगा तुम्हारे घर का वातावरण देखकर।"

"मैं अभी उनसे मिलकर ही आ रहा हूँ।"

सुलभा ने एक बार श्रीधर की तरफ़ देखा। एक लम्बी साँस लेकर वह मौन वैठी रही।

दोनों अस्पताल पहुँचे तो शशी जा चुकी थी। सुलभा का हाथ अपने हाथ में लेकर वह निश्शब्द रोती रही। शाम हो चुकी थी, अस्पताल में मिलने वालों की भीड़ बढ़ने लगी थी।

चवालीस

उस भयानक हादसे के बाद शशी और श्रीधर का जीवन बड़ी तेजी से फिसलने लगा। अब तो उन दोनों को जीवन निरर्थक लगने लगा था, वह सिर्फ़ एक-दूसरे के सन्दर्भ में जी रहे थे। सुलभा उनकी वाहर के जग के साथ एक मात्र कड़ी थी, शशी के दादा जी के बँगले से अब वहाँ कोई नहीं आता था।

शशी को स्वस्थ होने में हफ्ताभर लग गया। तब तक घर में स्वस्थता और सयानेपन का वातावरण वना रहा। सुलभा रोज़ सुबह आकर सब आवश्यक काम कर जाती, श्रीधर हर रोज़ सुबह-शाम बाहर से खाना लाकर शशी को खिलाता था। उसकी दवाइयों का ध्यान रखता था। सुलभा ने घर साफ़ कर रखा था, अधजला कालीन फेंक दिया था। जब भी सम्भव होता, वह शशी के लिए खूब सारे फूल लाती, उन्हें फूलदानों में सजाकर रखती और वातावरण प्रसन्न रखती। श्रीधर का भी मद्य और धूम्रपान काफ़ी कम हो गया था।

शशी पूर्णरूप से ठीक-ठाक हो गयी, घर में घूमने-फिरने लगी। उस दिन सुलभा के जाने के बाद वह चलकर बाहर के कमरे में आयी। श्रीधर सिगरेट पी रहा था। उसका वाचन कब का छूट गया था। कुछ देर बाद वह श्रीधर की तरफ देखकर हल्के से मुस्कुरायी, श्रीधर भी मुस्कुराया।

"अब ठीक तो हो न शशी ?" उसने धीरे से कहा।

"हाँ।" शशी ने कहा। दोनों कुछ देर तक वैसे ही बैठे रहे। शशी ने उबासी ली, लेकिन आज उसे नींद ही नहीं आ रही थी।

"आज क्या तारीख है ?" शशी ने पूछा।

श्रीधर के तारीख बताने पर उसने कहा, "बस ! इतने ही दिन ? मुझे तो लगा था कि एक युग समाप्त होकर अब दूसरा युग शुरू भी हो चुका होगा।"

"लेकिन यह कलियुग है, शशी।" श्रीधर ने उसी के मूड में उत्तर दिया, "इस युग के खत्म होने के बाद सर्वसंहार होगा और उसके बाद ही सत्युग आएगा…।"

"बाबा रे, अभी तो कितनी लम्बी ज़िन्दगी पड़ी है आगे।" वह अपने युवा हाथों को देखकर बोली। फिर छोटी-सी बच्ची जैसी रोनी आवाज़ में उसने कहा, "श्रीधर, मैं बोर हो चुकी हूँ।"

"मैं हूँ न तुम्हारे साथ !"

वह कुछ देर तक सोफ़े पर गरदन लटकाकर बैठी रही। फिर न जाने क्या सोचकर उसने कहा, "चलो, ताश खेलें ?"

उन्होंने एक तरफ़ ताश की बाज़ी लगा दी। दोनों खेल में मगन हो गये। श्रीधर को कुछ देर बाद ख्याल आया कि शशी भी सिगरेट पी रही है। और कुछ देर बाद शशी अन्दर से मद्यपान के गिलास ले आयी। उनकी बाज़ी पूरे रंग पर आ गयी।

दूसरे दिन जब सुलभा वहाँ आयी तो घर में सिगरेट और बासी मद्य की दुर्गन्ध भरी हुई थी, रक्षापात्र ठसाठस भरा हुआ था। दारू की बोतल लुढ़क रही थी और वहाँ अधभरे गिलास भी थे। खाने की मेज़ पर आधा-अधूरा खाना पड़ा था। और वह दोनों अभी गहरी नींद में सो रहे थे।

सुलभा का दिमाग़ खराब हो गया। तैश में आकर उसने घर साफ़ किया, उसे बहुत असह्य लग रहा था। वह उन दोनों को कैसे बताये कि वह दोनों बिलावजह अपने नाश को आमन्त्रित कर रहे हैं ? उसे उन दोनों के व्यवहार का अर्थ ही समझ में नहीं आ रहा था। एक बात वह जान चुकी थी कि उन्हें एक-दूसरे से बेहद प्रेम है, और उसकी दृष्टि में उन दोनों को उस प्रेम के आधार पर खुशी से जीना चाहिए। विवाह कर लेना चाहिए। फिर भी वह दोनों इस तरह अपने आपको क्यों बरबाद कर रहे हैं ? एक और बात वह समझ गयी थी, उन दोनों को एक-दूसरे से बहुत प्रेम होते हुए भी उनके प्रेम के अर्थ और अपेक्षाएँ विभिन्न थीं। लेकिन सुलभा की

नज़र में वह कोई बड़ी बात नहीं थी। उसी सन्दर्भ में उसे उन दोनों का पागलपन असहनीय लगने लगा था। इस मामले में सुलभा की अपनी अपेक्षाएँ वहुत ही सीमित थीं। जिसका पुणे में अपना मकान हो ऐसा कोई वैंक का क्लर्क या प्राध्यापक उसे पति के रूप में चाहिए था। विवाह से पहले किसी से प्रेम हो जाता है तो ठीक है—न हो तो विवाह के बाद भी पति से प्रेम हो जाएगा। उसे सीधी-सादी सरल ज़िन्दगी चाहिए थी, प्रेम होना तो और भी अच्छा, जिसका अनुभव लेने के लिए वह उत्सुक थी। प्रेम न भी हो तो कोई फर्फ़ नहीं पड़ता। वह दुःखी न होती, लेकिन श्रीधर और शशी की हर बात उसकी समझ के वाहर थी। क्या वह दोनों पागल हो गये थे ?

उसी मूड में उसने बड़े-बड़े अक्षरों में एक चिट्ठी लिखकर खाने की मेज़ पर रख छोड़ी—

'प्रिय श्रीधर और शशी,

यह मेरी सहनशक्ति का अन्त है, कल सुबह भी अगर इस घर में आज जैसा ही दृश्य देखने के लिए मिला तो मैं यहाँ दुबारा क़दम नहीं रखूँगी। फिर आप लोग मुझे कृतघ्न ही क्यों न समझें।

— सुलभा

वह चिट्ठी श्रीधर को दिखाकर शशी ने कहा।

"बेचारी सुलभा, वह बहुत अच्छी है। उसका हमारे यहाँ न आना ही ठीक रहेगा। हमारा साथ उसे भी बिगाड़ देगा।"

"चिन्ता न करो।" चिट्ठी फाड़ता श्रीधर हँसकर वोला, "वह आती रहेगी। चाहे जो भी हो, आती ही रहेगी, रोएगी, चिल्लाएगी, हम दोनों को भला-बुरा कहेगी लेकिन आती रहेगी।"

"फिर भी···उसने जो आखिर में लिखा है, वह उसे नहीं लिखना चाहिए था।"

श्रीधर का अनुमान सही निकला, सुलभा आती रही। दूसरे दिन अपनी चाभी घुमाकर जब वह अन्दर आयी तो वही परिचित दुर्गन्ध आयी। वह लौटने के लिए वापस मुड़ी, धड़ाम से दरवाजा बन्द किया और ग़ुस्से से दनदनाती वहाँ से चल पड़ी लेकिन पाँच-दस क़दम आगे बढ़ते ही रुक गयी। उसे लगा, मेरे बिना इनका कौन है ? कोई नहीं, कोई इनके लिए कुछ भी नहीं करेगा, वह दोनों विनाश की खाई की तरफ तेजी से वढ़ रहे हैं, इन्हें अगर कोई रोक सकता है तो वह मैं हूँ। कैसे रोकना है यह मैं भी नहीं जानती, लेकिन मेरा वहाँ आसपास कहीं होना आवश्यक है। अगर मैं इन्हें छोड़ दूँ तो यह निर्जन अरण्य में खोये दो बच्चों की तरह हो जाएँगे। इन्हें इस तरह छोड़ देना उचित नहीं होगा। उसका मन भर आया, कुछ

निश्चय कर वह दफ्तर गयी और उस दिन की छुट्टी लेकर वापस आ गयी।

दरवाज़ा खोलकर जब वह वापस आयी तो शशी नहाकर बाथरूम से निकल रही थी।

"आ··· आज इस वक़्त कैसे ?" शशी ने सहजता से पूछा, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

सुलभा ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने घर की साफ़-सफ़ाई शुरू की, शशी चाय बनाकर लायी तब सुलभा हॉल में झाड़ू लगा रही थी।

शशी ने चाय मेज़ पर रखते हुए कहा, "तुम चाय लो, झाड़ू मैं लगाती हूँ।"

सुलभा ने पहले उसका विरोध किया। लेकिन शशी ने उससे झाड़ू छीन लिया। दनदनाती सुलभा मेज़ के पास गयी और वहाँ से चाय उठाकर बेसिन में फेंक आयी और वह मेज़ साफ़ करने लगी।

शशी ने शान्त स्वर में कहा, "सुलभा, तुम्हें मैंने नौकरानी के काम के लिए नहीं रखा है।"

"नहीं न ? अच्छा हुआ कि यह तुम स्वयं ही कह रही हो··· तो फिर यह सब कौन करेगा···?"

"हम दोनों कर लेंगे।"

"तुम्हें फुर्सत मिले तब ना···"

फिर वही हमेशा का नाटक। कुछ कहने के पहले ही सुलभा का रोना छूट गया। शशी ने फिर उसे समझाया। सुलभा के आग्रह पर तीनों बाहर खाने के लिए गये। जाते वक़्त उसी के सुझाव पर श्रीधर ने दाढ़ी बनायी। दोनों ने अच्छे कपड़े पहने, खाने के बाद सुलभा दोनों को किसी दोपहर की फ़िल्म को ले गयी। फ़िल्म के दौरान शशी और श्रीधर दोनों गहरी नींद में सो रहे थे। फ़िल्म खत्म होने पर सुलभा को उन्हें जगाना पड़ा।

दूसरे दिन सुबह जब सुलभा आयी तो वही दृश्य । बात करना ही सम्भव नहीं था। दोनों को एक-दूसरे से पलभर के लिए भी अलग करना मुश्किल हो गया था। सुलभा ने बहुत कोशिश की। एक बार यशोधरा को भी बुला लिया। यशोधरा ने उन दोनों को बहुत समझाने की कोशिश की। भाषण दे डाला, रोना-धोना भी हुआ। शशी आठ दिन के लिए यशोधरा के साथ बम्बई जाने के लिए राज़ी हो गयी। स्टेशन पहुँचने पर यशोधरा जब टिकट लेने गयी तो अपना बैग वहीं पर छोड़कर शशी गायब हो गयी।

विश्वम्भर के साथ भी यही हुआ। विश्वम्भर या धनंजय वहाँ आकर उनके साथ रुक जाता तो दोनों शान्त बैठे रहते, कुछ इधर-उधर की बातें करते। प्रबन्ध के बारे में पूछने पर श्रीधर कुछ उल्टा-सीधा उत्तर भी देता। रात में दोनों मद्यपान

करते, मेहमान के वापस लौटने पर हमेशा की तरह फिर वही कार्यक्रम।

वीच-बीच में आकर उनका ख्याल रखने से अधिक कुछ कर पाना सुलभा के लिए सम्भव नहीं था। अब श्रीधर और शशी हर रोज़ शाम को बाहर निकलते। होटलों में जाकर मद्यपान करते। कभी मन किया तो खा लेते। जैसे-तैसे वापस लौटते या नशे में धुत्त अलग-अलग जगहों पर पड़े मिलते। श्रीधर के बैंक से मिलने वाले पैसे खत्म हो चुके थे। वह बिलावजह शशी के पैसे चुराने लगा। सुलभा के आने पर उसके पर्स से भी पैसे चुराने लगा। थोड़ी-बहुत गर्मागर्मी होने पर शशी को पीटने लगा।

उन दोनों के चेहरे अव विदीर्ण और उदास लगने लगे थे। विविध आन्दोलनों के सहकर्मियों, दोस्तों, सहेलियों ने उनसे मिलना बन्द कर दिया था। लोग उनके लिए बुरा-भला कह रहे थे, उन्हें इन दोनों के लिए बुरा भी लगता था। लेकिन जग से तो श्रीधर और शशी को वास्ता ही नहीं था। वह दोनों सिगरेट, शराब पीना और ताश ही उनकी दुनिया थी। कभी-कभी ज़ोरदार लड़ाई होती। दोनो एक-दूसरे को मारते-पीटते, लड़ाई की कोई वजह भी नहीं होती। सुवह उठते ही मद्यपान का दौर शुरू हो जाता। सुलभा के कुछ कहने पर दोनों सिर्फ़ अपारदर्शी नज़रों से उसे घूरते रहते···शशी का घर युद्ध-भूमि का स्वरूप पा गया था। सर्वत्र गन्दगी, दुर्दशा और बिखराव। सुलभा सफाई कर-करके के थक जाती। सारा सामान अस्तव्यस्त फैला पड़ा था। एक-दूसरे को फेंककर मारे बर्तन और चीज़ें। 'घर में दुर्गन्ध ने तीन-चार महीनों में उनके घर को नरक बना दिया था, जिसकी सुलभा एक मात्र साक्षी थी। विश्वम्भर, यशोधरा और धनंजय अपने-अपने कामों में इतने व्यस्त थे कि दूर रहकर कुछ करने की सोच भी नहीं सकते थे।

जिस दिन यह अध:पतन अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, उस रोज़ वह दोनों पहले ही बहुत पीकर घर से चले थे। बाहर भी होटल में उन्होंने और पी। फिर वह बाहर घूमने निकले, जैसे चाँदनी रात में निकल पड़े हों। बादल गरज रहे थे, बिजली कौंध रही थी। बहुत दूर निकल जाने पर उनकी लड़ाई ने उग्ररूप धारण किया। उन दोनों की संवेदन-क्षमता निष्क्रिय अवश्य हो चुकी थी लेकिन परस्पर सम्बन्धों को लेकर वह अतिसंवेदनशील हो चुके थे। इसीलिए छोटी-छोटी बातों से लेकर लड़ाई छिड़ जाती।

वह निर्जन रास्ते से गुज़र रहे थे। रात हो चुकी थी। कड़कते हुए बादलों के साथ वर्षा होने लगी।

"शशी, यह चाँदनी रात नहीं है"—श्रीधर ने कहा।

"क्यों ? कोई प्रमाण ?"

"रहने दो, प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं···"

"क्यों नहीं है ?"
बात बीच में ही समाप्त हुई और दूसरा विषय शुरू हुआ।
"हम कहाँ जा रहे हैं श्रीधर ? मेरी समझ में तो कुछ नहीं आ रहा है।"
"मुझे भी पता नहीं शशी, यह रास्ता..."
"श्रीधर, ऐसा क्यों हो रहा है ? क्या इन्सान को पता नहीं होना चाहिए कि वह कहाँ जा रहा है ? क्या दिशाहीन भटकना ठीक है ?"
"लेकिन हम दोनों एक ही रास्ते पर साथ-साथ चल रहे हैं।"
"अपनी बात का प्रमाण दो।"
"और प्रमाण क्या दूँ ? इस सड़क पर तुम हो और मैं भी हूँ..."
"लेकिन तुम इस दिशा में नहीं जाना चाहते। तुम पीछे लौट जाना चाहते हो। तुम्हें मेरा साथ अच्छा नहीं लगता।"
"यह तुम कैसे कहती हो शशी ? हम दोनों साथ-साथ ही तो हैं।"
"लेकिन तुम ऐसा नहीं चाहते।"
"मेरी बात तो..."
"साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते ? ढोंग क्यों करते हो ? नीच, चालाक...झूठे..."
"मैं यह सब नहीं हूँ। तुम भी इस सड़क पर चलना नहीं चाहती। लेकिन सिर्फ़ ज़िद पर उतर कर आगे बढ़ रही हो। तुम ही झूठी हो..."
"शर्म नहीं आती, मुझे झूठी कहते हुए ?"
जैसे वर्षा का ज़ोर बढ़ गया, इन दोनों की लड़ाई भी बढ़ गयी। बारिश में वह दोनों एक-दूजे पर टूट पड़े। बिजली की गड़गड़ाहट के साथ अब हवा तेज़ चलने लगी थी। लेकिन इससे वह दोनों अनजान थे। बारिश में गिरते-फिसलते एक-दूसरे को मारते-पीटते वह बड़बड़ाते रहे। उस अवस्था में वह घर क्यों और कैसे पहुँचे, इसका भी उन्हें ख्याल नहीं था। बारिश से नशा कुछ उतर गया था, इसलिए उन्होंने घर लौटकर बिना गीले कपड़े बदले एक और बोतल निकाली। लड़ाई ज़ारी ही थी, दोनों ने एक-दूसरे के बाल खींचे, मारपीट की, सामान भी फेंक मारा। प्याले भी फेंक मारे और उसी के बीच कब सो गये, यह पता ही नहीं चला।
दूसरे दिन सुबह बहुत देर से श्रीधर की आँखें खुलीं, उसे लगा कि गटर की दुर्गन्ध से नहाकर वह बाहर निकला है। उसके बदन पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। रात में शायद उसने ज़ोर की उल्टी भी की थी। उस गन्दगी में ही वह औंधा पड़ा था। उल्टी की भयानक दुर्गन्ध, दारू और सिगरेट की उग्र बासी दर्प में मिल चुकी थी। सिर में बहुत दर्द था, जैसे हथौड़े पड़ रहे हों। सर्वांग में दर्द था। जैसे पहली बार उसकी घ्राणेन्द्रिय को दुर्गन्ध की संवेदना हो रही थी, शरीर की नसों में जैसे वेदना बह रही थी।

पड़े-पड़े श्रीधर ने चारों ओर नज़र दौड़ायी। उसके सिर के पास सोडे की बोतल फूटी पड़ी थी। गीले कपड़े उसके शरीर से चिपके हुए थे। पैर कीचड़ में सने हुए थे। कपड़ों पर भी जगह-जगह कीचड़ लगा हुआ था। कमरे में चारों तरफ कीचड़ था। कमरे का सारा सामान बिखरा पड़ा था। सिगरेटें और राख जगह-जगह पड़ी हुई थीं। उसकी कोहनी और घुटने में शायद कहीं मार लगी थी। सिर में खून के धब्बे थे, और खून से चिपककर सख्त हुए बाल और सिर में दर्द ।

क्षणभर के लिए वह कौन है, क्या है और इस नरक में क्यों आ पड़ा है—यही श्रीधर की समझ में आ नहीं रहा था।

पड़े-पड़े उसने गरदन घुमाकर देखा कि उससे कुछ अन्तर पर शशी भी अस्त-व्यस्त पड़ी थी। उसके कपड़े भी गीले थे, कीचड़ से सने। आधा चेहरा भी कीचड़ से भरा हुआ था। निचला होठ सूज गया था। गाल पर खून के धब्बे थे, सिर पर भी खरोंच के निशान थे। खुले बाल बिखरे पड़े थे, कमीज़ फटी थी और शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं।

यह शशी ? श्रीधर चौंक गया। शशी के लिए प्रेम और करुणा से उसका मन भर आया। विषैली आत्मग्लानि से उसे अपने आपसे घृणा हो गयी। यह उसने क्या बना दिया था शशी को ? उसे शशी का मूल रूप याद आया और साथ में पड़ी अस्त-व्यस्त शशी को देखकर उसे आश्चर्य होने लगा, वह खुद की निर्भत्सना करने लगा।

श्रीधर को ख्याल आया कि शशी भी फटी-फटी आँखों से उसे घूर रही है। दोनों काफ़ी देर तक एक-दूसरे की तरफ वैसे ही देखते रहे। शशी की आँखों से आँसू बह निकले थे।

श्रीधर को लगा, इस गन्द में सड़ता यह कौन है ? यह तो मनुष्य कहने के भी लायक नहीं है। यह नर पशु से भी गया-गुजरा है। मेरा यह कितना अधःपतन ! आत्मशोध के लिए, जीने के, जीवन के अर्थ को ढूँढ़ने के लिए निकला, विश्व के प्रयोजन का रहस्य जानने के लिए अपने आपको भुलाकर दर-दर भटकनेवाला आदमी क्या अधःपतन की इस सीमा तक आ पहुँच सकता है ? कितना अर्थहीन है मानव-जीवन ! अगर मैं इससे बाहर निकल नहीं पाता हूँ तो मेरा जीवन, विचार-तत्त्व, ज्ञान-साधना सभी व्यर्थ होंगे। शशी पर जो मैंने अन्याय किया है वह परिमार्जन से परे है, लेकिन कुछ परिमार्जन तो करना होगा। नहीं तो यह प्रवाह सीधे विनाश की तरफ ले जाएगा। श्रीधर को लगा कि वह प्रदीर्घ, अस्वस्थ निद्रा से हड़बड़ाकर उठा है।

उसी समय उसने यह भी देखा कि शशी की आँखों की गहराई में एक नयी समझ की चिनगारी है और उसे देखते ही श्रीधर रोमांचित हो उठा। एक्स-किरणों

जैसी समझ, जिसके प्रकाश में मानो शशी को श्रीधर के मन का एक-एक अंश साफ़ नज़र आ रहा था। ऐसी समझ कि उन दोनों में किसी तरह का कोई संघर्ष अब खड़ा होना अशक्य था। उस क्षण श्रीधर को हल्का-हल्का लगा।

"यह क्या कर दिया है मैंने तुम्हारे साथ श्रीधर ?" पड़ी-पड़ी शशी कह रही थी। मुझे माफ़ कर दो ···श्रीधर, मुझे माफ़ कर दो। सचमुच मैंने तुम्हें समझने की कभी कोशिश ही नहीं की ···"

शशी की आँखों से बहते आँसू अब रुक गये थे। उसके आँसुओं ने मानो उसकी आँखें साफ़ धो डाली थीं। उन सुन्दर, तेजस्वी आँखों में अब पारदर्शी समुन्दर की गहराई और आकाश की समझ नज़र आ रही थी। उसमें बेफ़िक्री का भाव नहीं था। प्रेम का उन्माद भी नहीं था और न ही वह सम्मोहित मन्त्रमुग्धता । उसमें सन्देह के गन्दे रंग भी नहीं थे।

"माफ़ तो तुम मुझे करना शशी।" भावाकुल होकर उठ बैठता हुआ श्रीधर बोला। "तुम्हारी इस अवस्था के लिए भी मैं ही जिम्मेदार हूँ···मैं नराधम हूँ···राक्षस हूँ ···तुम मुझे माफ़ कर देना, शशी···"

क्षणार्ध में वह एक-दूसरे की बाँहों में आ गये। सीधा, अटूट स्नेह का और सम्पूर्ण परस्पर सामंजस्य का आलिंगन। उसमें न अभिलाषा थी न अपेक्षा। केवल परस्पर करुणा और क्षमा-याचना। दरअसल, क्षमायाचना भी आवश्यक नहीं थी, यह भी उन्हें उस आलिंगन ने बता दिया। उन्हें लगा कि अब वह एक-दूसरे में पूरी तरह समा गये हैं। उन्होंने एक-दूसरे को इतना क़रीब पहले कभी महसूस नहीं किया था। अब वह समझ गये कि उन्हें अब शारीरिक, भौतिक सान्निध्य की आवश्यकता नहीं है। एक-दूसरे को जानने के लिए किसी भी माध्यम की आवश्यकता नहीं है।

फिर न जाने कितनी देर तक वह कुछ भी न बोले, एक-दूसरे की बाँहों में खड़े रहे। जैसे समय रुक गया हो।

सुलभा अपनी चाबी से दरवाज़ा खोलकर अन्दर आ गयी फिर भी उनका उसकी तरफ ध्यान नहीं गया । सुलभा भी खड़ी-खड़ी रह गयी। सामने जो अविचल, मुग्ध दृश्य था, उससे वह अत्यानन्दित और अचम्भित रह गयी। उसकी आँखों में खुशी के आँसू आ गये। उस वक़्त उसे घर में फैली भयानक और उग्र दुर्गन्ध स्वर्गीय सुगन्ध लगी। उन दोनों के विद्रूप, गलिच्छ चेहरे दिव्य और सुन्दर लगे।

कुछ देर वह वहीं खड़ी रही, फिर पीछे मुड़ी। उसने हल्के से दरवाज़ा लगा दिया। खुद के आँसू पोंछे और अत्यन्त उल्लसित मन से वह बँगले से बाहर निकली।

काफ़ी देर बाद उन्होंने स्वयं से एक-दूसरे को अलग किया। अब उन्हें बोलने की कोई आवश्यकता नहीं रही थी। फिर उठकर दोनों ने एक-दूसरे के जख्मों की मरहमपट्टी की, दवाइयाँ लगाकर उन्हें साफ़ किया। अपने आपको शीशे में देखकर

दोनों चौंक गये, जैसे दो अनजान व्यक्ति शीशे में दिखाई दे रहे थे। दोनों कृश हो गये थे। गाल और आँखें अन्दर धँस गयी थीं। श्रीधर की दाढ़ी बढ़ गयी थी। दोनों के चेहरों पर कल की मारपीट के निशान थे।

दोनों ने घर में रखी दारू की बोतलों को नाली में खाली करके फेंक दीं। सोफ़े, फर्नीचर, पुस्तकें ठीक से लगाकर रखीं। दोनों ने मिलकर वर्तन साफ़ किये। कपड़े धोये, सारा घर धोकर साफ़ किया। सोफ़े पर नये आच्छादन चढ़ाये । नहाकर साफ़-सुथरे कपड़े पहने। मिलकर खाना बनाया, निःशव्दता से एक-दूसरे से वोलते हुए खाना खाया। शाम को दफ्तर से सुलभा वहाँ पहुँची तो ताजे फूलों की सुगन्ध से महकता साफ़-सुथरा नया घर देखकर दंग रह गयी। शशी शान्तिपूर्वक पर्दे बदल रही थी और श्रीधर सोफ़े में बैठकर प्रसन्न चित्त से ध्वनि मुद्रित शात्रीय संगीत सुन रहा था।

आते ही सुलभा शशी के गले से लगकर रो पड़ी। शव्द जैसे खो गये थे। और वह अच्छा भी लग रहा था क्योंकि अब यहाँ उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी, वह निरर्थक हो गये थे, यह शायद उसका अन्तर्मन भी जान गया था। शायद उसे यह डर भी लग रहा था कि शब्दों से इस पवित्र शान्ति में भंग पड़ेगा। शशी प्रेम से उसकी पीठ थपथपाती रही।

शाम हुई, वत्ती जल गयी। अब आकाश साफ़ हो गया था। शशी ने स्वयं श्रीधर का बैग भर दिया। दोनों ने फिर से एक-दूसरे को निःशव्द आलिंगन दिया और विना कुछ कहे श्रीधर शशी के घर से निकल पड़ा।

पैंतालीस

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।···

कहाँ से आ रहा है यह घनगम्भीर नाद ? संवेदना को चकाचौंध करनेवाला यह तेजस्वी प्रकाश-गोल मुझे कौन-सा दर्शन दे रहा है ? ॐकार की यह गहरी, गूढ़-गम्भीर ध्वनि···विश्व की उत्पत्ति से लेकर विलय तक की सभी घटनाओं को पूर्ण नादरूप देकर अपने आपमें समा लेनेवाला ब्रह्मरूप तेजःपुंज स्वर···दिक्काल को भेदकर आदिम अस्तित्व को साकार करनेवाला ॐकार—ओम्···ओम्···

ॐ असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।
ॐ…ॐ…ॐ…

तेज का वह हिरण्यगर्भ-गोल अव असहनीय होने लगा, इतना कि श्रीधर को अपनी आँखें प्रयत्नपूर्वक खोलनी पड़ीं। यह क्या है ? यह क्या है ? क्या यह मेरी मृत्यु है ? क्या मैं उस पूर्ण तेजस्वी आदिम तत्त्व में विलीन हो रहा हूँ…वही आदिम सत्य जो नित्य पूर्णरूप रहता है ?… जिसमें से पूर्ण निकालने पर भी वह पूर्णरूप ही रहता है…उसमें पूर्ण मिलाने पर भी पूर्णरूप ही रहता है…मैं और वह सत्य एक ही हैं। मैं ही वह सत्य हूँ। हम ही अलग-अलग रूप धारणकर अपने आपको ढूढ़ते रहते हैं।

श्रीधर को अपने शारीरिक अस्तित्व का एहसास हुआ। उसने प्रयत्नपूर्वक करवट वदली। चारों ओर सूर्य का प्रकाश फैला हुआ था। सामने की घाटी, दूर तक फैली पर्वतराजि और हिमशिखरों का विहंगम दृश्य उसके सामने था।

कुछ क्षण श्रीधर स्मृतिभंग की अवस्था में रहा। फिर उसे अपने शरीर का ध्यान आया। अपना भूतकाल याद आया, माँ-वावा, रामी, धनंजय, शशी, माई। मन-ही-मन वह खुश होकर चिल्लाया—मैं जीवित हूँ…मैं जीवित हूँ।

श्रीधर कुछ देर तक वैसे ही पड़ा रहा। अपनी जीवन्तता होने का एहसास जव उसके संवेदन में पूरी तरह समा गया तो एक आश्चर्य और आनन्द की लहर उसके तन-मन में दौड़ गयी। उसके जीवन्त होने के इस आनन्द का मधुर साक्षात्कार उसे अत्यन्त सुखकर लगा। एक लम्वी साँस लेकर वह उठ बैठा। श्रीधर को लगा, यह भी एक चमत्कार ही है कि वह ज़िन्दा है। उसे लगा, एक तरह से उसका यह पुनर्जन्म ही है। इसके लिए इस जग से उसे कृतज्ञ होना चाहिए। उसने उल्लसित होकर चारों तरफ देखा। अव उसका तन-मन नयी चेतना से भर गया था। मालिन्य, अन्धकार चला गया था। कल मृत्युरूप ग्लानि के पेट में प्रवेश करते हुए उसकी जो तरल अवस्था थी, वह उसे याद आयी। उसे लगा, कल की उस रात ने, मृत्यु के दाहक साक्षात्कार ने उसके हृदय से और शरीर से उदासीनता और सम्भ्रम का सारा ज़हर सोख लिया था। उस तरल क्षण में सारा जीवन उस ज्ञान में उसकी आँखों के सामने से निकल गया था। यह विश्व, ये तारे, आकाश-गंगा, विश्व की अथाह खाई, इस अनन्त तत्त्व का वह एक अविभाज्य घटक था। विराट अस्तित्व ही अपने आप में कितनी वड़ी वात थी…

श्रीधर को वह मानव-समूह याद आये—झोंपड़ियों में, भीड़ में, तीर्थ-क्षेत्र में देखे हुए, पूर्व-पाकिस्तान की सीमा पर वने शिविरों में देखे हुए जो हज़ार लांछन,

छल और आघात सहकर भी जीवन पर अपनी निष्ठा को कायम रखे हुए थे। मृत्यु के क्रूर हाथ से वचने की कोशिश करनेवाले, विहार के अकाल में भी उज्ज्वल भविष्य के सपने देखनेवाले उसे शशी की याद आयी। जव वह उस दिन दफ़्तर छोड़कर वाहर निकला था उस समय वारिश में स्थितप्रज्ञ अवस्था में वैठी वह वूढ़ी भिखारन याद आयी। याद आया, वह कर्तव्यदक्ष सिपाही जिसने उसे आत्मनाश की मूर्खता से वचाया था। रेलगाड़ी में मिले वह सश्रद्ध वूढ़े चाचा जी और अधेड़ उम्र में भी अपने अस्तित्व को अनन्त तक जोड़ने का धागा अपत्य के रूप में पाने की लालसा रखनेवाली माई और वह निष्पाप वकरी का मेमना जो अपना कच्चा जीवन वीच में ही खत्म करनेवाले उस कसाई का विरोध कर रहा था। सच, कितनी प्रेरक और तेजस्वी थी यह जीवनेच्छा, यह मैं कैसे भूल गया था ?

श्रीधर पास के एक पत्थर पर वैठ गया और कुछ देर तक आँखें वन्द कर वैठा रहा। उसके तन में रोमांच हो उठा, अपने अन्दर की जीवन-प्रेरणा के सामने वह नतमस्तक हो गया। यह प्रेरणा ही सारे विश्व की प्रेरणा है, यह वह मन-ही-मन जान गया था। उसने दीर्घ साँस ली और उठ खड़ा हुआ। वह जहाँ खड़ा था वहाँ से ऊपर की तरफ ले जानेवाली कुछ सीढ़ियाँ उसे दिखाई दे रही थीं। वड़े उत्साह से वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ चढ़ने लगा।

छियालीस

शशी के घर से वाहर निकलने के वाद दोनों का जीवन वदल गया था। जैसे दोनों का पुनर्जन्म हुआ हो! एक जानलेवा असह्य गुलामी से दोनों को मुक्ति मिली थी। इसका यह अर्थ नहीं था कि उन दोनों के सम्वन्ध खत्म हो चुके थे। इसके विपरीत वह दोनों आपसी समझदारी के स्तर पर एक-दूसरे के अधिक निकट आ गये थे।वह वहुत कम मिलते थे, लेकिन जव भी मिलते तो संयत प्रेम से, और अपनेपन से वात करते। उन दोनों में अव इतनी गहरी समझ आ गयी थी कि वात करना भी अनावश्यक हो गया था। उन दोनों के वदले हुए सम्वन्ध और आग से तपकर निकले हुए सोने की तरह दमकते उनके व्यक्तित्व एक आदर और कौतूहल का विषय हो चुके थे।

शशी का बँगला छोड़ने के वाद श्रीधर अपने पहले वाले मकान में चला गया।

शशी दादाजी के पास वापस चली गयी। दादाजी अब गलितगात्र वन चुके थे, लेकिन फिर भी उनकी भूली-भटकी पोती को माफ़ करने की सहज क्षमता उनमें अब भी थी। महीने भर में शशी का पुराना व्यक्तित्व वापस आ गया था। उसकी आँखों का तेज़, होंठ और गालों पर खिले गुलाव फिर लौट आये थे। उन तेजस्वी आँखों में अव अनुभव की परिपक्वता का गाढ़ा रंग मिल गया था। पहाड़ से खिलखिलाते वहनेवाले निष्पाप झरने का मैदानी भाग में आने पर धीर-गम्भीर, अनुभव-सम्पन्न सरिता में परिवर्तन होने जैसा वदलाव उसमें आ गया था।

शशी ने वेशभूषा वदल ली थी। जीन्स, सलवार-कमीज़ छोड़कर अव वह साड़ियाँ पहनने लगी थी। धीरे-धीरे वह खादी की सफ़ेद साड़ियों की तरफ झुकने लगी। वह वाल वढ़ाकर पीठ पर खुले छोड़ने लगी। अव देखनेवाले को उसे देखकर शान्त और स्वस्थचित्त का अनुभव देनेवाली सात्त्विक मधुरता उसमें आ गयी थी। उसने गणेशखिण्ड रास्ते पर अपना वँगला वन्द कर दिया था। जितना आवश्यक था उतना समय वह अपने दादाजी की सेवा में रहती और वाकी समय वह झुग्गी-झोंपड़ी के वच्चों के साथ विताने लगी। छोटे वच्चों को चित्र वनाना, गाने गाना जैसी चीज़ें सिखाने लगी। ग़रीव और अपंग वच्चों के लिए स्कूल शुरू करने की योजना वनाने लगी।

श्रीधर का भी जीवन नये सिरे से शुरू हो गया था। उसने भी अपना घर साफ़ किया। अपनी कितावें वह शशी के घर से ले आया। डॉक्टरेट के विषय में पूर्ववत् मन लगाकर पढ़ना शुरू किया। उस सम्मोहित काल के दौरान अनेक व्यवहारों में गड़वड़ी हो गयी थी। वह उसने सुलझायी । विद्यापीठ में जाकर अपने प्रवन्ध का विधिवत् रजिस्ट्रेशन करवा लिया। घण्टों तक वह विद्यापीठ के ग्रन्थालय में पढ़ने में विताने लगा। दोस्तों के मेले फिर लगने लगे। उसका भ्रमण भी शुरू हुआ। स्वास्थ्य पहले की तरह हो गया। उसे अपने स्वभाव का खोया हुआ सन्तुलन वापस मिला। मानो उसके दौरान वह जो तूफ़ानी कालखण्ड उसके जीवन में आया था, वह आया ही न हो। श्रीधर और शशी की परस्पर मुक्तता की वार्ता चारों तरफ फैल गयी, यशोधरा, धनंजय और विश्वम्भर आकर उनसे मिलकर गये। सुलभा का भी दोनों के पास आना-जाना रहता था। यशोधरा का एक मार्मिक वाक्य श्रीधर को सच्चा लगा और कड़ुवा भी। वह शशी से मिलकर श्रीधर के पास आयी थी। उसने कहा, "शशी कितनी वदल चुकी है। कितनी शान्त हो गयी है, अनुभव से प्राप्त गहराई और परिपक्वता उसमें आ गयी है।"

"सच है, विलकुल सही है।" श्रीधर ने कहा।

"अपने वारे में तुम क्या सोचते हो श्रीधर, तुम भी वदले हो ?"

श्रीधर सोच में पड़ गया और अनजाने में कह वैठा—

"मैं ? मुझे नहीं लगता, मुझमें कोई परिवर्तन आया है।"

"बिलकुल सही," यशोधरा गम्भीरता से, किंचित् उपहास से चिढ़कर बोली, "मुझे भी वैसा ही लगा। तुम जैसे थे वैसे ही हो। इतने गहरे अनुभव ने तुम पर कोई असर नहीं छोड़ा। क्योंकि अन्दर से तुम उसमें थे ही नहीं, तटस्थ थे। तुम्हारे लिए इस अनुभव का कोई महत्त्व नहीं ।"

इस बात पर श्रीधर कुछ कह नहीं सका। सिर्फ़ उसने गरदन झुका ली। उसे पता था कि यशोधरा के कहने में काफ़ी तथ्य था।

इस दौरान विश्वम्भर अपने क्षेत्र के कार्य में पूरी तरह समर्पित हो गया था। यशोधरा बम्बई की झुग्गी-झोंपड़ी के काम में उलझी हुई थी और धनंजय नवनिर्माण आन्दोलन में सक्रिय था।

श्रीधर ने स्वयं को अध्ययन और वाचन में लगा रखा था। अपने विषय के साथ-साथ वह भारतीय और पाश्चात्य तत्त्व-विचार भी मन से पढ़ रहा था। धर्मग्रन्थों का अभ्यास कर रहा था। उसने देखा कि कृष्णमूर्ति का स्फूर्ति-स्रोत उपनिषदों में है। उन्हें जो दिव्य स्फूर्ति का लाभ हुआ था, वह सम्पर्क से नहीं बल्कि अन्तर्मन के साक्षात्कार से था। इस तरह के साक्षात्कार के बिना केवल उपनिषद् या वेद पढ़कर इस विश्व के प्रयोजन का, अपने अस्तित्व के अर्थ का, आलकन नहीं होगा। हम जैसे सामान्य लोगों को साक्षात्कार होना कठिन है। उपनिषद् के सूत्रों का सरल अर्थ तो कोई भी बता सकता है लेकिन इस दिशा में प्रगति के लिए, साक्षात्कारी मर्म-ग्रहण को साधना की आवश्यकता थी।

श्रीधर पढ़ता जा रहा था। विद्यापीठ में या किसी भी व्यवसाय में अपना भविष्य बनाना उसके लिए आसान था। लेकिन उसे कोई जल्दी नहीं थी, न ही कोई ईर्ष्या। श्रीधर दहलीज़ पर खड़ा था। एक अजीब-सा खालीपन था। शशी के साथ रहते हुए कम-से-कम उस खालीपन का एहसास तो नहीं था। उसके वह सनातन प्रश्न फिर से अपना सिर उठा रहे थे। बीच-बीच में चाची के पास जाकर मिल आने में एक दिलासा अवश्य मिलती थी। लेकिन इस तरह का जीना केवल निरर्थक लगने लगा था। सुबह-शाम वह अपने आपसे वही सवाल करने लगा था, यह सब किसलिए? सुलभा उसकी इस स्थिति को समझ नहीं पा रही थी। उसने तो श्रीधर को शशी की छाया में ही देखा था। वह शशी समझ सकती थी। कुछ हद तक यशोधरा भी समझ सकती थी।

एक बार ऐसे ही किसी काम से यशोधरा जब पुणे आयी थी, तब उसने श्रीधर की नज़र में उदास विरक्ति के भाव देखकर पूछा, "तुम कुछ काम क्यों नहीं करते?"

"मेरा शोध-कार्य चल तो रहा है।"

"मैं उसकी बात नहीं कर रही।" यशोधरा ने कहा, "कोई ऐसा काम जो

तुम्हारे मन को पूरी तरह व्यस्त रखे। इसमें तुम्हारे आत्मशोध का भी भाग है ही।''

श्रीधर ने कुछ नहीं कहा ।

''यह खालीपन भरने का एक मार्ग सुझाऊँ ?'' यशोधरा ने कहा, ''तुम मेरे साथ वम्बई आकर झुग्गी-झोंपड़ियों में काम क्यों नहीं करते ? मानव-जीवन का एक विदारक दर्शन तुम्हें मिलेगा और कुछ उपयुक्त काम करने का समाधान भी । तुम वांग्ला देश की सीमा पर और विहार के अकाल में काम का अनुभव ले चुके हो। आन्दोलनों में भी हिस्सा लिया है। लेकिन प्रत्यक्ष लोगों के वीच रहकर काम करने से जो सत्य पता चलता है, वह दस सीमित स्थितियों से वहुत वड़ा होता है। दुख, दरिद्रता, अन्याय, शोपण, संघर्ष यह भी मानव-जीवन के दाहक सत्य हैं, यह तो तुम भी जानते हो। लेकिन अगर यह सच पूरी तरह से अवलोकित करना है, तो तुम्हें उन लोगों के वीच रहकर, काम करना होगा ।''

शोध-प्रवन्ध का काम पूरा होने पर श्रीधर वम्वई चला गया। धीरे-धीरे उसने यशोधरा के साथ काम करना शुरू किया । उसके साथ पहले कुछ दिन झुग्गी-झोंपड़ियों में घूमते हुए नाक पर रूमाल रखना पड़ता था। लेकिन कुछ ही दिनों में आदत हो गयी। यशोधरा ने उसके ठहरने की व्यवस्था एक उच्च-मध्यमवर्गीय भाग में स्थित अपने यूनियन के कार्यालय में की थी। कार्यालय ठीक था। वहाँ के स्नानघर और शौचालय अच्छे थे। चौवीस घण्टे पानी की सुविधा थी, वाथरूम में शावर था। दिन भर घूम आने के बाद श्रीधर आराम से शावर के नीचे नहाता। सावुन मल-मलकर शरीर साफ़ करता। सुवह निकलते हुए दुर्गन्ध से कुछ संरक्षण पाने के लिए कपड़ों पर परफ्यूम लगाता।

एक दिन दिनभर की थकान के वाद पसीने से तर कपड़े सावुन के टब में डालकर नहाते हुए, उसके मन में विचार आया, इसका क्या मतलब है ? मैं जिनके वीच काम करता हूँ उन्हें एक-एक बूँद पानी के लिए लड़ना-झगड़ना पड़ता है। प्रातर्विधि जैसी सामान्य गरज के लिए उन्हें न जाने क्या-क्या करना पड़ता है। और यहाँ मैं वड़े आराम से नहा-धो रहा हूँ। यह तो अन्याय है, एक तरह का ढोंग ही है। मुझे अगर सच्चा काम करना है तो मुझे इन्हीं के वीच, इनके जैसा रहकर करना होगा। यशोधरा की यूनियन के कुछ स्वयंसेवक वह कर भी रहे थे।

श्रीधर ने जब यशोधरा से उसका ज़िक्र किया, तो उसने बात टाल दी। वह बोली, ''तुम तो सर्वेक्षण का काम कर रहे हो, उसकी आवश्यकता नहीं होगी। जो लोग आरोग्य से सम्वन्धित काम करते हैं, बच्चों को पढ़ाते हैं या स्त्री-शिक्षा का काम करते हैं, मैं उन्हें यहाँ रुकने के लिए कहती हूँ जिससे वह अपने विषय के बारे में, काम के स्वरूप के वारे में अधिक अच्छी तरह जान सकते हैं। तुम्हें इसकी आवश्यकता नहीं है।''

"लेकिन अगर मैं चाहूँ तो ?"

"मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन क्या तुम कर पाओगे ?"

"मैं कोशिश करूँगा"—श्रीधर ने कहा।

"जानते हो, अभी तक तो मैं खुद भी झुग्गी-झोंपड़ी में रह नहीं पायी हूँ। मेरी हिम्मत ही नहीं होती।" यशोधरा ने कहा।

वडाला और चूनाभट्टी विभाग में यूनियन के कार्यालय के लिए एक टीन की झोंपड़ी थी जिसमें दो स्वयंसेवक पहले से रह रहे थे। उसी में अव श्रीधर भी रहने चला गया। पटरी के साथ खुले नाले की दुर्गन्ध और उसी के कारण मच्छर और मक्खियों का काफ़ी फैलाव था। दो खटिया विछाने जितनी जगह और खाना वनाने के लिए एक प्लेटफार्म। तीसरे आदमी को छत से लगे ऊपरी माले पर सोना पड़ता। झुग्गी में एक वत्ती थी। यह वस्ती अन्य बस्तियों की अपेक्षा सुव्यवस्थित मध्यमवर्गीय थी। उसमें कई वक़ील और कॉलेज़ में पढ़ाने वाले अध्यापक भी रहते थे। कई झोंपड़ियों में रेडियो और दूरदर्शन मंच तक थे।

जिस रात श्रीधर वहाँ गया उस रात उसे खास महसूस नहीं हुआ। दुर्गन्ध की भी आदत-सी पड़ गयी थी। वम्वई में यह आदत हो जाना कोई वड़ी वात नहीं है। आसपास की झुग्गियों से पारिवारिक सम्भाषण स्पष्ट रूप से सुनाई दे रहे थे। झगड़ों की भी कमी नहीं थी। वगल में पटरियों से गुजरती उपनगरीय ट्रेनों की खटरपटर साफ़ सुनाई दे रही थी। लेकिन सवसे महत्त्वपूर्ण वात थी मच्छर और छोटे कीड़ों का उपद्रव। उसके वह दो साथी कब के सो गये थे। श्रीधर मच्छर और कीड़ों का अतिक्रमण झेलता हुआ करवटें वदल रहा था। ऊपर से उपनगरीय गाड़ियों की खटरपटर, खुद यहाँ चलकर आने के लिए वह स्वयं को कोस रहा था।

भोर हो गयी थी। आगे की समस्या को सोचकर श्रीधर के रोंगटे खड़े हो गये। सुबह ही झुग्गी-झोंपड़ी के नल पर कोहराम मच गया। उसकी झुग्गी के दो सह-निवासियों में एक तो था परव—जो किसी बड़े वैंक में चपरासी था। तनख्वाह ठीक-ठाक होते हुए भी घर लेने की स्थिति में नहीं था। यशोधरा के यूनियन के कार्य से प्रभावित होकर उसने अपनी यहं झुग्गी उन्हें कार्यालय के रूप में उपयोग के लिए दी थी। दूसरा था जनार्दन—एक तेलगू हरफनमौला। बम्बई कैसे आया, मराठी कैसे सीखकर संगठन से कैसे जुड़ गया। यह कोई नहीं जानता था।

सुबह होने से पहले परब उठ बैठा। पहले पन्द्रह मिनट में उसने दन्तमंजन से दाँत साफ़ किये और श्रीधर को जगाया। श्रीधर जाग ही रहा था।

"शौचालय जाएँगे साहब ?" उसने पूछा।

"चलिए"—श्रीधर ने कहा। जनार्दन अभी भी सो रहा था।

"कहाँ जाएँगे ? सार्वजनिक सुविधाओं में या लाइन पर ?"

"यशोधरा ने तो कहा था यहाँ शौचालय है. ?"

"है तो सही" परव ने जल्दी से कहा, "लेकिन मैं लाइन पर ही ज्यादा पसन्द करता हूँ, खुली हवा होती है। शौचालय की हालत न पूछिए साहब···लेकिन चलिए, मैं आपको उसकी लाइन में छोड़ आता हूँ।"

दोनों पैर में चप्पलें पहनकर हाथ में टीन के डिब्बे में पानी लेकर चल दिये। वाहर अभी अँधेरा था, चींटियों की तरह स्त्री-पुरुषों की साइलेण्ट परेड जैसे चल रही थी। हर एक के हाथ में पानी का वर्तन। विना कुछ वोले, सिर झुकाये हर कोई जल्दी-जल्दी जा रहा था। कई लोग मुखमार्जन करते हुए दिखाई दे रहे थे।

"वाप रे !" वह दृश्य देखकर श्रीधर ने कहा, "वर्षा के दिनों में क्या करते हैं आप लोग ?"

"वर्षाकाल में तो मत पूछिए साव"—परव ने कहा, "वड़ा बुरा हाल होता है, छाता सँभालें या लोटा, यही समझ में नहीं आता। कीचड़, पानी, गीले कपड़े···कई लोग तो चार-चार दिन नहीं जा पाते। सच तो यह है कि हमारे बैंक में सब बढ़िया व्यवस्था है। सुवह जाकर सव निवटा कर ही काम की शुरुआत करो, मैं भी आदत डालने की कोशिश कर रहा हूँ लेकिन मेरी यह सुवह-सुबह पेट साफ़ करने की आदत छूटती नहीं। हमारे वैंक में जितने भी झुग्गी-झोंपड़ियों में रहनेवाले कर्मचारी हैं, वह ऐसा ही करते हैं, दौड़-धूप कर वैंक पहुँचते ही सीधे शौचालय की तरफ दौड़ते हैं।"

परव दवी आवाज़ में वोल रहा था। श्रीधर ने देखा कि भोर की उस वेला में उसी काम के लिए निकले सभी लोग उसी शान्तता को बनाये रखे हैं। दूर से किसी मस्जिद से मुल्ला की 'अल्ला हो अकवर' की आर्त आवाज़ सुनाई दे रही थी। इस मूक शोभायात्रा पर निकले सभी लोग एक दिशा में धीर-गम्भीरता से आगे बढ़ते जा रहे थे। उसमें वृद्ध पुरुष भी थे, स्त्रियाँ भी थीं—सभी उम्र के लोग थे। चेहरे भर दिखाई दे रहे थे। गली के अन्त में वे तीन दिशाओं में वँट गये।

"इस तरफ महिलाओं की लाइन, उधर मर्दों की और यह शौचालय वालों की", परव ने हल्के से वताया, "चलिए, मैं आपको वहाँ तक ले चलता हूँ।"

यह दृश्य देखकर श्रीधर चकरा गया। बचपन में कभी माँ के साथ वह आसाम के किसी देवस्थान गया था। वहाँ भोर ही में नहा-धोकर दर्शन के लिए जाने की प्रथा थी। उस दृश्य और इस दृश्य में उसे कोई फ़र्क नज़र नहीं आ रहा था। अब दूर के किसी ध्वनिक्षेपक से 'जय जगदीश हरे' ···की आरती सुनाई दे रही थी। जगह-जगह पानी भरा हुआ था।

"ज़रा सँभलकर···"—परव ने कहा, "यहाँ औरतें सुबह आती हैं···देखकर क़दम वढ़ाना···"

पाँच मिनट वाद वह शौचालय की लाइन तक पहुँचे। अव दुर्गन्ध और भी तीव्र

हो गयी थी। आगे दस-बारह शौचालय थे। एक कतार औरतों की और दूसरी मर्दों की। श्रीधर को वहाँ छोड़कर परब पीछे मुड़कर चला गया। औरत-मर्द हाथ में पानी के बर्तन लिये चुपचाप खड़े थे। कोई गला साफ़ कर रहा था, कोई थूक रहा था। कतार धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। शौचालय के अन्दर से चित्र-विचित्र आवाज़ें आ रही थीं। अन्दर जानेवाला आधा मिनट में पानी का बर्तन खाली कर लौट रहा था।

श्रीधर के पेट में खलबली-सी होने लगी। यह नरक उसने पहले कभी देखा नहीं था। पूर्व बंगाल की सीमा पर या बिहार के अकाल में भी इतना बुरा हाल नहीं था। और यहाँ भारत के आधुनिकतम शहर के बीच वह हाथ में पानी का डिब्बा लिये इस नरक के बीचोंबीच खड़ा था। यशोधरा से बात करते हुए जब उसने यहाँ रहने पर ज़ोर दिया था, तब उसने इसकी अपेक्षा नहीं की थी।

उसकी बारी आयी तो पेट में मची खलबली को दबाकर जैसे-तैसे वह शौचालय के अन्दर घुसा। उस मद्धिम रोशनी में भी अन्दर का दृश्य देखकर उसे चक्कर-सा आ गया। चूहे जैसा कोई जानवर उसके पाँव से गुज़रकर गया तो श्रीधर उचक पड़ा। शौचालय चारों तरफ से गन्दा पड़ा था। उस हालत में कोई विधि असम्भव थी। श्रीधर ने अपना पानी का बर्तन उल्टा किया और वह बाहर निकल आया। उसके बाहर निकलते ही अगला आदमी अन्दर घुसा। कतार में खड़े किसी ने पूछा, "तबीयत ठीक नहीं ?"

"हाँ।"

"नया है..." किसी और ने कहा, "कोई बात नहीं आदत हो जाएगी।"

श्रीधर वापस लौटा तो सुबह हो गयी थी। परब हाथ-पैर धो रहा था। श्रीधर का चेहरा देखकर उसने पूछा, "क्या हुआ ?"

बिना कुछ कहे, श्रीधर सहमकर मुस्कुराया।

"बड़े गन्दे होते हैं शौचालय। मैंने तो आपसे कहा था, कल से आप मेरे साथ लाइन पर चला कीजिए।"

फिर परब बोला, "अब इस बाल्टी भर पानी से आप नहा लीजिए। मैं तो दफ्तर में नहाता हूँ—तब तक मैं यह दो मटके भरकर लाता हूँ। बाद में जनार्दन बाल्टी भर लाएगा।"

जल्दी-जल्दी से परब मटके लेकर चल दिया। उसने सिर्फ़ हाफ पैण्ट पहन रखी थी। श्रीधर ने देखा कि ऊपर जनार्दन भी हाफ पैण्ट में अबोध बालक की तरह सो रहा है।

श्रीधर को बहुत गन्दा लग रहा था। उसने बाल्टी से पानी लेकर हाथ पैर धो लिये। मुँह धोने के लिए वह पानी मुँह में डालने को उसका मन नहीं हो रहा था। उसने मुँह पर पानी का हाथ फेरा और उदास होकर वह खटिया पर जा बैठा।

आधा घण्टा बाद परब मटके लेकर लौटा तो वह ग़ुस्से में गाली-गलौच करता आया।

"·······ने दाम बढ़ा दिये हैं। कल तक तो पचास पैसे लेता था मटके के, आज दाम बढ़ा दिया। महँगाई है या शामत ? अबे जनार्दन, उठ··· साहब को अभी तक चाय नहीं पिलायी··· उठ··· उठ···"

जनार्दन झटके से उठकर नीचे आ गया। आँखों पर पानी मारकर उसने स्टोव जलाया। परब बड़बड़ाये जा रहा था। उसने दाढ़ी बनाकर आफ्टरशेव लगाया। पाउडर लगाया और फिर बोल पड़ा, "आप जैसों को तो यहाँ आना नहीं चाहिए, साब। जिनके पास कोई और चारा नहीं है वही मजबूरन यहाँ आते हैं। नहीं तो इस नरक में कौन आएगा ? मुझे गाँव पैसे भेजने पड़ते हैं। गाँव में जमीन है, माँ-बाप हैं, दो बहनें हैं इसलिए सब सहता हूँ। अब हमारे बैंक में भी कॉपरेटिव सोसायटी बन रही है। सरकार का नियम है कि चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को सदस्य बनाये बिना लोन नहीं मिलेगा। इसीलिए हमारे भी पीछे पड़े हैं··· खैर मकान होगा तो छोटा ही लेकिन इस नरक से तो छुटकारा मिलेगा। मैंने तो बाप को बता दिया है, घर के बिना ब्याह नहीं करूँगा। वह ब्याह के लिए बहुत पीछे पड़ा है। साला··· बीबी को क्या इस नरक में लाना है ?···"

फरफर कर रहे स्टोव पर पानी रखकर जनार्दन दूध लेने चला गया था। वह दौड़ता आ गया। परब ने बैंक के चपरासी की कड़क प्रेस की हुई वर्दी पहनी थी। खम्भे से लगे शीशे को देखकर वह अपने बाल बना रहा था। परब देखने में अच्छा-खासा था। उम्र होगी बीस-बाईस। तीखे नाक-नक्श, लम्बा कद।

"कहाँ तक पढ़े हो ?"

परब शरमाया।

"क्या बतायें साहब। अर्थशास्त्र में बी. ए. किया है। लेकिन हमारे शिवाजी विद्यापीठ की बी. ए. को कौन पूछता है ? चपरासी की नौकरी मिल गयी, बस। हमारे बैंक का मैनेजर अब अवकाश ग्रहण करनेवाला है। वह तो केवल मैट्रिक है, लेकिन उस वक़्त की बात ही अलग थी।"

जनार्दन ने सबको चाय के प्याले पकड़ाये। श्रीधर का मन हो नहीं रहा था लेकिन मना भी करना ठीक नहीं था। उसने जैसे-तैसे एक घूँट भरा। चाय लेते-लेते परब बोलता जा रहा था। चाय खत्म होते ही वह उठ खड़ा हुआ और अपने रूमाल पर सेण्ट का फब्बारा मारकर बोला, "माफ करना साब, कुछ उल्टा-सीधा बक गया हूँ तो। यशोधरा दीदी मुझे हमेशा डाँटती रहती हैं, फालतू की बकवास करता हूँ इसलिए··· आज आपका ठीक से इन्तज़ाम नहीं हुआ। दीदी ने ध्यान देने के लिए कहा है। अबे जनार्दन··· साहब को और चाय चाहिए हो तो बना देना। चलता हूँ

साब··· गाड़ी का वक़्त हो गया।" परब ने नमस्ते कहकर उससे विदा ली। और जूते खड़काता वहाँ से निकल गया।

कुछ देर बाद श्रीधर भी वहाँ से उठा। कपड़े बदलकर पहले के निवास स्थान गया। उसे सर्वांग मलिन लग रहा था। उसे अपने बदन की और कपड़ों की दुर्गन्ध आ रही थी। वह साबुन मल-मल कर नहा रहा था लेकिन मैल था कि बदन से छूट ही नहीं रहा था !

दूसरे दिन परब के साथ वह रेल की लाइन पर हो आया। वहाँ से भी वैसा ही लौट आया। रात को लौटते वक़्त ओडोमॉस की ट्यूब लाया था लेकिन उसे लगाने के बावजूद वह सो नहीं पाया। फिर उसने हार मान ली और अपने कार्यालय के कमरे में वापस लौट आया।

"बहुत मुश्किल है वहाँ रहना।" उसने अपराधी मुद्रा से यशोधरा से कहा, "अगर और कोई रास्ता न होता, तो वहाँ रह भी जाता। वहाँ की आदत पड़ जाती लेकिन यहाँ यह सब व्यवस्था है तो फिर वहाँ रहना केवल पागलपन होगा, ऐसा मुझे लगा। इन दो दिनों में न भूख लगी न प्यास। नींद तो जाने कहाँ उड़ गयी है। नैसर्गिक विधि तक···।"

"इतना अपराधी महसूस करने की आवश्यंकता नहीं है।" यशोधरा ने हँसते हुए कहा, "मैंने भी वह प्रयोग किया है और दो दिन में लौट आयी।"

श्रीधर ने यशोधरा को उस दृश्य में ढालकर देखा और वह हँस पड़ा। लेकिन फिर वह गम्भीर हो गया। बात हँसनेवाली थोड़े ही थी।

फिर भी यशोधरा ने हँसते हुए कहा, "मैं जानती हूँ तुम्हारे मन में क्या चल रहा है। यह हँसनेवाली बात नहीं है, यह भी मैं जानती हूँ। मैं उन लोगों पर नहीं, अपने आप पर हँसती हूँ··· और दूसरा तर्क यह है कि यह बात नहीं कि लोग यहाँ बड़ी निष्ठा से रह रहे हैं। कोई और चारा नहीं है, जग में और कोई ठिकाना नहीं है इसलिए यहाँ रहते हैं। गाँव में गुजारा नहीं होता, नौकरी के लिए इस महानगरी में आते हैं और जीने के लिए नरक को स्वीकार करते हैं। इस सबके पीछे जीने की जबरदस्त लालसा होती है··· हमारा काम है इस नरक में स्वर्ग का निर्माण करना।··· खैर, वह सब रहने दो यह सब कहने का तात्पर्य केवल इतना था कि तुम वहाँ नहीं रह सकते-जैसी बात पर सोच करने की ज़रूरत नहीं है।

श्रीधर मन्त्रमुग्ध होकर उसकी बातें सुन रहा था। उसे लग रहा था वह बोलती रहे। फिर उसे लगा कि वह यशोधरा के कार्य की लगन को अब जान गया है।

यशोधरा का संगठन झुग्गी-निवासियों का एक मज़बूत संगठन बनाने का प्रयत्न कर रहा था, जो अपनी समस्याओं के लिए लड़कर अपने मानवी हक को पाने की कोशिश करे। इसलिए झुग्गीवासी परिवारों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति का

पूर्ण जायजा लेकर कार्य की योजना बनाना यही प्रमुख काम था।

श्रीधर का काम था पर्यवेक्षण और उसका शास्त्र शुद्ध विश्लेषण, और उस सर्वेक्षण के लिए प्रश्नावली तैयार करना आदि। फिर निरीक्षणों से प्राप्त आँकड़ों को एकत्र करके उसके चार्ट्र्स बनाना, स्वयंसेवकों का मार्ग-दर्शन करना— इसके बावजूद वह अपना काम पूरा कर झुग्गी-झोंपड़ियों में घूमता था। स्वयं जो सह नहीं पाता था, वह अन्य लोग कितने मज़े से और स्थितप्रज्ञ वृत्ति से झेलते हैं। यह देखकर वह उन लोगों का सम्मान करने लगा था। परब से अच्छी खासी दोस्ती बन गयी थी। परब बहुश्रुत था, जग की जिस वास्तविकता से वह अब तक अनजान था, उसे वह अब नजदीक से देख रहा था। उसने देखा, पृथ्वी पर नरक कैसा होता है। इस नरक को आश्रय-स्थान बनाकर धूप-वर्षा, गुण्डे-पुलिस, सरकार और समाज-कण्टकों का बहादुरी से सामना करनेवाले परित्यक्त परिवारों की छोटी-छोटी गृहस्थियाँ उसने देखीं। लाज-लज्जा, शर्म, संस्कृति, सभ्यता, शिष्टाचार-जैसी चीज़ें कितनी खोखली और अर्थहीन होती हैं, बल्कि कितनी क्रूर हो सकती हैं, इसका आकलन उसे इस तरह भटकने से हुआ। लाज-शरम छोड़कर रेल की पटरी के साथ खुले में प्रातर्विधि के लिए बैठनेवाली माँ-बहनें देखकर उसे अपनी संस्कृति के निकम्मेपन पर तरस आ रहा था। खुद बड़े कष्ट उठाकर, पियक्कड़ पतियों से मार खाकर उन्हें सँभालनेवाली महिलाएँ उसने देखीं। बच्चों की शिक्षा के लिए अपना पेट काटकर उनकी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िद से जीनेवाली महिलाएँ और पत्नी की कमाई पर जीकर उसी को मार-पीट करनेवाले पति, झुग्गी की इतनी-सी जगह में चलनेवालें उद्योग-धन्धे, दरिद्रता और असहायता का फ़ायदा उठाकर उसमें अपना स्वार्थ साधनेवाले समाज-कण्टक और गुण्डे तथा उनकी मिली-भगत में अपने तत्त्वों के विपरीत अपना पेट भरनेवाले ढोंगी, समाजद्रोही नेता देखे। उसी के साथ-साथ ग़रीबों के लिए मन से काम करनेवाले और निःस्वार्थ बुद्धि से कष्ट सहनेवाले कार्यकर्ता भी देखें। बारिश में झुग्गी में घुटने तक पानी भरने की स्थिति में ऊपर स्टोव रखकर खाना वनानेवाली जिद्दी और उत्साही महिलाएँ भी देखीं और नाली के पानी में काग़ज़ की नाँव छोड़कर मज़े में खेलते बच्चे देखे। यहाँ के रहनेवालों का सव कुछ इस विश्व के अस्तित्व जितना ही भव्य, महत्त्वपूर्ण और चमत्कारपूर्ण था। जीने की अपार ज़िद और विस्मयकारक आशावाद नतमस्तक करानेवाला था।

इस ज़िद और आशा को देखकर श्रीधर बहुत प्रभावित हुआ था, उसके आगे झुक गया था। वह उसे विस्मयकारक ही नहीं, स्फूर्तिदायक भी लग रही थी।

अपना मुख्य काम कार्यालय में होने के बावजूद, श्रीधर यशोधरा के साथ सामान्य कार्यकर्ता की तरह घूमकर यह सब कुछ देख रहा था। रोज़ की समस्याओं का निरीक्षण करना, नोट्स निकालना, वकील या पुलिस स्टेशन के चक्कर लगाना,

स्थानीय नेताओं और नगरसेवकों, आमदारों को इन समस्याओं के प्रति ध्यान देने के लिए मनाना, गुण्डों का सामना करना, मन्त्रालय के चक्कर काटना, डॉक्टरों को वस्ती में ले आना, रुग्णों को अस्पताल में दाखिल कराना, शिक्षा के वर्ग चलाना, मोर्चे निकालना···

श्रीधर अब एक नयी दुनिया में चला गया था : बहुसंख्य मानव-समूह के लिए दैनन्दिन जीवन ही एक महान् लड़ाई होती है और लोग यह लड़ाई बहुत निष्ठा से लड़ते हैं, ऐसा उसे लगा। उसे लगा, यह लोग अर्जुन, श्रीकृष्ण, कृष्णमूर्ति, काण्ट, ह्नेगेल, मार्क्स, गाँधी-जैसों को अकल की चार बातें सिखा सकते हैं। उन्हें कृष्णमूर्ति से कोई लाभ नहीं···।

काम के कारण श्रीधर और यशोधरा एक-दूसरे के अधिक निकट आ गये थे। दफ्तर का काम, झुग्गी-झोंपड़ी में घूमना, कोर्ट के चक्कर लगाना, अस्पताल जाना जैसे कामों में श्रीधर उसके साथ अठारह-अठारह घण्टे घूमता था। लेकिन हमेशा कार्यकर्ताओं या अन्य लोगों के साथ रहने से धीरे-धीरे श्रीधर की यशोधरा के लिए पुरानी अभिलाषा जाग उठने लगी। उसके साथ के लिए वह तरसने लगा, तड़पने लगा। लेकिन उसे हमेशा लोगों के बीच घिरी मिलने की वजह से वह ऊबने लगी। वह अकेली हो, उसके साथ वह अकेला घूमे, उससे बातें करे, ऐसा श्रीधर को लग रहा था। लेकिन इस जमघट से उसे अकेला बाहर निकालना मुश्किल था। बस में उसके पास बैठने की जगह तक मिलना दुर्लभ था। और फिर यशोधरा की तो लोगों को साथ लेकर घूमने की आदत थी। कहीं भी जाती, उसके साथ दो-चार स्त्री-पुरुष अवश्य होते।

अठारह घण्टे उसके साथ बिताकर भी श्रीधर दूसरे दिन अधीरता से उसकी प्रतीक्षा करने लगा। दाढ़ी, कपड़े आदि का ध्यान रखने लगा। उसके स्पर्श के लिए लालायित होने लगा। उसकी साँस, बातें, स्पर्श सब कुछ सोख लेने के लिए तरसने लगा। उसके बिना जीना उसे सूना लगने लगा, पढ़ने में मन नहीं लगता था। मानो वह केवल उसके साथ के लिए जी रहा था। उसका अपना काम भी दुर्लक्षित हो रहा था। किसी और काम में उसका मन नहीं लग रहा था। पढ़ने से मन उचट गया था। उसका मन बस, यशोधरा के आसपास ही मँडरा रहा था। उसके साथ रहनेवालों से उसे ईर्ष्या होने लगी थी। यशोधरा के लिए उसका मन तरसने लगा। उसे याद आया कि शशी को लेकर उसकी ऐसी अवस्था कभी नहीं हुई थी। पहले कुछ दिन वह शशी से सम्मोहित अवश्य हुआ था, लेकिन उसके स्पर्श के लिए इस तरह कभी तरसा नहीं था।

सबसे ज़्यादा गुस्सा दिलानेवाली बात तो यह थी कि श्रीधर का इस तरह का खिंचाव देखकर भी यशोधरा अविचलित थी। वह पहले जैसे सहज अपनेपन से

व्यवहार कर रही थी। शायद उसे चिढ़ाने के लिए उससे दो क़दम का फासला बनाये रखे हुए थी। श्रीधर का सिर चकराने लगा था। वह वहाँ किसलिए आया था, जैसे वह यह बात भूल गया था। अब उसे केवल यशोधरा का ध्यान था। उसकी आँखों में भी अब उसकी यह तृष्णा साफ़ झलकने लगी थी। यशोधरा में कोई प्रतिसाद नहीं था, वह तटस्थ थी।

एक दिन किसी रुग्ण के पास बैठकर यशोधरा थक चुकी थी। संयोगवश लौटते वक़्त टैक्सी में केवल श्रीधर और यशोधरा थे। यशोधरा टैक्सी का प्रयोग कभी-कभार करती थी। लेकिन उस दिन वह बहुत थकी हुई थी इसलिए श्रीधर के टैक्सी की बात करते ही वह टैक्सी में जा बैठी। टैक्सी स्टार्ट होते ही उसने लम्बी साँस ली और थककर पीछे रखे श्रीधर के हाथ पर सिर रखकर आँखें मूँदकर वह बोली—

"थक गयी हूँ। दिन भर इन्तज़ार किया, ठेकेदार के आदमी नहीं आये, अपने काम पर हुई दुर्घटना में जख्मी महिला जीवित है या मर गयी, इसका भी इन स्वार्थी लोगों को कोई ध्यान नहीं है। अब मैं उन्हें कोर्ट में खींचकर ले जाऊँगी और भरपूर मुआवज़ा वसूल करूँगी···"

"तुम बहुत थक गयी हो"— श्रीधर उसका कन्धा थपथपाता हुआ बोला, "पहले अपनी यह पटर-पटर बन्द करो।"

"लेकिन मुझसे नहीं देखा जाता यह सब। मुझे ग़ुस्सा आता है इस तरह की लापरवाही और अन्याय को देखकर···"

"हाँ, लेकिन अब शान्त बैठो···" कहकर श्रीधर ने उसे अपने पास खींचकर उसके होठों का हल्का-सा चुम्बन लिया। यशोधरा ने अपना कन्धा छुड़ाया और नापसन्दी-सूचक चीत्कार निकालकर वह टैक्सी के दूसरे कोने से सटकर बैठ गयी। श्रीधर ने उसका हाथ अपने हाथों में लेने की कोशिश की। उसने हँसते-हँसते अपना हाथ छुड़ा लिया। श्रीधर दंग रह गया, यशोधरा ने कुछ नहीं कहा। वह हल्के से मुस्कुराती बाहर के यातायात को देखती रही। थोड़ी देर बाद टैक्सी रुकवाकर उसने श्रीधर से कहा, "चलो, चाय पीते हैं।"

उतरते वक़्त उसने श्रीधर के कन्धे पर हाथ रखा, उसने वह झटके से उतार दिया तो यशोधरा हँस दी।

"तुम यह बच्चों की तरह रूठ क्यों जाते हो ?" होटल के टेबुल पर बैठी वह हँसकर बोली।

श्रीधर कहीं और देख रहा था, अपनी नज़र बिना हटाये वह बोला, "तुम भी ऐसा क्यों करती हो, बिल्ली और चूहे की तरह ?"

चाय का ऑर्डर देकर यशोधरा ने चंचलता से मुस्कुराते हुए कहा, "हाँ कहो, गुस्सा मत करो···तुम कहना क्या चाहते हो ?"

जब श्रीधर ने कुछ नहीं कहा तो वह गम्भीर होकर बोली—"यह तुम क्या कर रहे हो श्रीधर ? शशी के प्रेम में तुम इतनी बुरी तरह झुलस चुके हो। क्या तुम वह भूल गये ?"

श्रीधर ने उसकी तरफ ध्यान से देखा। उसकी आँखों में प्रामाणिक गम्भीरता थी और हमेशा की तरह ममत्व भरा प्यार भी। उसके आविर्भाव में ठिठोली नहीं थी, श्रीधर को नीचा दिखाने की वृत्ति नहीं थी। उसके थके हुए चेहरे पर हमेशा की तरह पारदर्शी सफ़ाई थी।

वह कुछ बोलना नहीं चाहता था। लेकिन चाय का घूँट लेने के बाद उससे रहा नहीं गया। कप मेज़ पर रखकर आगे झुककर उसने उद्विग्न हो आवेग से कहा, "शशी की बात क्यों करती हो, यशोधरा ? तुम जानती हो, हम झुलस गये, जल गये, लेकिन राख नहीं हुए हैं। हममें चिनगारी अब भी कायम है। उसपर फूँक मारने की भी ज़रूरत नहीं है। हमारा प्रेम तुम अच्छी तरह जानती हो। तुम्हीं ने कहा था न कि मैं इस सब तूफान से सूखे पाषाण की तरह बाहर निकला हूँ। मुझे तटस्थता का अभिशाप है। मुझे शशी की अभिलाषा कभी नहीं थी। तुम्हारी है…"

यशोधरा हँस दी।

"या तो तुम महाधूर्त हो या बिल्कुल निष्पाप, मैं दूसरी सम्भावना मानकर चलती हूँ।"

फिर उसकी हँसी ग़ायब हो गयी। उसने किंचित् आवेग से कहा, "तुम्हें ऐसा नहीं लगता श्रीधर, कि तुम ग़लत राह पर बढ़ रहे हो ?"

"कैसी राह ? मुझे तो अब दिशा और राहों का कोई ध्यान ही नहीं रहा है।"

"यह क्या हर वक़्त ले बैठते हो ? तुम्हें क्या जीवन में कोई रस नहीं है ?"

"यह बात नहीं कि रस नहीं है, लेकिन जीवन का उद्देश्य मुझे नज़र नहीं आता।"

"बाहर इतनी बड़ी दुनिया होने के बावजूद ? जीने के कई कारण होने के बाद भी ?"

"वह सब मैं जानता हूँ। और इसीलिए तो अपने आपको इस काम में डुबो देने के लिए मैं यहाँ आया हूँ…लेकिन यहाँ कोई बात सधती ही नहीं है," श्रीधर अपने हृदय पर हाथ रखकर बोला। "कभी-कभी ऐसा लगता है कि यह ऐसा लगना आत्यन्तिक स्वार्थ का लक्षण तो नहीं है ?"

श्रीधर ने गरदन झुकाकर धीमे स्वर में कहा, "इसीलिए मैं तुम्हें चाहता हूँ। तुम मेरा प्रयोजन बन सकती हो। आधार बन सकती हो। भटकी हुई नाव को जैसे किनारा…"

"तुम्हारी अपेक्षाएँ पूरी नहीं होंगी, श्रीधर। तुम फिर एक खतरनाक तूफ़ान में

अपनी नौका डाल रहे हो"— यशोधरा ने सख़्ती से कहा।

"लेकिन क्यों ? मैं तुम्हारे लिए कुछ भी करने के लिए तैयार हूँ।"

यशोधरा खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसकी यह हँसी भी बहुत मधुर थी।

"इस तरह की रूमानी बातें ?" उसने आगे कहा, "क्या यह भी एक अधःपतन ही नहीं है ?"

श्रीधर को अब अपराध-बोध होने लगा था। फिर भी वह इतनी जल्दी हार मानना नहीं चाहता था।

"अधःपतन ?" उसने आश्चर्य से पूछा, "प्रेम में कैसा अधःपतन ?"

"इसे तुम प्रेम की संज्ञा देना चाहते हो, श्रीधर ?" यशोधरा ने अब चिढ़कर कहा। उसके कान लाल हो गये थे, उसकी दोनों भौंहों के बीच एक रेखा उभर आयी थी। "प्रेम की संकल्पना पर तुमने इतना सोचा है और फिर भी तुम इसे प्रेम कहना चाहते हो ! खुद को शीशे में देखो, तुम्हारी आँखों में, चेहरे पर, साँसों में और स्पर्श में अभिलाषा है, केवल अभिलाषा, शारीरिक भूख। उसे तुम खुद भी प्रेम नहीं कह सकते। तुम जातने हो न श्रीधर, तुम्हें किसी ने, या शायद मैंने ही, कहा है कि तुम किसी से प्रेम नहीं कर सकते ? क्योंकि तटस्थता तुम्हारा स्थायी भाव है। तुम्हारी इस सनातन खोज ने तुम्हें हमेशा के लिए तटस्थता में बन्दी बनाकर रखा है। जब तक तुम्हारी यह शोध-यात्रा खत्म नहीं होती, तुम्हारे हृदय से प्रेम की धारा फूट निकलना मुश्किल है। श्रीधर, वैसे देखा जाए, तो तुम अभागे हो। तुम्हारा सारा जीवन इस तरह अकेलेपन में बीता है, यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ। इसीलिए मुझे लगता है कि सच्चे प्रेम को तुम मन के अन्दर से जान नहीं पाओगे। तुम्हें किसी भी लड़की से प्रेम हो सकता है, होगा भी। लेकिन वह प्रेम नहीं केवल अभिलाषा है …क्योंकि तुम कभी प्रेम नहीं कर सकते। तुम अभागे हो…"

"ऐसी स्पष्ट वाणी का उच्चार न करो यशोधरा, और इस तरह मुझे मत दुत्कारो…।"

"यह दुत्कारना नहीं है श्रीधर, तुम जानते हो… और यह शाप-वाणी भी नहीं है। मैं सिर्फ़ वस्तु-स्थिति बता रही हूँ, यह भी तुम अच्छी तरह जानते हो…।"

"सोच लो यशोधरा, एक बार फिर सोच लो।" श्रीधर ने लाचार होकर कहा। उसने इस तरह की कल्पना तक नहीं की थी कि उसे इस तरह किसी के आगे घुटने टेककर उसे मनाना होगा। यहाँ तो वह यशोधरा के क़दम चूमने को भी तैयार था।

लेकिन वह यह भी जान गया था कि यशोधरा जो भी कह रही थी वह सच था। यह भी एक अधःपतन ही था। वह जान गया कि वह पराभव की सीमा तक पहुँच गया है, इसलिए उसने अगतिक होकर उत्कटता से कहा, "सोच लो यशोधरा, अच्छी तरह सोच लो। मुझे इस तरह अकेला मत छोड़ो।"

श्रीधर को उस अवस्था में देखकर यशोधरा की आँख भर आयी थी फिर भी उसने कठोरता से कहा, "मेरे विना तुम्हारा कुछ भी नहीं रुकेगा श्रीधर, लेकिन जव तुम अपने आप पर कावू पाओगे तो जान जाओगे कि मैं वहीं पर खड़ी हूँ, जहाँ मैं थी। तुमसे प्रेम करनेवाली कई लड़कियाँ तुम्हें मिलेंगी··· यह सव भूल जाओ···।"

सैंतालीस

श्रीधर ने आगे फैले विस्तीर्ण प्रेदश का निरीक्षण किया, हवा में ठण्ड थी लेकिन आसमान विल्कुल साफ़ और नीला होने की वजह से सूरज की किरणें गरम लग रही थीं। सामने पहाड़ी के नीचे जैसे सारा जग था। ढलान से लुढ़कती हुई गहरी घाटियाँ, पर्वतों की कतारें, कहीं दिखाई पड़नेवाले नदियों के शुभ्र प्रवाह, दूर कहीं सपाट तल पर जन-वस्ती के चिह्न, मन्दिरों की शिखाएँ, उन पर फरफराते केसरी झण्डे और उससे भी कहीं दूर चमकते हिमपर्वत।

श्रीधर ने लम्वी साँस ली। वह सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आया, तो वह वड़ा-सा सफ़ेद निशान नज़र आने लगा, जो हवा पर लहरा रहा था। कव, कहाँ और क्यों जैसे प्रश्न तो उसके सामने थे ही नहीं। वह सिर्फ़ आगे वढ़ना चाहता था। वह तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ने लगा।

आखिरी सीढ़ी चढ़ने से पहले उसके कान पर धारदार शव्द आ पड़े।

"ए, कौन है ? रुको···"

"हाथ ऊपर। हैण्ड्स अप।"

क्या हो रहा है, यह समझने से पहले ही श्रीधर की पीठ पर जवरदस्त आघात हुआ और वह नीचे लोट गया। और इससे पहले कि वह कुछ कह पाता, उसके हाथ पीछे की तरफ वँध गये। उसने देखा कि काफ़ी भगदड़ मची हुई है। उसने गरदन टेढ़ी की तो नज़र आया कि हाथ में वन्दूक लिये तीन-चार लश्कर के जवान उस पर गोली चलाने का पैंतरा लेकर खड़े थे। एक झुककर उसकी जेव टटोल रहा था।

"कुछ नहीं साव, जेव विल्कुल खाली है।" उसने कहा।

"उठाओ उसे।" पीछे से सख्त आवाज़ आयी।

दो जवानों ने उसकी बाँहों से खींचकर उसे खड़ा किया। एक नौजवान अधिकारी उसके सामने खड़ा था। श्रीधर समझ गया कि वह भारतीय सेना के जवान थे और वह नौजवान उनका कैप्टन था। श्रीधर को उसकी गिरफ्तारी का कारण समझ में आ नहीं रहा था। वह कैप्टन उम्र में इतना कम था कि अन्य जवानों के सामने बच्चा ही लग रहा था। अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से श्रीधर की तरफ सख्ती से देख रहा था। श्रीधर की हँसी छूट गयी।

"कौन हो तुम ? यहाँ क्यों आये हो ? साथ में क्या लाये हो ?" एक के बाद एक सवाल उसने गोलियों की तरह बरसाये।

"क्यों ? यहाँ आना क्या कोई गुनाह है ?" श्रीधर ने प्रतिप्रश्न किया।

कैप्टन ने कुछ क्षण तिरस्कार भरी नज़रों से उसे देखा और फिर दो क़दम आगे बढ़कर श्रीधर के गाल पर सख्त प्रहार किया। श्रीधर फिर नीचे गिर गया।

"दैट विल टीच यू···बास्टर्ड।" अधिकारी ने दाँत पीसते हुए कहा।

श्रीधर उठकर खड़ा हुआ। उसका गाल तमतमा रहा था और सिर चकरा रहा था। उसने अँग्रेज़ी में प्रश्न किया, "मैं स्वतन्त्र भारत का नागरिक हूँ, यहाँ आने में मैंने क्या गुनाह किया है ?"

कैप्टन ने फिर श्रीधर की तरफ ध्यान से देखा। श्रीधर का तगड़ा कद, सतेज कान्ति, बढ़ी हुई दाढ़ी, रोबीला चेहरा और उच्चवर्गीय अंग्रेज़ी यह सब उसने जान लिया। अब उसकी आँखों में सन्देह की छाया और भी गहरी हो गयी। उसने अपने सहायक को पास बुलाकर उससे कुछ खुसुर-पुसुर की। वह सैनिक दौड़कर सिमेण्ट की एक मंज़िला इमारत में घुस गया। उस इमारत के पीछे एक प्रक्षेपण टॉवर था। और उसके आसपास पाँच-सात लश्करी इमारतें थीं। यह विशाल समतल क्षेत्र था और मैदान में हरियाली थी। चारों तरफ हिमालय की कतारों का विहंगम दृश्य।

उसे धमकाने के स्वर में अधिकारी ने पूछा, "कहाँ गया था ? यहाँ कैसे आया ? क्या करने आया है ? यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?"

श्रीधर के चेहरे पर मुस्कान खिल गयी।

अब अधिकारी ने समझाने के स्वर में कहा, "लगता है तुम बात की गम्भीरता समझ नहीं पाये हो। यह लश्कर का अति सुरक्षित क्षेत्र है। यहाँ कोई आसानी से प्रवेश कर नहीं सकता। तुम्हें यहाँ किसने भेजा है ? यहाँ कैसे पहुँच गये हो तुम ?"

"बड़े कठिन सवाल करते हैं आप। इन्हीं का उत्तर ढूँढ़ते हुए मैंने सारा जीवन बिता दिया। अभी भी···"

"शटप, यू आर फूल··· प्रश्न को समझकर ठीक से उत्तर दो। यहाँ कैसे आये ?"

श्रीधर ने गरदन नीचे कर ली। जरा सोचा, अन्दर से उसे गुदगुदी-सी हो रही

थी। हँसने का मन हो रहा था। लेकिन उसने उस नवयुवक अफ़सर के जायज गुस्से को देखा, जो उसे और मारने की सोच रहा था। अपनी हँसी दवाकर उसने गम्भीरता से कहा, "मैं एक सनातन यात्री हूँ। शोध-यात्रा पर निकल पड़ा हूँ।"

"लायर।" वह अधिकारी चिल्लाया, "तुम यात्री नहीं लगते हो।"

"सच बता रहा हूँ, कैप्टन साव। दूर से यह सफ़ेद झण्डा देखा और सोचा यह कोई मन्दिर होगा, इसलिए चला आया···।" श्रीधर ने वताया।

"इतनी आसानी से ? कैसे आये ? कहाँ से आये ? कोई भी चार सुरक्षा चक्रों को पार किए विना यहाँ नहीं आ सकता! तुम कैसे आये ?"

"वहाँ से।" श्रीधर ने अंगुलि-निर्देश किया।

अधिकारी के चेहरे पर आश्चर्य के भाव उठे।

"असम्भव"—वह चिल्लाया, "वह आने का रास्ता नहीं है। अन्य सभी मार्ग हमने वन्द कर दिये हैं।"

"सच कह रहा हूँ साहव, मैं यहीं से आया, इसी रास्ते से।"

कैप्टन ने उसकी तरफ़ ग़ौर से देखा और वोला, "अभी मेरे साथ चलकर वताओ कि तुम यहाँ कैसे आये ? अगर कुछ दगावाज़ी की कोशिश की तो अच्छा नहीं होगा। तुम गोली से उड़ा दिये जाओगे। यह उच्च सुरक्षा-क्षेत्र है।"

कैप्टन और दो सैनिक श्रीधर के साथ उन सीढ़ियों से उतरकर नीचे आये। श्रीधर ने वह जगह बतायी, जहाँ वह सोया था और जिस रास्ते से वह ऊपर आया था, वह सम्भाव्य रास्ता भी दिखाया। सच्चाई तो यह थी कि वह अति कठिन चढ़ान देखकर श्रीधर अव स्वयं भी दंग हो गया था कि कल उसके लिए वह कैसे सम्भव हो पाया था। वह देखकर तो अव उसी को चक्कर आ रहा था, उसे स्वयं पर सन्देह होने लगा था।

"असम्भव··· एकदम असम्भव।" कैप्टन चिल्लाया, "तुम झूठ वोल रहे हो··· यहाँ से कोई ऊपर आ नहीं सकता।"

"साहब, यहाँ से सिर्फ़ भेड़-बकरियाँ घास चरने आ जाती है।" एक सैनिक ने कहा।

कैप्टन ने श्रीधर के बताये मार्ग को ध्यान से देखकर कहा, "तुम यहाँ से आये थे ?"

"जी।"

"ठीक है। फिर एक बार आकर दिखाओ।"

"क्या ?"

"हाँ, हाँ···नीचे उतरो और ऊपर आकर दिखाओ।"

श्रीधर ने हँसकर कहा, "यह तो सम्भव नहीं होगा।"

"वदतमीज़, लायर, हरामखो़र··· मुझे वनाते हो ?" अधिकारी ने चिल्लाकर कहा। फिर तेजी से सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर जाते हुए उसने कहा। "लाओ साले को ऊपर। नहीं तो वहीं से धकेल दो, अब अच्छा तमाशा दिखाऊँगा··· यात्री।"

ऊपर जाकर शायद कैप्टन का पारा कुछ नीचे आ गया था, वह कुछ देर तक श्रीधर को कड़ी नज़र से देखता रहा। श्रीधर भी चंचलता से उससे नज़र मिलाकर खड़ा था। कैप्टन को शायद श्रीधर की चंचलता पर ही ग़ुस्सा आ रहा था। श्रीधर को इस बात का सुखद आश्चर्य हो रहा था। उसे अपने लिए भय या असुरक्षितता की कोई फ़िक्र नहीं हो रही थी।

कुछ देर बाद अधिकारी ने अपनी नज़र सामान्य की और कहा, "अब ध्यान से सुनो। मैंने नीचे सन्देश भेजा है। कुछ ही देर में लश्करी, पुलिस आकर तुम्हें गिरफ्तार कर नीचे ले जाएगी, फिर तुम बच नहीं पाओगे। जानते हो क्यों ?"

"क्यों ?"

"तुम पर यह आरोप लगाया जाएगा कि अतिसुरक्षा क्षेत्र में घुसपैठ कर तुमने जासूसी करने की कोशिश की है।"

श्रीधर की हँसी छूट गयी। उसे वह सारा ही माहौल मज़ेदार लग रहा था। यह मैदान, वह नौजवान अधिकारी, सशस्त्र सैनिक और इनके बीच जासूसी के लिए गिरफ्तार श्रीधर।

"हँसो मत"—अधिकारी ने गम्भीरता से कहा। "तुम्हारी जब पेशी होगी तो जान जाओगे। इससे तो अच्छा है सब कुछ साफ़-साफ़ बताओ। तुम कौन हो, कहाँ से आये हो, यहाँ तुम्हें किसने भेजा है ? चलो, सब साफ़-साफ़ वता दो।"

"मैं विल्कुल सच बता रहा हूँ, कैप्टन साहब !" श्रीधर ने अब गम्भीर होकर कहा, "मैं सामान्य आदमी हूँ। यात्री हूँ, नीचे के तीर्थ-स्थल में आया था। एकान्त की खोज में भटकता यहाँ आ पहुँचा। अब यहाँ कैसे आ पहुँचा वगैरह मुझे कुछ भी याद नहीं··· आज सुबह आँख खुली तो अपने आपको जीवित पाकर मुझे आश्चर्य हो रहा था··· कल से मैंने पानी तक नहीं पीया है। भूख से जान निकल रही है। क्या मुझे यहाँ पीने के लिए पानी मिल सकता है ?"

कैप्टन उसे घूरता जा रहा था। फिर उसने उसे सामने वाली उस इमारत में चलने का इशारा किया। उसे अन्दर ले जाकर सोफ़े पर बिठाया। श्रीधर को एक सिगरेट देकर पानी, चाय, विस्कुट आदि मँगवाये। श्रीधर ने खा-पी कर आसपास नज़र दौड़ायी। इमारत में काफ़ी लोग थे। किसी कमरे से टेलीप्रिण्टर-टेलेक्स की आवाज़ आ रही थी।

उस अधिकारी की नज़र श्रीधर पर केन्द्रित थी। श्रीधर ने चाय खत्म कर उसकी तरफ देखा तो उसने फिर पूछा, "हाँ, अब बताओ। तुम यात्री तो नहीं लगते हो।

सुशिक्षित और सघन लगते हो। यहाँ क्यों आये ? कैसे ? तुम्हें किसने भेजा है ? तुम्हारा नाम क्या है ?"

अड़तालीस

ऐसा तो नहीं था कि यशोधरा की दुत्कार से श्रीधर का, झुग्गी-झोंपड़ी कार्य में जो रस था, वह कम हो गया। काम तो वैसे भी ठण्डा चल रहा था। श्रीधर स्वयं भी उदास था, वह यह भी जान चुका था कि इस काम में अपना पूरा जीवन लगाना उसके वस की बात नहीं थी—यशोधरा ने स्वयं को इस काम में भुला दिया था। श्रीधर भी स्वयं को किसी काम में या विषय में पूर्णरूप से उलझा सकता था। लेकिन वह काम खत्म होते ही या विषय का विस्तार समझ में आते ही सपने से बाहर निकलने जैसा वह जाग्रत् और तटस्थ हो जाता था। विफलता और वेचैनी से सिकुड़ जाता था। जो देखना था सो देख चुका, अब और आगे क्या करूँ ? आखिर मेरा उद्दिष्ट क्या है ? जीवन भर क्या इसी झुग्गी-झोंपड़ी में बिताना है ? इस तरह के कष्ट में आनन्द अवश्य था। लेकिन उन लोगों का जीवन बदलने का जो समाधान था, वह नकली था, ऐसा उसे लगने लगा था। बम्बई या अन्य महानगरों में, शहरों में असंख्य लोग पेट पालने के लिए आ रहे थे। औद्योगीकरण और रोज़गार की इस प्रक्रिया में ऐसा सब कुछ होना एक तरह से अनिवार्य भी था। कुछ-एक लोगों के लिए मर्यादित काम करने से मूल समस्या का समाधान मिल पाना मुश्किल था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि धनंजय, यशोधरा और विश्वम्भर में और कुछ हद तक शशी में भी, वह जो अतार्किक लगनेवाली ईर्ष्या थी, उसका श्रीधर में अभाव था। क्रान्ति लाने के लिए पहले क्रान्ति के अतार्किक लगनेवाले सपने देखने पड़ते हैं। वह सपने देखने की हिम्मत श्रीधर में नहीं थी यह वह अच्छी तरह जानता था। वह उसके जीवन का लक्ष्य भी नहीं था। तो फिर उसका ध्येय क्या था ? वह क्या करना चाहता था ? किस चीज़ के लिए जी रहा था ? इस दुनिया में क्या ढूँढ़ रहा था ? स्वयं की खोज यानी कैसी खोज ?

श्रीधर बेचैन और अस्वस्थ था। अब तो वह अकेला भी पड़ गया था। किसी प्रदर्शन में यशोधरा गिरफ्तार हुई थी। श्रीधर को छोड़कर उन्होंने अन्य सभी को हिरासत में ले लिया था। संगठन के कार्यालय पर छापा मारकर पुलिस वहाँ से कुछ

काग़ज़ात ले गयी थी। इसलिए काम भी ठप्प हो गया था। धनंजय भी कहीं ग़ायब हो गया था, श्रीधर दिनभर कार्यालय में बैठा-बैठा ऊब जाता। उसने अपना पठन ज़ारी रखा था।

जब वह यशोधरा से मिलने जेल गया तो उसने पूछा, "अब तुम वहाँ रहकर क्या कर रहे हो ?"

"तुम्हारे किले की रक्षा कर रहा हूँ।"

"कोई ज़रूरत नहीं है। मैं यहाँ कितने दिन रहूँगी, इसका कोई पता नहीं। तुम कितने दिन अटके रहोगे ?"

"मैं भी क्या करूँ ? क्या करूँ, यह तो समझ में नहीं आता। शोध-प्रबन्ध स्वीकार हो गया है··· नौकरियों के भी प्रस्ताव आ रहे हैं··· लेकिन मैं ही तटस्थ हूँ··· खोज़ ज़ारी है, पता नहीं किस चीज़ की !"

आख़िर में श्रीधर, यशोधरा के कहने पर बम्बई से पुणे लौट गया। शशी के दादाजी गम्भीर रूप से बीमार थे। सुलभा नौकरी में आगे बढ़ रही थी। चाची को हमेशा की तरह चिन्ताएँ सता रही थीं। उधर श्रीधर को सब कुछ निराश और अर्थहीन लगने लगा था। उसे अवास्तव का आभास होने लगा था। जीवन निरर्थक और प्रयोजनहीन लगने लगा था। कुछ काल ऐसे ही बीत गया।

धनंजय और यशोधरा में राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर कड़े संघर्ष अब भी ज़ारी थे। अब श्रीधर को एक नामांकित समाजशास्त्रीय संस्था की शोध-वृत्ति मिल गयी थी। उसने वह स्वीकार भी कर ली थी और वह जाने की तैयारी में व्यस्त था। अचानक धनंजय प्रकट हुआ और उसने श्रीधर से ऊब कर पूछा, "यशोधरा को हुआ क्या है ?"

"क्यों ?"

"हरदम उखड़ी-उखड़ी-सी रहती है।"

"लेकिन लड़ते तो तुम दोनों हो !"

"नहीं, इस बार कोई लड़ाई नहीं हुई।" धनंजय ने उदास होकर कहा, "मैंने उसे कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि अब लड़ने की मुझमें ताक़त ही नहीं रही।··· सच कहूँ ?" धनंजय ठण्डी साँस भरकर कुछ खीजकर बोला, "ध्यान से सुनो तो यशोधरा की हर बात सही लगने लगती है। वह जो भी कहती है उसके पीछे अत्यन्त वास्तववादी भूमिका होती है, जो बहुत खतरनाक है। इसीलिए मैं नर्वस हो गया और आखिर में कुछ न कह कर, विदा भी न लेकर चला आया। वह रुकने के लिए कह रही थी। लेकिन मुझसे वहाँ एक क्षण भी बैठा नहीं जा रहा था।"

"वैसे ही चले आये ? उससे बिना विदा लिये···।"

"हाँ।"

"च् च्··· तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था, धनंजय। यशोधरा के मन में तुम्हारे लिए हमेशा अपनापन और चिन्ता रहती है। इसीलिए तो वह इतनी गरमजोशी से तुमसे वात करती है।" श्रीधर ने कहा।

"मात्र चिन्ता या अपनापन ही नहीं, मुझे तो लगने लगा है कि वह मुझसे प्रेम भी करती है।"

"हाँ ?" श्रीधर देखता ही रह गया।

"हाँ।" शान्त स्मित करता हुआ धनंजय वोला, "और आजकल ऐसा भी लगने लगा है कि मैं भी उससे प्रेम करता हूँ।"

उनचास

श्रीधर की यात्रा की तैयारी ज़ारी थी। सालभर वह पाँव में चक्र लगाकर घूमने वाला था। उसने मकान खाली कर दिया था। अपनी चीज़ें समेट ली थीं। निकलने से पहले लोगों से मिलना-जुलना था। सुलभा को समझाना था। उसकी माँ व्याह के लिए ज़ोर दे रही थी और सुलभा मना कर रही थी। श्रीधर के एक वार पूछने पर उसने यह कहा था कि सारी दुनिया को उसके व्याह की फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं है। अगर उसकी पसन्द का कोई लड़का मिले तो वह व्याह कर लेगी लेकिन इसमें जल्दवाज़ी की कोई ज़रूरत नहीं है।

सुलभा ने कहा था, "मेरा व्याह हो जाने पर माँ को तसल्ली होगी कि एक लड़की मार्गस्थ हो गयी। लेकिन मुझे लगता रहेगा कि क्या मेरे जीवन का यही प्रयोजन है ? व्याह, गृहस्थी, वच्चे···वस ? क्या यही सव कुछ जीवन है ? हम जीते किसलिए हैं ? ऐसे प्रश्न मन में उठते हैं तो मन उदास लगने लगता है···।"

श्रीधर ने प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहा। उसने केवल धीरे से उसका कन्धा थपथपाया। सुलभा के ये प्रश्न उसके अलावा और कौन समझ सकता था ?

शशी को मिलने की वजाय उसने पत्र लिखा। अपनी शोध-वृत्ति का पूरा व्यौरा देकर उसने कहा, "एक नयी दुनिया में क़दम रख रहा हूँ। अब कम-से-कम साल भर घूमता रहूँगा। आगे की कौन जानता है ! लेकिन कहीं भी रहूँ तो तुम्हारे अस्तित्व की सुखद भावना हमेशा मेरे साथ रहेगी, यह कितना सुन्दर है ! बीच-बीच में पत्र लिखता रहूँगा। कुछ भी कहना चाहूँ तो पूरे अपनेपन से समझनेवाली और निरपेक्ष

मन से सुननेवाली मेरे लिए तो बस तुम ही एक हो…"

जगत को भी लिखना था। साल भर की उसकी उन अनुत्तरित चिट्ठियों का जवाव देना था। उसे क्या लिखा जाय, यह भी एक प्रश्न ही था। उन दोनों को विछुड़े हुए अव चौदह-पन्द्रह साल हो चुके थे। उनकी दिशाएँ अलग-अलग हो गयी थीं। दोनों के सरोकार अब वदल गये थे, इसलिए उनका पत्र-व्यवहार पूर्ववत् होना तो सम्भव नहीं था। लेकिन आखिर में श्रीधर ने जगत को उसके आगे के सम्भाव्य पते वताकर लिखा, "तुम कहोगे, इस यात्रा से मैं क्या पाने वाला हूँ ? इससे तो अच्छा होगा कि मैं कोई कैरियर ढूँढ़ लूँ। मेरा उत्तर एक ही है, मेरी खोज ज़ारी है। आगे क्या करना है, यह तो खैर सोचा नहीं है क्योंकि मैं खुद नहीं जानता कि मुझे क्या करना है…।"

श्रीधर की यात्रा विश्वम्भर के आन्दोलन के केन्द्र-स्थान से शुरू हो रही थी जो दुर्गम आदिवासी वस्ती में था। रात भर की वस की यात्रा के बाद पच्चीस-तीस मील आगे चलकर जाना था। कन्धे पर लटकाये थैले में समाने लायक पुस्तक, लेखन-सामग्री और आवश्यक कपड़े लेकर श्रीधर चल पड़ा। वर्ष भर का यही सामान था। जीवन भर की कमाई भी बस इतनी ही थी।

श्रीधर ने सवसे विदा ली और पैदल चलकर बस-स्टैण्ड पहुँचा। दोपहर का समय था। वस छूटने से पाँच मिनट पहले अचानक शशी आयी। श्रीधर को तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। उसने उसे लिखा हुआ पत्र पढ़कर सुनाया, वह सही समय पर वहाँ पहुँच गयी थी, इसमें कुछ आश्चर्यजनक बात तो नहीं थी।

शशी ने सफ़ेद साड़ी पहनी थी। सफ़ेद ब्लाऊज़ और गले में रुद्राक्ष की माला। कन्धे पर लटका खादी का थैला। अपने लम्वे रेशमी वाल उसने खुले छोड़े थे। चेहरा प्रसन्न, शान्त और मुस्कुराता हुआ था, जैसे उसे विश्व की उत्पत्ति का और जीवन तथा मानव-अस्तित्व के प्रयोजन के रहस्य का ज्ञान हुआ हो—धीर, गम्भीर और सन्तुष्ट। उसकी पारदर्शी आँखों में तरल प्रेम था और शान्त तेज। शुरू में मिली हुई शशी, हरदम खिलखिलाकर हँसनेवाली चंचल शशी, फिर उसके प्रेम में सम्मोहित होकर पागलपन की हद तक पहुँची हुई शशी, मौन शशी और अब यह प्रसन्नचित्त, शान्त शशी। शशी के यह सब रूप कितने अलग-अलग थे। लेकिन श्रीधर को शशी के इस अलग रूप से भी कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वह साल-दो साल के बाद मिल रहे थे लेकिन इतनी सहजता से मिल रहे थे कि जैसे रोज़ ही मिलते रहे हों।

बस अभी प्लेटफ़ार्म पर आयी नहीं थी। स्टैण्ड पर हमेशा की तरह भीड़ थी। श्रीधर बस की प्रतीक्षा कर रहा था। इतने में किसी ने उसके कन्धे को पीछे से बड़े प्यार से छुआ। उसने पीछे मुड़कर देखा तो शुभ्रवस्त्र-धारिणी, स्मितमुखी शशी। वह क्षणभर शशी की तरफ देखता रहा और फिर मुस्कुराकर बोला, "आ गयी न ! मैं

जानता था कि तुम ज़रूर…"

"यह लो फूल।" शशी ने गुलाब का ताजा फूल उसके हाथ में थमाया।

"कैसी हो ?"

"तुम कैसे हो ? सुलभा मिलती है ?"

दोनों एक-दूसरे के हाथ, अपने हाथों में लेकर एक-दूसरे को देखते रहे। कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं थी। स्पर्श और आँखों से सब कुछ पता चल ही रहा था। आखिर में श्रीधर ने पूछा, "दादाजी कैसे हैं ?"

"वैसे ही हैं।"

"और तुम्हारे स्कूल ?"

"दो वन गये। तीसरे की इमारत वन रही है।"

निकलते वक़्त उसे खाने का डिब्बा पकड़ाती हुई वह बोली, "जाओ। अपना ध्यान रखना।"

श्रीधर ने अपने हाथ छुड़ा लिये। "अच्छा शशी, तुम भी अपना ध्यान रखना।"

श्रीधर बस में जा बैठा। बस चल पड़ी, शशी बाहर से हाथ हिला रही थी। श्रीधर ने भी हाथ हिलाया। उस क्षण उसे बहुत गहरा समाधान और प्रसन्नता हो रही थी।

पचास

शुरू में जिला केन्द्र में, फिर तालुका और ऐसा करते-करते विश्वम्भर ने अपने आन्दोलन का केन्द्र-स्थान दुर्गम आदिवासी बस्ती में वना लिया था। उस छोटे से गाँव में किसी वाहन के जाने के लिए कोई पक्का रास्ता ही नहीं था। सरकारी मैप में उसका नामोनिशान तक नहीं था। श्रीधर बस से जब तालुका पहुँचा तो विश्वम्भर उसे लेने आया था।

"श्रीधर, यही सामान है ?" विश्वम्भर ने पूछा, "लगता है जल्द ही लौटने का इरादा है।"

"नहीं…नहीं…यह तो मेरा साल भर का सामान है।"

विश्वम्भर हँस पड़ा। उसके आसपास पाँच-सात आदिवासी युवक थे। उनमें से एक ने आग्रहपूर्वक श्रीधर का सामान ले लिया। शायद उठाने के लिए और कोई

सामान न होने पर अन्य लोग निराश लग रहे थे।

"चलो, पहले चाय पीयें।" विश्वम्भर होटल की दिशा में बढ़ता हुआ बोला।

"हमारे गाँव जानेवाली बस और तीन घण्टे बाद है, अब यहाँ आये हैं तो चलो यहीं वह काम निबटा लेते हैं..."

"राम राम साहब", "कब आये विश्वम्भर भैया ?", "नमस्कार भाई।" जैसे कई अभिवादन हो रहे थे। "अब कोई हड़ताल या मोर्चा तो नहीं है ?" जैसी पूछताछ भी हो रही थी।

होटल में घुसते हुए साइकिल से उतरकर एक पुलिसवाला विश्वम्भर के सामने आ खड़ा हुआ।

"हवलदारजी, ऐसी भी क्या जल्दी है ?" विश्वम्भर ने अपनेपन से मुस्कुराते हुए कहा। "अभी तो पूरा दिन बाकी है, बता देना अपने साहब को।"

"ऐसे क्यों कहते हैं साहब।" हवलदार लाचारी से मुस्कुराता हुआ बोला, "अजी साहब ने ही तो यहाँ भेजा है हाजिरी की किताब लेकर। सन्देशा भेजा है कि आपको स्वयं आने की आवश्यकता नहीं है। जो भी आवश्यकता हो, बता दीजिए...।"

पुलिसवाले ने एक छोटी-सी कॉपी खोलकर विश्वम्भर के आगे की। "तुम्हारा साहब भी ...।" कहते हुए विश्वम्भर ने श्रीधर की जेब से पेन निकालकर दस्तखत कर दिये और कॉपी हवलदार को लौटाता हुआ वह बोला, "आइए हवलदार साहब, चाय पीजिए। चलो रे नरसू, झीना..."

"नहीं... नहीं साहब।" करता हुआ हवलदार भी उनके पीछे-पीछे होटल में घुस गया। गोबर से लिपीपुती, दस जगह उखड़ी हुई ज़मीन, उस पर चिकनाहट-भरे लकड़ी के बेंच, गीली मेज़, मक्खियाँ। विश्वम्भर ने चाय और नमकीन मँगवाया। श्रीधर की यात्रा के बारे में पूछा। शशी, यशोधरा और धनंजय की पूछताछ की। चाय खत्म कर हवलदार के चले जाने पर राजनीतिक गतिविधियों के बारे में भी पूछ लिया। श्रीधर ने उसे सब जानकारी दे दी। धनंजय का हाल सुनाया।

"अच्छा किया जो मैं इस जंगल में आ बैठा। नहीं तो पागल ही हो जाता। इस देश में कुव्यवस्था का तो जैसे कोई अन्त ही नहीं है। आजकल तो मैंने पेपर तक पढ़ना बन्द कर दिया है। पढ़ भी नहीं सकता। हाजिरी देने के लिए हफ्ते में कम-से-कम एक बार यहाँ आना ही पड़ता है, तब जितना मालूम होता है बस वही...।"

विश्वम्भर के युवा साथी देश और राजनीति को लेकर व्यंग्य कर हँस रहे थे। विश्वम्भर के आने का पता चलने पर गाँव के कई लोग उससे मिलने आ रहे थे। ऐसा लग रहा था कि उन सबको विश्वम्भर बहुत अच्छी तरह जानता था। दलित कार्यकर्ता, आदिवासी महिलाएँ, युवा वर्ग—हर किसी का कोई-न-कोई काम, कुछ

सन्देश…!

बस के आने तक वक़्त के गुजरने का पता ही नहीं चला। राज्य परिवहन की वस होते हुए भी उसकी शक्ल-सूरत देखने लायक थी। अन्दर यात्री भी कम थे। विश्वम्भर, उसके साथी, श्रीधर और आठ-दस आदिवासी स्त्री-पुरुष, केवल इतने ही लोग थे। शीशे और टीन की खड़खड़ाहट में धूल उड़ाती बस चल पड़ी। अपनी आवाज़ उससे ऊपर उठाकर विश्वम्भर राजनीति, समाज व्यवस्था और पुराने आदर्श और मूल्यों को बदलने की आवश्यकता आदि पर बोलने लगा। उसकी वातों में एक संकल्प था और वह विफलता की दुर्गन्ध से मुक्त था। लेकिन इसी के साथ-साथ अपेक्षा-भंग को मानने की सख्ती भी थी।

"स्वतन्त्रतापूर्व काल की बातें छोड़ो। उसके वाद भी साठ से बहत्तर तक भी नवयुवकों में जो ध्येयवाद था, उसका अब कहीं नामोनिशान नज़र नहीं आता।" विश्वम्भर विचारपूर्वक बोल रहा था, "युवकों का नया आन्दोलन था दलित पेन्थर, उसका क्या हाल हुआ है यह तुम अच्छी तरह जानते हो। खैर, उसकी भी वजह अवश्य है। पूँजीवाद की प्रक्रिया में भोगवादी चीज़ों के मोह से कहो या अधिकाधिक सुख-साधन पाने की लालसा से कहो, हमारा मध्यवर्गीय युवक उस तरफ तेजी से खिंचा जा रहा है; मध्यवर्ग में तो जैसे होड़ ही लगी है। सब पैसे के पीछे दौड़ रहे हैं। यहाँ मूल्य और त्याग का कोई स्थान नहीं…"

"यह तो है मध्यवर्गीय युवक की बात। लेकिन समाज के उन दुर्बल घटकों का क्या, जो शोषित हैं और इस स्पर्धा में भाग लेने की क्षमता नहीं रखते ?" श्रीधर ने पूछा ।

"शोषित, दलित आदि दलित क्रान्ति के अग्रज सैनिक हो सकते हैं, यह तो सच है लेकिन उनमें क्रान्ति की चिनगारी फूँकनेवाले मध्यवर्गीय युवक ही होते हैं," विश्वम्भर ने हँसते हुए कहा। "और आज तो मैं देख रहा हूँ कि लगभग सभी मध्यवर्गीय युवक अपने कैरियर के पीछे दौड़ रहे हैं।… बाई द वे, तुम्हारा रहस्य क्या अब भी वैसा ही है ? तुम क्या करने की सोच रहे हो ?"

"क्या कुछ सोच रखना अनिवार्य है ?" श्रीधर ने पूछा।

"लेकिन ढलान से नीचे गिड़गिड़ाती दिशाहीनता में भी तो कुछ नहीं रखा। अरे, हम यात्रा पर भी चलते हैं तो तैयारी करके चलते हैं। यहाँ तो तुम्हारे जीवन की यात्रा का सवाल है और तुमने कुछ नहीं सोचा अभी तक ?"

"फिर वही बात। मैं यही नहीं जानता कि मुझे जाना कहाँ है…क्यों जाऊँ… किसलिए जिऊँ…सारे ही प्रश्न हैं।"

"उफ़, वही तुम्हारी हमेशा की तरह बकवास।" विश्वम्भर ने ऊबकर कहा, "मुझे लगा था, इन सालों में तुम बदल गये होगे। लेकिन तुम तो कुछ भी आगे

नहीं वढ़े। तुममें कोई परिवर्तन क्यों नहीं आया ?"

विश्वम्भर की उकताहट नेक थी। श्रीधर बिना कुछ वोले बाहर देख रहा था। बस अव धीरे-धीरे पहाड़ी से ऊपर चढ़ रही थी। शाम ढल रही थी। पहाड़ी बंजर पड़ी थी। आसपास कोई प्राणी या पक्षी नज़र नहीं आ रहा था।

"कभी-कभी अपने को मैं एक पत्थर जैसा लगता हूँ। पत्थर कभी वदलता नहीं है। हाँ टूटकर चूर-चूर हो जाता है।" श्रीधर ने गरदन घुमाकर कहा।

"नॉन्सेन्स ! तुमने केवल आलस या स्वार्थ से खुद को भरमाया है। अपने आपको सवसे वचाकर रखा है। कोई जिम्मेवारी नहीं ले लेना चाहते, क्योंकि जिम्मेवारी लेते हो तो फौरन आपके जीवन को कोई प्रयोजन जो प्राप्त होता है।"

श्रीधर मुस्कुराया। यह या इसके जैसे संवाद कई वार हो चुके थे, शायद इन्हीं शव्दों में। उसे लगा वह उसी चक्कर में गोल-गोल घूम रहा है। फिर उसने अचानक विश्वम्भर से पूछा, "तुमने क्या सोचा है ? तुम हमेशा मुझसे पूछते हो। तुमने अपने लिए क्या सोचा है ?"

"क्या यानी ?" विश्वम्भर ने थोड़ा झुँझलाकर कहा, "मैं जो भी कर रहा हूँ, वह क्या तुम्हें दिखाई नहीं देता ? मैंने अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया है..."

"और तुम्हें अव भी यह लगता है कि तुम्हारा यह निर्णय सही था..." श्रीधर ने वेरहमी से हँसकर कहा।

विश्वम्भर के चेहरे पर कुछ उलट-पुलट हुई। लेकिन फिर अपने आपको सँभालकर उसने आत्मविश्वास के साथ कहा, "निर्णय ग़लत होने पर हम उन्हें बदल सकते हैं, उनको सुधार सकते हैं। श्रीधर, उस वक़्त मेरा निर्णय बिलकुल सही था। अव तुम यह कहोगे कि उस वक़्त मैं आदिवासी युवकों को संगठित कर क्रान्ति की ज्योति प्रज्वलित ऋरने का सपना देख रहा था। तो सचमुच ऐसा रूमानी सपना मैंने अवश्य देखा था। व्यवस्था, एस्टैब्लिशमेण्ट के हाथ कितने लम्वे हैं, एक छोटे-से क्षेत्र में संगठन वनाने से मिनट भर में क्रान्ति नहीं होती, यह अक्ल तव नहीं थी। फिर भी मुझे नहीं लगता, मैंने कोई भूल की है। ऐसे ही रूमानी या बचकाने सपने देखना ही स्वस्थ समाज का एक लक्षण है। ऐसे सपने देखते हुए, व्यवस्था से टकराव लेकर ही युवा वर्ग सीखता है। अब मैं जान चुका हूँ कि जो भी मैं उस वक़्त कर रहा था, वह ठीक ही था। अब भी वैसा होना ही चाहिए। लेकिन ऐसे एक कोने में संगठित होकर कुछ नहीं वनता। समाज में अगर मूलभूत परिवर्तन लाना है तो पूरे समाज को हिलाना होगा।"

विश्वम्भर तनिक रुक गया। बस किसी वीरान जगह में रुकी हुई थी। वहाँ अभी बिजली पहुँची नहीं थी। चारों तरफ से अँधेरा घिरता आ रहा था। कमर सीधी करने के लिए दोनों नीचे उतरे। अपने ही विचारों में मग्न विश्वम्भर ने कहा,

'मैं जानता हूँ कि मुझमें उतनी शक्ति नहीं है। फिर भी मुझसे जितना भी बन पाता है वह करता रहूँगा, समाज के स्वास्थ्य के लिए प्रयत्नशील रहूँगा। चारों तरफ से जब ऐसे प्रयत्न होंगे तो समाज भी हिलेगा। मैंने अपने लिए सोच रखा है। मैं इन आदिवासी लोगों के बीच रहूँगा। संगठन का काम करनेवाले नवयुवक तो मेरे साथ हैं ही। मुझसे जितनी हो सकेगी, उतनी चेतना जगाऊँगा। और यह काम तो सौ जन्म में भी पूरा होनेवाला नहीं है...'

बस-स्टैण्ड पर चाय की एक मात्र दुकान थी। जाहिर था कि वह भी ठीक से चल नहीं रही थी। दो-चार छोटे व्यापारी और विक्रेता यही उसके आश्रयदाता थे। लालटेन की रोशनी में बनायी मिट्टी के तेल की गन्धयुक्त चाय पीकर दोनों फिर बस में बैठ गये। चारों तरफ घना अँधेरा था। घण्टे भर में बस अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गयी। साथ आये एक लड़के के साथ झुग्गी में रात बिताकर विश्वम्भर और श्रीधर सुबह आगे का रास्ता पैदल तय करने चल पड़े। आगे सिर्फ़ पैदल चलने का रास्ता था जो जंगल से गुज़र रहा था। तथाकथित नागरी संस्कृति ही नहीं बल्कि आधुनिक तन्त्र संस्कृति से भी दूर जानेवाली यह यात्रा थी। उस राह पर चलनेवाले वह दोनों ही थे। आसपास छोटे-बड़े पेड़ और पक्षी। नागरी संस्कृति या बीसवीं सदी की कोई निशानी इस वातावरण में नहीं थी। बल्कि इस पूरे क्षेत्र में उन दोनों का अस्तित्व ही बेढंगा लग रहा था।

कल रात विश्वम्भर जो कह रहा था, वह श्रीधर को याद आया। इस दुर्गम जगह में उसने स्वयं को यातायात की पहुँच से दूर अकेले क्यों गाड़ रखा है, इस बात का उसे आश्चर्य हो रहा था। क्या विश्वम्भर अपनी कोई विफलता या निराशा छिपाने की कोशिश कर रहा था ? विश्वम्भर ने अपने पुराने कामरेड दोस्तों का साथ छोड़ दिया था। किसी भी राजनीतिक दल से अब उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। यहाँ पर आना और इस कार्य में लग जाना उसका व्यक्तिगत निर्णय था। उसके अकेलेपन की कल्पना से श्रीधर चिन्तित-सा लगने लगा।

उसके मन के विचारों का सूत्र पकड़कर विश्वम्भर ने कहा, "तुम्हें लगता होगा कि मैं स्वयं को इतना दूर क्यों धकेल रहा हूँ। यह हर किसी की दृष्टि का सवाल है। मैं तुमसे कट रहा हूँ, अकेला पड़ रहा हूँ लेकिन इन लोगों को अब कहीं मैं थोड़ा-सा सभ्य लगने लगा हूँ। उनके क़रीब जाने के लिए पात्र लग रहा हूँ। अगर कुछ दिन रुको तो तुम भी यह फ़र्क़ जान जाओगे।"

विश्वम्भर ठीक ही कह रहा था। बीसवीं सदी की आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति से अछूत उस वीरान पहाड़ी की बस्ती में श्रीधर महीने भर रहने के बाद बहुत कुछ समझ चुका था। श्रीधर का सबसे बड़ा गुण था कि हर क्षण हर चीज़ वह नयी आँखों से देखकर आश्चर्य का अनुभव करता था। वह विश्वम्भर और उन भोले-भाले

आदिवासियों के साथ वन-जंगलों में खूब भटका। वस्तियाँ ऐसी थीं कि यहाँ बाहर से आनेवाले सुसंस्कृत लोग थे—छोटा-मोटा सामान कन्धे पर लादकर लानेवाले विक्रेता, जो नमक, सुइयाँ, दाल, कपड़ा, प्लास्टिक के बर्तन और इसी तरह की चीज़ें लेकर आते और बदले में शहद, वनस्पति, पंछी और जानवरों की चमड़ी ले जाते। 'सरकार' नाम की संकल्पना से यह विभाग अनजान था।

विश्वम्भर ने कहा, "पचास साल पहले यहाँ से दस मील दूर पहाड़ी पर एक गोरा अफसर तम्बू लगाकर रुका था, इतना ही यह लोग जानते हैं। इसके अलावा इन्होंने दो ही नाम सुने हैं— महात्मा गान्धी और इन्दिरा गान्धी।"

"यह तुम धनंजय को क्यों नहीं बताते ?"

"वह जानता है।"

आदिवासियों का जीवन पहली बार देखा तो श्रीधर दंग रह गया। फिर उसकी बेचैनी बढ़ती गयी। छोटे-मोटे काम करके पहाड़ी उतरकर जंगल की चीज़ें बेचनेवाली महिलाएँ या मर्द बस्ती से गाँव जाते और बेचकर उसी रात वापस आ जाते। गाँव-कसवा में उन्हें अच्छा नहीं लगता था।

फटी-पुरानी गृहस्थियाँ, दरिद्रता, कुपोषण से ग्रस्त बालक और अकाल वृद्ध बनी महिलाएँ। कई दिनों तक लोग अपने-अपने घरों में ही बैठे रहते। जंगलों में घूमकर लकड़ी इकट्ठी करते, शहद निकालते और जड़ी-बूटियाँ ढूँढ़ते फिरते। जंगल उजड़ रहा था, इसलिए उनका बुरा हाल था। खाने के लाले पड़ते, लेकिन अनाज मिलने पर उसके साथ जंगली फूलों से बनायी दारू पीकर सो जाना, यही उनका जीवन था। श्रीधर तो चार दिन में ऊब गया। फिर एक दिन उसने विश्वम्भर से पूछा, "यह लोग करते क्या हैं ? यह भी कोई जीना है ? तुम यहाँ पता नहीं कैसे रह लेते हो ! मैं तो भाई ऊब गया। मैं यहाँ से निकल जाना चाहता हूँ। ऐसा ही रहा तो 'डिप्रेशन' आ जाएगा।"

"यही है वह बात, मैं हमेशा यही कहता आया हूँ" विश्वम्भर ने कहा, "इनके संघर्ष को देखने की गम्भीरता और धीरज तुम में नहीं है। तुम स्वयं क्या संघर्ष करोगे ? जरा धीरज रखो, इनका जीवन केवल अनाज और पानी ढूँढ़कर शरीर के व्यवहार चलाने तक सीमित नहीं है। वह उससे बहुत कुछ और है। धीरज रखकर यहाँ पर रुको तो शायद तुम्हारी समझ में आये।"

चार-पाँच दिन लगातार वर्षा हुई। झुग्गी के अन्दर ही रुकना पड़ा। हर तरफ टपकता पानी, चिपचिपाहट और सर्द-गीला वातावरण, मानो सारी बस्ती ठप्प सोयी पड़ी थी। बारिश रुकने पर धूप निकली। लोग बाहर निकले, पहाड़ी हरी-भरी हो गयी थी। नये-नये पंछी चहचहा रहे थे। श्रीधर बाहर निकलकर भटकने लगा। उसको मानो नयी दृष्टि मिली थी। वहाँ की भाषा उसे ठीक से समझ नहीं आती थी

लेकिन इससे उसे कोई अड़चन नहीं हुई। उसने वहाँ के चप्पे-चप्पे से स्वयं को परिचित कराया। यह उसके लिए नया तो नहीं था। बचपन उसने प्रकृति की गोद में ही बिताया था। लेकिन पहले प्रकृति और हम इनमें द्वैत था, यहाँ पर वह द्वैत अद्वैत में बदल गया था। प्रकृति और उसके रूप और आविष्कार मानव-जाति से अलग नहीं थे, बल्कि वह मानव-जीवन के अभाज्य अंग थे। श्रीधर को उपनिषद् के वह सुन्दर चरण याद आये जो उसने पढ़े थे। कुछ ऋचाएँ तो उसने मुखोद्‌गत भी की थीं। श्रीधर को लगा, आज तक उसे उन श्लोकों का अर्थ पूरी तरह समझ में नहीं आया था। उसका अर्थ उसे सही मायने में आदिवासियों ने ही समझाया था। कोई भी पण्डित इन श्लोकों का साक्षात्कारी अर्थ बता नहीं सकता था, जैसे कि कठोपनिषद् का यह श्लोक :

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्वेह।
मृत्योः समृत्युमाप्नोति यदूह नानेव पश्याते ।।

"जो यहाँ है, वहाँ भी है, और जो वहाँ है, वह यहाँ भी है, यानी सृष्टि की वस्तुएँ विभिन्न नज़र आती हैं, लेकिन वह सब एक ही हैं। इस एक तत्त्व का आकलन होना ही मुक्ति है। यह सर्व चराचर एक ही प्राण तत्त्व है।"

या फिर ईशावास्योपनिषद् का यह श्लोक :

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानां ततो न विजुगुप्सते ।।

चराचर की सभी वस्तुएँ और प्राणी हमारे शरीर का एक भाग हैं, यह सत्य अगर कोई समझ जाता है और यह सब भूत मात्र के सुख-दुख अपने मानता है और इन सब चीज़ों का प्राणतत्त्व एक ही है, वह उसे ज्ञात हो जाता है तो उसे किसी से कोई संरक्षण की आवश्यकता नहीं है, उसे किसी से भय नहीं है।

उपनिषद् के रचनाकार जंगल और प्रकृति से पूरी तरह एक हुए होंगे वरना उन्हें इतनी भव्य और बुद्धि को चमत्कृत करनेवाली कल्पनाएँ कैसे मिलतीं ?

उसे एक के बाद एक, अनेक सुन्दर श्लोक याद आते रहे। आदिवासी बस्तियों में ऊँचे पहाड़ों के माथे पर बनायी झोंपड़ियों के आँगन में दरी पर लेटे-लेटे तारों से खचाखच भरे आसमान को देखते हुए वह खुद से गुनगुनाता रहा। उन श्लोकों का अर्थ वह नये सिरे से समझ रहा है, यह सोचकर वह रोमांचित हुआ। अन्तिम सत्य यहाँ है, इस चाँदनी-से खिले हुए आसमान के नीचे।

यही सत्य है—आदिम सत्य। यही प्रकृति का और मेरे अपने जीवन का प्रयोजन है। निसर्ग के साथ इस तरह का तादात्म्य यानी परब्रह्म से भेंट। इससे उच्च अवस्था कोई हो नहीं सकती। मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य समाधि—यह सारे इसी अवस्था के

रूप हैं।

प्रकृति के विराट रूप के साक्षात्कार ने उसे कई दिनों तक मन्त्रमुग्ध कर रखा था। फिर उसे आदिवासियों के जीवन के यथार्थ को सोचने के लिए बाध्य कर दिया। दरिद्रता, अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार, वीमारियाँ, अत्याचार और भुखमरी ने इस विरोधाभास को वहुत कड़ुवा वना दिया है। इन लोगों का प्रकृति से सान्निध्य और उनकी उसके वारे में समृद्ध समझ आदि के वावजूद उन्हें अन्याय और अत्याचार का शिकार होना पड़ता है। यह गाँव में था और शहर में भी। दुनिया भर में यही स्थिति है। इसको इसी तरह स्वीकारना मुश्किल है। कहीं कुछ गड़वड़ है। पूरे विश्व में यह गड़वड़ है। उसे यूँ ही स्वीकारने का अर्थ है अन्याय, अत्याचार, शोषण, विषमता आदि का समर्थन करना। यह कैसे हो सकता है ? लेकिन उसे वदलना है तो इन प्रकृति के पुत्रों की प्रकृति से जो अभिन्नता है, उसे क्षतिग्रस्त करना होगा...

श्रीधर ने अपनी वेचैनी विश्वम्भर को वतायी। जब उसके जाने का समय आया तो उसे वैसे ही वेचैन देखकर विश्वम्भर ने कहा, "अभी रुको...कुछ दिन और यहाँ रहकर देखो।"

"नहीं, यहाँ रहकर इसका समाधान मुझे नहीं मिलेगा। और दूसरा ... मेरी यात्रा की समय-सारणी के अनुसार ही चलना होगा। नहीं तो ... कैसे मिलेंगे ? प्रकल्प आगे कैसे वढ़ेगा ? तुम क्या यहाँ हमेशा के लिए ... हो ? मुझे तो यहाँ रहने से उदासी आती जा रही है। प्रकृति ... तत्त्वात्मक एकता इन लोगों ने खूब अच्छी तरह समझी है। ... इनका क्या भविष्य है ? इनका शोषण, इन पर होने वाला ... कटाई...यह तो इनके अस्तित्व पर ही आक्रमण है ! यह ... सम्मान के साथ कैसे जी सकेंगे। अमेरिका में रेड इण्डियन्स ... लगता है, यहाँ भी इनके साथ वही होगा। वहाँ उन्हें ... और उनका वंश-संहार किया गाया। यहाँ वही प्रक्रिया ... कर देती है।"

"उदास होने का अर्थ है पराजय का ... हारने के लिए कभी राजी नहीं होता।"

"लेकिन यहाँ तुम्हें सिर्फ हार ही मिलेगी ..."

"यह बात नहीं है। इन्हें संगठित ... लाना और दूसरी तरफ लोकतन्त्र की ... शोषण की मात्रा कम करना और ... रखना—ऐसे विभिन्न स्तरों पर ... नहीं होता। संघर्ष करने की तैयारी ...

हो सकते हैं।"

इक्यावन

"नाम ?'

"श्रीधर।"

"वह तो यहाँ लिखा है। वाप का नाम ?"

श्रीधर निःशब्द।

"कहाँ के हो ? तुम्हारा पता क्या है ? क्या करते हो ? यहाँ क्यों और कैसे आये हो ?"

श्रीधर गुमसुम था। रपट लिखते हुए इन प्रश्नों के उत्तर न देने की वजह से सेना के जवानों ने उसकी जमकर ठुकाई की थी।

"वाप का क्या नाम है ? तुम कौन हो ? तुम्हारा परिचय क्या है ?" अधिकारियों ने अलग-अलग शब्दों में और विविध तरीकों से ये प्रश्न उससे पूछे थे। श्रीधर ने कोई उत्तर नहीं दिया था। आखिर में मुख्य अधिकारी ने कहा, "ठीक है। फिलहाल इसे रहने देते हैं···" फिर सामने रखा काग़ज़ उठाकर उसे पढ़ते हुए वह बोला, "हमारी जानकारी के अनुसार हमारे एक अतिसुरक्षित और गोपनीय स्थान पर तुम्हें हिरासत में लिया गया है, ठीक है ?"

"जी हाँ···" श्रीधर ने कहा।

"तुम वहाँ क्यों गये थे, उस दुर्गम स्थान को पार करने के लिए पाँच जगहों पर अत्यन्त सख्त पहरे थे। सेना की चौकियाँ पार करनी पड़ती हैं। उन सन्तरियों की नज़र वचाकर कोई चींटी तक अन्दर नहीं जा सकती । तुमने जो राह बतायी, वह तो व्यावसायिक गिरि-आरोहकों के लिए ठीक है। लेकिन अब उसे भी वन्द कर दिया गया है। तुम वहाँ से क्यों और कैसे आये ?"

"साहव, मैंने जवानों से जो कहा था, वही सत्य है। कैसे आया, यह कहना तो मुश्किल है, लेकिन मैं आया उसी राह से और आध्यात्मिक साधना के लिए ही—'यह पूर्ण सत्य है।"

"क्या तुमने गिरि-आरोहण का प्रशिक्षण लिया है ?"

"नहीं···"

"तुम सीधे-सादे यात्री तो नज़र नहीं आते। तुम्हारी अंग्रेज़ी उच्च दर्ज़े की है। देखने में तुम अच्छे घर के लगते हो।"

"सच है।"

"तुम यात्री नहीं, किसी दूसरे देश के जासूस हो। और उस प्रक्षेपण टावर के पास तुम हिंसक कार्य के लिए आये थे। क्या यह सच नहीं है ? तुम्हारे साथ और कौन था ?"

"कोई नहीं ।"

"फिर तुम यहाँ आये कैसे ?"

बार-बार वही प्रश्न। अब श्रीधर का सिर चकराने लगा था। सेना के सुरक्षा दल ने उसे वहाँ से सेना के कार्यालय में भेज दिया था। उसकी जानकारी उससे निकलवाते समय सेना के जवानों को श्रीधर की पिटाई करनी पड़ी थी।

लेकिन जाँच-पड़ताल अधिकारी के पास आने के बाद श्रीधर से पूर्ण सुसंस्कृत व्यवहार किया गया। कई दिनों बाद उसे नहाने का मौक़ा मिला। साफ़-सुथरे कपड़े मिले। अधिकारियों ने उसे ठीक से खिलाया-पिलाया। फिर उसे सामने बैठाकर बड़ी शान्तिपूर्वक पूछताछ की गयी। फिर उसे तेज प्रकाश में बिठाकर चारों ओर से घने अन्धकार में रखकर प्रश्न पूछे गये।

लगभग तीन दिन श्रीधर की सेना की पुलिस द्वारा जाँच होती रही थी। अब वह अधमरा हो गया था। पल-पल में ग्लानि आ रही थी। नींद से आँखें भारी हो रही थीं। लेकिन बर्फ़ का ठण्डा पानी उसके मुँह पर मार-मारकर उसे जागृत रखा जा रहा था और फिर वही प्रश्न-उत्तरों का सिलसिला।

एक बार श्रीधर को लगा कि वह भी अपनी ज़िद पर क्यों अड़ा है और आत्म-क्लेश मोल ले रहा है ? अगर वह अपना परिचय दे दे तो इस झमेले से तो मुक्ति मिलेगी। लेकिन यह विचार मन में आते ही उसने यह भी सोचा कि यह उसके अस्तित्व का परिचय है, उसकी अस्मिता की कसौटी है। यह सहनी ही पड़ेगी और इससे तपकर शुद्ध रूप में बाहर निकलना होगा। वह ऐसा क्यों कर रहा था यह वह भी स्वयं ठीक से नहीं जानता था लेकिन उसमें ज़िद थी। जेल-यात्रा करने की मानसिक तैयारी भी थी। एक बात ज़रूर थी कि श्रीधर यह जाँच-पड़ताल की प्रक्रिया तटस्थता से देख रहा था। उसका मन कब का हल्का हो चुका था, उसे अपनी स्वतन्त्रता का ज्ञान हो चुका था और ऐसी विचित्र समाधानी अवस्था में श्रीधर अपनी जाँच में तटस्थ रहकर रस ले रहा था। लेकिन जाँच आगे बढ़ना तो असम्भव हो चुका था क्योंकि घूम-फिरकर प्रश्न वहीं पर अटक रहे थे। प्रश्नोत्तर गोल-गोल घूम रहे थे और उधर श्रीधर की ज़िद भी बढ़ती जा रही थी। देखता हूँ अपनी सहन-शक्ति की मर्यादा। इतने प्रयास करने के बाद जो स्वतन्त्रता मिली थी, उसको सुरक्षित

रखने के लिए संघर्ष अनिवार्य था। धीरे-धीरे ज़िद का नशा बढ़ता गया और श्रीधर की सहनशक्ति की मर्यादाओं को ज़्यादा से ज़्यादा परखा गया।

दिन के पाँच-सात घण्टे इन्हीं प्रश्नों की बौछार। इसी के बीच चाय और पानी। फिर अधिकारियों का दूसरा दल आया, वही सवाल। उसे बताया गया कि उसकी पत्नी अस्पताल में दाखिल है और उसका पुत्र किसी दुर्घटना का शिकार हो गया है। श्रीधर की कोई प्रतिक्रिया नहीं थी, वह अब थकने लगा था। उसे भोजन दिया गया और सिगरेट भी। नींद न आने के लिए एक के बाद एक चाय और सिगरेटें। फिर भी नींद रुकती नहीं थी इसलिए चेहरे पर पानी मारा जाता था। कपड़े गीले होने पर कमीज़ उतार दी गयी। अधिकारी बदल रहे थे, सवाल पूछे जा रहे थे। बत्ती की तेज रोशनी श्रीधर पर कायम। नज़र के सामने यह प्रखर प्रकाशमान किरण और बाकी सारा विश्व आदिम अन्धकार में। श्रीधर इस प्रकाशमान गोलाकार में बिलकुल अकेला। आदिमानव की तरह। धनगम्भीर काल के पेट से आतंकयुक्त प्रश्न आकाशवाणी की तरह गरजते—

"कौन हो तुम ? यहाँ किसलिए आये ? तुम क्या करना चाहते हो ? बताओ···बताओ नहीं तो तुम्हें लाखों निरर्थक जन्मों की और हेतु शून्य जीवन की सज़ा भुगतनी पड़ेगी। बताओ, कौन हो तुम ?"

कितने गम्भीर और मूलभूत प्रश्न हैं ये। जब से पैदा हुआ हूँ, इसी में सारा जीवन लगा दिया है और आप इन प्रश्नों के उत्तर चुटकी बजाते ही पाना चाहते हैं ? सिर्फ़ मैं ही नहीं, जब से विचार करने की क्षमता का पता चला है, आदमी यह सब प्रश्न बार-बार पूछता आ रहा है। अनेक महात्मा, तत्त्ववेत्ता, ज्ञानी, साक्षात्कारी, बुद्धिवादी, ईश्वरवादी व्यक्तियों ने अपनी-अपनी तरफ से इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न किया है लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि इनमें से कोई भी सही जवाब नहीं दे पाया है, क्योंकि इसका कोई उत्तर है ही नहीं। उसे सिर्फ़ समझना पड़ता है और अपना-अपना रास्ता खुद ढूँढ़ना पड़ता है।

मुँह पर तपाक से पानी का फव्वारा।

आँखें खोलकर आधी-अधूरी चेतना अवस्था में श्रीधर ने एक अधिकारी को मुनमुनाते देखा।

"डॅम इट···इस ग़रीब बेचारे पर कैसे प्रयोग किये जा रहे हैं आप ? मुझे तो वह बेवकूफ़ नज़र आता है। छोड़ दीजिए इसे।"

"स्टुपिड···यह कोई तरीक़ा नहीं हुआ। हमें पूरी तरह सावधानी बरतनी चाहिए। एक तो इसकी तस्वीर और वर्णन हमारे डोसीथर से मिलता है। और वह मिला भी ऐसी जगह में है कि उसे आसानी से छोड़ कैसे दिया जा सकता है ?"

श्रीधर को जागृत देखकर एक वरिष्ठ अधिकारी की अनुनयभरी आवाज़ अन्धकार

से आने लगी।

"कम ऑन नाऊ श्रीधर, मैं मानता हूँ कि तुम एक सामान्य यात्री हो। तुम अपना नाम-पता बता क्यों नहीं देते ? तुम स्वतन्त्र भारत के नागरिक हो, ऐसा कहते हो न ? हम इस देश की रक्षा का कर्तव्य कर रहे हैं और इसीलिए इस जाँच-पड़ताल में हमें तुम्हारे सहयोग की आवश्यकता है। तुम अपना परिचय दे दो, बात खत्म हो जाएगी। यात्रा-स्थल में तुम्हारी संशयास्पद गतिविधियों की जानकारी हमारे पास हैं। तुम्हारी तस्वीरें भी उस सन्देहास्पद व्यक्ति से मिलती हैं। इसलिए हम तुम्हें यों ही मुक्त नहीं कर सकते। इसलिए बता दो. कौन हो तुम ? अपना परिचय दो…"

श्रीधर ने आँखें बन्द कीं और असहायता में गरदन हिलायी, होंठ भींच लिये और दाँत पर दाँत रखकर जीभ बन्द कर ली। मन-ही-मन वह मुस्करा भी दिया। उसे इन अधिकारियों पर गुस्सा नहीं आ रहा था। वह क्षमाशील था। वे अधिकारी तो सिर्फ़ अपना कर्तव्य कर रहे थे। श्रीधर भी अपनी नयी सहनशीलता और क्षमाशीलता का अनुमान लगा रहा था। अचानक उसके पेट में खलबली-सी मच गयी। पेट में न जाने कितनी चाय चली गयी थी।

"क्या मैं टायलेट जा सकता हूँ ?" उसने आँखें खोलकर उस तेज़ रोशनी में सामने देखते हुए पूछा।

"ज़रूर ! क्यों नहीं।"

दो मिनट में कमोडवाली एक कुर्सी एक प्रकाश में आयी।

"यहीं पर ?" उसने पूछा ।

"हाँ, यहीं पर"— अँधेरे से आवाज़ आयी, "जब तक तुम हमारे प्रश्नों के सही उत्तर नहीं देते, तब तक तुम यहाँ से हिल नहीं सकते।"

लाज, संकोच शरम आदि का कोई प्रश्न ही नहीं था। शरीर से एकमेव वस्त्र उतारकर श्रीधर ने उसी रोशनी में सब विधि निबटायी। फिर प्रश्नों की बौछार। अब वह प्रकाश-किरनें उसकी आँखों में तीर की तरह चुभ रही थीं उसे अपना अस्तित्व ही अवास्तव लगने लगा। अपने जीवन की स्मृति उसे सपने जैसी धुँधली-सी और अवास्तव लगने लगी। वह श्रीधर कौन था जो एक समृद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनी के सर्वोच्च स्थान पर था ? वह कोई और ही था। माँ, बाबा, वृन्दा, शशी…तो क्या यह सब मेरे जीवन में आकर चले गये हैं ? शायद गये भी हों। लेकिन उनका मेरे जीवन को स्पर्श आभासात्मक लगता है। सच है सिर्फ़ मेरा यहाँ का अस्तित्व और मेरा शरीर। चारों तरफ से तीर बरसाने वाली वह प्रकाश किरण और मैं।

वस्त्रहीन श्रीधर प्रखर प्रकाश में अकेला। बाकी सर्वत्र आदिम अन्धकार में डूबा हुआ। विश्व की मर्यादा केवल प्रकाश के उस गोलाकार तक। अस्तित्व उस क्षण की शारीरिक वेदनाओं की संवेदना तक मर्यादित। आसपास के अन्धकार गर्भ की

अनन्त खाई से निकलने वाले अशरीरी, अपौरुषेय घनगम्भीर प्रश्न :

तुम कौन हो ?

कहाँ जा रहे हो ?

किसलिए ?

तुम्हारे जीवन का क्या प्रयोजन है ?

तुम्हारे जीवन का क्या अर्थ है ?

क्या सन्दर्भ है और क्या इतिहास ?

तुम कौन हो ?

प्रश्नों की गरजती बौछार। आँखों के सामने कड़कती बिजली। मुँह पर पानी की मार। फिर वही गड़गड़ाहट भरा कोलाहल—मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ जैसी सभी संवेदनाएँ जहाँ मिटा दी गई हैं। केवल स्थल काल सापेक्ष अस्तित्व और वेदनाओं के रूप से इस अस्तित्व की गहरी, प्रत्ययकारी संवेदना। जब यह वेदनाएँ खत्म होंगी तो अस्तित्व भी खत्म होगा। यह चक्र कब से चल रहा है ? कितने घण्टे ? कितने दिन ? बाहर दिन है या रात ? धूप है या वर्षा ? लेकिन उस संवेदनाहीनता की मर्यादा तक पहुँचकर भी श्रीधर की सहज ज़िद बनी हुई थी।

ऐसी ही अचेतना के बीच से जागते हुए श्रीधर ने फिर अस्तित्व का सहारा पकड़ लिया। शरीर की नसनस से बिजली की तरह चीरकर जानेवाली अतीत वेदनाओं की लहरों पर काबू पाकर बड़ी मुश्किल से उसने आँखें खोलीं। प्रकाश स्रोत के बगल में खड़ी एक धुँधली-सी आकृति उसे ग़ौर से देख रही थी, ऐसा उसे लगा। न जाने कब से वह उसे इस तरह देख रहा था। कुछ देर बाद वह आकृति अँधेरे में फिर खो गयी। शारीरिक सहनशीलता की सीमा तक पहुँचे श्रीधर को अचेत में जाने से पहले सिर्फ़ कुछ शब्द सुनाई दिये, पर उनका अर्थ समझ में नहीं आया।

"रुक जाइए। कुछ देर तक इस जाँच का काम रोक दीजिए, मुझे लगता है, मैं इस व्यक्ति को अच्छी तरह जानता हूँ।"

"आर यू श्योर ? अब वह टूटने ही वाला है। घण्टे भर में बोल पड़ेगा।"

"चिन्ता न कीजिए...आपको पूर्ण रूप से आश्वस्त करनेवाले प्रमाण मैं आपको दूँगा।"

बावन

विश्वम्भर की उस आदिवासी बस्ती से निकलकर श्रीधर मध्य प्रदेश और उसके बाद बिहार चला गया। वहाँ उसने राँची और धनवाद की खानों में खपते कामगारों के साथ कुछ महीने विताये। धरती के पेट में गहराई तक जाने वाले विवेक। उग्र अँधेरा, दम घोटनेवाली वह अजीब-सी गन्ध और पसीना। दस-दस घण्टे मेहनत करके, पसीना बहाकर नाम मात्र रोज़गारी पर चलनेवाली गृहस्थियाँ, कामगारों की रोज़गारी में से अपनी दक्षिणा निकालनेवाले दलाल उसने देखा कि कामगारों का खून चूसकर, कोयला चुराकर, बाहर बेचकर, दलाल। अच्छा-खासा कमा रहे हैं। रुपयों की ताक़त पर राजनीतिक नेता बन रहे हैं। कामगार बस्ती में पाशवी बल पर लोगों पर दवाव रखनेवाले गुण्डों की टोलियाँ देखीं। इन टोलियों को संरक्षण देनेवाले और उनके कन्धे पर बन्दूक रखकर नीति-अनीति को भुलाकर राजनीति करनेवाले नेता देखे। श्रीधर उनके इस तरह से कमाये गये राजनीतिक सामर्थ्य को देखकर दंग रह गया।

वहाँ से श्रीधर कलकत्ता गया। कलकत्ता की बेहिसाव झुग्गियाँ उसके लिए अपरिचित नहीं थीं। लेकिन यहाँ की दरिद्रता और भी अधिक भयानक और अधिक लाचार थी। महानगरी बम्बई में कम-से-कम लोगों को खाने-पीने के लाले नहीं थे। यहाँ दरिद्रता की अन्तिम लाचारी की ज़हरीली दुर्गन्ध थी। उसने हुगली नदी के तीर पर काली का मन्दिर देखा। वहाँ पर बलि के बकरे और खून की नदियाँ देखकर उसे उल्टी आ गयी। उसने निसर्ग सम्पन्न, उपजाऊ भूमि के बिहार की दरिद्रता, अज्ञान और शोषण देखा। वहाँ के क्रूर ज़मींदारों के हाथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी रगड़े जानेवाले भूमिहीन मज़दूर देखे। दलित देखे, जिसकी लाठी उसकी भैंस यही प्रकृति का क़ायदा है, यह वह समझा और इसी क़ायदे से मानव-जाति की लड़ाई यानी संस्कृति की दिशा में क़दम बढ़ाना है, यही अनुमान उसने लगाया।

अखिल भारत से प्रयाग के गंगा-जमुना के संगम पर आनेवाले भोले श्रद्धालु उसने देखे। उन-जैसों के स्वर्गस्थ पितरों को थाली-प्याला, अन्न, वस्त्र, बिस्तर और सवत्स धेनु का दान पहुँचाने का ठेका लेनेवाले पण्डे श्रीधर ने देखे। उसी के साथ-साथ मृतकों के अस्थिकलश विसर्जित होने पर उससे एकाध सिक्का हथियाने के लिए झपटनेवाले कृश, अर्धनग्न बच्चों के जत्थे भी देखे। वाराणसी में गंगा-तीर पर जलती चिताएँ और लड़की बचाने के लिए अधजली चिताओं का शव उठाकर नदी में बहा देनेवाले कंगाल भी देखे। इसी के साथ-साथ गंगा के साथ न जाने कहाँ से बहते आये और सड़कर संगमरंमर जैसे सफ़ेद हुए शव उसे नज़र आये। उन शवों की

आँखें कौवों ने चुग ली थीं। काशी की वेद-पाठशालाओं में भोर में होनेवाला घनगम्भीर वेदऋचा का पठन उसने सुना और श्रद्धालु लोगों को पाई-पाई के लिए लूटनेवाले पण्डित, पुरोहित, पण्डे, रिक्शावाले, ताँगेवाले, दुकानदार देखे। वाराणसी की गन्दी गलियों से वह घूमा और काशी-विश्वेश्वर के दर्शन हेतु भरी खचाखच भीड़ को देखकर उसका दम घुटने लगा। यह सब देखकर उसे कोफ्त हो रही थी, वह परेशान हो रहा था और घृणायुक्त तिरस्कार से मन भर आया था, लेकिन इसके बावजूद वह मानव-व्यवहार से विस्मित होकर विनम्र हो रहा था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि इन तीर्थ-स्थानों पर अपने ठगे जाने का पूरा ज्ञान होते हुए भी लोग परमेश्वर या स्थान की महिमा पर श्रद्धा रखकर वहाँ आ रहे थे। उनकी वह श्रद्धा अडिग थी। गन्दगी, कुव्यवस्था, गड़बड़, ठगी, चालाकी, धर्म और ईश्वर का व्यापार, दर्शन के लिए चला काला बाज़ार, क्रियाकर्म के लिए पण्डों से और पुरोहितों से होनेवाली सौदेबाज़ी—इनमें से किसी का विपरीत असर श्रद्धा पर हो नहीं रहा था। उल्टा, इन सबसे गुज़र कर वह और भी साफ़ और उज्ज्वल हो रही थी। श्रीधर को लगा, हिन्दू धर्म मति को गुम करनेवाला एक धर्म है और उस पर लोगों की श्रद्धा सचमुच अपार है। इस श्रद्धा के विराट रूप का दर्शन उसे पण्ढरपुर की यात्रा में भी हुआ था। दंग करनेवाली उसी श्रद्धा का साक्षात्कार उसे बद्री, केदार और गंगोत्री में भी हुआ था। उसने हरिद्वार के घाट पर बुखार में जलती विकलांग वृद्धाओं को बहुत निष्ठा के साथ बर्फ़ीले ठण्डे पानी में नहाते देखा और वह अवाक् रह गया। जिनके लिए घर की सीढ़ियाँ तक चढ़ना दुशवार होगा, ऐसे जर्जर वृद्धों को उसने लाठी का सहारा लेकर गंगोत्री या अमरनाथ का विकट मार्ग पार करते देखा और वह दंग रह गया।

सच, श्रद्धा एक स्वतन्त्र शक्ति है जो असम्भव को सम्भव बनाने का जादू करती है, ऐसा उसे लगने लगा। उसका अपना अश्रद्ध होना उसे बहुत असुविधाजनक लग रहा था। कुछ क्षणों के लिए उसे उन कोटि-कोटि भाग्यशाली श्रद्धावानों से ईर्ष्या होने लगी थी, जो हिन्दू धर्म क्या है, यह भी ठीक से नहीं जानते थे। उन्होंने वेदों का अध्ययन नहीं किया था, उपनिषदों का अभ्यास नहीं किया था। शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत कूट आध्यात्मिक सिद्धान्तों की उन्हें गन्ध तक न मिली होगी लेकिन फिर भी जैसे उन्हें मन ही मन हिन्दू धर्म के रहस्य का आकलन हो चुका था। कदाचित् वह उस रहस्य का भेद जानने के इच्छुक भी नहीं थे। अस्तित्व, आत्मज्ञान या विश्व के प्रयोजन के रहस्य को लेकर उन्हें कोई प्रश्न परेशान नहीं कर रहा था। उनमें वैचारिक सन्देह नहीं था। उनके पास जो अगम्य, अपार श्रद्धा थी उसने उनका सारा जीवन आसान और सुन्दर बना दिया था। आत्मिक बेचैनी खत्म करने का सबसे आसान मार्ग था—श्रद्धालु बनना। पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त जैसी कल्पनाओं पर श्रद्धा हो,

तो विलक्षण और भयानक प्रश्नों के उत्तर चुटकी भर में मिल जाते हैं। अन्याय, अत्याचार, विषमता, दरिद्रता और शोषण—इन सबका कितना आसान और सहज समर्थन धर्म में मिल जाता है। सिर्फ़ बुद्धि प्रामाण्यवाद का आग्रह छोड़कर लीन होकर श्रद्धालु बनने भर की देर है। विश्वास रखना सीखना चाहिए।

"श्रद्धावान् मनुष्य का जीवन, यही सच्चा सुखी जीवन है, श्रीधर ने शशी को पत्र लिखा। अपनी यात्रा में उसने पत्र बहुत कम लिखे। अपने प्रकल्प की दैनन्दिनी लिखने का काम होता था और इसीलिए भ्रमण के दौरान बहुत विस्तार से लिखने का समय नहीं होता था। ऐसे ही श्रद्धा के जादू से प्रमाणित मनःस्थिति में उसने लिखा, "श्रद्धालु जनों के जीवन में उन्हें हेतु या सूत्र नज़र आ सकता है। संसार की सभी विकट समस्याएँ उन्हें मिथ्या लगती हैं, निसर्ग के सारे संकट उन्हें निरर्थक लगते हैं। श्रद्धा का अतार्किक आधार एक बार स्वीकार लो तो विश्व के कई रहस्य आसानी से खुल जाते हैं। बल्कि श्रद्धावानों को कभी कोई उलझन लगती ही नहीं है, समस्याएँ डराती ही नहीं हैं, वह बेचैन होते ही नहीं हैं। उनका जीवन सहज गम्भीर हो जाता है। धर्म और श्रद्धा एक अफीम की गोली है, यह सच है लेकिन उसी के साथ-साथ यह भी पाया जाता है कि केवल श्रद्धा के बल पर लोग कितने कठिन काम आसानी से कर लेते हैं। मुझे भी कई बार लगता है कि अपनी आत्मिक परेशानी या बेचैनी दूर करने का एकमात्र मार्ग है श्रद्धालु बनना। लेकिन मैं यह भी अच्छी तरह जानता हूँ कि वह मार्ग मेरे लिए नहीं है। इसलिए यह शोधयात्रा ऐसी ही चलती रहेगी। सच, कितना अच्छा होता अगर मैं श्रद्धावान् होता !"

लेकिन पत्र भेज देने के बाद श्रीधर को लगा कि ज्ञान के बिना श्रद्धा का कोई अर्थ नहीं, वह अन्धश्रद्धा-जैसी ही है। मरी आई से मिन्नत माँगने वाले या किसी महाराज के टोने-टोटके की शरण लेनेवाले लोग भी श्रद्धालु होते हैं। उसने पूरे शरीर पर भस्म लगाकर घूमने वाले नागा-बैरागी देखे और सारा दिन चरस और गाँजा के नशे में चूर गुँसाई भी देखे। ज्ञान बिना श्रद्धा रखना, छान-बीन के बगैर ही विश्वास रखना, सम्मोहन के समान ही है। मादक पदार्थों के सेवन से कुछ समय आदमी संसार की चिन्ताएँ भूल जाता है। लेकिन यह तो केवल कुछ समय के लिए दूर भागना है, जिसके विघातक परिणाम उसने स्वयं देखे हैं। वही बात अन्धश्रद्धा की है। श्रद्धावान् होने का अर्थ है अपनी बुद्धि, सारासार विचार-शक्ति, स्वतन्त्र रूप से सोचने की शक्ति, जिज्ञासा और अपने प्रश्न गिरवी रख देना।

श्रीधर ने धनंजय को लिखा—

"श्रद्धा को चाहते हुए भी बेझिझक उसका स्वीकार करने जितना आगमिक मैं अभी हुआ नहीं हूँ। मेरा अश्रद्ध होना मुझे अच्छा लग रहा है। फिर भी यह लगता है कि मुझे किसी सशक्त आधार की आवश्यकता है। मैं ऐसे किसी तत्त्व की तलाश

में हूँ जो मेरी तमाम शंकाओं का निरसन करे। जिससे जग की तमाम समस्याएँ, विरोधाभास, व्यग्रता और अनाचार का एक सुसूत्र स्पष्टीकरण मिल सके, ऐसा कुछ ढूँढ़ रहा हूँ। अर्थात् ऐसी चीज़ की आशा रखना भी एक तरह का भोलापन ही है यह मैं जानता हूँ और इसीलिए मेरी यह यात्रा और खोज ज़ारी है।"

तिरेपन

मैले वस्त्र को उबलते पानी में खूब सारा साबुन डालकर धोने के बाद जब वह साफ़ होकर निकलता है या फिर तप्त अग्निकुण्ड से सारी अशुद्धियों को त्याग कर दमकता सोना जैसे बाहर निकलता है, वही श्रीधर की स्थिति थी। उस सेना के थाने से मुक्त श्रीधर एक नया इन्सान था। जीवन की बची-खुची व्यग्रता के जाल हटाकर अब साफ-सुथरे मन से वह नये जीवन में पदार्पण कर रहा था। अपना दफ्तर छोड़ने के बाद उसने स्वयं को एक यातना-चक्र से निचोड़कर बाहर निकाला था। उसके जीवन की सारी विकृति और आशंकाओं का ज़हर बाहर निकल चुका था। प्रकाश-गोल के बाहर उसने इस एक आकृति की झलक देखी थी। और वह दीर्घ अचेतना में चला गया था। यह ग्लानि एक सपने की तरह थी। हमेशा का सपना, सिर्फ़ इस सपने का अन्त अलग था। उस अन्धकारमय सुरंग से रेंगकर बाहर निकलते हुए आसपास की दीवारें पास आकर श्रीधर को चारों तरफ से दबोच रही थीं। श्रीधर का दम घुटने लगा। उसका शरीर किसी की अजस्र मुट्ठी में मसला जा रहा था। वह चूर-चूर हो रहा था। असह्य वेदनाओं से उसका पूरा बदन सुलग उठा था। क्या उसका यही अन्त है ? आगे न रास्ता है, न कोई रोशनी···यह कैसे सम्भव है ? आखिर में हारकर श्रीधर ने हलचल रोक ली। बिना वजह कीड़े-मकोड़ों की तरह छटपटाने में क्या रखा था ! उसी स्थिति में निश्चल पड़े रहना ही उसे ठीक लगा। चाहे जो भी हो जाए, इस शरीर का। इस शरीर के अलावा भी तो अस्तित्व है, बाहर भी सारी दुनिया फैली हुई है। उस अवस्था में भी श्रीधर की जीवनेच्छा अक्षत थी। वह अनायास ही अस्तित्व से हाथ धो बैठना नहीं चाहता था। श्रीधर ने अपना सारा बल समेटा और वह अपने आपको उस सुरंग से बाहर निकालने का प्रयास करने लगा। धीरे-धीरे जैसे-तैसे रेंगते हुए वह केवल अटूट इच्छा-शक्ति के बल पर आगे खिसकने लगा। आगे··· और आगे, और यह क्या, ताजी हवा की लहर कहाँ से आयी ? अवश्य आगे रास्ता है। क्या दीवारों का दबाव कुछ हल्का पड़ रहा

है? और आगे, श्रीधर ने देखा कि वह सँकरी सुरंग फैलती जा रही है। वह प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ने लगा। अब उसका दम घुट नहीं रहा था। कुछ ही देर में सुरंग का फैलाव उतना बड़ा हो गया था, जहाँ वह बैठकर खिसक सकता था··· कुछ देर बाद वह खड़ा होकर किंचित् झुककर आगे बढ़ने लगा। वह देखो प्रकाश की किरण, श्रीधर प्रोत्साहित होकर आगे बढ़ा। अब उसके शरीर की वेदनाएँ न जाने कहाँ ग़ायब हो गयी थीं। शरीर रूई की तरह हल्का और मन प्रसन्न लग रहा था।

श्रीधर की जब आँख खुली तो वह नरम-गरम बिस्तर पर लेटा हुआ था। उसने आँख खोलकर लम्बी साँस ली और वह यह समझ चुका था कि उसका नव जीवन शुरू हो रहा है। उसके शरीर से आलस और मन से शंका-प्रशंकाओं की काई हट गयी थी—उसे सर्वज्ञान हुआ है, जो न अपूर्व है, न ही अपवादात्मक। झुग्गी-झोंपड़ियों में संघर्ष करनेवाली वह महिलाएँ, रोज़गारी पर पत्थर फोड़नेवाले अकालग्रस्त किसान, जंगल में विमुक्त संचार करनेवाले जंगल-पुत्र और कसाई द्वारा आगे खींचा जानेवाला वह मेमना—सब ऐसे ही ज्ञानी होते हैं। जीवन में क्या करना है, यह वह जानते हैं और पूरी लगन से वह कठिनाइयों का सामना करते हैं। अपने कैरियर के उच्चांक तक पहुँचते हुए श्रीधर बहुत घमण्ड के साथ अपने आपसे कहता था कि मैं सम्पूर्ण हूँ, समग्र हूँ, सनातन हूँ, स्वयंसिद्ध हूँ, लेकिन इस भावना से उसका सच्चा साक्षात्कार अब हुआ था। मैं यानी केवल यह शरीर नहीं, इस शरीर के साथ संलग्न सम्पूर्ण विश्व। फिर से निद्राधीन होने से पहले उसने चारों तरफ देखा। एक स्वच्छ सुन्दर कमरे में वह एक पलँग पर लेटा हुआ था। वह पलँग मच्छरदानी से आच्छादित था। सामने सफ़ेद दीवार थी जिस पर विशाल प्रपात का उत्फुल्ल जोश दर्शानेवाला चित्र था। बगल में रखी छोटी-सी मेज़ पर फूलदान में सुन्दर फूल लगे हुए थे। खिड़की से बाहर तरोताजा और रंग-बिरंगे फूलों से महकता बगीचा था और उससे भी परे धीर-गम्भीर हिमालय के हिमाच्छादित शिखर। उस गन्धमय वातावरण में श्रीधर ने फिर एक बार लम्बी साँस ली और उसे फौरन नींद आ गयी।

फिर न जाने कितने दिनों तक श्रीधर इस तरह अर्धनिद्रित अवस्था में पड़ा रहा। उसकी बहुत अच्छी तरह देखभाल हो रही थी। नर्सें और डॉक्टर आकर उसकी जाँच कर जाते थे। उसे नियमित रूप से दवाइयाँ और इंजेक्शन दिये जा रहे थे। बढ़िया भोजन दिया जा रहा था। पढ़ने के लिए पुस्तकें दी जाती थीं। बीच-बीच में कुछ अधिकारी आकर दो-चार प्रश्न पूछ लेते थे। काफ़ी दिनों बाद जब उसकी छुट्टी हुई तो उसकी देखभाल करनेवाले अधिकारी ने श्रीधर को एक लम्बे-चौड़े अधिकारी को सौंपते हुए मुस्कुराकर कहा, "अपना ध्यान रखना, फिर से इस तरह रास्ता भूलकर यों नहीं भटकना, तुमसे भी ज़्यादा परेशानी हमें होती है।"

श्रीधर के वदन पर साफ़ धुले हुए उसके अपने कपड़े थे। उसकी अच्छी तरह दाढ़ी बनायी गयी थी। उसका शरीर अब छरहरा हो गया था। उसके सामने एक युवा, लम्बा-चौड़ा और लाल-गोरे वर्ण का एक सेना का अधिकारी खड़ा था, जो चंचल-भाव से उसे देख रहा था। श्रीधर याद कर रहा था कि क्या उसने कभी उसे देखा है ? इतने में उस पहलेवाले अधिकारी ने उनका परिचय कराया।

"इनसे मिलिए, यह हैं कर्नल जगत···"

"जगत···तुम ?" उसका हाथ दवाकर आँखें फाड़कर उसे देखते हुए श्रीधर चिल्लाया।

"ट्रूली योर्स···।" ज़ोर से उसका हाथ हिलाते हुए और फिर श्रीधर के गले लगते हुए जगत ने कहा।

दोनों कुछ देर तक वहीं खड़े-खड़े एक-दूसरे को देख रहे थे। श्रीधर के चेहरे पर आश्चर्य के भाव थे। यह यकीनन जगत है, शायद इसीलिए उसको कहीं देखने का एहसास हो रहा था। इसके इस वलदण्ड शरीर में और लश्करी दौड़-धूप से अंकित चेहरे के पीछे वही ग्यारह वर्षीय, भूरे वर्ण का और वड़ी-बड़ी संवेदनशील आँखों वाला बच्चा छुपा हुआ था।

"तुमने मुझे नहीं पहचाना। लेकिन मैंने तुम्हें तुम्हारी दाढ़ी के जंगल के पीछे से भी पहचान लिया।" जगत हँस रहा था। "कितने साल हो गये हमें मिले और मैं इसी विभाग में हूँ, क्या यह तक भूल गये थे ?"

"मैं सोच भी कैसे सकता था ? तुम्हारा पता हमेशा द्वारा ए. पी. ओ. होता है और फिर पिछले पाँच-सात वर्षों में पत्र भी कहाँ लिखा है ?"

"फिर भी तुमने मुझे क्यों नहीं पहचाना ?"

श्रीधर ने मुस्कुरा कर जवाव दिया, "यह तो मेरी ग़लती है। मुझे लगता है, हम लगभग बीस वर्षों के बाद मिल रहे हैं। हमारी आखिरी मुलाकात में तुम मुझसे कद में काफ़ी छोटे थे और सच तो यह है क़ि मेरी आँखों के सामने अब भी वही जगत है···।"

दोनों दोस्त हँस पड़े।

"राइट ! लेकिन मैंने तुम्हें सही पहचान लिया··· केवल इण्ट्यूशन से··· राइट ?"

आते ही जीप में श्रीधर को बिठाते हुए जगत ने कहा, "इण्ट्यूशन तो खैर था ही। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि मैंने कुछ बिजनेस पत्रिकाओं में तुम्हारी तस्वीरें देखी थीं। इसीलिए इस भरपूर दाढ़ी के बावजूद मैं तुम्हें पहचान सका। तुम्हारे बारे में छपी सब चीज़ें मैंने सँभालकर रखी हुई हैं। यू आर अ बिग बॉस, है न ?"

जगत ने जव गाड़ी शुरू की तब श्रीधर को लगा कि वह अब नयी दुनिया में नव प्रवेश कर रहा है। वह अब नया श्रीधर था और वह अब एक नयी दुनिया

थी। वह नयी शुरुआत थी। इस जग में अपना स्थान और अपना प्रयोजन वह अच्छी तरह जानता था। इस जग के प्रति उसके कुछ विशिष्ट कर्तव्य हैं, जो उसे निभाने हैं। श्रीधर के मन में आत्मविश्वास था। उसका मन हिमालय या आकाश की तरह प्रशान्त था। उसकी संवेदना पर भी शान्ति-युक्त सन्तोष का आवरण था। अब वह जानता था कि उसे क्या करना है।

"इतने बड़े बॉस होने के बाद भी तुमने उन्हें अपनी पहचान देने में आनाकानी क्यों की ? ··· उसी के फलस्वरूप तुम्हें इतने कष्ट सहने पड़े।" उस ऊबड़-खाबड़ रास्ते से कुशलतापूर्वक जीप घुमाकर आगे निकालते हुए जगत ने पूछा। जगत के गाड़ी चलाने में तेजी थी, सफ़ाई थी और कुछ गुरूर भी। उसने गहरे कत्थई रंग की गरम वर्दी पहन रखी थी। उसके कन्धे पर लेफ्टीनेण्ट कर्नल के ओहदे के चिह्न थे। छाती पर रंग-बिरंगी पट्टियाँ, उसके गठीले शरीर में पावर हाउस जैसी ज़बरदस्त ताक़त रखने का आभास दिला रही थीं। उसके इस नये रूप को मन-ही-मन सराहता श्रीधर बोला, "पहचान क्या दिलाता ? मैं एक नया श्रीधर हूँ। पुराना श्रीधर अब नहीं रहा। मैं भूतकाल नकारना नहीं चाहता लेकिन मुझे उसकी शृंखलाओं से स्वयं को बाँधना भी नहीं है। मुझे उस जाल में फँसना नहीं है। इस ज़िद के पीछे यही एक कारण है। मैं नये सिरे से जीवन शुरू करना चाहता हूँ। उसके लिए ऐसे ही कष्ट उठाना तो बहुत नगण्य है।···"

श्रीधर का पहेलियाँ बुझाते हुए बोलना पूरी तरह समझ में आने का संकेत देता जगत मुस्कुराया, "तुम ज़रा भी नहीं बदले श्रीधर। तुम्हारी ज़िद भी वही है, लेकिन उसी के कारण तुम्हारी रिहाई कितनी मुश्किल हो गयी थी, इसका अन्दाज़ तुम लगा नहीं सकते।"

जिस सैनिकी अस्पताल से श्रीधर की छुट्टी हुई थी वहाँ से जगत की पोस्टिंग काफ़ी दूर थी। उन्हें वहाँ ले जाने वाली सड़क हिमालय की पहाड़ियों से गुज़र रही थी। आसमान साफ था और दोपहर के सूरज की तेज किरणों से बचने के लिए जगत ने धूप का चश्मा पहन रखा था। रास्ते में जगह-जगह सेना के जवानों से भरी जीपें और ट्रक नज़र आ रहे थे। जगत को देखते ही जवान सैनिकी सलाम दे रहे थे। जगत भी उनका प्रत्युत्तर दे रहा था।

"तुम जहाँ पहुँचे थे, वह हमारी इकाई की अत्यन्त गोपनीय जगह है।" जगत ने बताया, "दो दिन पहले ही हमें विश्वसनीय सूत्रों से पता चला था कि घातपात में माहिर एक विदेशी टोली हमारी इस चौकी पर आक्रमण करनेवाली है इसलिए हमने चारों तरफ से सुरक्षा और भी कड़ी कर दी थी। सच कहता हूँ, जब तुम इस सबको आसानी से लाँघकर वहाँ पहुँच गये तो हमारे सारे अधिकारी हक्के-बक्के रह गये। इतनी मज़बूत व्यवस्था को भेदकर किसी अकेली जान का ऊपर पहुँचना

अशक्य था। तुम जिस मार्ग से ऊपर पहुँचे वह तो किसी असाधारण बुद्धि के व्यक्ति द्वारा ढूँढ़ा हुआ मार्ग है। लेकिन अब हमने पूरी सावधानी बरतते हुए उसे भी बन्द कर दिया है।"

जगत के सेना में उच्चाधिकारी होने के बावजूद उसे श्रीधर की असली पहचान प्रमाणित कर उसे मुक्त कराने में काफ़ी प्रयास करने पड़े थे। उसे श्रीधर की कम्पनी का पता मालूम था। उसकी कम्पनी की पूरी छानबीन की गयी। श्रीधर अचानक दफ्तर छोड़कर कैसे निकल गया, इसका ब्यौरा लिया गया था। कम्पनी ने श्रीधर के लापता होने पर पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करायी थी। समाचार-पत्रों में श्रीधर के रहस्यमय गुमशुदा होने का समाचार सचित्र छपा था। उसे अस्पताल, प्रेतागार, समुद्र-किनारों में ढूँढ़ा गया था। सुरक्षा विभाग ने उसके घर की पूरी तलाशी लेकर श्रीधर के तमाम काग़ज़ात देखकर, उसका किसी खतरनाक विदेशी गुट से कोई सम्बन्ध न होने का पक्का प्रमाण प्राप्त कर लिया था।

"तुम्हारा मैनेजिंग डायरेक्टर बड़ा अच्छा आदमी निकला। उसने मेरी हरसम्भव सहायता की।"

"कौन, खन्ना ?"

"हाँ, खन्ना। वह तुम्हारे बारे में बड़े प्यार से न जाने क्या-क्या कह रहा था। तुम्हें वह देवतुल्य इन्सान कह रहा था। उसने मुझे अपने घर भोजन पर आमन्त्रित किया था। उसकी पत्नी भी तुम्हारे बारे में बार-बार बड़े आदरपूर्वक बोल रही थी। उसने यह भी कहा था कि वह लोग तुम्हारे ऋणी हैं।"

श्रीधर धीरे से मुस्कुराया। पिछले तीन-चार महीनों में पहली बार उसने कम्पनी के बारे में सोचा था। लेकिन खन्ना दम्पती के उसके प्रति इतना सम्मान जताने पर उसे आश्चर्य हो रहा था। वह उसकी वजह भी जानता था। दफ्तर छोड़ने से पहले उसने जो कुछ गोपनीय काग़ज़ नष्ट कर दिये थे, उसमें खन्ना से सम्बन्धित काग़ज़ भी थे। और फिर श्रीधर के इस तरह गुमशुदा होने के बाद खन्ना को भी निकाल देना या उस पर कोई कार्रवाई करना चेयरमैन के लिए भी सुविधाजनक नहीं रह गया था।

लगभग बीस साल बाद मिले विभिन्न राहों पर चलनेवाले दो मित्र क्या बोल सकते हैं ? वैसे तो एक-दूजे से पूरी तरह अजनबी व्यक्ति एक-दूसरे से खुलकर व्यक्तिगत बातें कर सकते हैं। जीवन के सबसे छिपाकर रखे हुए निजी रहस्यों के बारे में बोल सकते हैं क्योंकि एक-दूसरे के इतिहास का या भविष्य का दबाव उन पर नहीं होता। जगत स्वयं गाड़ी चला रहा था और बड़बड़ा रहा था। उसके असहज वातूनीपन से उसकी बेचैनी का अहसास हो रहा था।

"तुम्हें याद है, जब हम आसाम में इकट्ठे थे, तब तुम एक बार भक्त ध्रुव की

तरह तपस्या करने के लिए ग़ायब हो गये थे ?" जगत ने उत्साहित होकर पूछा।

"हाँ याद है, क्यों ?"

जगत ने हँस कर कहा, "तब से तुम कुछ भी नहीं बदले हो, अब भी वैसे ही भोले हो, बच्चे हो।"

श्रीधर को अपने पूर्ण परिवर्तन के बारे में अच्छी तरह मालूम था इसलिए वह सिर्फ़ मुस्कुराया।

"और इसीलिए मैं तुम्हें पहचान पाया।" जगत ने कहा, "नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं थी। तुम्हारे दिमाग़ पर अब भी वही भूत सवार है, ऐसा लगता है। है न ? उसी के पीछे तुम दर-दर भटकते फिर रहे हो न ? मैंने तुम्हारी जाँच-पड़ताल करनेवाले उन अफ़सरों को जब तुम्हारी बचपन की खोज और तपश्चर्या की बातें बतायीं तो वह हँस-हँसकर पागल हो गये थे। उन्होंने सच्चाई जानने के लिए हमारे स्कूल में दो अफसरों को भेजा था। अचरज की बात तो यह है कि स्कूल में भी तुम्हारे उस साहस से सम्बन्धित काग़ज़ अब भी हैं। सेवानिवृत्त प्रिंसिपल ने लम्बा-चौड़ा स्टेटमेण्ट दिया है। वह सब देखकर कहीं इन लोगों को यकीन हुआ कि तुम केवल आध्यात्मिक उद्देश्य से यहाँ आ पहुँचे। तुम नहीं जानते हमारा जासूसी विभाग बड़ा खूँखार है—उन्होंने तुम्हारे बारे में हर सम्भव बात पता की है ताकि तुम पर एक ग्रन्थ लिखा जा सके।

इतनी सामग्री इकट्ठी हुई है। तुम्हारा भूतकाल, तुम्हारा यश, यू आर फेमस। तुम्हारे मार्क्सवादी दोस्त, आध्यात्मिक सम्बन्ध, तुम्हारे प्रेम प्रकरण··· सब कुछ··· मैं यहीं पर हूँ, इसलिए काफ़ी कुछ मैं देख पाया, पढ़ पाया··· लेकिन सब कुछ नहीं।"

चौवन

जासूस विभाग द्वारा इकट्ठी की गयी जानकारी में कौन से काग़ज़ात होंगे और उनमें उसके जीवन से सम्बन्धित क्या होगा, इसका श्रीधर अन्दाजा लगा सकता था। लेकिन श्रीधर के जीवन से सम्बन्धित उनसे भी कई महत्त्वपूर्ण बातें वह जान नहीं पाये होंगे, यह श्रीधर जानता था। हर व्यक्ति के जीवन का ग्रन्थ ऐसा ही होता होगा, विशाल और अथाह—जिसे कोई दूसरा व्यक्ति पूरी तरह से जान नहीं सकता। उसकी नित्य सम्भ्रान्त अवस्था, उससे निर्माण होनेवाले जानलेवा मानसिक आन्दोलन उसकी जिज्ञासु वृत्ति की अतृप्त भूख—जिसके पीछे बचपन से जीवन के लिए किये गये विविध प्रयोग, विश्व के अस्तित्व का अर्थ ढूँढ़ने की लालसा, जीवन का प्रयोजन

न जानने से आयी भयावह बेचैनी और उदासी, डरावना अकेलापन और विविध प्रकार के वाचन से उभरती विलक्षण वैचारिक व्यग्रता, सम्मोह की गिरफ्त में आकर निर्माण होनेवाले नीति-कर्तव्य के पेंच और बुद्धि-भ्रष्टता की अवस्था में उससे हुए घोर, गुप्त अपराध—इन सबके बारे में कहीं कुछ अंकित नहीं था। इसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता था।

और फिर भी यह नया श्रीधर उस अपार वेदनामय जीवन के प्रति कृतज्ञ था। जीवन में घटी सभी घटनाएँ, अनुभव और व्यक्तियों का वह ऋणी था। इन सबके कारण ही और उसके सम्भ्रमित भ्रमण से ही उसे यह ज्ञानयुक्त, कर्तव्य की प्रेरणा देनेवाला नवजीवन प्राप्त हुआ था। अपने अस्तित्व का प्रयोजन पता चला था। बचपन में उसकी जिज्ञासा का समाधान करने की कोशिश करनेवाले माँ-बाप, जंगली-तत्त्व ज्ञान की घुट्टी पिलाने वाली रामी, उसके मित्र, तपश्चर्या, अध्यात्म के मार्ग को टटोलना, धनंजय, विश्वम्भर, सुलभा, शशी, प्रोफेसर शास्त्री, उसका निजी अध:पतन, लोर्ना, उसका व्यावसायिक कैरियर, समव्यवसायी, जग में मिले सच्चे-झूठे गुरु, बिहार के अकाल-पीड़ित, बाँग्ला देश के निर्वासित, खाण कामगार, श्रद्धालु यात्री, पंचतारांकित होटलों में कुछ ही घण्टों में हज़ारों रुपये उड़ानेवाले उसके धनिक मित्र, इन सबने उसे कुछ न कुछ सिखाया था। इन सब बातों का उस पर बड़ा ऋण था, जिससे वह उऋण नहीं हो सकता था।

अपने अध:पतन के प्रति भी वह कृतज्ञ था। उसने कई बार अध:पतन की सीमा का अनुभव किया था।

शशी के प्रेम में या यशोधरा के सहजीवन में उसका जो अध:पतन हुआ था, उससे भी कई गुने भयानक नरक में उसने अपने जीवन के पिछले कई साल गुजारे थे। उस कालखण्ड की स्मृति मात्र से श्रीधर को शर्म आ रही थी। लौकिक दृष्टि से वह श्रीधर के जीवन का बहुत प्रगतिशील और समृद्ध कालखण्ड था। उन सिर्फ़ आठ-दस वर्षों में श्रीधर अपने व्यवसाय के उच्चांक पर पहुँच चुका था। धन-दौलत, इज़्ज़त, अधिकार, औरत सभी सुख उसके क़दमों में थे और वेगवान बुलेट ट्रेन की तरह वह आगे ही आगे बढ़ता जा रहा था। उसकी उन्नति की कोई सीमा नहीं थी और महत्त्वाकांक्षा का कोई किनारा नहीं था।

किन्तु श्रीधर को यही काल उसके अपने अध:पतन की चरमसीमा लगता था। उसकी वह क़ौन-सी बेचैन महत्त्वाकांक्षा थी जो वह पागल होकर इस तरह दौड़ रहा था ? अधिकार ? सम्पत्ति ? इसका तो उसे किंचित् भी मोह नहीं था। करोड़ों में खेलनेवाले एक विशाल उद्योग का वह सर्वेसर्वा था, अपनी उम्र के सिर्फ़ पैंतीसवें साल में। उसके समवयीन और ज्येष्ठ व्यक्ति उसे सराहते हुए उससे ईर्ष्या करने लगे थे। उसके भविष्य के उज्ज्वल होने के बारे में किसी को सन्देह नहीं था। लेकिन

वह सब श्रीधर क्यों कर रहा था, उसकी महत्त्वाकांक्षा क्या थी और वह क्या पाना चाहता था, इसका कोई विचार न करते हुए वह अन्धा होकर तेजी से व्यावसायिक उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था और मन ही मन नरक की ओर बढ़ने के लिए अपनी भर्त्सना भी कर रहा था।

उस सामाजिक संस्था से प्राप्त सम्मानवृत्ति में श्रीधर ने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की। जीवन के विभिन्न पहलू देखकर वह दंग रह गया। विरक्ति या फिर प्रवृत्तिपरक कर्तव्यबुद्धि की जगह अपार जीवन-लालसा ने ले ली थी। वह यात्रा से लौटा तो यश प्राप्त करने की ठान कर। सृष्टि का क्रम ज़ारी रखने के लिए काम, क्रोध-जैसी सभी भावनाओं की कुछ मर्यादा आवश्यक है, यह तत्त्व स्वीकारते समय जो सन्तुलन रखना पड़ता है या व्यापक समाज-कल्याण की दृष्टि शीर्षस्थ व्यक्ति को रखनी पड़ती है, उसका अभाव होने से जैसे कोहराम मचेगा, वही श्रीधर के साथ हुआ। उस सुदीर्घ यात्रा से प्राप्त सन्तुलन की जगह चुभनेवाली नयी बेचैनी ने ले ली।

उसने बड़े सम्मानपूर्वक डॉक्टरेट की उपाधि हासिल की। यात्रा के मानधन से उसने जो संशोधनयुक्त लेखन किया, उसमें उसका नाम हो गया। बड़े सम्मान से उसे बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ बुलाने लगीं। और जीवन में उसके हिस्से जो भी भूमिका आती, उससे पूरा न्याय करने की नयी ज़िद से श्रीधर शशी से विश्वम्भर तक सभी की सलाह ठुकराकर बड़े उत्साह के साथ स्पर्धा के बाज़ार में उतरा। उस नये खेल के नियम बड़े व्यवधानपूर्वक आत्मसात् कर वह तेजी से आगे बढ़ने लगा। व्यवसाय के लिए नीतिशास्त्र में भी झूठ बोलने की या बेईमानी करने की छूट दे रखी है, इस तत्त्व को उसने अनायास ही अपना लिया और फिर स्पर्धा के बाज़ार के तर्कशास्त्र को स्वीकारते हुए अपने आपको पूरी तरह उसमें झोंक दिया।

फिर उसमें प्रतिद्वन्द्वी को मात देने के लिए वह साम-दाम-दण्ड-भेद जैसे आयुधों का प्रयोग बड़ी सहज कुशलता से करने लगा। व्यवसाय में अपना उद्दिष्ट साध्य करना, उसका सबसे प्रमुख सामाजिक कर्तव्य है, यह मानकर वह चलने लगा। कम्पनी के फायदे के लिए शेअरधारकों के लिए या उसकी व्यक्तिगत ज़िद पूरी करने के लिए वह कामगारों से जूझने में गर्व महसूस करने लगा। कामगारों के नेताओं को उनसे तोड़ना, उनके निजी झगड़े देखकर उनमें फूट डालना, यूनियन्स में मतभेदों का रोपण करना और झूठे प्रचार का सहारा लेकर कामगारों की माँगों को पैरों-तले कुचलने-जैसे काम वह मनःपूर्वक करने लगा। व्यावसायिक व्यवहार के नीतिमूल्यों से घूसखोरी का वह खुलेपन में समर्थन करने लगा। इसी लेन-देन को आगे बढ़ाते हुए फिर उसे मदिरा और मदिराक्षी का भी परहेज़ नहीं रहा। नयी-नयी लड़कियों को अपने जाल में फँसाना उसे अपना पुरुषार्थ लगने लगा। अधिकाधिक दौलत, सम्मान, अधिकार, विदेश-यात्राएँ, विविध कम्पनियों से नये करार, नये कारखाने,

उद्योग, अधिकाधिक पूँजीनिवेश, विस्तार, नये-नये उत्पादन, माल बेचने के लिए सुबुद्ध विज्ञापन, विकट योजनाएँ, कम्पनी का काम करनेवाले के लिए नये लाइसेन्स और स्वीकृतियाँ पाने के लिए बम्बई और दिल्ली के सचिवालय उलट-पुलटकर रख देना, सत्ताधारी नेताओं से सम्बन्ध बनाये रखना—श्रीधर पर व्यावसायिक सफलता का उन्माद सवार हुआ था। सफलता की पहली सीढ़ी पर ही उसका विश्वम्भर से नाता टूट गया था। तब श्रीधर कोई बड़ा अधिकारी नहीं था। वह एक मध्यम दर्जे के उद्योग में मध्यम स्तर पर तेजी से आगे बढ़नेवाला युवा अधिकारी था। शशी ने स्कूल शुरू किया लेकिन उसके लिए जब श्रीधर ने आर्थिक मदद करनी चाही, तो उसने उसे अस्वीकार कर दिया, इस बात का उसे आश्चर्य हुआ। जब उसने यशोधरा के झुग्गी-झोंपड़ी सुधार संगठन को दान के रूप में धनराशि भेंट की तो उसने उसे लताड़ दिया। श्रीधर को इस बात का खेद अवश्य हुआ। जब उसने विश्वम्भर की संस्था को चेक भेजा तो श्रीधर को गुस्सा आया क्योंकि विश्वम्भर खुद चेक लौटाने आया था।

चेक श्रीधर की मेज़ पर था और सामने विश्वम्भर बैठा हुआ था। विश्वम्भर के चेहरे पर कष्ट और थकान के आसार साफ़-साफ़ दिखाई दे रहे थे। उसने उस आदिवासी बस्ती में उन लोगों के बीच रहकर और उनके जैसा ही खा-पीकर अपना स्वास्थ्य खराब कर लिया था। हमेशा की तरह उसने खद्दर का मैला-सा कुर्ता और काला पैण्ट पहन रखा था। कन्धे पर वही उसका खास झोला लटक रहा था। पैर में काफ़ी घिसी हुई रबड़ की चप्पलें थीं। उसकी आँखें अन्दर धँसी हुई थीं, गाल भी बैठ गये थे। सिर पर बाल भी सफ़ेद होने शुरू हो गये थे। लेकिन आँखों में वही भर्त्सना का, असन्तुष्टि और विरोध का भाव। चेहरे पर अपनी नैतिक श्रेष्ठता का गुरूर। श्रीधर को गुस्सा आया था। उसके प्रशस्त वातानुकूलित कमरे में केवल विश्वम्भर ही असंगत लग रहा था। श्रीधर के चेहरे पर और शरीर पर उसकी नयी सम्पन्नता साफ़ झलक रही थी। उसने टाई बाँधी हुई थी, उसके बदन से किसी महँगी विदेशी सुगन्ध की गन्ध आ रही थी और पीछे की दीवार पर एक नग्न सुन्दरी का रंगीन चित्र था। विश्वम्भर के ओठों पर कड़ुवी मुस्कराहट फैली हुई थी।

श्रीधर ने अपनी क़ीमती विदेशी सिगरेट का पैकेट उसके आगे बढ़ाया। विश्वम्भर व्यंग्यपूर्ण हँसा और उसने अपने झोले से बीड़ी निकाली और बिना कुछ बोले ही उसे जलाया। व्यंग्यपूर्ण हँसी ने श्रीधर को जैसे डंक मार दिया। विश्वम्भर अपने मन की बात प्रकट नहीं करेगा, यह जानकर श्रीधर ने ही उपहास भरे स्वर में पूछा, "बोलो न···बोलते क्यों नहीं ? मैं जानता हूँ, तुम क्या कहना चाहते हो, यह भी एक तरह का अधःपतन है, यही तुम कहना चाहते हो न ?"

विश्वम्भर ने अपनी बीड़ी का उग्र धुआँ बाहर छोड़ा और स्थिरता से श्रीधर की

नज़र से नज़र मिलाते हुए उसने कहा, "मैं कुछ भी कहना नहीं चाहता..."

श्रीधर को उससे नज़र मिलाते वक़्त कष्ट हो रहा था। अपनी आँखें घुमाकर वह खीजकर बोला, "तो फिर तुम यह भेंट लौटा क्यों रहे हो ? क्या इस चेक में अनीति की, पूँजीवाद की गन्ध आती है ? मेरी समझ में एक बात नहीं आती, तुम लोग मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों कर रहे हो ? शशी ने भी मेरा चेक लौटा दिया। यशोधरा को नुक्कड़वाले, मटकेवाले का या शराब का अड्डा चलानेवाले दादा का चेक स्वीकार है, लेकिन मेरा चैक लौटा दिया जाता है । यह क्या माजरा है ? तुम कहना क्या चाहते हो ?"

"मैंने कह जो दिया कि मैं कुछ भी कहना नहीं चाहता। तुम्हारा चेक लौटाने में कोई ख़ास उद्देश्य या अर्थ तो नहीं है। हमारी संस्था किसी से भी दान नहीं लेती—हमारी कमेटी 'दान' के खिलाफ़ है।"

श्रीधर के चपरासी ने चाय की ट्रे लाकर सामने मेज़ पर रख दी। श्रीधर ने सलीके से चाय बनाकर कीमती नाजुक कप विश्वम्भर के आगे बढ़ाया। उसे विश्वम्भर ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया और चाय पीने लगा।

"विश्वम्भर, तुम अपना जीवन व्यर्थ बरबाद कर रहे हो।" अपनी चाय में चम्मच गोल-गोल घुमाता हुआ श्रीधर उपरोधपूर्वक बोला। उसे विश्वम्भर की अपमानजनक शान्ति असहनीय लग रही थी। वह विश्वम्भर को उत्तेजित करना चाहता था। विश्वम्भर के नैतिक अहंकार से श्रीधर बेचैन हो रहा था। "तुम्हें क्या लगता है, उस जंगल में रहकर तुम उन आदिवासियों के जीवन में क्रान्ति लाओगे ? या अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर लोगे ? यह तुम किसलिए कर रहे हो ? मुझसे कहो, मैं उस विभाग के मन्त्री से मिलकर तुम्हें उस बस्ती तक पक्की सड़क बनवा देता हूँ, ऊर्जा मन्त्री से कहकर बिजली दिला देता हूँ, आदिवासी कल्याण की योजना के लिए तुम्हारी संस्था को मंजूरी दिला देता हूँ। क्या तुम भूल गये कि हमारे देश की आज क्या स्थिति है ? पूँजीवाद का रथ तेजी से दौड़ निकला है। स्पर्धा, व्यापार, फ़ायदा, अधिकाधिक कमाई, स्वार्थ-जैसे तत्त्वज्ञान ने अव अपने मध्यम वर्ग में भी प्रवेश किया है। यहाँ जो इस स्पर्धा में उत्तर नहीं दे सकते, उनका कोई स्थान नहीं होगा। वह इस रथ के नीचे कुचल दिये जाएँगे। जो भी हिस्से आता है, उसे हथियाना होगा। नहीं आता तो किसी से छीनकर इस स्पर्धा में दाखिल होना पड़ेगा..." तनिक रुककर चाय की चुस्की भरते हुए श्रीधर ने आगे कहा, "तुम क्या सोचते हो, इस देश में क्रान्ति होगी ?" विश्वम्भर को निःशब्द देखकर उसने कहा, "नहीं न ? एक्ज़ैक्टली वही तो मैं भी कह रहा हूँ। क्रान्ति की सम्भावना अब लगभग समाप्त हो चुकी है। इसलिए जो भी सम्भव है उस मार्ग से हमें अपना ध्येय पूरा करना है।"

विश्वम्भर के चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। केवल अस्पष्ट अवसेधभरी मुस्कुराहट थी। श्रीधर को और भी ग़ुस्सा आया लेकिन दूसरे ही क्षण वह क्षीण विषाद में बदल गया, "तुम समझने की कोशिश क्यों नहीं करते विश्वम्भर ?" श्रीधर ने अगतिक होकर कहा, "इस बाज़ारू स्पर्धा के युग में अव दो ही वर्ग बचते हैं—शोषक और शोषित। मुझे खुद को शोषित कराकर आत्मनाश नहीं करवाना। न ही मैं शोषक होना चाहता हूँ। इसीलिए बीच का रास्ता अपनाकर शोषकों का मुकाबला करना चाहता हूँ और शोषितों की सहायता करना चाहता हूँ…।"

श्रीधर की बात पूरी होने से पहले ही विश्वम्भर उदास हँसकर शान्त स्वर में बोला, "अब हमारी विचारधारा ही वदल गयी है। इसलिए अव एक-दूसरे को समझने का प्रश्न ही नहीं उठता…।"

"मैं जानता हूँ, तुम सब क्या सोचते हो। तुम सवमें अपनी नैतिक श्रेष्ठता की कुण्ठा है जिसने तुम्हारी पूरी जीवन-दृष्टि को ही दूषित कर दिया है। इसीलिए तुम मेरी सफलता नहीं देख सकते। उसे तुम लोग अध:पतन की संज्ञा देते हो। लेकिन मैं इसी तरह सफल होता रहूँगा, अधिकाधिक यश पाता रहूँगा…।"

विश्वम्भर व्यंग्यपूर्ण हँसने लगा।

"तुम कभी समझने की कोशिश…।" श्रीधर ने कुछ झुँझलाकर कहा।

"यह प्रश्न समझने-समझाने का नहीं है, श्रीधर…।" विश्वम्भर ने अपनी हँसी रोककर कहा। "तुम जिस बचकाना अन्दाज में प्रतिवाद कर रहे हो उसी से साफ़ पता चलता है कि तुम खुद ही अभी अपने व्यवहार से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो। और मैंने कह जो दिया कि अब हमारी विचारधाराएँ बदल गयी हैं, इसलिए वाद-प्रतिवाद करना व्यर्थ होगा। सिर्फ़ एक बात अवश्य कहूँगा। यह तो तुम भी स्वीकार करते हो कि तुम पूँजीवाद की व्यवस्था का प्रतिनिधित्व कर रहे हो और हमारे देश में पूँजीवाद का समर्थन करने जितना बड़ा अनीतिमान कृत्य और कोई हो नहीं सकता। तुमने नीतिशास्त्र पर सैकड़ों पुस्तकें पढ़ी हैं। उनकी कसौटी पर भी तुम अपना हिसाब लगाकर देखो। फिर तुम अपने आप समझ जाओगे कि यह अध:पतन कितना भयानक है।" विश्वम्भर चुपचाप कुर्सी छोड़कर उठा और श्रीधर से विदा में कुछ भी न कहते हुए बाहर निकल गया।

श्रीधर क़ाफ़ी देर तक मेज पर पड़े चेक को देखता रहा। उसने उस चेक को ग़ौर से देखा और फिर उसे मसलकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया। फिर बेल दबाकर उसने अपनी सचिव को बुला लिया। नये स्थान पर आने के बाद उसे उसकी निजी सचिव मिल गयी थी जो काफ़ी चुस्त और तत्पर थी। महीने-दो महीने में श्रीधर के मूड को समझकर उसके अनुसार वह अपना व्यवहार रखती थी। व्यवसाय में श्रीधर काफ़ी आगे निकल जानेवाला है, यह भाँप लेने की क्षमता और अनुभव

उसके पास था।

"यस सर," कहती हुई पेन्सिल और पैड लेकर उसकी सचिव कमरे में दाखिल हुई। तव तक श्रीधर का मन खाली हो चुका था। अव उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि वह उससे क्या कहे। कुछ क्षण यों ही बीत गये। फिर सचिव ने विनम्रता से पूछा, "सर, आप कुछ चाहते हैं ?"

श्रीधर का प्रक्षुब्ध चेहरा उसकी पैनी दृष्टि से बच नहीं सका था।

"आँ ?"

"कॉफ़ी मँगवाऊँ ?"

"नहीं···तुम जाओ···नहीं नहीं··· तुम यहीं वैठो।"

फिर कुछ क्षण स्तव्धता।

"आप ठीक-ठाक तो हैं सर ?"

श्रीधर ने कुछ नहीं कहा, तो वह जाने के लिए मुड़ी। श्रीधर ने अचानक कहा, "लोर्ना, एक काम करोगी ?"

"यस सर ?"

"मैं घण्टे-दो घण्टे रिलैक्स होना चाहता हूँ। इन सब चीज़ों से दूर··· कहीं अच्छी फ़िल्म चल रही है कोई ?"

"जी सर। कितने टिकट मँगवाऊँ ?"

"एक" फिर कुछ सोचकर उसने कहा, "लेकिन लोर्ना, अगर तुम व्यस्त नहीं हो तो क्या दो टिकटें मँगवाओगी ?"

"यस सर।" लोर्ना ने उसी सपाट स्वर में हामी भरी। लेकिन दरवाज़ा खोलकर वाहर निकलते हुए, वह धीरे से मुस्कुरायी।

पचपन

धनंजय की स्थिति अजीव-सी हो गयी थी। वह पुणे के किसी कॉलेज में व्याख्याता वन गया था। श्रीधर के कैरियर में जो उन्नति हो रही थी उसकी वह काफ़ी सराहना करता था। वीच-बीच में उससे मिलता भी था। श्रीधर की प्रदीर्घ यायावरी के बाद जव पहली बार वम्वई के किसी उद्योग-समूह में नौकरी लगी थी, तब वह उसे पहली वार मिला था और श्रीधर धनंजय में आया परिवर्तन देखकर भौंचक्का रह गया था।

धनंजय के विचार-प्रवाह में आमूलचूल परिवर्तन आ गया था। शायद अपनी आँखों से न देखता तो श्रीधर को विश्वास भी न होता। वैसे बाहरी रूप से यानी कि पहनावा, रख-रखाव, खाना-पीना पहले जैसा ही था लेकिन उसकी आँखें, उसकी बातें और उसका व्यवहार बदल चुका था। धनंजय किस तरह के विविध अनुभवों से गुज़रा है, यह श्रीधर जानता था। यह बदलाव उन राजनीतिक अनुभवों की देन था या व्यक्तिगत विफलता का परिपाक ?

धनंजय की कलाई में एक ताँबे का कड़ा था और गले में काले सूत्र में बँधा एक रुद्राक्ष, जिसे वह कमीज़ के पीछे छुपाने की विफल कोशिश कर रहा था। चेहरे पर अपराधी मुस्कुराहट। श्रीधर को ऐसे लगा कि धनंजय उसे टालने की कोशिश में था, लेकिन इस तरह आमने-सामने आने पर अब और कोई चारा नहीं था।

"अरे श्रीधर ? कितने दिनों बाद ? कैसे हो ?" अपनी मुस्कुराहट से अपराधी भाव हटाने की कोशिश करता हुआ वह श्रीधर के पास आकर बोला।

"तुम कैसे हो ? यहाँ कैसे ?"

"मैं··· मैं ठीक हूँ", उससे नज़रें चुराता धनंजय बोला।

"पक्की नौकरी है। यहाँ के कॉलेज की प्रयोगशाला भी अच्छी है। छात्र भी विषय में रुचि लेते हैं ··· वैसे कोई परेशानी नहीं है···।"

"और माँ-बाप···दोनों तरफ़ के ?"

"एकदम बढ़िया··· मेरी दोनों छोटी बहनों के विवाह हो गये हैं, तुम्हें तो बताया था न ?" धनंजय का चेहरा प्रफुल्लित हो उठा था, "यानी माँ की श्यामला और बाबा की चित्रा। तुम शायद उनसे मिले भी थे। श्यामला बड़ी प्यारी लड़की है। उसका पति अमरीका में है। वह भी पिछले हफ्ते वहाँ गयी है।"

"अरे वाह ! यह तो बहुत ही अच्छा है।" धनंजय का दोनों परिवारों के ब्यौरे का प्रवाह रुकना मुश्किल हो गया था···

धनंजय काफ़ी कुछ बोल रहा था लेकिन कह कुछ भी नहीं रहा था। श्रीधर को न जाने क्यों उस पर तरस आ गया। दोनों चाय पीने चले गये। अचानक विषय बदलते हुए धनंजय ने कहा, "अरे लेकिन यह क्या, तुम तो अपने बारे में कुछ भी नहीं बता रहे हो। डॉक्टरेट तो ले ली न ? पेपर में पढ़ा और तुम्हारी तस्वीर भी देखी। बधाई हो। अब आगे क्या करने की सोच रहे हो ? नौकरी ? या कुछ और ? शशी क्या कर रही है ? काफ़ी दिनों से मिली नहीं। मैं भी पुणे नहीं गया था···।"

उसने देखा कि श्रीधर की नज़र बार-बार उसके हाथ में पहने ताँबे के कड़े और गले के रुद्राक्ष की तरफ जा रही है, जो देखकर वह और भी सहम गया। फिर जैसे साहस जुटाकर कृत्रिम हँसी हँसकर बोला, "अरे, इस तरह क्या देख रहे हो ? यह···

यह तो पंचधातु का कड़ा है। बड़ा उपयुक्त है···यू नो एण्ड साइण्टिफिक टू··· जानते हो, इसमें क्या-क्या होता है ? ताँबा, फौलाद, ऐलुमिनियम, थोड़ी-सी चाँदी और एकाध कण सोना। आजकल मिश्र धातु के चुम्बकीय गुणधर्म को लेकर काफ़ी संशोधन चल रहा है, तुम नहीं जानते। विशेषत: पंचधातु के प्रभाव से रक्त प्रवाह का सही नियमन होता है, रक्तदाव काबू में रहता है। और फिर मन:शान्ति का लाभ होता है सो अलग···।"

"और यह रुद्राक्ष ?"

"रुद्राक्ष नहीं जानते तुम ? कमाल है यार ! इसके गुणधर्म तो बहुत तेजस्वी हैं। बड़ी शक्ति होती है इनमें। आपकी प्रधानमन्त्री भी इन्हीं के कारण पुन: सत्ता में आ गयी हैं··· रुद्राक्ष बड़ी गजब की चीज़ है।"

"क्या कह रहे हो ?"

"हँसो मत। सच, हमारे पुरखों द्वारा ढूँढ़ी गयी कई चीजों को हम नज़रअन्दाज करते हैं या उनका मज़ाक़ उड़ाते हैं। जब पाश्चात्य लोग उनकी तरफ आकर्षित होते हैं, तब कहीं हम उनकी तरफ ध्यान देते हैं। रुद्राक्षमाला के सही प्रयोग से दुष्टों का निर्दलन होता है और संकट दूर भाग जाते हैं।"

"तुम्हारा अपना क्या अनुभव है ?"

"मेरा ? मुझे तो मन:शान्ति का लाभ हुआ है। तुम्हें अब भी यकीन नहीं आता न ? आजकल लाखों लोग इसके प्रयोग में विश्वास करने लगे हैं, इसलिए असली रुद्राक्ष मिलना मुश्किल हो गया है। नाम तो देखो। रुद्र का अक्ष, यानी शंकर का तीसरा नेत्र, दुनिया के दुष्टों का निर्दलन करनेवाला। तुम जानते हो, यह सिर्फ़ नेपाल और मलेशिया में मिलता है। नेपाल के पशुपति मन्दिर के पास जो रुद्राक्ष का वृक्ष है, उसे अत्यन्त पवित्र माना जाता है। उससे मिलने वाले रुद्राक्ष चौदहमुखी और अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। बहुत पुरातन काल से हमारे लोग रुद्राक्ष का प्रयोग कर रहे हैं, उसकी कोई वजह तो है।"

श्रीधर को धनंजय पर आश्चर्य हो रहा था, फिर भी वह अपनी हँसी जब्त नहीं कर पा रहा था। उसके चेहरे पर संघर्ष देखकर धनंजय ने कहा, "मैं जानता हूँ, तुम्हें मेरी बातों पर विश्वास नहीं हो रहा। लेकिन केवल प्रधानमन्त्री ही नहीं, शंकराचार्य, बड़े-बड़े लोग, राजनीतिज्ञ सभी रुद्राक्ष-धारण का महत्त्व समझते हैं···।"

श्रीधर के स्वर में अब कडुवाहट आ गयी थी।

"मैं उन सबकी बात नहीं कर रहा। सम्भव है, इन सब बड़े लोगों को अपने उत्थान के लिए रुद्राक्ष सहायकारी लगता हो। मैं तुम्हारी बात कर रहा हूँ। कितने बदल गये हो तुम !"

"मैं ?···मैं बदल गया हूँ ?" धनंजय ने जख्मी आश्चर्य दिखाकर कहा।

"नहीं···नहीं, बिल्कुल नहीं··· मैं तो बिल्कुल वैसा ही हूँ। मैं कहाँ वदला हूँ ?"

"यही"··· उसके कड़े और रुद्राक्ष की ओर संकेत करते हुए श्रीधर ने कहा। "और क्या ?"

"हाँ···इनके वारे में मैं कुछ भी नहीं सुनूँगा।" धनंजय ने सात्त्विक नाराजगी दिखाते हुए कहा, "मैंने अपनी विज्ञाननिष्ठा में रत्तीभर भी वदलाव नहीं किया है। उस मामले में मैं उतना ही सख्त हूँ। हाँ··· वह सब मैं विल्कुल नहीं सुन सकता···।"

श्रीधर उसे दुखाना नहीं चाहता था इसीलिए हँसने के वजाय गम्भीर होकर उसने कहा, "नहीं··· नहीं, मैं वैसा कुछ भी कहना नहीं चाहता। मैं सिर्फ़ इतना ही जानना चाहता हूँ कि प्रयोगशाला में सावित करने के अतिरिक्त भी कुछ शक्तियों का अस्तित्व तुम कैसे मानने लगे ?"

"वाह··· क्यों नहीं ? ऐसा तुम कैसे कह सकते हो ?" धनंजय तैश में आकर बोला, "जब विज्ञान का सही आकलन होता है तो ये चीज़ें समझ में आती हैं। सिर्फ़ हमारी नज़रों को दिखाई देनेवाली या कानों से सुनाई देनेवाली वातों का विश्वास करना भी वैज्ञानिक अन्धश्रद्धा ही तो है।"

श्रीधर दंग होकर सुन रहा था और धनंजय मन से कह रहा था, पूर्ण गम्भीरता से। वह जो भी क[illegible] रहा था, वह पूरी निष्ठा के साथ कह रहा था और श्रीधर को एक के बाद एक झटके लग रहे थे।

"देखो न, पहले प्रकृति की कई वातों पर मानव को आश्चर्य लगता था लेकिन आगे विज्ञान का पूरा आकलन होने के वाद पता चला कि इसमें चमत्कार वगैरह कुछ भी नहीं है—ये सहज बातें हैं। अभी वैसी कई वातों का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण होना बाकी है। जैसे कि अतीन्द्रिय शक्ति।"

"क्या कहा धनंजय··· अतीन्द्रिय शक्ति ?"

"हाँ, हाँ, अतीन्द्रिय शक्ति।" धनंजय ने दृढ़ता से कहा, "इस तरह कुचेष्टा में हँसो मत। रसायनशास्त्र में प्रयोग करनेवालों का भी मध्ययुग में मज़ाक़ उड़ाया जाता था या उन्हें जादूगर कहा जाता था। तुम्हें वेव्ह थ्योरी, क्वाण्टम मैकेनिक्स आदि तो मालूम ही हैं। चुम्बकीय प्रभावक्षेत्र या गुरुत्वाकर्षण की रहस्यमय शक्ति के बारे में तुमने सुन रखा है। हर चीज़ का अपना प्रभावक्षेत्र होता है। उनमें विद्युत्प्रवाह दौड़ाने से उस प्रभावक्षेत्र की कार्य-क्षमता बढ़ती है। यही बात मानव-शरीर के वारे में कही जा सकती है। इस शरीर में जो प्राणतत्त्व है उसे आप जितना शुद्ध करते जाएँगे उतना ही उसका प्रभावक्षेत्र वढ़ता जाएगा। जिनका प्राणतत्त्व पूर्णरूप से विशुद्ध हो जाता है, ऐसे महामानवों का क्षेत्र त्रिलोकव्यापी हो जाता है··· उनकी दिव्यदृष्टि की पहुँच अमर्याद हो जाती है।"

"सम्भव है···" श्रीधर बुदबुदाया।

"सम्भव नहीं, यह सत्य है।" धनंजय ने फिर एक वार ज़ोर देकर कहा। "हम अज्ञानी लोग कई चीज़ों को नहीं जानते। मान लो, कोई देहाती भाई विमान या दूरवीन के बारे में कुछ नहीं जानता। अगर तुम हवा में उड़कर किसी स्थान पर अतिशीघ्र पहुँचने के वारे में कुछ कहोगे या अन्तरिक्ष के वारे में बताने जाओगे तो यह भी कुचेष्टापूर्वक हँसेगा न ? वह तो यह सब बतानेवाले को भी पागल बताएगा। वही भूल हम लोग भी करते हैं। जब स्वामी विद्यानन्द यह कहते हैं कि मैं मंगल पर हो आया हूँ तो हम उनपर अविश्वास करते हैं…।"

"यानी…? इन सब पर तुम विश्वास करते हो धनंजय ?" श्रीधर ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

"क्यों नहीं ? क्योंकि मैं उस गँवार देहाती-जैसा अज्ञानी नहीं रहना चाहता। वह विमान नहीं जानता। हममें से अधिकांश सुशिक्षित कहलानेवाले लोग भी विमान की रचना का तत्त्व नहीं जानते। वैसे ही स्वामी विद्यानन्द या उनके-जैसे दिव्यपुरुष जव परलोक-भ्रमण करते हैं, तब वह किस माध्यम का प्रयोग करते हैं, यह हम नहीं जानते और अज्ञानपूर्वक हम उन पर हँसते रहते हैं।… इस तरह आँखें फाड़-फाड़कर क्या देख रहे हो ? श्रीधर, जब तक तुम स्वयं इस बात का अनुभव नहीं करोगे तव तक तुम विश्वास नहीं करोगे। तुम जानते हो, मैं कितना मूर्ख और अज्ञानी था। विज्ञान पर मेरी अन्धश्रद्धा थी। जब मैंने स्वयं अनुभव किया तभी पता चला कि मेरा अज्ञान कितना गहरा है।"

"तुमने स्वयं अनुभव किया धनंजय ?"

"हाँ," धनंजय ने सख्ती से और निष्ठापूर्वक कहा, "सही गुरु मिलने से कोई भी वह अनुभव पा सकता है। मुझे यह मार्ग बाबा रामानन्द ने दिखाया…और मेरे अज्ञान का अन्धकार दूर किया।"

"वह कैसे ?"

"यह तुम्हें तब तक पता न चलेगा जब तक तुम स्वयं उसका अनुभव न कर लो। लेकिन तब से मेरा सारा जीवन बदल गया है। मैं अधिक विनम्र हो गया हूँ। विज्ञाननिष्ठा से जो धृष्टता आती है, उससे अब मैं मुक्त हूँ। बीच में मैं अपनी मनःशान्ति खो बैठा था, उसका पुनर्लाभ हुआ है। बाबा के स्मरण मात्र से शंका-कुशंकाएँ दूर भाग जाती हैं और रास्ता साफ़ नज़र आता है। बाबा ने एक तावीज दिया है…।"

धनंजय ने कमीज़ की बाँह पकड़कर तावीज़ दिखाया। उसकी बातें श्रीधर अवाक् होकर सुन रहा था। धनंजय रोज़ सुबह उठते ही गण्डा सिर से लगाकर बाबा का स्मरण करता है। जिस दिन वह यह नहीं करता, कुछ न कुछ दुर्घटना अवश्य हो जाती है। धनंजय की बातों से पता चला कि अन्धश्रद्धा का प्रखर विरोधी

धनंजय किसी के बहुत ज़ोर देने पर बाबा रामानन्द के पास गया था। उन दिनों वह राजनीतिक गतिविधियों, खासकर चुनाव परिणामों को लेकर बेहद निराश ही नहीं, अत्यधिक क्रुद्ध था। वह गुस्से और थकान से बीमार हो गया—पगलाया-सा हो गया था। उसका जैसे नर्वस ब्रेकडाऊन हो गया था। वह खाना नहीं के बराबर खाता था। किसी के मिलने आने पर उत्तेजित होकर गाली-गलौच पर उतर आता था। आखिर में थककर उसकी सौतेली माँ उसे रामानन्द स्वामी के पास ले गयी। धनंजय ने उनकी तेजस्वी नज़र से नज़र मिलायी और कोटि-कोटि बिजलियाँ कौंधी। वही धनंजय के दिव्यानुभव का क्षण था। उस क्षण के बाद उसका जीवन ही बदल गया। हवा से तावीज़ निकालकर बाबा ने खुद धनंजय को पहनायी और फिर धनंजय बिल्कुल ठीक हो गया। तब से बाबा रामानन्द का उस पर वरदहस्त है…।

श्रीधर आँखें फाड़-फाड़कर उसे घूर रहा था। उसका अपने कानों से विश्वास उड़ गया था। उसकी नज़र के सामने आ गया वही पाँच-छह साल पहले का लड़ाकू धनंजय… जाति और वर्णव्यवस्था पर शंकराचार्य को खुली चुनौती देने पर उनके भगतों द्वारा पीटा जानेवाला, भोंदू महाराजों की सभाओं को अस्त-व्यस्त करनेवाला, विज्ञाननिष्ठा के विरोध में एक शब्द तक न सहने वाला—वही धनंजय जो कठोर बुद्धि, प्रामाण्यवादी, विज्ञाननिष्ठ, अन्धश्रद्धा के खिलाफ़ लड़नेवाला था, आज उसे कुछ और ही बता रहा था।

"धनंजय, क्या तुम ही यह सब कह रहे हो ?" श्रीधर ने चकराकर पूछा, "मेरा मज़ाक़ तो नहीं उड़ा रहे हो ?"

"न… न… ऐसी बातों में मैं मज़ाक़ नहीं करता।" धनंजय ने तपाक से कहा। "विशेषत: बाबा के सन्दर्भ में झूठ या मज़ाक़ की तो मैं सोच भी नहीं सकता। जिस दिन मैं कुछ विपरीत कर बैठता हूँ, मुझे उनसे प्रताड़ना मिलती है। एक दिन दर्शन से चूका, तो प्रयोगशाला में विस्फोट हो गया था…।"

धनंजय ने फिर श्रीधर से घर चलने का आग्रह किया लेकिन उसी दिन श्रीधर को पुणे वापस लौटना था। वैसे भी वह लोग एक-दूसरे के घर कभी-कभार ही जाते थे। दोनों होटल से बाहर निकले, धनंजय स्टेशन की ओर चल पड़ा। उसके जाने के बाद भी काफ़ी देर तक श्रीधर उसकी दिशा में देखता रह गया था। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था।

श्रीधर को धनंजय की इस मानसिक यायावरी पर आश्चर्य हो रहा था लेकिन धनंजय जिन अनुभवों का शिकार हुआ था वह भी यह जानता था इसीलिए उसे उसके लिए सहानुभूति भी थी। बुद्धि प्रामाण्यवाद के भारी-भरकम कवच-कुण्डल चढ़ाने के बावजूद धनंजय अन्दर से बहुत नाजुक और भावुक था। कोई काम हाथ में ले लेता तो जी-जान से उसके पीछे पड़ जाता था। अन्धश्रद्धा निर्मूलन आन्दोलन

में भी उसने उसी तरह अपने आपको समर्पित कर दिया था। आगे वह नवनिर्माण के राजनीतिक आन्दोलन की तरफ खिंच गया था, जिसके लिए वह तीन महीने जेल में भी रहा था। 1977 के चुनाव के वाद उसे लगा था कि तानाशाही की हार हो चुकी है—लोकतन्त्र की विजय हुई है। अब धनंजय के हर्षोल्लास की कोई सीमा नहीं रही थी। नयी सरकार भ्रष्टाचार को खत्म करनेवाली थी, अन्धश्रद्धा को मिटानेवाली थी, लोकतन्त्र और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ध्वजा ऊपर उठानेवाली थी।

लेकिन धनंजय का आनन्दोत्सव शुरू होते ही उसके खत्म होने के चिह्न नज़र आने लगे। जनता पार्टी के अन्तःस्थ कलह ने देखते-देखते ही गम्भीर रूप धारण कर लिया और फ़िर वह सरकार कैसे गिर गयी, उसका पता तक नहीं चला। धनंजय जैसे कच्चे दिलवाले युवकों को इन वेगवान घटनाओं से निश्चय ही भयानक धक्का लगा था।

लेकिन इसका यह अर्थ तो नहीं था कि धनंजय कुछ उस तरह हार मान बैठे···अपनी जीवननिष्ठा खो वैठे ? श्रीधर को धनंजय पर तरस भी आया और ग़ुस्सा भी·। लेकिन उसी दिन संयोगवश उसे यशोधरा भी मिली। वह भी यह सब जानती थी लेकिन उसने श्रीधर से इसके वारे में कुछ नहीं कहा था। उसने कहा, "न मैं उस पर ग़ुस्सा कर सकती हूँ और न ही तरस खा सकती हूँ। वह बेचारा ईमानदार है और भावुक भी। लेकिन बुरा सिर्फ़ इस बात का लगता है कि अपने भावुक होने की उसे वहुत भारी क़ीमत चुकानी पड़ी है—मुझे तो उससे सहानुभूति है।"

श्रीधर को अचानक कई दिन पहले धनंजय के साथ हुआ वह सम्भाषण याद आया और वह चंचलता से हँसता हुआ बोला, "मुझे तो यह बात बहुत मज़ेदार लगती है। तुम दोनों की सोच में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है। दोनों राजनीतिक मुद्दों को लेकर हमेशा एक-दूसरे पर बरसते रहते हो। और फिर भी एक-दूसरे को छोड़ते नहीं हो। यह क्या माजरा है ?"

यशोधरा अचानक गम्भीर हो गयी। फिर थोड़ी-सी उदास हुई। फ़िर उस उदासी को दूर करने के लिए गरदन झटककर बोली, "माजरा क्या होगा ? मुझे सचमुच उसकी चिन्ता है और उससे मुझे हमदर्दी भी है। और ···और कुछ नहीं। तुम नहीं जानते श्रीधर, धनंजय बहुत भावुक है। और न जाने क्यों, उसके दिमाग़ में यह बात वैठ गयी है कि उसे मुझसे प्यार है। यह उसने कभी कहा तो नहीं है लेकिन वह मुझे उसकी नज़र में साफ़ दिखाई देता है और मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूँ ?"

"क्यों ? उसमें करना क्या है, यशोधरा ? तुम्हारे मन में भी तो उसके लिए···"

"नहीं, मैंने तुम्हें बताया तो है कि वैसा कुछ नहीं है। लेकिन अब मैं मुश्किल

में फँस गयी हूँ। धनंजय भावुक है। राजनीति से उसे जो सदमा पहुँचा है, उससे उसने बिना कारण स्वयं को परेशान कर रखा है। यह तो तुमने देख ही लिया है। अब अगर मैं उसे यह बता दूँ कि मेरे मन में उसके लिए कुछ भी नहीं है तो वह पता नहीं क्या कर बैठेगा।''

यशोधरा की आँखें भर आयीं। श्रीधर को आश्चर्य हो रहा था। यशोधरा एक शख्त स्वभाव की लड़की थी लेकिन धनंजय की चिन्ता से उसकी आँखों में आँसू आ गये थे। श्रीधर ने हँसते हुए कहा, ''तुम अपने आपको क्यों झुठला रही हो, यशोधरा ? उसका कोई फायदा नहीं। यह तो साफ़ बात है कि तुम उससे प्रेम करती हो। तुम यह अपने आपको समझाती क्यों नहीं ?''

यशोधरा ने कुछ कहने के लिए होठ खोले और फिर भींच लिये, फिर वह हल्के से मुस्करायी और फिर विषय बदलते हुए उसने कहा, ''आखिर तुमने अपने लिए यह कैरियर चुना ?''

''क्यों ? इसमें क्या बुराई है ? जितना एक कवि या लेखक सर्जनशील होता है, उतना ही एक उद्योजक भी निर्मितिक्षम हो सकता है यह तुम समझती क्यों नहीं ? बल्कि किसी कल्पनाक्षम उद्योजक की या उद्योग अधिकारी की प्रतिभा सामान्य लेखक से बढ़ कर होती है, क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता ? मेरी कम्पनी के मालिक ने केवल बंजर भूमि पर इतने भव्य कारखाने का निर्माण किया। अब उस कारखाने से वर्ष भर में पचास करोड़ रुपयों की जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन होता है, हज़ार दो हज़ार कामगारों को रोज़गारी मिलती है। जिस बंजर पर भेड़-बकरियाँ तक नहीं आती थीं, वहाँ अब हरे-भरे पेड़ों के बीच एक कालोनी बस गयी है। क्या यह सर्जनशीलता नहीं है ?''

''अरे, तुम तो अचानक सर्जनता पर भाषण ही सुनाने लगे ! पूँजीवादियों से मिलकर जो अपराधी भावना आ गयी है उसके लिए क्या पूँजीवाद का समर्थन भी करना अनिवार्य है ?''

''यह किसी का पक्ष लेना नहीं, यशोधरा। यह मेरे द्वारा स्वीकारा हुआ जीवन का तत्त्वज्ञान है ...''

''श्रीधर, तुम ?'' यशोधरा आँखें फाड़कर देखती रह गयी।

''जग की खोज करनेवाले, स्वयं को ढूँढ़नेवाले, जीवन का प्रयोजन जानने के लिए बेचैन रहनेवाले क्या तुम ही श्रीधर हो ?...मुझे यकीन नहीं आता, श्रीधर।''

''यह मज़ाक़ नहीं है, यशोधरा। यह मुझे मेरी भ्रमण-यात्रा से प्राप्त हुआ सत्य है। विश्व की उत्पत्ति और विलय अपने ही दिमाग़ में होता है। आखिर मैं ही सर्वेसर्वा हूँ, मैं सम्पूर्ण हूँ, मैं सार्वभौम हूँ। मैं ही अपने अस्तित्व का और विश्व का प्रयोजन हूँ। समझ गयी ? अब मुझे पहले जैसे बेचैन करने वाले प्रश्न नहीं सताते।

मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना है और वह मैं सफलता से करूँगा...''

यशोधरा आश्चर्यातिरेक से अवाक् हो गयी थी। आखिर तक फिर उसने कुछ भी नहीं कहा। जैसे-जैसे श्रीधर सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा. वैसे-वैसे उसकी मुलाकातें कम होती गयीं। श्रीधर के भेजे हुए चेक्स लौटा देती। बम्बई में होते हुए भी वह श्रीधर से मिलना टालने लगी। उसकी झुग्गी-झोंपड़ी सुधार संगठन ने तो दो बार श्रीधर के दफ्तर के सामने प्रदर्शन भी किये थे।

छप्पन

कुछ एक हद तक श्रीधर को विश्वम्भर और यशोधरा के व्यंग्यों से या सम्मुख प्रताड़ना से विषाद हुआ था और उदासी भी। उसके मन में कोहराम उठता था। उसके मन में आशंका निर्मित हो जाती कि उसके द्वारा चुना गया मार्ग सही है या ग़लत। लेकिन यह दोलायमान स्थिति सिर्फ़ पहले वर्ष भर रही। उसके बाद श्रीधर को वह सब-कुछ समझने-सोचने की परवाह नहीं रही। वह अपने काम और उसकी गति में पूरी तरह डूब चुका था। और फिर उसके लिए एक शक्तिशाली सहारा था—शशी। शशी से मिले श्रीधर को एक ज़माना हो गया था लेकिन मन-ही-मन श्रीधर जानता था कि सिर्फ़ शशी ही एक है जो उसे पूरी तरह समझ सकती है। शशी के चेक लौटाने पर भी श्रीधर को बुरा नहीं लगता था क्योंकि वह तो किसी से भी कुछ नहीं लेती थी। उसके दादा जी की मृत्यु के बाद उनकी सारी जायदाद शशी को मिल गयी थी और उसका विनियोग कैसे करना है, यह शशी ने अच्छी तरह सोच रखा था।

श्रीधर पुणे जाने के बाद शुरू में कई बार सुलभा और चाची से मिलने आता था। सुलभा उसे पत्र भी लिखती थी लेकिन दिनोंदिन उसका कारोबार बढ़ता गया और कम्पनी के काम से पुणे आने पर सारा दिन उसे कारखाने में ही बिताना पड़ता। कभी-कभी तो वह पुणे सिर्फ़ चन्द घण्टों के लिए ही आता था। भावना से जोड़े रिश्ते सँभालने के लिए अब उसके पास समय ही कहाँ बचा था और फिर श्रीधर को उसका भला-बुरा भी लगना बन्द हो गया था। अपने व्यवसाय में उसकी तेजी से उन्नति हो रही थी।

श्रीधर ने कोई व्यावसायिक तकनीकी प्रशिक्षण नहीं लिया था। पहली कम्पनी

में उसे शुरू में ही आर्थिक सलाहकार का बड़ा स्थान मिला। वह सिर्फ़ उसके प्रवन्ध और शोध-वृत्ति के नाम पर था। कम्पनी नयी थी और मालिक साहसी था। आठ-दस महीनों में ही श्रीधर अपनी बुद्धि और कुशलता का प्रमाण दिखाकर कम्पनी के अर्थ-व्यवहार में अनुशासन लाया। कम्पनी का फायदा तेज़ी से बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा था। लेकिन जिस अनुशासन की वजह से कम्पनी की बुनियाद पक्की होकर उत्पादन बढ़ गया, उसी अनुशासन की वजह से उसमें और मालिक में कुछ कहा-सुनी हो गयी। मालिक स्वयं कुछ व्यवहारों में और काग़ज़ातों में अनुशासन नहीं चाहता था। लेकिन यह बात वह श्रीधर से मनवा न पाया। आखिर श्रीधर को वह नौकरी छोड़नी पड़ी। उसके वाहर निकलते ही दूसरे वड़े उद्योग-समूह की नौकरी जैसे उसी की प्रतीक्षा में खड़ी थी। उसका इन दोनों व्यवसायों के विस्तार में योगदान वड़े उद्योग-समूह के शीर्षस्थ देख रहे थे। इसीलिए साल भर में ही वह एक वड़े उद्योग-समूह का वरिष्ठ प्रशासन अधिकारी चुना गया। यह समाचार कई अखवारों में उसकी तस्वीर के साथ छपा था। उद्योग प्रशासन क्षेत्र के उभरते सितारे के रूप में उसकी कीर्ति चारों तरफ फैल गयी थी। इसी उद्योग-समूह में उसे सचिव के रूप में लोर्नी मिली थी।

उद्योग-समूह के अधिपति भारतीय उद्योग-क्षेत्र के एक बड़े असामी थे। श्रीधर को उन्होंने ही चुना था। वह भी संयोगवश। किसी दिन वह 'भारतीय उद्योग क्षेत्र का सामाजिक उत्तरदायित्व और बाज़ार की अन्य शक्तियाँ' विषय पर आयोजित किसी परिसंवाद की अध्यक्षता कर रहे थे। वह राजनीति के मँजे हुए खिलाड़ी थे। इसलिए अपनी व्यस्तता के वावजूद थोड़ा समय निकालकर आ गये और वक्ताओं के विचार सुनने लगे। श्रीधर उम्र में सबसे छोटा था, इस परिधि में नया था। सभी से वही वातें अलग-अलग तरह से सुनकर उद्योगपति ऊब गये थे। श्रीधर के भाषण शुरू करते ही वह सँभलकर बैठ गये। वह अत्यन्त प्रामाणिकता से बोल रहा था और वह ध्यान देकर सुन रहे थे।

"अव तक के वक्ताओं से माफ़ी माँगकर मुझे यह कहना पड़ रहा है कि हमने जो मुक्त अर्थव्यवस्था स्वीकार की है—वह और उद्योग-क्षेत्र का सामाजिक उत्तरदायित्व—दो परस्पर विरोधी बातें हैं। यह अर्थव्यवस्था वहुत कठोर है। इस स्पर्धात्मक व्यवस्था की माँगें बहुत क्रूर और कठोर होती हैं। उन्हें अगर पूरा करने में हम छोटी-सी भी ग़लती करते हैं तो सारी व्यवस्था चौपट हो जाएगी।"

श्रीधर अप्रत्यक्ष शैली में अपनी टीका-टिप्पणी कर रहा था और सारा सभागृह अवाक् होकर सुन रहा था। जो सभी जानते थे लेकिन शिष्टाचार की माँग थी इसलिए कुछ साफ़-साफ़ कह नहीं पा रहे थे, वही श्रीधर बोल रहा था।

"तो आपको इन दोनों में से एक को चुनना होगा। मुक्त व्यापार-स्पर्धा या

सामाजिक उत्तरदायित्व। इन दोनों का समन्वय करने की कोशिश फ़िजूल है, जिससे कुछ भी साध्य नहीं हो सकता। हम दोनों को ही हानि पहुँचाते हैं। एक तरफ तो हम लालायित होकर स्पर्धात्मक बाज़ार के सभी फायदे को उठाते हैं और दूसरी तरफ बहुत कष्ट के भाव चेहरे पर लाकर समाज में सामाजिक उत्तरदायित्व की चर्चा कर लोगों को धोखा देने की कोशिश करते हैं। हमारे व्यापार पर, बाज़ार पर और उद्योग पर जब तक शासकीय नियन्त्रण नहीं होगा, हम सही मायने में अपना सामाजिक उत्तरदायित्व निभा नहीं सकेंगे। इसलिए पहले हमें यह तय करना चाहिए कि हम चाहते क्या हैं, तभी यह चर्चा उपयुक्त साबित हो सकती है।''

श्रोतृगण.को, श्रीधर यह सब चंचल मज़ाक़ कह रहा है या गम्भीरता से बोल रहा है, इसका अन्दाज लगाना कठिन हो गया था। इसलिए सब लोग शान्त, गम्भीर चेहरे से उसका वक्तव्य सुन रहे थे लेकिन अध्यक्ष के चेहरे पर अब हल्की-सी मुस्कराहट फैल गयी थी। फिर खुलेपन से जरा-सा हँसकर श्रीधर ने कहा, ''शायद आप सोचते होंगे यह धृष्ट, साम्यवाद की भाषा बोलनेवाला कल का लड़का आपको क्या समझाने की कोशिश कर रहा है ? अगर आप ऐसा सोचते हैं तो मैं क्या कर सकता हूँ ? लेकिन कोई अगर मेरी बातों पर ध्यान दे, तो पता चलेगा कि मैं साम्यवाद की भाषा नहीं बोल रहा। मैं सिर्फ़ आपके सामने यथार्थ को प्रस्तुत कर रहा हूँ जो शायद न आपको अच्छा लगे, न ही शासन को। हमारे देश का अप्रिय वास्तव सभी जानते हैं लेकिन उसे स्वीकारने का धैर्य हममें नहीं है इसलिए हम उसे अस्वीकार कर देते हैं। यथार्थ तो यह है कि हम सब खुली स्पर्धा चाहते हैं क्योंकि उस स्पर्धा में उतरने का सामर्थ्य और साधन-सम्पत्ति हमारे पास है। लेकिन हमारे देश में 75 से 90 प्रतिशत लोग ऐसे हैं जो इस स्पर्धा में कभी उतर नहीं सकते। वह निस्सन्देह उसके काबिल नहीं हैं। इस तरह इस व्यवस्था में दो वर्ग निर्माण होते हैं—एक स्पर्धा में उतर कर तेजी से भौतिक उन्नति करनेवाला और अपने जीवन-मान का स्तर ऊपर उठानेवाला और दूसरा हमेशा के लिए दरिद्रता के जाल में फँसा अपार बहुजन समाज। किसी दिन अगर यह बहुसंख्य समाज विद्रोह करता है तो हम सब उसकी क्रोधाग्नि में क्षण मात्र में नष्ट हो जाएँगे इसलिए सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न उभरकर सामने आता है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, सामाजिक उत्तरदायित्व के नाम पर दो-चार टुकड़े फेंकने से बात नहीं बनेगी। और अगर हम उससे अधिक कुछ देना चाहेंगे तो व्यवस्था को खतरा है। इसीलिए हमारी व्यवस्था की, हमारे वर्ग की और हमारे अधिकार की रक्षा के प्रति हमारा यह कर्तव्य बनता है कि यह जो सोया पड़ा विशाल दरिद्री समाज है, उसे कभी जागने नहीं देना चाहिए। साम, दाम, दण्ड, भेद का सही प्रयोग कर हमें इस प्रदीर्घ जन-समूह को इस अर्धचेतन अवस्था में रखना होगा। वह जाग तो नहीं रहा, उससे असन्तोष की

चिनगारी तो नहीं फूट रही, इस पर हमें कड़ी नज़र रखनी होगी। इन उपायों के 'साम' का अर्थ है सामाजिक उत्तरदायित्व—वस यहीं तक सीमित अर्थ से और अपने दाँव-पेंच का एक अंग मानकर, हमें अपना ढोंग छोड़कर इस विषय की तरफ़ देखना होगा।"

श्रीधर का भाषण खत्म होने पर तालियाँ नहीं वजीं। उसके वाद के वक्ताओं ने भी उसके द्वारा प्रस्तुत मुद्दों को अनसुना कर अपनी वात कही लेकिन कुछ वक्ताओं ने उसके सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति 'वीमार दृष्टिकोण' पर अप्रत्यक्ष रूप से आपत्ति की।

किन्तु अध्यक्ष ने अपने समापन भाषण में केवल श्रीधर के ही भाषण को लेकर वात की। उन्हें लगा कि पूरे दिन के उस परिसंवाद में मूलभूत मुद्दे प्रस्तुत करनेवाला, विचारप्रवर्तक और बेचैन करनेवाला वक्तव्य केवल श्रीधर से ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने श्रोतृगण से आग्रहपूर्वक अनुरोध किया कि वह श्रीधर की प्रस्तुति पर गम्भीरता से विचार करें। जाते-जाते उन्होंने यह भी कह दिया कि उनके अपने विचार उससे अलग हैं। उनका कहना था कि वह सामाजिक उत्तरदायित्व अपना निजी कर्तव्य मानते हैं। फिर उन्होंने अपने उद्योग-समूह ने कितने रुग्णालय वनाये हैं, कितने स्कूल बनाये हैं, कितने आदिवासी गाँवों की प्रगति का जिम्मा लिया है, कितने सामाजिक प्रतिष्ठान स्थापित किये हैं, इसका पूरा ब्यौरा प्रस्तुत किया।

शाम को मद्यपान था। अध्यक्ष उस भीड़ में श्रीधर को ढूँढ़ते हुए उसके पास आ गये।

"अभिन्दन ! यंग मैन, तुम्हारा भाषण वहुत ही ज़ोरदार और विचारप्रवर्तक था…"

"धन्यवाद ! लेकिन मैं तो सिर्फ़ वास्तविकता को खुलकर वता रहा था।"

"मैं सब कुछ समझ गया हूँ। मैं यह भी जान गया कि जैसे अन्य लोग समझते हैं वैसे तुम उनके पक्ष में नहीं वोल रहे थे। तुम तो उपरोध भाव से बोल रहे थे…।"

"आपको क्या सचमुच ऐसा लगा, सर ?"

"हाँ, और तुम्हारा उपरोध मुझे पसन्द भी आया। हमारे क्षेत्र में खुलकर वात करनेवाले लोग कम हैं और इसीलिए हमारी उन्नति नहीं होती…।"

तब तक दूसरे एक बड़े उद्योगपति मद्य का चषक लेकर वहाँ आ गये थे। उन्होंने मुस्कुराहट के पीछे नाराजगी ज़ाहिर करते हुए कहा :

"मैं तुमसे विल्कुल असहमत हूँ। तुम एक वात भूल जाते हो कि हमारे देश में मुक्त अर्थव्यवस्था नहीं बल्कि सम्मिश्र अर्थव्यवस्था है।"

"मुझे खुशी है कि आप यह जानते हैं।"

उद्योगपति ज़रा सकपकाये लेकिन फिर सँभलकर बोले, "सिर्फ़ जानता नहीं हूँ, पल पल महसूस भी करता हूँ। उसके पीछे कितनी कुछ मुसीबतें भी मोल लेता हूँ। सरकार के दरबार में माथापच्ची करनी पड़ती है। हज़ारों चक्कर चलाने पड़ते हैं। सरकार इतनी भ्रष्ट हो चुकी है···जो सीधी-सादी चीज़ें क़ायदे से चुटकी बजाते होनी चाहिए, उनके लिए धन बहाना पड़ता है···शक्स···दिस कण्ट्री इज गोइंग टू डाग्ज।"

"तो क्या आप पूर्ण मुक्त स्पर्धा की व्यवस्था के पक्ष में हैं ?"

"ओह् ! क्यों नहीं ?···आखिर बाज़ारी शक्ति के भी अपने नियम होते हैं।"

"ठीक है। फ़िर आप जिसका उत्पादन करते हैं, वह कण्डक्टर्स भी अगर विदेश से आयातित करने की खुली छूट मिल जाय तो····"

"ओह··· वह तो बिल्कुल अलग बात है। मैं तो खत्म हो जाऊँगा, आखिर हम लोग भारतीय उद्योग बढ़ाना चाहते हैं।"

"बिल्कुल सही है, लेकिन आपकी माँग के फलस्वरूप यही कुछ होगा। खुला बाज़ार, खुली स्पर्धा कहने का अर्थ ही यह है कि विदेशी उद्योगों के लिए द्वार खोलना। एक तरफ तो आप अपने उद्योग के लिए संरक्षण चाहते हैं और दूसरी तरफ आप को परवानों के रूप में होनेवाले नियन्त्रण पर आपत्ति है। सरकार से मिलनेवाले फ़ायदे चाहिए, लेकिन नियन्त्रण नहीं। यह कैसे हो सकता है ? ····"

चर्चा का रुख वाद-विवाद की तरफ बढ़ रहा था। पार्टी में उपस्थित अन्य युवा कनिष्ठ अधिकारी मुँह फाड़कर श्रीधर की तरफ देख रहे थे। बहस गर्मागर्मी में बदलती देखकर अध्यक्ष ने श्रीधर की पीठ थपथपाकर उसे पास बुला लिया। वह चलनेवाले थे क्योंकि पार्टी के लिए इतना समय देना उनके हिसाब से ज़्यादा ही था।

फिर चंचलता से हँसकर वह बोले, "यंग मैन, यू विल राईज़ फार—आकर मिलना कभी—कब आओगे ?"

श्रीधर ने बात आयी-गयी कर दी। कुछ दिनों बाद अध्यक्ष के सचिव का फ़ोन आया तब वह उनसे मिलने गया। दो महीनों में उन्होंने अपनी कम्पनी में आर्थिक और संघटनात्मक सलाहगार के महत्त्वपूर्ण पद पर उसकी नियुक्ति कर दी। सालभर में श्रीधर ने अपने गुणों से कम्पनी में दूसरे क्रम का स्थान पा लिया।

अध्यक्ष का उद्योग समूह देश भर में फैले अनेक उद्योगों का समूह था। खेती के लिए आवश्यक मोटर-पम्प से लेकर हवाई दल के विमानों में लगने वाले स्पेयर पार्ट्स तक उनकी उत्पादन-कक्षा की विस्तृति थी। देश के विभिन्न भागों में उनके विभिन्न कारखाने चल रहे थे, जिनकी संख्या में दिन-ब-दिन वृद्धि ही हो रही थी। उनकी कर्मचारी-संख्या लगभग पचास हज़ार थी। अध्यक्ष पुराने ढर्रे के उद्योजकों में से एक थे, उन पर अधिकाधिक उद्योग हथियाने का भूत सवार था। वह यह भी जानते थे कि इस तरह फैलता हुआ कारोबार उनकी सँभाल से बाहर होता जा रहा

है। शेयर बाज़ार में उनकी कम्पनी के शेयर्स के भाव लगातार बढ़ते जा रहे थे। इस बढ़ते राक्षस को अगर काबू में न किया गया तो शेयर का भाव कब गिरने लगेगा, इसका पता नहीं। वह खुद कुछ खास पढ़े-लिखे नहीं थे और आधुनिक व्यवस्थापन तन्त्रों का पुस्तकीय ज्ञान सम्पादन करनेवालों पर उन्हें विश्वास नहीं था। स्वतन्त्र बुद्धि से कम्पनी के चाल-चलन को आत्मसात् कर उसके अस्तव्यस्त फैलाव में सूत्रीकरण लाने के लिए वह अपने जैसे ही तेज दिमाग़ के युवा व्यावसायिक की तलाश में थे। श्रीधर से वह बहुत प्रभावित हुए और अपने सही आदमी के चुनाव करने की अनाकलनीय क्षमता के भरोसे पर उन्होंने श्रीधर को तुरन्त चुन लिया। उनका चुनाव बिल्कुल सही था. इसका प्रमाण उन्हें जल्दी ही मिल गया, उसी के साथ-साथ श्रीधर की ख्याति. अधिकार और सामर्थ्य बढ़ने लगा।

श्रीधर ने इस नयी चुनौती को बड़े जोश-उल्लास से स्वीकार किया। उसने उद्योग-समूह की सभी कम्पनियों और कारखानों के काग़ज़ात देखकर उनके बारे में प्राथमिक जानकारी हासिल की और फिर हर केन्द्र का दौरा कर वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन किया। सम्बन्धित उच्चाधिकारी और सभी स्तरों के कर्मचारियों से चर्चाएँ कीं और वह लगातार उनसे मिलते रह कर स्वयं को उनकी प्रगति से अवगत रखने लगा। कुछ ही समय में पूरे उद्योग-समूह में श्रीधर ही एक अकेला व्यक्ति था जो विभिन्न उद्योगों की कर्मचारी संख्या, उनकी वर्गवारी, उत्पादन क्षमता, वेतन स्तर का ढाँचा, मुनाफा, नुकसान और उत्पादन का गुणात्मक दर्जा, बिक्री-व्यवस्था-क्षमता, गुण-दोष, विसंगतियों के बारे में जानकारी और विश्लेषण का पूरा ज्ञान रखता था। सुसूत्रीकरण की उसकी बनायी योजना देखकर अध्यक्ष और संचालक-मण्डल के अन्य सदस्य तो दंग रह गये। जहाँ आवश्यक था वहाँ केन्द्रीय यन्त्र को बढ़ाकर श्रीधर ने फालतू के दोहरे खर्च बन्द कर दिये। सभी उद्योगों के कर्मचारियों की वेतन श्रेणी के ढाँचे में एकसूत्रीकरण लाया गया। ऑडिटिंग, चेक्स और जमा की पद्धतियों को आसान बना दिया गया। बिक्रीयन्त्र का विकेन्द्रीकरण किया और स्थानीय अधिकारियों को स्वतन्त्र जिम्मेवारियाँ और उनसे सम्भव लाभ दिये। प्रचार और विज्ञापन यन्त्र का विकेन्द्रीकरण रोककर उसने उनका पक्का केन्द्रीकरण कर दिया। साल भर में कम्पनी की तिजोरी भर-भर कर बहने लगी। शेयर पर मुनाफा बढ़ गया। बाज़ार में कम्पनी के शेयर्स की कमान बढ़ते-बढ़ते ऊपर की तरफ जाने लगी। पूरा संचालक-मण्डल खुशी से नाचने लगा। अध्यक्ष अपने सही चुनाव पर खुद की पीठ ठोंकने लगे। दो साल के भीतर ही श्रीधर को अध्यक्ष के साथ वाला कमरा मिल गया। उसका कमरा मैनेजिंग डाइरेक्टर से भी बड़ा था। उसका ओहदा अभी सलाहकार का ही था लेकिन उसे मैनेजिंग डाइरेक्टर के बराबर सम्मान दिया जाने लगा। विदेशी आयात-निर्यात और नये तन्त्र-ज्ञान को खरीदने के लिए उसकी विदेशी

यात्राएँ होने लगीं। उस बेहोश करनेवाली गति में श्रीधर स्वयं को और अपने भूतकाल को भूल गया। चार वर्ष पहले यही श्रीधर विश्व और जीवन के प्रयोजन को लेकर कितना परेशान था, इसका वह स्वयं भी यक़ीन नहीं कर सकता था। अब काम के लिए उसे दिन के चौबीस घण्टे कम लग रहे थे। व्यक्तिगत बातों के बारे में सोचने का समय ही नहीं मिलता था। हर रोज़ दफ्तर में पहेल क़दम रखनेवाला और दफ्तर से सबसे आखीर में बाहर निकलनेवाला व्यक्ति श्रीधर ही था। शाम को व्यावसायिक पार्टियों से निबटकर वह घर आता। रात को घर लौटते समय उसका ड्राइवर फ़ाइलों की एक थप्पी उसकी गाड़ी में रख देता था। हफ्ते में दो-चार बार लोर्ना के साथ किसी दूर के होटल में जाकर खाना-पीना या फ़िल्में देखना, यही उसकी फुरसत की सीमा थी।

फिर लोर्ना से घनी दोस्ती हुई। कभी-कभी जब वह रात को श्रीधर के घर रुक जाती, तब आधी रात गये भी श्रीधर डिक्टेशन देने लग जाता। शायद अगर लोर्ना एक तत्पर सचिव के रूप में न मिलती तो वह बेचैनी का भूत फिर उसके सिर पर सवार हो सकता था। लोर्ना की तरह उसके दफ्तर का वेंकटेश्वरन भी बीच-बीच में मिलकर उसे अपना अतीत याद दिलाता था। इसी दौरान वर्मा मिला था, बड़े नाट्यमय ढंग से। वर्मा ने जाने-अनजाने में उसके जीवन-प्रवाह पर अपनी छाप डाली और बेचैनी की अव्यक्त समान्तर विचारधारा का उसके मन में बीजारोपण किया।

सत्तावन

यह भी कह नहीं सकते कि वर्मा से मुलाकात अचानक हुई थी। श्रीधर के न जानते हुए भी वर्मा आसपास कहीं था ही। शायद किसी व्यावसायिक मेले में श्रीधर ने उसे देखा भी था। सिर्फ़ परिचय तक बात सीमित रहती तो ठीक थी लेकिन वर्मा ने तो जैसे उसके मर्मस्थान पर अपनी उँगली रख दी थी। जैसे रूई के गोदाम में कोई एक आग की चिनगारी घुस जाय—क्षीण रूप से अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहे और बाहर से उसके अस्तित्व का कोई भी संकेत तक न मिले, ऐसा ही कुछ वर्मा की उस मुलाक़ात से हुआ।

"कोई वर्मा नाम के सज्जन का फ़ोन है। वह आपसे बात करना चाहते हैं।" लोर्ना ने कहा था।

"हू इज़ वर्मा ?"

"उनकी कम्पनी हमें कच्चा माल देती है। अल्युमिनियम शीट्स, रसायन, लोहे की प्लेटें और इंजीनियरिंग ट्रेडर्स···।" हमेशा की तरह लोर्ना के पास पूरा व्यौरा तैयार था।

"उन्हें मुझसे क्या काम हो सकता है ? उनके उत्पादन प्रवन्धक या स्टोर वालों से वात करवाओ।"

"नहीं सर, वह आप ही से वात करना चाहते हैं।"

श्रीधर ने क्षण भर के लिए सोचा। कभी अन्य विभागों के वारे में शिकायत करनेवाले लोग भी मिल जाते हैं। श्रीधर के पास पहले भी कई वार इस तरह की शिकायतें आती थीं। विशेष रूप से कम्पनी में उसके एकमेव वरिष्ठ मैनेजिंग डायरेक्टर की भी। खन्ना के खिलाफ़ घूसखोरी की शिकायतों की अच्छी-खासी फाइल उसके पास वन गयी थी। खन्ना ने अपनी पत्नी के नाम गुजरात में दो कारखाने लगाये थे। दिल्ली में उसके वहनोई ने लक्ज़री वसों की ट्रान्सपोर्ट सर्विस शुरू की थी। उसकी पत्नी के नाम गोवा में एक शानदार होटल वना था। उसके कितने वँगले और घर थे, इसकी तो कोई सीमा ही नहीं थी। इसके अलावा कम्पनी के खर्चे से खन्ना यूरोप का एक दौरा हर महीने लगाता था। खन्ना के पास इतना पैसा कहाँ से आया है, यह श्रीधर जान चुका था। लेकिन खन्ना मेहनती था। श्रीधर से पहले कम्पनी का नाम होने में उसका भी योगदान था और कम-से-कम अब तक तो उसने अपना उल्लू सीधा करने के लिए कम्पनी का नुकसान नहीं किया था। इसीलिए श्रीधर चुप था। यह वर्मा भी शायद ऐसी ही कोई शिकायत लेकर आया होगा। श्रीधर ने फ़ोन उठाया, 'हैलो, श्रीधर हियर।"

'हैलो, गुड मार्निंग श्रीधर। मुझे पहचाना आपने ?"

"अँ···वेल··· मैं जानता हूँ कि आप हमारी महत्त्वपूर्ण एन्सीलरीज में से एक हैं।"

"वस्स ?" उस तरफ़ का स्वर चंचल लग रहा था। अव श्रीधर को झुँझलाहट होने लगी थी। इस तरह के मज़ाक़ के लिए उसके पास समय नहीं था—खास कर अनजान लोगों के लिए।

"और कुछ ?"

"अच्छा चलो, मैं तुम्हें एक और क्लू देता हूँ। मैं अतुल वर्मा। अब कुछ और याद आ रहा है ?"

"नहीं भाई ! देखिए, मेरे पास इस तरह के खेल खेलने का समय नहीं है। कुछ और काम है तो वताइए।"

"अच्छा, काम इतना ही था कि मुझे आपसे पाँच मिनट का समय चाहिए था।"

"अगर काम के स्वरूप का पता चलता तो…"

"वह अत्यन्त व्यक्तिगत है। मिलने के वाद समय बर्बाद हुआ, ऐसा आपको नहीं लगेगा, यह अवश्य कह सकता हूँ।"

उसके स्वर में जो अपनापन जताने की भावना थी, वह श्रीधर को अच्छी नहीं लगी थी लेकिन लोर्ना के कहने के अनुसार अगर वह एक वड़ा एजेण्ट है तो उसे सहना तो पड़ेगा ही।

"कव आ सकते हैं ?"

"अगर आप कहें तो अभी पन्द्रह मिनट में आ सकता हूँ।"

"तो आइए, पन्द्रह मिनट में लेकिन सिर्फ़ पाँच मिनट के लिए…।"

"थैंक यू सर…।"

जव लोर्ना ने वर्मा को अन्दर भेजा तो श्रीधर फाइलें देखने में व्यस्त था। ऊपर न देखते हुए उसने वर्मा से वैठने के लिए कहा और पाँच मिनट में फाइलें बन्द कर गरदन उठाकर उसने पूछा, "कहिए, क्या कर सकता हूँ मैं आपके लिए ?"

"मैं इसलिए नहीं आया हूँ कि आप मेरे लिए कुछ करें।" सामने खड़ा आदमी उसे मुस्कुराता हुआ घूरता जा रहा था। श्रीधर ने देखा, वर्मा नाटा-सा था। श्यामल वर्ण, सिर से वाल लगभग ग़ायव थे। इसीलिए उम्र का अनुमान लगाना कठिन था लेकिन उम्र चालीस से कम ही होगी। स्वस्थ, भरा-पूरा शरीर, आँखों में सदैव मुस्कुराहट की झलक। गले में रुद्राक्ष की माला और सत्य साईवावा का लॉकेट। श्रीधर का ध्यान अव भी बन्द की हुई फाइल की तरफ़ था। उसने कहा, "तो फिर ?"

"मैं तो यूँ ही आपसे परिचय कराने आया हूँ…।"

"परिचय तो हो चुका…।"

वर्मा हँस दिया और फिर अपनापन जताता हुआ वोला, "आपको एक और वात याद दिलाता हूँ, शायद कुछ याद आ जाय। सत्तावन-अट्ठावन का साल था। उत्तर बंगाल में कुरेसाँग के पास जो रेल-प्रकल्प था। आपकी बड़ी बहन की मृत्यु…"

"अतुल वर्मा…।" श्रीधर के मुँह से अचनाक निकल गया। उसका चेहरा उत्फुल्ल हुआ, "माई गॉड ! न जाने कितनी बार तुम्हारा नाम याद करने की कोशिश की, हाँ—अतुल वर्मा…"

श्रीधर ने आगे हाथ बढ़ाया, दोनों ने हाथ मिलाया। काफ़ी देर तक वह हाथ मिलाकर बातें करते रहे।

"हाँ, अतुल वर्मा…कहाँ थे तुम इतने दिन ? तुमने मुझे मृत्यु का तत्त्वज्ञान सुनाया था …याद है ?"

"मृत्यु का तत्त्वज्ञान ? मैंने ? नहीं तो…मैंने तो तुम्हें सिर्फ़, कुछ जानकारी दी

थी। तुम उम्र में वहुत छोटे थे इसलिए।"

"येस···येस··· माई गॉड, मैं अब भी भूला नहीं हूँ···वह वात ··· इट वाज प्रोफाउण्ड···मृत्यु क्या है, मृत्यु के वाद शरीर कितना निरर्थक वनता जाता है, यह तुमने मुझे बहुत चित्रमय ढंग से समझाया था। याद है ? उफ्फ ! कितने दिनों वाद मिल रहो हो। तुम इतने दिन कहाँ थे ? हाथ में एक मच्छर मारकर तुमने मुझे सोदाहरण मृत्यु का प्रात्यक्षिक दिया था। याद है ? फिर तुम कहाँ ग़ायब हो गये थे ? मैं तुम्हें कितना याद करता रहा था···यह सोचता था कि तुम ज़रूर एक वड़े तत्त्वज्ञ वन गये होगे ···।"

"मैं और तत्त्वज्ञ ?" वर्मा हँस पड़ा।

"मेरे लिए तुम्हें भुलाना असम्भव था··· लेकिन मैं तुम्हारा नाम भूल गया था··· तब हम वहुत छोटे थे, है न ? मैं तो और भी छोटा था ··· तुमने मुझे कैसे ढूँढ़ निकाला···? लोर्ना··· हैलो ··· दो कॉफ़ी भेजना और अव पन्द्रह मिनट के लिए किसी को भी अन्दर मत भेजना ··· ओ के ? मैं तो तुम्हें पहचान भी न पाता। मुझे तुम्हारा नाम तक याद नहीं था ··· अरे वैठो··· वैठ जाओ यार।"

वर्मा सन्तुष्ट होकर मुस्कुराया। उसके दाहिने हाथ में वहुमूल्य हीरों की दो अँगूठियाँ थीं।

"सही है···तुम उस वक्त वहुत छोटे थे लेकिन मैं तुम्हारा नाम कैसे भुला सकता था···।" कुर्सी में आराम से वैठते हुए वर्मा ने कहा।

"मेरे पिताजी रेलवे काण्ट्रेक्टर थे और तुम्हारे पिताजी तो उनके लिए देवता थे···हा···हा ···।"

"लेकिन आज अचानक यहाँ कैसे···?"

"तुम्हारा नाम सुना था। एकाध बार मैंने सोचा भी था लेकिन पक्का पता नहीं था इसलिए नहीं आया। परसों शशी जी के पास पुणे गया था तब···।"

"शशी जी के पास ? उसे तुम कैसे जानते हो ?"

"दान-धर्म करता रहता हूँ न इधर-उधर। उनके स्कूल में दो-तीन वार पहले भी हो आया हूँ।"

"उसने तुम्हारा दान स्वीकार किया ?"

"नहीं, वह दान स्वीकार नहीं करती। उससे तो वेहतर है कि वहाँ के विकलांग वच्चों को गोद ले लो। इसीलिए मैं वहाँ जाता रहता हूँ। परसों वातों-वातों में तुम्हारा जिक्र हुआ और मैं फौरन जान गया ···।"

"हाऊ नाईस··· बड़ी खुशी हुई तुमसे दुवारा मिलकर।"

दोनों ने एक-दूसरे का हाल-चाल पूछा। माँ-बाप, भाई-वहन, विवाह और कैरियर। वर्मा भी अविवाहित था। वातें खत्म होते-होते कॉफी भी आ गयी।

दोनों में दूसरे दिन मिलने का वादा हुआ, अतीत की यादों को तरोताजा करने के लिए। कुछ ही देर बाद पुरानी पहचान के जीवन्त होने का उत्साह धीरे-धीरे बुझता-सा मालूम होने लगा। यह बात वह दोनों जान गये थे। यह भी लग रहा था कि अब और कुछ कहने के लिए शेष नहीं बचा।

"मुझे लगा था बड़े होकर तुम बड़े चिन्तक बनोगे। उस वक़्त तो तुम अच्छा-खासा फलसफा झाड़ लेते थे।" श्रीधर ने कहा।

"तुम बहुत छोटे थे इसलिए शायद तुम्हें वैसा लगा होगा।" वर्मा ने मुस्कराते हुए जवाब दिया। "मैंने जैसे-तैसे मैट्रिक तक पढ़ाई की। पिताजी के न रहने पर उनका धन्धा चलाने का जिम्मा मुझ पर आ पड़ा। बस वहीं पर मेरी शिक्षा का अन्त हो गया। काहे का तत्त्वज्ञान और कहाँ की पढ़ाई। धन्धा···मुनाफा···अधिकाधिक फायदा···रुपया··· रुपया···सुखचैन की वस्तुएँ···और सुखचैन का सामान···अब हमारा यही तत्त्वज्ञान है···हा···हाः···हाः····"कहकर वर्मा ने ठहाका मारा।

उसकी बातों में भोलापन और कड़वाहट का मिश्रण था। शब्दों में विषाद था। शायद उसने आह भी भरी थी।

यह ऐसा क्यों बोल रहा है, श्रीधर मन-ही-मन सोच रहा था लेकिन उसके इससे अधिक कुछ कहने से पहले ही घड़ी की तरफ देखकर वर्मा उठ खड़ा हुआ।

"चलता हूँ।"

"बैठो न !"

"नहीं, काफ़ी समय ले लिया तुम्हारा।"

श्रीधर का दिया हुआ समय तो कब का बीत चुका था।

"हम दोनों में वैसी औपचारिकता रखना आवश्यक नहीं है। बैठो न !"

"नहीं, चलना चाहिए। मुझे भी काम हैं।"

"ठीक है। कल ज़रूर मिलते हैं। बहुत बातें करनी हैं। कई चीज़ों के बारे में···"

दूसरे दिन मिलने का पक्का वादा कर वर्मा चला गया।

वर्मा के मिलने का आनन्द श्रीधर को अवश्य हुआ था। लेकिन उसी के साथ ऐसा भी हुआ कि बहुत दिन बन्द रखे कमरे का दरवाज़ा जैसे धड़ाम से खुल गया। गहरी बेचैनी ने श्रीधर को छू लिया। यह उसके आज के गतिमान, निर्विकार जीवन से विसंगत था। वर्मा के चले जाने के बाद भी काफ़ी देर तक श्रीधर काम में अपना मन लगा नहीं पाया। रह-रहकर उसे अपना बचपन याद आ रहा था। अतुल वर्मा ने सहजता से ताली बजाकर दोनों हथेलियों के बीच एक मच्छर मारा था, जो उसने श्रीधर के आगे करते हुए कहा था, "मर गया !"

"वृन्दा मर गयी यानी ?"

"यानी अब उसे श्मशान में ले जाएँगे और जला देंगे।" अतुल ने बड़े आदमी जैसा जवाब दिया था। इस उम्र में उसने ऐसी कौन-सी मृत्यु देखी थी ?

"ओह !" श्रीधर ने रोनी सूरत बनाकर पूछा था, "क्या उसके शरीर में जलन न होगी ?"

ज्ञानी आदमी की तरह हँसकर अतुल ने कहा था, "मरने के बाद शरीर में कुछ नहीं होता।"

श्रीधर को वृन्दा की मृत्यु याद आयी, माँ और रामी याद आयी। आकाश, तारे, फूल—सारा बचपन याद आया और उसका कलेजा जैसे काँप गया। फिर एक सवाल उसके मन में हल्के से उभर आया, "उफ्फ···मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ?"

बेचैन होकर उसने लोर्ना को बुला लिया। जब उससे इधर-उधर की बातें कर के भी मन नहीं भरा तो उसने उसे एक लम्बा-चौड़ा डिक्टेशन देना शुरू किया।

श्रीधर ने लोर्ना से वर्मा के बारे में जानकारी मँगवायी। वर्मा की कम्पनी 'इंजीनियरिंग ट्रेडर्स' श्रीधर की कम्पनी से पिछले सात-आठ साल से व्यवहार कर रही थी। वर्मा की कम्पनी का अच्छा-खासा नाम था। व्यवहार की भी प्रतिष्ठा थी। वह जिन वस्तुओं का व्यापार करती थी, उसमें माँग काफ़ी बढ़ जाने से उसने दो-चार वर्षों में काफ़ी धन जोड़ लिया था। उसमें वर्मा की बुद्धि या प्रयत्न असामान्य होने का कोई प्रमाण नहीं मिला था। उलटा ऐसा सुनने में आया था कि वर्मा अपने धन्धे के प्रति काफ़ी ढीला-ढाला है। उसकी कम्पनी ने श्रीधर की कम्पनी से न जाने कब का बकाया दो-तीन लाख रुपये वसूल नहीं किया था।

श्रीधर ने दूसरे दिन वर्मा से मिलने का वायदा तो किया था लेकिन उसे सुबह अचानक दिल्ली जाना पड़ा। उसके आगे के भी दो महीनों में उसकी एक के बाद एक, कई विदेश-यात्राएँ हुई और वहाँ से लौटने के बाद वर्मा का कोई पता-ठिकाना नहीं था। वर्मा फिर मिला, तो श्रीधर को रोम जाना था। उनका मिलना मुश्किल हो गया था।

अट्ठावन

रोम का दौरा आम नहीं था। एक इतालियन इंजीनियरिंग कम्पनी से तन्त्रज्ञान के भारी-भरकम आयात का इकरारनामा करना था इसलिए श्रीधर की कम्पनी का एक बड़ा दल रोम जा रहा था जिसमें अध्यक्ष, मैनेजिंग डाइरेक्टर और श्रीधर के अलावा अन्य कई अधिकारी भी शामिल थे। महत्त्वपूर्ण अधिकारियों के सचिव भी थे जिसमें

लोर्ना भी थी। दो-चार मुलाक़ातों में सब बातें तय हो जाने के बाद लेन-देन का मसौदा तैयार करने के लिए श्रीधर को रुकना पड़ा। अन्य सभी लोग भारत लौट आये। साथ में उसकी मदद के लिए लोर्ना भी रुकी हुई थी। गुरुवार, शुक्रवार भरपूर काम करने के बाद शनिवार-रविवार की छुट्टी आ गयी। श्रीधर पहली बार लोर्ना के साथ एक पर्यटक-जैसा रोम में घूमा। लोर्ना को उसने रोम के प्रसिद्ध और दर्शनीय ऐतिहासिक स्थल दिखाये।

"आप पहले रोम आये थे ?" थकान के बाद लम्बी साँस लेकर होटल की कुर्सी में धम्म से फैलकर बैठते हुए लोर्ना ने कहा।

"नहीं तो। सारा यूरोप घूमा हूँ लेकिन रोम में पहली बार आया हूँ।"

"कमाल है !" अपने चेहरे पर आश्चर्य के भाव ज़ाहिर करते हुए लोर्ना ने पूछा, "मुझे तो लगा, यहाँ आप कई बार आ चुके होंगे। यहाँ आपने अच्छा-खासा समय गुज़ारा होगा। आप इतनी विस्तारपूर्वक ऐतिहासिक जानकारी कैसे रखते हैं ?"

श्रीधर हँस पड़ा। लोर्ना बुद्धिमान थी, स्मार्ट थी। कुछ लोगों को कविता दृष्टि का वरदान होता है, कई व्यक्ति गणित में प्रतिभावान् होते हैं। उस तरह लोर्ना पैदाइशी बुद्धिमान सचिव थी। अपने विषय और उससे सम्बन्धित कामों में वह बहुत काबिल थी। श्रीधर चाहे उस पर कितना भी काम क्यों न थोप दे, उसे वह बखूबी निभाती थी। लेकिन इसके बावजूद श्रीधर को लगा, वह बहुत भोली है। सचिव के काम में असामान्य होने के बावजूद उसमें दुनिया के सामान्य ज्ञान का अभाव है। थकी-माँदी लोर्ना कुर्सी में निढाल होकर ठुड्डी हथेली पर रखकर, बड़ी-बड़ी आँखों से श्रीधर को आदर से टुकुर-टुकुर देख रही थी। उसके कटे हुए बाल अस्त-व्यस्त फैले हुए थे। उसकी साड़ी का पल्लू फिसल गया था। श्रीधर ने ही उसे कभी कहा था कि उस पर स्कर्ट या अन्य किसी पोशाक की तुलना में साड़ी अधिक अच्छी लगती है। तब से वह श्रीधर के साथ साड़ी ही पहनकर आने लगी थी। श्रीधर को लगा लोर्ना तेज है और कभी-कभी बहुत आकर्षक भी लगती है, जैसे कि अब लग रही है। शशी या यशोधरा जैसी खूबसूरत तो खैर नहीं थी लेकिन लुभावनी ज़रूर थी।

फिर एक लम्बी साँस लेकर श्रीधर ने कहा, "जानकारी रखने के लिए यहाँ आना आवश्यक नहीं है, लोर्ना। मैं तो यह समझता हूँ कि यहाँ रोम में रहनेवालों में से भी नब्बे प्रतिशत लोगों को तो मुझसे एक शतांश भी अपने इतिहास और प्राचीन संस्कृति का ज्ञान नहीं होगा। उसके लिए उस विषय में रुचि होनी चाहिए, अध्ययन होना चाहिए।"

"आप तो कमाल करते हैं !" लोर्ना ने बहुत आदर और प्रेम से कहा, "आप तो न जाने कितने विषयों में रुचि रखते हैं !"

बैरा आया, उसके आते ही श्रीधर ने लोर्ना को मेनू कार्ड पकड़ाया। लोर्ना ने

अपने सचिव के कौशल्य से इतालियन वैरे की टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में उससे बात की और फिर खाना, डेजर्ट और वाईन का ऑर्डर दिया। फिर कुर्सी में आराम से बैठती हुई वह बोली, "बुरा न मानें तो एक बात पूछूँ ?"

"पूछो"—अब उन दोनों में वह केवल सचिव और साहब का सम्बन्ध नहीं रहा था लेकिन वह दबाव अब भी बना हुआ था।

"आप इतने विभिन्न विषयों में दिलचस्पी रखते हैं लेकिन आप यूँ खोये-खोये-से क्यों रहते हैं ?"

"यानी ? समझा नहीं ।"

लोर्ना ने सिर्फ़ एक आह भरी। वह पंचतारांकित होटल अब भरने लगा था। ऑर्डर लेनेवाले बैरों का आना-जाना शुरू हो चुका था। हॉल के कोने में वाद्यवृन्द इतालियन संगीत की हल्की धुन बजा रहा था। आँखें मूँदकर और सारे शरीर को जैसे निचोड़ता हुआ एक युवा वादक आर्त स्वरों की लड़ियाँ वायलिन से निकाल रहा था। उसके साज के जादू से जैसे पूरा होटल मन्त्रमुग्ध हो गया था। सब लोग अपने काँटे और छुरियाँ नीचे रखकर गरदन घुमाकर उसे देख रहे थे। वातावरण स्तब्ध था। वादक को सम्मान देने के लिए होटल के कर्मचारी एक तरह से ग़ायब हो गये। सर्वत्र शान्ति फैली हुई थी। पूरे माहौल में जैसे व्याकुल करनेवाले उन आर्त स्वरों के अलावा कुछ भी नहीं था। लोर्ना भी आँखें मूँदकर जैसे उन सुरों का रसपान कर रही थी। वादक ने अपनी लय उच्च बिन्दु तक ले जाकर वायलिन के तारों को आखिरी झटके से छोड़ दिया और अभिवादन के लिए वह बड़ी नजाकत से झुक गया। कुछ क्षण सभागृह जैसे अवाक् होकर स्तब्ध रह गया था, वह जल्द ही तालियों से गूँजने लगा। दो-चार उत्साही संगीत-प्रेमियों ने उस युवा वादक से हस्तान्दोलन किया। अलंकारों से लदी एक प्रौढ़ा ने उसे पास खींचकर उसके गालों का चुम्बन किया। सभागृह फिर सम्भाषणों से भर गया। बैरों का आना-जाना शुरू हो गया और वाद्यवृन्द की दूसरी धुन बजाने के लिए हलकी लय में ड्रम बजने लगा।

"ग्रेट…" तालियाँ बजाते हुए लोर्ना ने कहा।

"ग्रेट" वेटर द्वारा लायी वाइन का एक चषक उठाकर श्रीधर ने कहा।

लोर्ना ने उसका चषक होंठों से लगाया और हल्की-सी चुस्की ली। वाईन का नर्म तरल स्वाद कुछ देर तक जुबान पर रहने दिया।

"आपने मेरी बात का उत्तर नहीं दिया।"

"किस बात का ?"

"यह सम्मोहित होकर काम करना किसलिए है ? मैं जानती हूँ कि तुममें कैरियर को लेकर कोई जबरदस्त लालसा तो नहीं है। मैंने कई उच्चाधिकारियों को देखा है, मैं उन्हें झट से नाप-तोल लेती हूँ। आप यह सब क्यों करते हैं ? आप क्या पाना

चाहते हैं ? पैसा कमाना चाहते हैं ? उच्च पद की लालसा रखते हैं ? आप जीवन से क्या चाहते हैं ?"

श्रीधर ने जल्दी-जल्दी वाइन के घूँट भरे। चषक नीचे रखकर लोर्ना की उस पर केन्द्रित तीखी नज़र से आँखें चुराकर वह वाद्यवृन्द को देखने लगा। उसकी उँगलियाँ मेज़ पर ठेका दे रही थीं। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि बेचैनी का लावा उसके सीने में फिर उमड़कर क्यों आ रहा है। इन्हीं प्रश्नों से बचने के लिए तो उसने स्वयं को इस जीवन में झोंक दिया था···उसने फिर लोर्ना की तरफ देखा। वह अब भी उस पर नज़र टिकाये बैठी थी।

"तुम यह नौकरी क्यों करती हो ?"

"क्योंकि मैंने इस विषय में उच्च शिक्षा ली है। इस विषय में मेरी अच्छी गति है और फिर जो भी काम करना हो वह पूरी निष्ठा और लगन से करना यह मेरा स्वभाव है। यहाँ नहीं तो मैंने और कहीं भी इसी तरह की कोई नौकरी की होती। मुझे नौकरी की सख्त ज़रूरत है। मैं अपने माँ-बाप की इकलौती बेटी हूँ। माँ अब बूढ़ी हो गयी है और पिताजी लकवे के मरीज़ हैं···इसलिए···"

"लोर्ना, यह तो तुमने पहले कभी बताया नहीं ?"

लोर्ना ने कुछ क्षण गरदन झुका ली।

"मुझे अपने बारे में बोलना अच्छा नहीं लगता"—लोर्ना ने ठण्डी आह भरकर कहा और फिर नज़रें झुकाकर वह बोली, "तुमने कभी पूछा ही नहीं।"

"लोर्ना, आयम सॉरी लोर्ना," उसके हाथ पर अपना हाथ रखकर श्रीधर ने मनःपूर्वक कहा, "मैं बहुत स्वार्थी और आत्मरत व्यक्ति हूँ। मुझे माफ करना।"

"नहीं···नहीं।" उसका हाथ अपने हाथों से दबाकर लोर्ना ने उत्कटता से कहा, "मैं तुम्हें स्वार्थी कभी नहीं कहूँगी। तुम स्वार्थी हरगिज नहीं हो। स्वार्थी कुछ और होता है। तुम स्वार्थी कैसे हो सकते हो ?"

इतने में उनके खाद्य पदार्थ आ गये। बड़ी सभ्यता और कुशलता से बैरा उनका खाना उन्हें परोसने लगा। श्रीधर को लग रहा था जैसे उससे कोई अपराध हो गया है। लोर्ना से घनिष्ठ परिचय हुए अब दो-तीन साल बीत चुके थे। और वैसे देखा जाए तो वह चार साल से उसकी सहकर्मी थी। लेकिन श्रीधर ने कभी उससे उसके घर-परिवार के बारे में कुछ नहीं पूछा था। कई बार वह लोर्ना को अपने साथ महत्त्वपूर्ण कामों के लिए दिल्ली ले गया था। सप्ताह के अन्त में उसके साथ दूर-दूर घूमने गया था। वह भी कई बार उसके घर गयी थी। लेकिन श्रीधर ने उससे उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में कभी पूछा नहीं था। कभी वह ड्राइवर से उसे लिवाने के लिए ही उसके घर के सामने से गाड़ी निकलवाता था। उस वक़्त भी भोर के अँधेरे में उसने उसे उसके घर से ले लिया था। उसके घर का वह स्थान वह जानता

था, लेकिन अगर कोई उसके घर का पता पूछता तो वह बता नहीं पाता। वह सब उसके ड्राइवर का जिम्मा था। उस दिन भी उसने लोर्ना के घर का दरवाज़ा तक नहीं देखा था। दफ्तर में भी लोर्ना कभी उदास तो नहीं लगती थी। न कभी वह देर से आयी थी और न कभी घर में काम होने की वजह बताकर जल्दी घर गयी थी। लोर्ना एक आदर्श निजी सचिव थी। उसकी लघुलिपि की और टंकणलेखन की गति आश्चर्यजनक थी। वह अविवाहित है और उस पर परिवार की तरफ से कुछ विशेष रोक-टोक नहीं है, केवल इतना ही वह जानता था।

बैरे के चले जाने पर दोनों ने काँटे-छुरियाँ उठायीं।

"तुम्हारे भाई-बहन नहीं हैं ?"

"नहीं, मेरे पिताजी के भी नहीं थे। लेकिन मामा वगैरह हैं।"

"तुम्हारी शिक्षा ?"

"इसी घर में, मेरे पिताजी का जन्म भी यहीं पर हुआ था। माँ वसई से हैं। पिताजी खूब हट्टे-कट्टे थे। अगर उनकी पुरानी तस्वीरें देखो तो यक़ीन नहीं आएगा। भारत-श्री जैसे खिताब पानेवालों जैसे थे। उन्हें अंग्रेज़ सरकार से काफ़ी पुरस्कार मिले थे।"

"अच्छा ? वह क्या करते थे ?"

"पहले महायुद्ध में सेना में थे। मेसोपोटामिया गये थे···"

"ओह ! इस वक़्त तो उनकी काफ़ी उम्र होगी ?"

"इस वक़्त ? वह 93-94 के होंगे।"

"क्या कह रही हो ?" श्रीधर ने अविश्वास पूर्वक कहा।

"हाँ, जब मेरा जन्म हुआ, तभी वह छप्पन साल के थे।"

"फिर ? क्या वह सेना से ही सेवानिवृत्त हुए ?"

"न···न···वह तो हरफनमौला ही रहे होंगे। युद्ध के बाद उन्होंने सेना छोड़ दी। भायखाला में एक व्यायामशाला शुरू की। वायलिन का उन्हें बड़ा शौक था इसलिए छोटा-सा बैण्ड का ग्रुप बनाया। पहले ज़माने में जो मूक फ़िल्मों का दौर चला था उसको वह संगीत देते थे। लेकिन इससे गुज़ारा तो हुआ नहीं इसलिए वह किसी पारसी कम्पनी के साथ ब्रह्मदेश, सिंगापुर, हाँगकाँग और चीन हो आये। वापस लौटे तो कर्ज़दार बनकर। बीस वर्ष वह कर्ज़ उतारने में लगे रहे। और फिर यह लकवे का दौरा पड़ा। अब पिछले अठारह वर्षों से बिस्तर में पड़े हैं···उनकी देखभाल माँ ही करती है। लेकिन अब मैंने एक नर्स भी रखी है।"

खाते-खाते लोर्ना बोल रही थी। बीच-बीच में वाद्यवृन्द की धुन भी ध्यान से सुन रही थी। उसके ध्यान से वायलिन सुनने के पीछे जो राज़ था, वह अब कहीं श्रीधर को मालूम हुआ था। उसे बुरा लग रहा था। आज तक उसने उसके बारे

में कुछ भी जानने की कोशिश नहीं की थी। इसलिए अपराधी भाव भी था।

"लेकिन तुम···? तुम भी वायलिन वजाती हो ?"

"पापा से सीखा था वचपन में। वह वीमार हुए और वायलिन छूट गया।"

"क्यों ?"

"नौकरी, और फिर घर का काफ़ी सामान वेचना पड़ा, उसमें वायलिन भी गया।"

कुछ देर तक दोनों खामोश रहे। भोजन-गृह में अब संगीत का उल्लास चल रहा था। खाने वैठे हुए लोग भी अव ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे। किसी लम्वे-चौड़े टेवल पर वीस-पच्चीस लोगों की पारिवारिक पार्टी चल रही थी। वहाँ खड़े होकर एक-एक को टोस्ट दिया जा रहा था। उस कोलाहल में भी लोगों में बातें चल रही थीं।

"और तुम्हारी माँ ?"

"वह वेचारी कुछ खास पढ़ी-लिखी नहीं थी। लेकिन उसने बड़ी ईमानदारी से पिताजी का साथ निभाया। मेरे पहले भी उनके दो लड़के हुए थे। लेकिन वह मृत पैदा हुए थे। उसमें और पिताजी की उम्र में तेईस साल का फासला है।"

लोर्ना अव तक अविवाहित क्यों है, यह श्रीधर नहीं जानता था। लेकिन वह जानने की उसने कोशिश भी नहीं की थी। लोर्ना वैसे सौन्दर्यवती नहीं थी लेकिन आकर्षक और स्मार्ट थी। उम्र तैंतीस-चौंतीस की होने के बाद भी उसने अपने आपको अच्छी तरह वनाये रखा था। अनुभवी और वरिष्ठ सचिव होने की वजह से उसे वरिष्ठ अधिकारियों-जैसी मोटी तनख्वाह भी मिलती थी। इसलिए अच्छा वर पाना उसके लिए कठिन तो नहीं था। इसी वात का आज तक श्रीधर को आश्चर्य हो रहा था और अब वात साफ़ होकर सामने आयी थी। लेकिन उसे शब्दों में व्यक्त करना अनावश्यक था। अपनी अपराधी भावना से मुक्त होने के लिए और सहानुभूति जताने के लिए वह क्या करे, यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। खाने के बाद उसने पुरानी वाईन की एक महँगी बोतल मँगवायी।

"किसलिए ? अव और नहीं चाहिए।" लोर्ना ने कहा।

श्रीधर ने बैरे को केवल हाथ से इशारा किया।

"लेकिन किसलिए श्रीधर ? बहुत हो चुका। मैं थक गयी हूँ।"

"इसीलिए तो कह रहा हूँ।"

"सचमुच श्रीधर, इसकी कोई ज़रूरत नहीं है, प्लीज़।"

"प्लीज़, लोर्ना यू मस्ट···मेरे लिए।" उसका हाथ अपने हाथों से सहलाता हुआ श्रीधर उत्कट होकर बोला और लोर्ना की आँख भर आयी। वैरे ने चाँदी के लम्बे चषक में बर्फ़ के टुकड़ों में डूबी वाईन की बोतल पेश की। उसे वाहर निकालकर

श्रीधर को सील दिखाकर उसकी अनुमति ली और फिर वड़ी शान के साथ ऊपर उठाकर उसे खोला और वह क़ीमती द्रव दो काँच के चषकों में डाला ।

"टु लोर्ना···द ब्रेव लिट्ल गर्ल।" श्रीधर ने अपना जाम ऊपर उठाकर कहा।

घण्टे भर वाद टैक्सी में थककर श्रीधर के कन्धे पर सिर रखकर एकदम हँसकर लोर्ना ने कहा, "बड़े चालाक हो, बॉस। मेरा तो सब कुछ जान लिया लेकिन मेरे पूछे प्रश्न के उत्तर से वच निकले।"

श्रीधर मुस्कराया और उसके बालों को सहलाता हुआ बोला, "अव सो जाओ, तुम थक गयी हो।"

रविवार के वाद फिर दो-तीन दिन काम था। कर्ज़ की पूरी योजना विस्तार से पक्की की गयी। वापसी की शर्तें और अन्य चीज़ें तय हुईं। डेलीगेशन के बाद आये श्रीधर के उद्योग समूह के तन्त्रज्ञों ने तकनीकी योजनाएँ बनायीं। सब हो जाने के वाद अध्यक्ष दिल्ली से इकरारनामे पर दस्तखत करने आ गये। वापसी के दिन जव लोर्ना उसके होटल के कमरे में सामान समेट रही थी तव उसके दरवाज़े की घण्टी बजी। होटल के दो कर्मचारी वाहर खड़े थे। एक के हाथों में सुन्दर फूल और दूसरे के हाथ में सुरुचिपूर्ण ढंग से पैक किया हुआ पार्सल। दोनों के चेहरे पर प्रफुल्ल मुस्कराहट विराजमान थी।

"यह क्या है ? मैंने तो कुछ भी नहीं मँगवाया था !" उसने आश्चर्य से कहा।

"नहीं मदाम···यह भेंट वस्तुएँ हैं।"

उसने दंग होकर फूल लिये। दूसरे कर्मचारी ने पार्सल बेड पर रख दिया था। फूलों के गुलदस्ते पर भी भेजनेवाले का नाम नहीं था।

"यह इतने सुन्दर फूल किसने भेजे हैं ?" उसने पूछा।

"हम नहीं जानते मदाम !" उन्होंने अदब से जवाब दिया। उनके जाने के बाद उसने सावधानी से पार्सल का वेष्टन खोला। अन्दर क़ीमती वायलिन की पेटी थी। उसमें छोटा-सा काग़ज़ का टुकड़ा था जिस पर लिखा था—

"तुम्हारे वचपन के संगीत को कायम रखने के लिए—" श्रीधर।

लोर्ना ने श्रीधर के होटल के कमरे का नम्बर मिलाया। देर तक घण्टी बजती रही और फिर उसे याद आया, श्रीधर तो आज भली सुवह में ही अध्यक्ष के साथ लन्दन जानेवाला था।

उनसठ

हफ्ते भर बाद जब श्रीधर लन्दन से लौटा तो हाथ में ढेर सारे काम लिये। उस दिन सुबह लोर्ना की केबिन से होता हुआ जब वह अपने कमरे में आया तब तक वह आयी नहीं थी। अपने निर्धारित समय पर जब वह आयी और पैड पेन्सिल लेकर श्रीधर के कमरे में दाखिल हुई तो श्रीधर पहले से ही फाइनैन्स मैनेजर, एकाउण्टेण्ट वेंकटेश्वरन और प्लैनिंग विभाग के अधिकारियों के साथ बात कर रहा था। मेज़ पर चार्ट्स पड़े हुए थे।

"गुड मार्निंग सर !" उसने सस्मित अभिवादन किया।

श्रीधर ने सिर्फ़ गरदन झुकाकर उसका प्रत्युत्तर दिया और सिगरेट पीता वह फिर चर्चा में उलझ गया। पाँच मिनट बाद उसे लोर्ना का खयाल आया।

"एक्सक्यूज़ मी जण्टलमैन !" कुर्सी से दाहिनी तरफ झुकता हुआ वह बोला, "हाँ लोर्ना, यह टेलेक्स अभी, चेयरमैन, लोरेट्टी इण्टरनेशनल रोम के नाम भेजना है। मिसेस रीड्स, कोट, रेफरेन्स योर टेलेक्स नम्बर एम. एल. थ्री। टू ऑफ अग एट्थ। द रेलेवण्ट अमाउण्ट विल भी क्रेडीटेट टू योर बैंक एकाउण्ट, लन्दन एट नाईन थर्टी ए एम ग्रीनविच टाईम, टुमारो। प्लीज़ एक्नालेज। रिगार्ड्स अन कोट। दूसरा मिसेज़ मिस्टर खन्ना इन देहली…"

पाँच मिनट में श्रीधर ने दस टेलेक्स सन्देश और दो छोटे पत्र डिक्टेट किये। फिर सामने बैठे लोगों की तरफ घूमकर उसने लोर्ना से कहा, "सेण्ड अस कॉफी एक्ज़ेटली इन फिफ्टीन मिनिट्स। सेण्ड मी द फाइल ऑन नाईजीरिया ब्लूप्रिंट इन हाफ एन अवर, एण्ड देन डोण्ट डिस्टर्ब अस फार द नेक्स्ट टू अवर्स…नो फ़ोन काल्स एक्सेप्ट द चेयरमैन।"

पूरा सप्ताह इन्हीं झमेलों में बीत गया। दफ्तर में काम के अलावा लोर्ना से काम के अतिरिक्त एक शब्द भी कहने का मौक़ा मिलता नहीं था। एक नया नाईजेरीइन साँझा प्रकल्प बनने लगा था और श्रीधर उसी की पूर्व तैयारी में लगा हुआ था। वह तो इस तरह काम कर रहा था कि जैसे भूत पीछे पड़ा हो। उसकी रोज़ की प्रथा के अनुसार लोर्ना घर से निकलने से पहले उसे फ़ोन करती थी। तब भी वह एक के बाद एक कामों की फेहरिस्त सुना देता था। लोर्ना जब सामने बैठकर डिक्टेशन लेती थी तब भी उसका चेहरा कोरा ही रहता था। लोर्ना श्रीधर के इसी रूप की अधिक अभ्यस्त थी। साहसी निर्णय करनेवाला, कठोर, तीखी बुद्धि का और अपने कामों में मानवी भाव-भावनाओं का स्पर्श तक न होने देनेवाला। उसने इन मजबूत दीवारों के पीछे जो नर्म श्रीधर था, उसकी बस एक झलक ही देखी थी।

पाँच-सात दिन की कोशिशों के बावजूद जब उसने देखा कि मौक़ा मिल नहीं रहा है तो उसने अपनी मर्यादा को भंग किया। शाम के सात बजे उसने श्रीधर को डिक्टेट किया हुआ आखिरी पत्र टाइप करके दे दिया।

"थैंक्यू ! तुम अब जा सकती हो लोर्ना, मुझे काफ़ी देर तक रुकना होगा।" काग़ज़ों में डूबा हुआ श्रीधर उसकी तरफ न देखते हुए बोला।

"लेकिन सर···" लोर्ना ने कुछ कहने का प्रयास किया। लेकिन श्रीधर काम में कुछ इतना उलझ गया था कि वह उस तक पहुँचा ही नहीं। लोर्ना उसी तरह खड़ी रही। अँधेरा हो गया था, खिड़की से बाहर हल्की बारिश में भीगती मलाबार हिल और अरबी महासमुद्र का एक टुकड़ा नज़र आ रहा था। लोर्ना ने कमरे की सभी बत्तियाँ जलायीं।

कुछ देर बाद श्रीधर ने आँख उठाकर देखा तो टेबल के पास लोर्ना खड़ी दिखाई दी। उसने अपनी हमेशा की अधिकारवाणी में कहा, "क्या बात है ? तुम अब भी यहाँ हो ? मैंने तो तुमसे घर जाने के लिए कहा था।"

लोर्ना ने संयत मुस्कराहट के पीछे से उत्तर दिया, "आई एम सॉरी सर, मैं सिर्फ़ आपका धन्यवाद करने के लिए रुकी हूँ।"

"धन्यवाद ? किस बात का ?" श्रीधर ने शान्त मुद्रा से आश्चर्य ज़ाहिर करते हुए कहा।

"वायलिन के लिए।"

"ओह ! वह···" सिगरेट का धुआँ मुँह से बाहर निकालकर कुर्सी में आराम से बैठकर श्रीधर खुलेपन से हँसा। उसके सख्त चेहरे पर नर्मी आ गयी थी, "फरगेट इट" श्रीधर ने कहा, "तुम्हारे पिताजी कैसे हैं ?"

"वैसे ही है ! अब उनमें सुधार होना मुश्किल ही है।"

"और माँ ?"

"माँ अच्छी है। मेरे हाथ में इतने दिनों बाद वायलिन देखकर उसकी आँखों में आँसू भर आये थे।"

"यानी तुमने फिर से बजाना शुरू कर दिया है ?"

"हाँ।"

"बहुत अच्छा !" सिगरेट को रक्षापात्र में छोड़कर श्रीधर मेज़ पर झुक गया। उसके चेहरे की मांसपेशियाँ फिर सिकुड़ गयी थीं। सामने के काग़ज़ को बारीकी से देखते हुए उसने कहा, "अच्छा ! अब एक अच्छी लड़की की तरह घर चली जाओ। मुझे बहुत काम है।"

इसी तरह एक हफ्ता हबड़ा-धबड़ी में बीत गया और लोर्ना ने अपनी हार मान ली। वह भी सिकुड़ गयी। श्रीधर से उसने केवल दफ्तर के काम के सन्दर्भ में

सम्पर्क बनाये रखा। कभी-कभी उसे वह जो रोम में मिला था, वह असली श्रीधर था या यह श्रीधर असली है, यह सोच-सोचकर व्याकुल होने लगी। श्रीधर को लेकर जो नयी आशाएँ पल्लवित हुई थीं, वह सूख गयीं। वह अपने आपको इस कदर भावुक और रूमानी होने के लिए कोसने लगी। और एक दिन अचानक वह घर पहुँची ही थी कि श्रीधर गाड़ी लेकर जा धमका। दरवाज़े की घण्टी बजी और उसने श्रीधर को सामने खड़ा पाया।

"यस सर ?" उसने अपने वही निजी सचिव के लहजे में पूछा।

"अन्दर आने के लिए नहीं कहोगी ?" अन्दर घुसता हुआ श्रीधर बोला, "मैं थका हुआ हूँ। बहुत थक चुका हूँ। चाय या कॉफ़ी कुछ भी चलेगा।"

चेहरे पर कोई भी भाव न लाते हुए और कुछ भी न कहते हुए लोर्ना ने बैठने के कमरे में उसे आराम से बिठाया। फैन चलाया और अन्दर ही अन्दर खौलती हुई चाय बनाने चली गयी। पाँच मिनट बाद जब वह ट्रे में चाय और बिस्कुट ले आयी तो श्रीधर कुर्सी में गरदन झुकाकर गहरी नींद सो रहा था। उसका मुँह खुला पड़ा था। उसके बाल माथे पर अस्त-व्यस्त पड़े थे। माथे पर पसीने की बूँदें चमक रही थीं। पसीने से शर्ट भी भीग गयी थी। टाई बिखरी पड़ी थी। लोर्ना ने बड़ी मुश्किल से सँभाला और चाय की टेबल थोड़ी सरकाकर उस पर ट्रे रख दी।

उतनी-सी आवाज़ से श्रीधर चौंककर जाग गया और टाई की गाँठ खोलकर जेब से रूमाल निकालकर उसने पसीना पोंछा।

"सॉरी, बहुत थक गया था, आँख लग गयी।"

लोर्ना ने चाय बनाकर सामने रखी।

"पापा कहाँ हैं तुम्हारे ? पहले उनसे मिल लूँ।"

"पहले चाय पियो···" लोर्ना ने कहा।

चाय का कप उठाते हुए उसने पूछा, "सॉरी लोर्ना, नाराज़ हो ?"

बिना बोले ही लोर्ना ने अपनी चाय पीनी शुरू की। वह खिड़की से बाहर अँधेरे पर नज़र गड़ाकर गुमसुम बैठी रही। श्रीधर ने देखा कि ऊपर से निर्विकार लगनेवाले उसके चेहरे पर खिन्नता और उदासी साफ़ झलक रही हैं। उसकी आँखों के नीचे काले धब्बे और ठुड्डी के नीचे हल्की-सी लटकने वाली परत उसकी उम्र दिखाने लगी थी। घर लौटने पर लोर्ना को हाथ-मुँह धोने के लिए या कपड़े बदलने तक के लिए समय नहीं मिला था। उसके बाल बिखरे पड़े थे। माथे और गले पर पसीना आ गया था। ब्लाउज गीला हो चुका था। लिपस्टिक थोड़ी-सी बिखर गयी थी। श्रीधर को लोर्ना पर प्यार आ गया । उसे लगा ऐसे उसे गले लगा ले। उसने अपने आपको सँभाला। लोर्ना का गुस्सा जायज था। यूरोप से लौटने के बाद श्रीधर जैसे पहली ही बार देख रहा था, इस दरमियान में जैसे श्रीधर की सभी भाव-भंगिमाएँ लुप्त हो

गयी थीं. वह सिर्फ़ काम करनेवाला यन्त्र बन गया था।

कमरे में अँधेरा हो रहा था। तोर्ना ने उठकर बत्ती जलायी। अन्दर के कमरों में भी वह फटाफट बत्तियाँ जलाकर आ गयी। अन्दर से घर काफ़ी बड़ा लगता था। पुरानी क़िस्म का था। उस पर बसई की भारतीय क्रिश्चियन संस्कृति की छाप थी। फर्नीचर उच्च क़िस्म की लकड़ी का था, जो कलात्मक भी था लेकिन हर चीज़ की अच्छी-खासी उम्र हो गयी लगती थी। एक मोटा कैबिनेट हॉल के एक छोर से दूसरी छोर तक फैला हुआ था, उसका मूल्य आज न जाने कितने हज़ारों में होगा। छत से लटकती लैम्प शेड्स पुरानी क़िस्म की चीनीमिट्टी की बनी हुई थी। कैबनेट पर चिनी मिट्टी के नक्काशी काम के दो बड़े तबक थे और खाली फूलदान थे जो ज़रूर किसी अभिजात चीनी कलाकार ने कम-से-कम सौ साल पहले बनाये होंगे।

"मुझसे नाराज़ हो ?" श्रीधर ने फिर से पूछा।

"आपसे नाराज़ होने का भला मुझे क्या अधिकार है ?" तोर्ना ने उसी शान्त निर्विकार मुद्रा में जवाब दिया।

"यह बचिवपन का नाटक बस भी करो।"

"यह नाटक कब शुरू करना चाहिए और कब खत्म, इसके बारे में भी आप सूचनाएँ दे रखेंगे तो अच्छा होगा।"

उसी वक़्त तोर्ना की बूढ़ी माँ खाँसती हुई कमरे में आयी न होती तो उन दोनों में पहली और एक मात्र लड़ाई वहीं हो गयी होती। माँ की उम्र सत्तर के आसपास थी लेकिन दमे की शिकायत ने उन्हें काफ़ी परेशान किया लगता था। उन्होंने क़ीमती लेकिन पुराना गाउन पहन रखा था।

"कब आयी ? कौन आया है ?" उसने फूलती साँस के बीच पूछा।

तोर्ना ने उन दोनों का परिचय कराया और उसी क्षण तोर्ना और श्रीधर के बीच का तनाव अत्यन्त सहजता से खत्म भी हो गया। तोर्ना के चेहरे पर मुस्कान खिल गयी और श्रीधर भी खुलापन महसूस करने लगा। फिर तोर्ना ने उसे अन्दर ले जाकर अपने पिता से मिलवाया। उनकी उम्र लगभग नब्बे साल थी और वह पक्षाघात के मरीज़ थे। फिर भी उनकी चेतना ठीक-ठाक थी। उन्होंने अत्यन्त क्षीण स्वर में उसका हाल-चाल पूछा। दफ्तर की तरह घर में भी तोर्ना की कार्यक्षमता सराहनीय थी। श्रीधर पाँच-सात मिनट उसके पापा के साथ बैठा था। उतने समय में उसने फटाफट उनका कमरा ठीक-ठाक किया। पर्दे खिसकाये, फूलदान में फूल ला रखे, दवाइयों की टेबल साफ़ की। नर्स के आने पर श्रीधर उठ खड़ा हुआ।

"थोड़ी फ़ुरसत है तुम्हारे पास ?"

"नर्स के आने के बाद मुझे कोई काम नहीं होता, सिर्फ़ अपना खाना बनाने के सिवा।"

"वह आज मत करो। चलो, कहीं बाहर चलते हैं।" श्रीधर ने कहा।

फिर श्रीधर ने ड्राइवर की छुट्टी की और खुद गाड़ी चलाने बैठ गया। न जाने कितनी देर तक वह यातायात को देखते स्तब्ध वैठे थे।

"आपका यह धूप-छाँव की तरह बर्ताव मुझे समझ नहीं आता क्योंकि उसका कोई तर्क नहीं है।" लोर्ना ने अचानक कह दिया, जैसे पहले से सोच रखा हो। "यह मैं वहुत ज़्यादा देर तक सह नहीं पाऊँगी। मुझे क्या करना है और कैसे यह तुम मुझे समझाओगे ?" आखीर के शब्द उसने व्याकुल स्वर में कहे।

"सॉरी लोर्ना।" उसके कन्धे पर अपना बायाँ हाथ रखकर श्रीधर बोला, "मुझे माफ़ कर दो…"

लोर्ना ने उसका हाथ धीरें से हटा दिया। उसकी नज़र सामने यातायात पर लगी हुई थी। अँधेरा हो चुका था और सड़क पर तथा दुकानों में बत्ती जल चुकी थीं। वातावरण में गीलापन था और सड़क की यातायात में न जाने कैसी चहल-पहल थी, बारिश आने ही वाली थी।

"बात यहीं पर खत्म नहीं होती श्रीधर," लोर्ना ने सड़क पर केन्द्रित अपनी नज़र बिना हटाये अत्यन्त संयत स्वर में कहा, "मेरा यह मतलब नहीं था कि तुम मुझसे माफ़ी माँगो। मैं यह भी नहीं मानती कि तुम्हारे इस प्रकार के व्यवहार से मेरा अपमान होता है। एक बात अवश्य है, इस तरह से मैं भावनात्मक दुविधा में पड़ जाती हूँ। कब कैसे व्यवहार करना है, इसका एक सूत्र मुझे वता दो। बस, इतना ही मुझे कहना है। तुम जानते हो कि मैं तुम्हारे साथ विवाह करने का आग्रह नहीं रखती। यह नहीं कि मुझे वह अच्छा नहीं लगेगा लेकिन फिलहाल मेरे लिए वह असम्भव है। इसीलिए हम दोनों को एक-दूसरे से कैसा व्यवहार करना है, क्या इसका कोई सूत्र निर्धारित नहीं होना चाहिए ?"

श्रीधर बिना कुछ बोले गाड़ी चला रहा था। अब बारिश तेजी से होने लगी थी। पैदल चलनेवाले लगभग अदृश्य हो गये थे, इस स्थिति में कुछ भी कहना-सुनना असम्भव हो गया था।

जब वह और भी आगे बढ़कर लिकिंग रोड पर आये तब तक बारिश पूरी तरह से रुक गयी थी। बत्ती की रोशनी में गीली सड़कें चमक रही थीं। सड़कों के किनारे पानी इकट्ठा हुआ था। छाताधारी लोगों से पद-पथ भर गये थे।

"शायद तुम जानती नहीं लोर्ना…" श्रीधर ने भी लोर्ना की तरह तटस्थ लेकिन सहज स्वर में कहा, "उस दिन रोम में तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उससे मेरे मन के अन्दर बन्द किया एक किवाड़ धड़ाम से खुल गया। मैं नहीं चाहता था कि वह खुले—मेरे घाव को तुमने अनायास ताजा कर दिया। इसलिए जव तक वह घाव फिर थोड़ा भर नहीं जाता, मुझे रुकना पड़ा…"

लोर्ना ने कुछ भी प्रतिक्रिया ज़ाहिर नहीं की । उसकी नज़र अब भी पहले की तरह सामने थी। उसी तटस्थता से ही उसने श्रीधर से अधिक स्पष्टीकरण की अपेक्षा दर्शायी थी। श्रीधर ने लम्बी साँस ली और वह बोलने लगा, "मुझे इस बात से आश्चर्य होता है कि दो व्यक्ति एक-दूसरे के साथ विशुद्ध सम्बन्ध क्यों नहीं रख सकते ? केवल दो व्यक्तियों के बीच गहरा सम्बन्ध, जो उनके विभिन्न इतिहास, अनुभव, पूर्वजन्म की छाया-जैसे प्रदूषण से मुक्त हो ? ऐसा सुन्दर निरामय सम्बन्ध असम्भव क्यों हो जाता है ? अगर हमारी किसी से पहचान होती है तो हम उसका नाम पूछते हैं, गाँव पूछते हैं, व्यवसाय, शिक्षा—कई सारी बातें पूछते हैं और जब तक इन सबका पता नहीं चलता, हम उसे स्वीकार नहीं करते। ऐसा क्यों होता है ?"

फिर श्रीधर अपने आपसे मुस्कुराया। गाड़ी चलाते हुए भी काफ़ी देर तक वह कष्टमय मुस्कान उसके चेहरे पर रेंग रही थी। लिंकिंग रोड पार करने के बाद उसने गाड़ी सान्ताक्रुज से जुहू और फिर वर्सोवा के रास्ते पर ले ली। काफ़ी सुनसान सड़क पर आने के बाद वह धीरे-धीरे आधे-अधूरे वाक्यों में बोलने लगा :

"मैं ऐसी कोशिश कर रहा था कि हम दोनों की गहरी दोस्ती विशुद्ध स्तर पर रहे। उसमें किसी भी चीज़ की मिलावट न हो। ऐसा सम्बन्ध, जो हम दोनों के इतिहास से और सामाजिक स्थानों से पूर्ण मुक्त···।"

श्रीधर ने फिर थोड़ा सोचकर मुस्कान के साथ कहा, "इसीलिए मैं अपने इस साथ के दौरान कभी व्यक्तिगत बातों का जिक्र नहीं लाया। अपना इतिहास तुम पर नहीं लादा और न ही तुम्हारे निजी जीवन के बारे में जानने की कोशिश की। लेकिन अब मालूम हो रहा है कि जैसे कोई प्राणी हवा के बिना रह नहीं सकता, वैसे कोई इन्सान अपने सन्दर्भ के बिना रह नहीं सकता। बल्कि सारे सन्दर्भों से ही वह एक पूर्ण इन्सान बना हुआ होता है। तुमने परसों जब वह सवाल किया और फिर अपनी हक़ीक़त बतायी, उसी वक़्त समझ में आ गया था कि मेरा उस तरह सोचना केवल मूर्खता है।"

श्रीधर ने फिर काफ़ी देर तक कुछ नहीं कहा। वर्सोवा 'बीच' पर जाने वाली सँकरी गली में उसने गाड़ी रोक दी। बारिश रुक चुकी थी। सिर्फ़ पान का ठेला खुला था। बाकी भाग निर्मनुष्य लग रहा था। रात बहुत नहीं हुई थी। टी. वी. पर कोई लोकप्रिय मालिका चल रही थी। श्रीधर ने सिगरेट जलाकर एक कश लेते हुए कहा, "मैं जानता हूँ कि हम अपना भूतकाल भुला नहीं सकते लेकिन कम-से-कम अपने इतिहास के भूत को सिर पर सवार होने से रोक तो सकते हैं। इस भूत से बड़ी मुश्किल से मैंने छुटकारा पाया है और एक नये जीवन की शुरूआत की है। तुम अगर मेरे अतीत को जानती होती तो तुम मुझसे वह सवाल नहीं करती जो

उस दिन तुमने मुझसे किया था…"

अव श्रीधर के चेहरे पर जो मुस्कान थी, वह लोर्ना को कुछ अजीब-सी लगी। उस मुस्कान में एक रूखी लापरवाही की झलक थी। अँधेरे में श्रीधर की आँखें चमक रही थीं। सिगरेट की जलती नोक के लाल किनारे की आभा क्षण भर उसके चेहरे पर फैली हुई थी।

"मैं एक नया श्रीधर हूँ—आगे वढ़नेवाला, गतिशील। मैं पीछे मुड़कर देखना नहीं चाहता। वह जो पुराना श्रीधर था, वह पागल था, हमेशा सम्भ्रान्त रहनेवाला। विवेक, नीति-अनीति के जाल में फँसा हुआ। अपने और विश्व के अस्तित्व के विचारों में उलझकर परेशान था। उस पागल को यही समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्यों जी रहा है ? वह इस जग का नियन्त्रण करने वाली शक्ति की खोज में था। मूर्ख कहीं का ! इस जग पर अपना अस्तित्व हम ही निर्धारित करते हैं, यह उसे मालूम नहीं था। हमारे अस्तित्व का प्रयोजन हम ही स्वयं हैं, इतनी-सी वात उसकी समझ से वाहर थी। अच्छा हुआ कि मेरा उससे पिण्ड छूट गया। मैं जानता हूँ लोर्ना, कभी-कभी मुझसे मिलने जव कुछ अजीव-से लोग आते हैं तो तुम्हें आश्चर्य होता है—दाढ़ी वढ़ाया हुआ, धूल से सने बालों का और महीनों तक पानी के स्पर्श से दूर रखा कुर्ता पहना हुआ विश्वम्भर। वह वहुत विद्वान् है और तीक्ष्ण वुद्धि का है। लेकिन उसने स्वयं को वरवाद कर दिया है। लल्लू-सा लगनेवाला डरपोक धनंजय, दोनों कन्धों पर चार-पाँच झोले लटकाकर घूमनेवाली यशोधरा, वहनजी जैसी वेशभूषावाली सुलभा, गर्जना करता हुआ बैंक कर्मचारी यूनियन का परव—यह सब और ऐसे ही कई। यह सब लोग उसी पुराने श्रीधर की खोज में आते हैं और हर वार निराश होकर लौट जाते हैं। वे उसी वेवकूफ श्रीधर से मिलना चाहते हैं।"

श्रीधर मुस्कुराया और फिर अपने आप पर काबू पाकर गम्भीर होकर बोला, "सिर्फ़ तुमने शशी को नहीं देखा है, वही एक है जो पुराने श्रीधर को ढूँढ़ने नहीं आएगी। मुझे सवसे अधिक वही पहचानती है। वह जानती है…वह जानती है कि वह पुराना श्रीधर अव खत्म हो चुका है…कहीं चला गया है…।"

श्रीधर अचानक रुक गया। आखिरी के दो-तीन वाक्य उसने अर्धस्पष्ट स्वर में ही कहे थे। सामने के उदास अन्धकार में आँखें गड़ाकर उसने दीर्घ श्वास लिया और फिर नयी सिगरेट जलायी। दो-चार कश लेने के बाद स्टीयरिंग चक्र पर ज़ोर से मुट्ठी से प्रहार करता हुआ वह लोर्ना पर खिसियाया, "और तुम…उस दिन तुमने एक धक्का मारकर उसे जगाया। वह श्रीधर अभी ज़िन्दा है, मरा नहीं, यह तुमने मुझे दिखा दिया। लोर्ना, मैं उसे ज़िन्दा नहीं चाहता हूँ। मैं उसे मार डालना चाहता हूँ, मैं उसकी हत्या कर देना चाहता हूँ। वह मूर्ख श्रीधर एक महाभयंकर, धोखेबाज़

प्राणी है, और तुमने उसे फिर जगाया है। तुम नहीं जानती लोर्ना, तुमने क्या किया है।" श्रीधर का स्वर फिर नीचे आया, मृदु हो गया। फ़ीकी हँसी हँसता हुआ वह बोला, "तुम जानती हो, वह श्रीधर कैसा था ? सदा सम्भ्रमित, विचारों में खोया-खोया-सा, किसी भी लालसा से दूर···बचपन में वह श्रीधर भगवान् के दर्शन के लिए तपश्चर्या करने चला था···"

श्रीधर शान्त स्वर में कह रहा था और लोर्ना सुन रही थी। इस तरह से उसने अपने जीवन की कहानी कभी किसी को नहीं सुनायी थी। बहुत संक्षेप में लेकिन उत्कटता से। अकेला बचपन, माँ, रामी, जगत, परमेश्वर को लेकर कौतूहल, छात्रावास का जीवन, तीक्ष्ण बुद्धि, प्रामाण्यवाद और उसके बावजूद हमेशा टीस की तरह चुभनेवाली बेचैनी। फिर धनंजय, विश्वम्भर, यशोधरा और शशी के साथ के वे प्रलयंकारी दिन। शशी का उत्पाती प्रेम और बाद की यायावरी। जब उसकी बात खत्म होने को आयी, तब लोर्ना ने उसके कन्धे पर सिर रख दिया था। श्रीधर हँसता-हँसता कह रहा था, "उसे मैंने हकाल दिया है। उसे सीमा पार कर दिया है। उसे अब मैं अपने जीवन के आसपास फटकने नहीं दूँगा, उसका साया तक अपने जीवन पर पड़ने नहीं दूँगा क्योंकि मैं नया श्रीधर हूँ। स्वयंपूर्ण, सार्वभौम, सम्पूर्ण और समग्र। मुझ पर किसी की सत्ता नहीं। भूतकाल की भी नहीं और मैं ही अपना भविष्य लिखता रहता हूँ, हाः हाः···बताओ लोर्ना, तुम्हें कौन-सा श्रीधर अधिक पसन्द है···वह या यह ? बताओ···।"

लोर्ना ने उसके कन्धे से सिर उठाकर उसे स्थिर नज़रों से देखते हुए कहा, "सच बताऊँ ? तुम्हारे इतना सब बताने के बाद मुझे भी सच ही बताना होगा, श्रीधर। मुझे वही पुराना श्रीधर अच्छा लगता।"

"तुम क्या कह रही हो लोर्ना ?"

"हाँ," कुछ मज़ाक़िया और कुछ गम्भीर स्वर में लोर्ना ने कहा, "बल्कि तुम्हारी समझ में यह क्यों नहीं आता कि मैं, तुममें जो पुराना श्रीधर है, उसी की तलाश में हमेशा रहती हूँ और शायद इसीलिए तुमसे प्रेम भी करती हूँ कि वह तुममें है, इसका मुझे विश्वास है। अगर तुममें वह पुराना लुभावना श्रीधर न होता तो शायद मैं तुम्हारी तरफ आकृष्ट भी नहीं होती। शायद क्यों, मैं तुम्हारी तरफ देखती तक नहीं। वह श्रीधर कैसा था, यह तो मैंने नहीं देखा था लेकिन वह कैसा होगा, इसकी कल्पना मैं तुम्हारे बताये बगैर ही कर रही थी। मैं वही श्रीधर चाहती हूँ। तुम यह अपना स्वाँग यहीं खत्म कर दो। बन्द करो यह नाटक ! फाड़ डालो यह मुखौटा ! उसे उतारकर फेंक दो और वही बन जाओ जो तुम हो, श्रीधर। वही जो तुम निसर्गतः हो। तुम अपने आपको इस तरह क्यों परेशान कर रहे हो श्रीधर ? तुम्हें कभी न कभी तो यह बन्द करना ही पड़ेगा···"

"शटप्‌···शटप्‌···क्या कहती जा रही हो तुम लोर्ना ?" श्रीधर ने झुँझलाकर लेकिन निचले स्वर में कहा। वह अपना खोया सन्तुलन फिर से प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था, "तुम्हारा दिमाग़ तो नहीं खराब हो गया ?"

श्रीधर रुक गया। उसने दूसरी सिगरेट जलायी। शायद टी. वी. पर चला खेल खत्म हो चुका था। अँधियारी सड़कों पर कुटुम्ब-वत्सल लोगों के जत्थे दिखाई देने लगे। एक के बाद एक कश लेकर श्रीधर ने सिगरेट का धुआँ पेट के अन्दर खींच लिया और फिर उसका स्वाद लेकर आहिस्ता से उसे बाहर छोड़ दिया। बड़ी मुश्किल से उसने अपने आपको जब्त किया। लोर्ना यह उसके तमाम प्रयास ग़ौर से देख रही थी। इस तरह सौम्यता से ही सही लेकिन बौखलाया हुआ श्रीधर वह पहली बार देख रही थी। अपने ऊपर काबू रखने के उसके प्रयास देखकर वह अचम्भित हो गयी थी।

फिर श्रीधर कठोरता से लेकिन संयत अन्दाज़ में हँसा। दोनों अब गाड़ी से उतरकर समुद्र-तट पर आ गये थे। समुद्र का घनगम्भीर गुंजन सुनाई दे रहा था। उस मौसम में भी लहरों का फ़ीका चमकदार फेन साफ़ नज़र आ रहा था।

"फारगेट इट, लोर्ना, यह सब भूल जाओ।" श्रीधर शान्त स्वर में कह रहा था—"यह सब तुम्हारे मन के खेल हैं। मैं मैं हूँ, यही मेरा सच्चा रूप है—अब मैं पुराना श्रीधर कैसे हो सकता हूँ ? यही मेरा असली नैसर्गिक रूप है। फाड़ने के लिए मेरे पास कोई मुखौटा भी नहीं है। यह मेरा निर्दय, कठोर पाने की लालसा से धधकता चेहरा अब ऐसा ही रहेगा। वह कोई नाटक नहीं है जो खत्म किया जा सके। लोर्ना, यह यथार्थ है, वास्तव है। हा:···हा:···हा:···तुम्हें चयन का कोई मौक़ा ही नहीं है लोर्ना, मेरे अन्दर का वह पुराना मैं खत्म हो चुका है। तुम किसे ढूँढ़ रही हो ? किससे प्रेम करती हो ? दृष्टि होते हुए भी अपनी आँखों पर पट्टी मत बाँधो। अच्छी तरह आँखें खोलकर मेरी तरफ देखो, फिर तुम्हें पता चलेगा कि मैं जो हूँ, सो हूँ। उसमें अब कुछ खास फ़र्क होने की गुंजाइश ही नहीं है। तुम सपने देखकर अपने आपको धोखा मत दो लोर्ना···"

श्रीधर की बातें सुनती हुई, समुद्र से आनेवाली ठण्डी हवाओं से थरथर काँपती लोर्ना उसका हाथ पकड़कर दबी-दबी-सी आवाज़ में बोल रही थी :

"नहीं···नहीं··· यह सच नहीं है। यह सच नहीं है श्रीधर, तुम झूठ बोल रहे हो। वह झूठ है। तुम जानते हुए अनजान बनने की कोशिश मत करो। तुम वही पुराने श्रीधर हो ···यह ऊपरी दिखावा ढोंग है। मैं जानती हूँ कि तुम बदल ही नहीं सकते ···तुम वही हो। तुम अपने आपको नकार नहीं सकते···नहीं ···नहीं···नहीं।"

"नहीं···नहीं···नहीं···।" श्रीधर भी उत्तेजित होकर चिल्ला रहा था और उसी वक़्त बारिश की एक ज़ोरदार झड़ी की शुरुआत हो गयी थी। लोर्ना ने अपना हाथ

छुड़ा लिया और उस अँधेरे में एक-दूसरे को खोजते वह दोनों सिर से पाँव तक भीगकर खड़े थे।

कुछ देर बाद जब बारिश रुक गयी तो दोनों को होश आया और वह गाड़ी में जा बैठे। कपड़ों से पानी टपक रहा था। श्रीधर ने सिगरेट जलायी और अचानक खिलखिलाकर हँसता बोला, "यह क्या पागलपन कर रहे हैं हम, लोर्ना। आओ, मेरे पास आओ। वह आग जो बारिश भी नहीं बुझा पायी, उसे शान्त करते हैं···।"

लोर्ना उससे लिपट गयी। श्रीधर ने उसके बाल सहलाये। गाड़ी की चाबी घुमायी। घर वापस लौटने तक दोनों के बीच कोई सम्भाषण नहीं हुआ।

साठ

अचानक एक पार्टी में वर्मा से मुलाक़ात हुई। पंचतारांकित होटल के उस विशाल हॉल में कम-से-कम पाँच सौ लोग अवश्य होंगे। एक बड़ी कम्पनी की सुवर्ण जयन्ती थी और जनसम्पर्क के लिए वहाँ जाना-आना आवश्यक था। अन्दर आते ही यजमान को अपनी उपस्थिति का एहसास दिलाकर फिर हॉल का एक चक्कर लगाकर सबसे औपचारिक तौर पर मिलकर और फिर मेजबान के स्वागत का दौर खत्म होते ही वहाँ से खिसकने का श्रीधर का इरादा था। उसके अनुसार वह अन्दर दाखिल हुआ। उपचार के तौर पर उसने सुनहरे रंग का मद्य का प्याला उठा लिया और उस खचाखच भरी पार्टी में वह घूमने लगा। तभी कहीं से एक कोने से उसे वर्मा की चढ़ी हुई सन्तप्त आवाज़ सुनाई दी।

"देखिए, हमारे देश की समस्याएँ हमारी आपकी कम्पनी चलाने-जैसी नहीं हैं। हमें तो बस अपने फ़ायदे के आलेख को ऊपर ले जाने से मतलब है। आपको क्या लगता है ? उत्पादन बढ़ाकर और चाहे जो भी हथकण्डे अपनाने पड़ें, उन्हें अपनाकर मुनाफ़ा बढ़ाने को राजनीति की संज्ञा देंगे आप ? इतना आसान नहीं है वह। भ्रष्ट आप किसे कहते हैं ? आप बतायें चोपड़ा साहब, आपका दिल्ली का जो जनसम्पर्क अधिकारी है, उसकी तनखा कितनी है और उसका एण्टरटेनमेण्ट अलाउन्स कितना है ? भ्रष्टाचार की बातें किसे सुना रहे हैं आप ?"

"उसे रहने दीजिए वर्माजी। वह तो खैर फिर भी ठीक है लेकिन नेता लोग क्या कर रहे हैं। अपनी खुदगर्जी के लिए पंजाब प्रश्न को कितना बढ़ा-चढ़ाकर

प्रस्तुत किया जा रहा है ?"

"चोपड़ा साहब, आप पंजाब से होते हुए भी ऐसी बातें करते हैं ?"

"हलो···हलो···श्रीधर···।"

श्रीधर के उस गुट में शरीक होने के बाद सम्भाषण की दिशा बदल गयी। इस व्यवसाय में उभरते तारे के रूप में श्रीधर का काफ़ी बोलबाला था।

"तुम्हें क्या लगता है श्रीधर, क्या देश सत्यानाश की तरफ नहीं बढ़ रहा है ?"

"सत्यानाश ?" श्रीधर ने नाटकी ढंग से इधर-उधर देखते हुए कहा, "मुझे तो यहाँ विनाश के कोई आसार नज़र नहीं आ रहे हैं। मैं तो देख रहा हूँ कि समृद्धि हो रही है। मुझे लगता है, यहाँ जितने भी उपस्थित हैं, सबको राजनीति का ऋणी होना चाहिए। यह केवल इस देश की राजनीति की कृपा है जो हमने आनेवाली अपनी दस पुश्तों के लिए पैसा जोड़ रखा है। हम में से हर एक को हमारे प्रधानमन्त्री की तस्वीर की रोज़ पूजा करनी चाहिए नहीं तो हम कृतघ्न साबित होंगे···हा: हा: हा:।"

"वेल सेड, श्रीधर।" उसके साथ हँसते हुए वर्मा ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा। अब वर्मा का मद्य भी बोलने लगा था। वैसे भी उसके मद्यपान के अतिरेक के बारे में भी सुनने में आया था।

"हाय, अतुल। तुम यहाँ क्या कर रहे हो···" वर्मा की बाँह खींचकर उसे गुट से बाहर निकालते हुए श्रीधर ने कहा। साथ में खड़ा एक बैरा वर्मा के प्याले में मद्य डालनेवाला ही था, उसे इशारे से रोककर श्रीधर ने वर्मा को एक ओर ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा, "सॉरी, हम दोनों में आँख-मिचौली होती रही। मैं खाली था तब तुम ग़ायब थे। कहाँ थे तुम ?"

"हाँ···ऐसे ही।" अपने हाथ में जो खाली प्याला था, उसके साथ खेलते हुए वर्मा ने कहा, "गुरु-सेवा करने गया था। बड़ी कठिन होती है वह···बेअरा··· हिअर।"

"किसलिए···अब और किसलिए ?" श्रीधर ने उसे और दूर खींचकर ले जाते हुए कहा, "तुम पहले ही बहुत पी चुके हो। चलो, हम यहाँ से बाहर चलते हैं···चलो ···चलो, वैसे भी हमारी बातें उस दिन अधूरी रह गयी थीं—चलो।"

दोनों मेजबान की आँख बचाकर बाहर निकले। श्रीधर ने कोट निकालकर हाथ में ले लिया, "कहाँ चलना है ? होटल में या अपने घर ?"

"नहीं, मेरे ही घर चलते हैं।" वर्मा ने अनिच्छापूर्वक कहा। श्रीधर ने अपने ड्राइवर को भेज दिया और वर्मा की गाड़ी से दोनों उसके कफ परेड के बारहवीं मंज़िल के प्रशस्त फ्लैट में आ गये। आते ही वर्मा ने ज़ोरदार आवाज़ लगायी, "बिशन···कहाँ हो ?"

"जी···साब।" कहता हुआ बिशन बाहर आया। "देखो, बाहर के बरामदे में हमारा इन्तज़ाम कर दो। मौसीजी सो गयी हैं ?"

"जी साब, अभी सोयीं नहीं हैं लेकिन सोने गयी हैं।"

"ठीक है, तुम तैयारी करो। श्रीधर, तुम ज़रा बैठो, मैं मौसीजी से मिल आता हूँ।"

वर्मा अन्दर गया। श्रीधर ने हॉल पर नज़र दौड़ायी। वह हॉल वर्मा की समृद्धि का आईना था। लेकिन सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट हो रहा था दीवार पर लगे और साइडबोर्ड पर रखे छायाचित्रों से। उस हॉल की शान से ये छायाचित्र और चित्र बहुत ही विसंगत थे। प्रवेश-द्वार में पॅसेज़ के सामने ही गणेशजी की तीन फ़ीट ऊँची मूर्ति थी। दीवार पर सत्य साईंबाबा की भव्य तस्वीर थी। उसकी बगल में सच्चिदानन्द की तस्वीर। साइडबोर्ड पर भी ऐसी ही कई महाराजों और देव-पुरुषों की तसवीरें थीं। उनके सामने फूल और अगरबत्ती की राख। अचानक श्रीधर चौंक पड़ा। हॉल के बीचों-बीच कमर तक ऊँची पुस्तकों की शेल्फ में एक छोटे से फ्रेम में शशी की छोटी-सी सुहास्य तस्वीर। शशी ने सफ़ेद खादी की साड़ी पहन रखी थी। बाल खुले छोड़े हुए थे और चेहरे पर करुणामय स्मितहास्य था। श्रीधर के हृदय में कुछ हलचल हुई।

"वहाँ शशी दीदी की तस्वीर देखकर तुम्हें आश्चर्य हो रहा है ?"

"अँ···हाँ।" श्रीधर ने अचम्भित होकर मान लिया।

"ग्रेट वुमन···शी इज़ ग्रेट···" वर्मा ने कहा, "चलो हम थोड़ी देर बाहर चलकर बैठते हैं—नरीमन पाइण्ट, मलाबार हिल, समुन्दर··· बैठो···बैठो ··· आराम से। बर्फ़ लाओ, बिशन। खाने के लिए कुछ नहीं रखा···चलो जल्दी से ले आओ। हाँ, वह भद्र महिला हैं···वैसे मुझसे उम्र में कम हैं लेकिन हृदय से, मन से और विचारों से बहुत बड़ी हैं। मेरा उनका सम्पर्क यही कुछ सालभर पुराना होगा। लेकिन उनके केवल दर्शन से भी बहुत बड़ा आध्यात्मिक समाधान मिलता है। शायद वह इस बात को जानती नहीं हैं किन्तु मैं पुणे केवल उनके दर्शन करने जाता हूँ। मैंने न जाने कितने गुरु बनाये लेकिन शशी दीदी के चेहरे पर जो स्निग्ध आध्यात्मिक तेज है, वह शायद ही देखने को मिलता हो। खैर, यह तो तुम भी मानोगे, तुम्हारा उनके साथ अच्छा-खासा परिचय है···।"

"आँ···हाँ, मैं उन्हें काफ़ी अच्छी तरह जानता हूँ। लेकिन उनके आध्यात्मिक सामर्थ्य के बारे में तब पता नहीं था। शायद यही पिछले पाँच-सात वर्षों में उनका यह तेज विकसित हुआ होगा।"

"नहीं···नहीं···उनकी गरिमा तो पैदाइशी है।" प्यालों में क़ीमती मद्य डालते हुए वर्मा ने कहा, "मुझे इस बात से कोई लेना-देना नहीं है कि कोई उनकी

आध्यात्मिक समर्थता से परिचित है या नहीं। मुझे जो सन्तोष मिलता है, वही मेरे लिए पर्याप्त है। शायद वह स्वयं भी अपनी इस शक्ति से अनजान हैं। मैंने उनके स्कूल के तीन विद्यार्थी गोद लिये हैं—यानी उनका खर्चा मैं उठा रहा हूँ···"

वर्मा ने लपककर प्याला मुँह से लगाया और फिर लगातार दो-तीन घूँट भरकर उसे आधा खाली कर दिया। तव कहीं उसकी आँखों से बेचैनी के साये हट पाये। प्याला नीचे रखकर उसने चैन की साँस ली। और फिर मुँह पोंछकर वह बोला, "हाँ···शी इज़ अ ग्रेट वुमन। यू नो, वह किसी को अपना शिष्य नहीं बनातीं, न ही अपने आपको किसी का गुरु वनाती हैं लेकिन मन-ही-मन मैंने उन्हें गुरु मान लिया है। उनके स्कूल के सिलसिले में ही मैं हफ्ता भर पुणे रुका था। वह दान तो लेती नहीं हैं, मैंने कहा—कम-से-कम मेरा श्रमदान तो स्वीकार कीजिए···आठ दिन अन्य स्वयंसेवकों के साथ मेहनत का पसीना बहाया वस, यही मेरी गुरु-सेवा।"

श्रीधर का आश्चर्य वढ़ता जा रहा था। शशी के बिना जाने ही वर्मा के उसे गुरु वनाने पर उसे हैरानी हो रही थी। श्रीधर को लगा जैसे कोई पुराना ज्वर फिर से उसके शरीर में जाग गया है। उसने मद्य का घूँट भरकर कहा, "तुममें यह अध्यात्म का आकर्षण कैसे पैदा हुआ ?"

"अध्यात्म का आकर्षण ? वह तो कव से था···" वर्मा ने अपना प्याला खाली किया। वर्मा एक के वाद एक प्याले खाली करता जा रहा था। "यह कब हुआ यह तो कह नहीं सकता लेकिन हाथ में वहुत सारा पैसा है और सिर्फ़ हाथ हिलाने से या भौहें उठाने से और पैसा मिल सकता है, इससे ज़्यादा परेशान करनेवाली बात क्या हो सकती है, श्रीधर ? पैसे भी किन चीज़ों पर खर्च करोगे ? वड़ी परेशानी होती है···आप पैसे कमाना वन्द नहीं कर सकते और पैसा आता रहता है। यह स्थिति आपको अगतिक वना सकती है। फिर लगता है, नहीं। मैंने न जाने क्यों अपने पिता का धन्धा अपनाया। क्या करूँ इन रुपयों का···? मेरी तो समझ में नहीं आता।"

"लगता है तुम सम्पूर्ण मानव जाति में अपवाद हो···" श्रीधर ने कुछ झुँझलाकर कहा, "यह भी कोई वात हुई ? तुम्हारे पास इतना ज़्यादा रुपया है ही कहाँ ? कुछ रुपया किसी और चीज़ में लगा दो। कोई कारखाना लगाओ। उत्पादन करो, लोगों के लिए रोज़गार की व्यवस्था करो। करने के लिए तो काफ़ी कुछ है···"

"लेकिन वह मैं नहीं चाहता। मैं यही समझ नहीं पा रहा कि यह सव मैं क्यों करूँ ? मेरा यह धन्धा चलाने का भी मन नहीं है। फिर भी पिताजी ने कुछ ऐसी व्यवस्था वना रखी है कि दिन में आठ-दस घण्टे मेहनत करो तो वह ही काफ़ी है···। लेकिन वह भी मुझे पसन्द नहीं है। यह सब मैं क्यों करूँ, ऐसा बार-बार लगता रहता है। मुझे मृत्यु का वहुत आकर्षण है। उसके खिंचाव से अन्य किसी चीज़ में

मन लगता ही नहीं। इस जीवन में सिर्फ़ हम वक़्त गुज़ार रहे हैं, ऐसा लगता रहता है। इस जीवन का आद्य कर्तव्य मृत्यु है और मुझे यह लगता है कि सारा दिन हमें उसकी आराधना में ही लगाना चाहिए।"

"ऐसी कौन-सी विफलता से तुम ग्रस्त हो अतुल, कि तुम्हें मृत्यु से इतना प्रेम हो गया है…?"

"विफलता ? न…न…यहाँ विफलता का क्या सम्बन्ध ? मुझे लगा, तुम समझ जाओगे। मौत से प्रेम करने के लिए क्या मनुष्य को विफलता से ग्रस्त रहना आवश्यक है ? उसे एक मानसिक आकर्षण कह सकते हो। और उस आन्तरिक असन्तुष्टि की कोई सीमा नहीं होती। मैं अतीन्द्रिय शक्तियों में विश्वास रखता हूँ। महापुरुषों में निश्चय ही उनका वास रहता है। इसीलिए उनको गुरु बनाया जाता है। मैंने कई गुरु बनाये जिन्होंने मुझे तात्कालिक सन्तोष दिया लेकिन मेरे अन्दर से यह बेचैनी का ज़हर जाता नहीं है। आखिर अपनी आराधना भी विशुद्ध होनी चाहिए। उसके बिना गुरु क्या साक्षात्कार देगा ? लेकिन एक बात है। शशी दीदी के मात्र दर्शन से ऐसा मनोहर साक्षात्कार हो सकता है, यह मेरा अनुभव है। बुद्धि का सम्भ्रम खत्म हो जाता है और गहरा समाधान प्राप्त होता है। विचारों के तूफ़ान से आया खालीपन श्रद्धा से भर जाता है और दिलासा लगने लगता है।… मैं कुछ पागलों-जैसी बकवास कर रहा हूँ न। खैर, मैं जानता हूँ कि मैं क्या कह रहा हूँ। वह एक सेवाभावी शिक्षण संस्था की संचालिका हैं, उम्र में जवान हैं और ऊपरी तौर पर उनका अध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह भी मैं मानता हूँ। वह कभी प्रवचन नहीं देतीं और न ही कोई उपदेश देती हैं। वह अध्यात्म भी बताती नहीं हैं। लेकिन उनके केवल अस्तित्व से एक दिव्य समाधान प्राप्त होता है। उनके चरणों में माथा रखने का मन होता है। किन्तु इस बात की उन्हें खबर तक नहीं है। मैंने उनकी यह तस्वीर भी बड़ी मुश्किल से पायी है। सुनो …रुको… मैं तुम्हें वह तस्वीर फिर से अच्छी तरह दिखाता हूँ और उसकी विशेषता भी बताता हूँ। उसके बिना तुम समझ नहीं पाओगे। तुम उनके पुराने परिचित हो सकते हो लेकिन तुम नहीं जानते, यह देखो…"

वर्मा बरामदे से उठकर अन्दर हॉल में गया और वह संजीदगी से शशी की तस्वीर बाहर लाया। उसे सामने मेज़ पर रखकर बड़ी श्रद्धापूर्वक आँखें मूँदकर उसे प्रणाम किया। श्रीधर की समझ में नहीं आ रहा था कि वह हँसे या रोये…वह केवल बुत बनकर अविश्वास मिश्रित आश्चर्य से वर्मा को घूरता रह गया।

"देखो," वर्मा तस्वीर की तरफ अंगुलिनिर्देश कर बता रहा था, "यह एक बहुत ही सामान्य तस्वीर है, फिर भी इसमें शशी दीदी के सिर के पीछे एक दिव्य तेजोवलय नज़र आता है। तुम्हें नज़र आया ? अब उनकी आँखों की तरफ ग़ौर करो। क्या

उनमें सागर की अथाह करुणा नज़र नहीं आती !…आकाश के जैसा अनंन्त ज्ञान नज़र आता है…सारे विश्व के प्रति वत्सलता प्रतीत होती है…।"

वर्मा और भी न जाने क्या-क्या कहता गया। अन्त में खीजकर श्रीधर ने कहा, "बस भी करो अतुल वर्मा। बहुत हो चुका। या तो तुम पागल हो या तुम्हारी कल्पनाशक्ति विचित्र है। शशी तुम्हारे-मेरे जैसी एक सामान्य व्यक्ति है। उसमें कुछ विशेष वात नहीं है …।"

वर्मा क्षमाशीलता से मुस्कुराया और उसकी स्थिति देखकर श्रीधर समझ चुका कि अव वात सुधरने की सम्भावना से बहुत आगे चली गयी है।

"मैंने यह कब कहा कि शशी दीदी कोई असामान्य स्त्री हैं या देवी अवतार हैं ? बल्कि मैं तो कहता हूँ कि वह मेरे-तुम्हारे जैसी ही सामान्य व्यक्ति हैं। इसीलिए तो उनके इस सामर्थ्य को विशेष महत्त्व प्राप्त होता है। और यह मैं उन्हें कभी-न-कभी समझा भी दूँगा। बाई द वे, क्या तुमने कभी सत्य साईंबाबा का दर्शन किया है ?"

वर्मा ने अचानक विषय का रुख बदला।

"नहीं तो…और न कभी करना चाहा है।" श्रीधर ने कहा।

"तुम यहीं पर ग़लती करते हो, श्रीधर।" वर्मा ने कहा। "उनमें भी दैवी शक्ति है, यह सच है। और हमें कम-से-कम एक बार तो उस शक्ति का साक्षात्कार करना चाहिए। मैं कहीं भी जाने में आना-कानी नहीं करता। किसी भी गूढ़, आध्यात्मिक या दैवी अनुभव से मैं अपने आपको वंचित नहीं रखता।"

वर्मा ने रुककर एक घूँट भरा। हॉल में लगी बाबा की तस्वीर को ग़ौर से देखा और आँखें वन्द कर लीं। कुछ क्षण मौन रहकर उसने चिन्तन किया और फिर आँखें खोलकर अन्तर्मुख स्वर में कहा, "कभी-कभी घोर निराशा होती है। वंचना का अनुभव होता है। सदमा पहुँचता है। सारी दुनिया की अच्छाई से विश्वास उड़ जाता है। मृत्यु को गले लगाने का मन होता है। किन्तु इस मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। अपघात होने पर हम सड़क से चलना तो नहीं न छोड़ देते ? किसी ज़माने में मैं वावा को सब कुछ मान बैठा था। उनमें दैवी शक्ति अवश्य है लेकिन मैं यह वात पहली बार स्वीकार कर रहा हूँ कि बाबा अपनी सामर्थ्य का न्याय-बुद्धि से प्रयोग नहीं करते बल्कि औचित्य को वह अनदेखा करते हैं। पहले यह मैं मानता नहीं था। लोग जब उन पर टीका-टिप्पणी करते थे तो मुझे बहुत ग़ुस्सा आता था। लेकिन जब मैंने अपनी आँखों से देखा तो मैं जान गया। इतनी महती सामर्थ्य का दैवी पुरुष ! वह ग़रीब और अमीर में फ़र्क़ क्यों करता है ? अपनी दैवी शक्ति, अपनी लीला, अपनी कृपा या करुणा बाबा ग़रीबों को सुख चैन का लाभ देने के लिए क्यों नहीं उपलब्ध कराते ? इसका यह अर्थ नहीं होता कि मैं ग़रीबों के पक्ष में हूँ। लेकिन जब अपनी आँखों के सामने आप भेदभाव होता देखते हैं तब उनके

वड़प्पन पर विश्वास भी कैसे किया जा सकता है ?"

वर्मा ने एक और प्याला चढ़ाया था, और अब उसकी भारी आँखों में एक बेचैनी की थरथराहट नज़र आ रही थी। तब श्रीधर को इस बात का एहसास हुआ कि कुछ देर पहले वर्मा की आँखों में जो बेचैनी थी, वह केवल व्याकुल शराबी की नहीं थी, वह बहुत गहरी थी। इस एहसास ने श्रीधर को भी बेचैन कर दिया। उसे लगा कि उबले आलू की तरह उसके शरीर से कोई चमड़ी उधेड़ रहा है। वह किंचित् थरथराया। फिर थोड़ा झुँझलाकर बोला, "यह सब तुम्हारी समझ में आने के बावजूद तुम इनमें विश्वास करते हो ? अपने घर में तस्वीरें लगाकर उनकी पूजा करते हो ?"

"बाबा प्रसन्न होते हैं। हम-तुम जैसे पैसेवालों पर कृपा करते हैं। उससे धन्धे में उन्नति होती है···पैसा ही पैसा···हा···हा···।" वर्मा ने बोझिल स्वर में कहा। अब वह हाथ में प्याला लेकर खड़ा हो गया था, "लेकिन मुझे ऐसी बरकत नहीं चाहिए। मुझे दौलत देनेवाला गुरु नहीं चाहिए। मुझे सन्तोष देने वाला गुरु चाहिए। तुम ठीक कह रहे हो, श्रीधर। बाबा की तस्वीर के लिए मेरे घर में कोई स्थान नहीं है। अच्छा किया जो तुमने बताया, श्रीधर। हर रोज़ मन-ही-मन मैं इन्हें गाली-गलौच करता था और फिर ऐसी धृष्टता के लिए अपने आप कान पकड़कर उनके सम्मुख खड़ा हो जाता था। क्योंकि मेरि हिम्मत नहीं हो रही थी। इनके लिए मेरे घर में कोई स्थान नहीं है···चले जाओ, हरामखोरो ···निकल जाओ मेरे घर से, गेट आउट! यू हैव नो बिजनेस हियर··· चलो···चलो··· गेट आउट।" वर्मा ने शराब से भरा हुआ गिलास उस तस्वीर पर दे मारा। तस्वीर लकड़ी पर खड़ी की हुई थी। इसलिए गिलास बिना टूटे कालीन पर गिर गया। शराब चारों तरफ फैल गयी।

"देखो···देखो··· कितना बेशर्म है।" श्रीधर की तरफ देखकर हँसता हुआ वर्मा बोला। "ऐसे नहीं टलेंगे ये लोग। इन्हें धक्के देकर भगाना होगा। कम श्रीधर···हेल्प मी।"

वर्मा ने दीवार से एक तस्वीर खींच निकाली और वह ज़मीन पर रखकर पैर से दबाकर हाथ से तोड़ डाली। तब तक श्रीधर ने भी दूसरी तस्वीर उतार ली थी। वर्मा ने उससे वह छीन ली और कहा, "ना···ना इधर लाओ। यह सत्कृत मुझे ही करने दो।" कहकर हँसते-हँसते उसने उस तस्वीर को भी तोड़ फोड़ दिया।

"नाऊ लेट्स सेलेब्रेट···बिशन···वह तस्वीरें कूड़ादान में डाल दो। कमॉन श्रीधर। एक और लो, मना मत करो यार। यह तो मेरी मुक्ति का सेलेब्रेशन है। नहीं चाहिए ? ओ. के. मैं ज़ोर नहीं डालूँगा।"

वर्मा ने अपने लिए थोड़ी शराब डाल ली। एक घूँट भरने के बाद न जाने उसके चेहरे पर उदासी का अन्धकार छा गया। आँखों में डर जम गया।

"मैंने जो किया वह ठीक ही किया न श्रीधर ?" उसने धीरे से पूछा।

"क्या ?"

"यही"—वर्मा ने टूटी-फूटी तस्वीरों के टुकड़े उठानेवाले नौकर की तरफ निर्देश कर कहा।

"ठीक ही तो किया है तुमने। उसमें भला पूछने की कोई बात है !" श्रीधर ने हामी भरी।

वर्मा कुछ देर तक बेचैनी की स्थिति में खामोश बैठा रहा फिर हकलाता बोला, "मुझे डर लगता है, श्रीधर। मैं कहीं बावा के क्रोध को आमन्त्रण तो नहीं दे रहा हूँ !"

"कैसा क्रोध ? बाबा की तस्वीर फोड़ने की वज़ह से अगर वह नाराज होता है तो वह बहुत घटिया क़िस्म का इन्सान है। फिर उसे यह क्या मालूम कि तुमने क्या किया है ? दूसरी बात तो यह है कि नाराज़ हो भी जाए तो वह कर क्या सकता है ?"

"श् श् श् ! ऐसे मत बोलो।" डरी-डरी आवाज़ में वर्मा बुदबुदाया। "अरे वह दैवी शक्ति प्राप्त किया हुआ आदमी है। उनके पास महान् शक्ति है। वह सव समझ जाते हैं। कहते हैं कि अपनी करुणा-सुधा से वह केवल एक बूँद देते हैं लेकिन अगर नाराज़ हो जाएँ तो वह क्रोधाग्नि में भस्मीभूत कर डालते हैं…।"

"बकवास न करो।" श्रीधर अब वर्मा से ऊब चुका था। उसे थोड़ा-सा ग़ुस्सा भी आ रहा था। अचानक फ़ुरसत मिलने की वजह से शाम को वह यहाँ आ गया था। उसके पीछे कितने काम थे। और फिर सुबह की उड़ान से दिल्ली जाना था। न जाने यह वर्मा कहाँ से टपक पड़ा ! नन्हे-से बचपन में मृत्यु से कठोर पहचान करानेवाला अतुल वर्मा और अब यह लल्लू-सा लगने वाला और बाबा के काल्पनिक क्रोध से थरथराने वाला वर्मा—इनमें ज़मीन आसमान का फ़र्क था। फिर भी इस सहमे हुए वर्मा के लिए श्रीधर चिन्तित था।

"किस बात से डरते हो तुम ?" श्रीधर ने कहा, "कोई भी वावा तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। तुम्हें क्रोधाग्नि में भस्म करने की तो तुम बात ही मत करो। तुम्हारे अस्तित्व का उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। अपने मन से डर निकाल दो…।"

"नहीं श्रीधर, तुम इस दुनिया को नहीं जानते।" वर्मा ने मिमियाते हुए कहा, "मुझे डर लगता है। बाबा को अगर पता लगे कि मैंने उनका अपमान किया है तो वह मेरा सर्वनाश कर देंगे, फिर मुझे कोई वचा न सकेगा। केवल वावा ही मेरा तारणहार बनेंगे…बाबा …बाबा…"

वर्मा सोफ़े से लुढ़ककर ज़मीन पर आ गया था। उसकी आँखों से आँसू वह रहे थे। डर से उसका चेहरा विद्रूप हो गया था। गले का लॉकेट हाथ में लेकर वर्मा ने उसे देखा, उसे माथे से लगाया, उसको चूमा।

"बाबा···बाबा···" वर्मा चिल्ला रहा था। और बीच-बीच में अपने गालों पर प्रहार कर रहा था। "बाबा, मैंने आपका घोर अपराध किया है। माफ़ कीजिए··· अपने इस अनाथ बालक को माफ़ कर दीजिए···मैं दोबारा ऐसी ग़लती नहीं करूँगा ···बाबा···बाबा··· ।" वर्मा बिलख-बिलखकर रोने लगा। उसका नौकर जैसे कुछ न देखा न सुना हो, ऐसे अन्दाज़ में सामान ठीक-ठाक करने लगा। नौकर के अन्दर जाने पर श्रीधर ने वर्मा के गाल पर कसकर तमाचा मारा और वर्मा का रोना क्षणभर में रुक गया। उसने श्रीधर की तरफ अवोध नज़र से देखा और फिर खुद को सँभाला।

"खाना लगाया है साब।" नौकर ने शान्त स्वर में कहा।

दोनों उठकर विना कुछ बोले खाने की मेज़ की तरफ बढ़ गये।

इकसठ

काफ़ी दिनों बाद श्रीधर को पता चला कि वर्मा और वेंकटेश्वरन में बड़ी दोस्ती है। अध्यात्म, तिरुपति और राँची विद्यापीठ के शंकराचार्य उन दोनों के अत्यन्त प्रिय विषय हैं। वेंकटेश्वर ने तो अपने आसपास के सभी लोगों का हृदय-परिवर्तन कराने का निश्चय कर लिया था। श्रीधर और वर्मा की पुरानी पहचान ताजा होने से पहले भी वेंकटेश्वरन श्रीधर पर यह प्रयोग कर रहा था।

वेंकटेश्वरन एक अत्यन्त बुद्धिमान और अनुभवी एक़ाउण्टेण्ट था। वह चीफ एकाउण्टेण्ट था इसलिए उसका स्थान शुरू में श्रीधर के स्तर का था। लेकिन कुछ ही दिनों में श्रीधर तेजी से आगे बढ़ गया। वेंकटेश्वरन की उम्र पचपन से अठावन तक लगती थी। उसके माथे पर हमेशा भस्म का टीका विराजमान रहता था जैसे अभी-अभी स्नान-गृह से निकला हो। वह बहुत ही सात्त्विक सज्जन था। उसे यह कुण्ठा थी कि जग के अन्य सभी लोग उससे अधिक बुद्धिमान हैं। वह अपनी उँगली में अष्टग्रह की अँगूठी पहनता था और कोई भी नया कार्य शुरू करने से पहले तिरुपति का स्मरण अवश्य करता था। श्रीधर अपने ही कामों में हमेशा व्यस्त रहता, इस वजह से उसे वेंकटेश्वरन के साथ कई दिन काम करते हुए भी उसके स्वभाव की अनेक विशेषताएँ पता नहीं चली थीं।

एक बार चेयरमैन के साथ विभागीय प्रमुखों की बैठक से बाहर निकलते हुए

वेंकट ने कहा, "श्रीधर, तुमसे पन्द्रह मिनट का काम है। कब खाली होंगे…?"

"अभी चलो।" श्रीधर ने कहा, "हम अपना लन्दन का दौरा भी तय कर लेते हैं।"

श्रीधर के कमरे में पहुँचते ही टाई ढीली करता हुआ वेंकट बोला, "मैं भी अपनी लन्दन-यात्रा के सिलसिले में ही तुमसे बात करना चाहता था। मेरी जगह अगर मेरा सहायक करमरकर आये, तो चल जाएगा ? करमरकर चुस्त है, वह मेरा काम बहुत अच्छी तरह सँभाल लेगा।"

"लेकिन क्यों ?" श्रीधर ने साश्चर्य पूछा। वेंकट को विदेश-यात्रा का यह पहला अवसर प्राप्त हो रहा था, "यह काम वैसे जोखिम का है इसलिए चेयरमैन स्वयं ही यह चाहते हैं कि तुम चलो।"

"मानता हूँ। लेकिन करमरकर भी बहुत काबिल आदमी है, उसपर मुझे पूरा विश्वास है।"

"वेंकट, तुम्हें चलने में क्या आपत्ति है ? अब तुम निवृत्ति के क़रीब आ गये हो, तुम्हारा वहाँ काम बस एकाध दिन का है। दो दिन घूम-फिर लेना। अच्छा मौक़ा है…"

"नहीं, वह सम्भव नहीं है।"

"क्यों ? कोई बहुत व्यक्तिगत समस्या है ?"

"नहीं, अपने निजी काम के लिए मैंने ज़िन्दगी में एक भी छुट्टी नहीं ली है। काम कुछ और ही है। शंकराचार्य के दर्शन के लिए बैंगलोर जाना है…।"

"उसमें कौन-सी बड़ी बात है। पहले हो आओ।"

"नहीं, हर महीने के तीसरे रविवार की शाम को मैं दर्शन के लिए जाता रहा हूँ। वह नियम मैं तोड़ना नहीं चाहता।"

"यही न ? ओ. के. मैं तुम्हें सब ठीक से आयोजित कर दूँगा। तुम रविवार की शाम की उड़ान से बैंगलोर पहुँच जाओ और उसी रात की उड़ान से सोमवार को लन्दन ठीक समय पर पहुँच जाओ …।"

"यह सम्भव नहीं है। बैंगलोर मैं हमेशा रेल के दूसरे दर्जे से जाता हूँ और दूसरे दर्जे से ही लौटता हूँ। इसीलिए महीने के हर तीसरे सोमवार को मैं लंच के बाद दफ्तर आता हूँ।"

"दूसरा दर्जा ? वह क्यों ?" अब श्रीधर की जिज्ञासा जाग्रत् हुई थी। वेंकट उसकी कम्पनी का उच्चाधिकारी था। उसके लिए कम्पनी की गाड़ी की सुविधा उपलब्ध थी, वह विमान-यात्रा भी कर सकता था।

"एक नियम के तौर पर…एक व्रत है इसलिए…।" वेंकट ने प्रसन्नता से कहा। "और यह व्रत मैं तोड़ना नहीं चाहता। अगर अनिवार्य हुआ तो मैं चेयरमैन साहब से भी यह कह दूँगा।"

"क्या इस तरह का व्रत या नियम कष्टप्रद नहीं होता ?"

"होता है। लेकिन मुझे उसमें आनन्द आता है। कभी-कभी आरक्षण भी नहीं मिलता। उस स्थिति में रात भर खड़े-खड़े ही मैंने यात्रा की है। रात भर जागा हूँ। उसमें एक विशेष आनन्द है ···।"

"वेंकट, तुम्हें किस चीज़ की कमी है जो तुम यह जी को परेशान करने वाले व्रत करते रहते हो ?"

"नहीं, मुझे क्या कमी है ? सब तिरुपति और शंकराचार्य की कृपा है।" वेंकट ने कहा, "सब ठीक-ठाक है। बेटी का विवाह हो चुका है, उसका पति आई. ए. एस. में है। बेटे ने अमरीका में कम्प्यूटर कन्सल्टेन्सी का व्यवसाय खोल रखा है। हम दोनों बूढ़ा-बुढ़िया मज़े में हैं।"

"तो फिर ?"

"तो फिर क्या मतलब है ? परमेश्वर का स्मरण क्या तभी किया जाता है जब कुछ चाहिए होता है ? सब ठीक होने पर क्या उससे कृतज्ञता जतायी नहीं जा सकती ? यह भी खूब है तुम लोगों की··· !" वेंकट ने सात्त्विक सन्ताप से कहा। फिर धीरे से हँसकर बोला, "यह मेरा तरीक़ा है यंग मैन, एण्ड वाट डू यू डू फार स्पिरीच्युअल सैटिसफैक्शन ? अरे पैसा ही तो सब कुछ नहीं होता, भाई। आत्म-सन्तोष नाम की भी कोई चीज़ होती है, वह अत्यन्त दुर्लभ होती है। तुम जानते हो अगर मैं चाहूँ तो विमान से बैंगलोर जा सकता हूँ या अपनी कम्पनी की गाड़ी वहाँ मँगवा सकता हूँ, पंचतारांकित-होटल में रह सकता हूँ। लेकिन दूसरे दर्ज़े में यह सब असुविधाएँ झेलकर थोड़ा-सा कष्ट उठाने में जो समाधान मिलता है वह इस तरह ऐश-आराम में जाकर नहीं मिलता।"

"ठीक है। अगर तुम ऐसा ही चाहते हो तो···"

"थैंक्स ! गॉड ब्लेज़ यू।"

"लेकिन क्या करसरकर जाने के लिए तैयार होगा ?"

"अवश्य।"

"ठीक है।"

"अच्छा, लेकिन तुमने तो मुझे कुछ बताया नहीं। तुम क्या करते हो ? पूजा-पाठ करते हो कभी ?"

"नहीं, कुछ भी नहीं।" श्रीधर ने हँसकर कहा, "मेरा इन बातों में विश्वास नहीं है।"

"क्या कह रहे हो तुम ?" वेंकट उसका मुँह ताकता रह गया, "अरे भाई, हमें इतना कृतघ्न नहीं होना चाहिए। जिसकी मर्ज़ी के बिना पेड़ का एक पत्ता तक हिल नहीं सकता और जिसकी बदौलत हम श्वासोच्छ्वास करते हैं, उसके सामने

क्या दिन में एकाध बार नतमस्तक नहीं होना चाहिए ? उसका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण नहीं करना चाहिए ? कमाल है ! तुम युवा लोग···। चाहे कोई भी आराध्य देवता हो, उस जगन्नियन्ता की शरण में तो जाना ही चाहिए। उसके लिए दिन के कुछ क्षण अलग से रखने आवश्यक हैं। माफ़ करना, मैं तुम्हारी निजी बातों में दखल दे रहा हूँ। तुमने अभी विवाह नहीं किया···है न ? नहीं तो मैं तुम्हारी पत्नी से कुछ कहता। एनी वे, जो मैं कहता हूँ उस पर ग़ौर करो। धन्यवाद···''

वेंकटेश्वरन ईमानदार था, पाप से डरता था। श्रीधर का वर्मा से जब पुनःपरिचय हुआ तो वेंकटेश्वरन भी उसके और क़रीव आ गया। वर्मा और वेंकट दोनों अपने धार्मिक और आध्यात्मिक मार्ग के सहप्रवासी थे। वह दोनों कई बार साथ-साथ किसी गुरु या वावा के प्रवचन में जाते थे। वेंकट वर्मा को एकाध बार अपने साथ तिरुपति भी ले गया था। उन दोनों में एक बड़ा फ़र्क था। वेंकटेश्वरन ब्राह्मण था, कर्मठ अयंगार। उसके परिवार में वैदिक शिक्षा की परम्परा थी। तिरुपति और शंकराचार्य पर उसकी प्रगाढ़ निष्ठा थी। अन्य वावा, महाराज, स्वामी आदि को वह आदरपूर्वक प्रणाम करता था, उनकी जाँच-पड़ताल करने का कभी कष्ट नहीं करता था। किसी स्वामी को भोंदूगिरी के लिए हवालात में वन्द किया जाए या किसी गुरु पर कोई गन्दा गुनाह साबित हो जाए तो वह वर्मा की तरह छटपटाता नहीं था।

श्रीधर को वेंकट द्वारा ही वर्मा के बारे में बहुत कुछ ज्ञात हुआ। उसी के साथ-साथ वेंकट और वर्मा से मैनेजिंग डाइरेक्टर खन्ना के बारे में भी पता चला।

एक अत्यन्त तनावपूर्ण वैठक में श्रीधर ने खन्ना का सख़्त प्रतिरोध किया और विहार के एक कारखाने में ताला वन्द करने का प्रस्ताव मंजूर कर लिया। खन्ना ने काफ़ी शोर मचाया। यह सवाल पाँच सौ मज़दूरों और उनके परिवारों की रोज़ी-रोटी का यानी जीवन-मरण का है—ऐसा काफ़ी भावुक होकर कहा। लेकिन श्रीधर की प्रस्तुति इतनी बुलन्द थी कि बोर्ड के सामने उस कारखाने को बन्द करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था।

वैठक के वाद वेंकट ने श्रीधर से मिलने के लिए समय माँग लिया।

''दो बातें···'' अपनी अँगूठी के हीरे को आँखों से लगाकर वेंकट ने कहा, ''एक वर्मा को लेकर और दूसरी खन्ना के बारे में।''

''कहो।''

''पहले वर्मा। वह आपका पुराना मित्र है इसलिए कह रहा हूँ।''

''क्यों ? कहीं उसने हमारी कम्पनी के साथ तो कोई दुर्व्यवहार नहीं किया ?''

''नहीं नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।'' वेंकट ने तनिक रुककर कहा, ''अगर आप बुरा न मानें ···मैं कुछ कहे विना नहीं रह सकता···।'' पहले रुक-रुक कर और फिर साफ़-सीधे स्वर में उसने कहा।

"खैर वर्मा से दुर्व्यवहार तो छोड़ दीजिए, उसका धन्धा तक ठीक से नहीं होता। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि हमारी कम्पनी ही उसका नाजायज फ़ायदा उठाती होगी। ख़ैर, वह तो मैं बाद में बताऊँगा क्योंकि वह भी बात करनी है। लेकिन पहले मुझे उसी के बारे में बताना है। मुझे उसकी फिक्र हो रही है।"

"वह क्यों ?"

"देखिए, हम लोग स्पिरीच्युअल स्तर पर एक-दूसरे के बहुत क़रीव हैं। वर्मा बहुत भोला, किसी का भी आसानी से विश्वास कर लेनेवाला, अध्यात्मवृत्ति का बन्दा है। ऐसे लोग भले-भरकम नहीं होते। उनके पाँव मिट्टी के होते हैं। आजकल वर्मा का हर बात से विश्वास हटता जा रहा है। वह नास्तिक बनता जा रहा है।"

"बहुत अच्छी बात है..." श्रीधर ने हँसकर मेज़ पर प्रहार किया, "उसमें चिन्ता की क्या बात है ? मैं भी तो पूरा नास्तिक हूँ।"

"च् च् च् ! तुम्हारी बात अलग है, श्रीधर।" गरदन हिलाकर वेंकट बोला, "तुम्हारे लिए वह ठीक है। लेकिन वर्मा अतिसंवेदनशील व्यक्ति है। उसके लिए वह खालीपन असहनीय है।"

"तुम कहना क्या चाहते हो वेंकट, कि मैं पत्थर की तरह संवेदनहीन हूँ—" श्रीधर मज़ाक़िया मूड में कहता जा रहा था लेकिन अचानक उसकी आवाज़ में एक उदास कड़वाहट आ गयी थी जिसका स्वयं उसे आश्चर्य हुआ।

"नहीं...नहीं... हरगिज नहीं।" वेंकट ने कहा, "यू आर ए सॉलिड रॉक, रैशनल, डिपेण्डेबल। तुम्हारे नास्तिक होने पर भी मैं तुम्हारी इज़्ज़त करता हूँ। तुम वर्मा की तरह बहकनेवाले नहीं हो। ज़रा-ज़रा-सी बात पर वर्मा उदास हो जाता है। और फिर वह पियक्कड़ है, ऊपर से अब वह डर-सा गया है। किसी भी बात का अब यह विश्वास नहीं करता। हर बात व्यर्थ है, जीवन निरर्थक है जैसी बहकी-बहकी बातें करता रहता है, इसलिए मुझे उसकी चिन्ता होने लगी है।"

"तभी तो ! पिछले दो-तीन महीने वह इस तरफ आया भी नहीं लगता है।" श्रीधर ने चिन्तायुक्त स्वर में कहा।

"कुछ कर सकते हो तो अवश्य करो।" वेंकट ने कहा—"मैं तो हार चुका हूँ। काफ़ी प्रयास किये। अभी की बात नहीं कर रहा हूँ, इससे पहले भी काफ़ी प्रयास किये लेकिन कुछ सम्भव नहीं हो पाया। महीनों तक वह ठीक-ठाक रहता है। धन्धे में ध्यान लगाता है लेकिन अचानक कभी उसे यह उदासी आ जाती है।"

"अच्छा ? चलो मैं देखता हूँ, अगर मुझसे कुछ बन पाता है तो अवश्य करूँगा। वह फिलहाल कैसा है ?"

"अभी तो ठीक है लेकिन पता नहीं किस वक़्त व्यथित हो जाए।"

"अच्छा, मैं कोशिश करूँगा। और कुछ ?"

वेंकट ने सावधानी का पैंतरा लिया···और वह नीचे आवाज़ में बोलने लगा, "तुम्हें शायद पता न हो श्रीधर, लेकिन मैं एकाउण्टेण्ट हूँ, मुझे कई वातों का पता चल जाता है। वर्मा एजेण्ट है इसलिए कई बातें उसकी भी नज़र में आ जाती हैं। खन्ना साहब के बारे में क्या बताऊँ—यह विहार का कारखाना सालोंसाल घाटे में क्यों चल रहा था ? सभी एन्सीलरीज और कच्चा माल देने का ठेका इन्होंने अपने भानजे को दे रखा है। मामा और भानजा मिलकर कम्पनी को लाखों रुपयों की चपत हर साल लगवाते हैं। इसके चमचे न जाने कितनी बार वर्मा से मिल चुके हैं। उसने न जाने कितनी बीमार इकाइयों से अपनी तिजोरी भरी है।"

श्रीधर का माथा गुस्से से ठनकने लगा। पाँच सौ मजदूरों के साथ खन्ना की हमदर्दी का कारण वह फ़ौरन जान गया। श्रीधर ने आज तक कई शिकायतों और सुझावों की तरफ ध्यान नहीं दिया। स्वयं चेयरमैन ने भी खन्ना के प्रति सन्देह व्यक्त किया था और श्रीधर से यह भी कहा था कि वह खन्ना पर नज़र रखे और इस दिशा में प्रमाण इकट्‌ठा करे।

वेंकट और भी जानकारी देता रहा। कुछ समय वाद वह अपने विभाग में जाकर सम्वन्धित काग़ज़ात लाये और वर्मा द्वारा लिखित रूप में की हुई शिकायतें भी दिखायीं।

दूसरे दिन अपनी व्यस्तता से समय निकालकर श्रीधर शाम को वर्मा के घर गया। वर्मा पूरी तैयारी में बैठा हुआ था।

"यह क्या है ? आज तो मुझे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है।" श्रीधर ने कहा।

"अरे यही तो सब कुछ है।" वर्मा ने हँसते हुए कहा, "इसके बिना जीवन का कोई मतलब नहीं। यही एक असली चीज़ है···"

"तुम अपने आपको इस विनाश की तरफ जान-बूझकर क्यों ले जा रहे हो अतुल ?"

"विनाश या निर्माण—यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, श्रीधर।" प्याले में शराब उड़ेलता वर्मा बोला, "चियर्स। इस तरह मुँह लटकाकर मत बैठो। थोड़ी मौजमस्ती करो।"

"खन्ना के बारे में तुम क्या जानते हो ?" अपना प्याला एक तरफ रखकर श्रीधर ने सीधी वात की।

"काफ़ी कुछ, तुम्हारी कम्पनी से मेरे पिछले दस साल से सम्बन्ध हैं। सिर्फ़ मेरी ही कम्पनी से उसने साठ-सत्तर लाख बनाया होगा। ऐसे दस सप्लायर्स मैं तुम्हारे सामने लाकर खड़े कर सकता हूँ। डिफेन्स के ठेके में भी उसने काफ़ी घपले किये हैं···"

"कुछ और ?"

"वह सब मुझसे पूछकर तुम अभी मेरी उदासी मत बढ़ाओ। अगर चाहो तो मैं अपने मैनेजर से मिला देता हूँ। वह सब जानता है।"

"ठीक है। कब मिलाओगे उससे ?"

"कल, ...अब यह बात खत्म। मैं बेकार अपना मूड खराब करना नहीं चाहता।"

"ऐसा क्या हुआ है तुम्हारे मूड को ?"

"कुछ भी नहीं। यही तो एक वजह है।"

हँसते हुए वर्मा ने कहा और शराब का बड़ा घूँट भरा।

"तुम पागल हो।" श्रीधर ने कहा। "सोचना छोड़ दो। इस तरह के फ़ालतू जीवन-मरण के विचार दिमाग़ से हटा दो। पैसा कैसे कमाया जाए, अधिकाधिक पैसा कैसे बनाया जाए, यश कैसे प्राप्त किया जाए, इसी के बारे में सोचो और मौजमस्ती मारो। बस ! तुम सोचना छोड़ दो, सुखी हो जाओगे..."

वर्मा विषादपूर्ण हँसी हँसा, "यह तुम किससे कह रहे हो ? तुम खुद सुखी हो ?" श्रीधर को और कुछ कहने का मौक़ा न देते हुए उसने कहा, "कुछ भी मत बताओ। मैं तुम्हारे जीवन की राम कहानी जानता हूँ। मैंने तुम्हारी आँखों में उसकी साफ़-साफ़ झलक देखी है। मैं जानता हूँ कि तुम शशी दीदी के साथ थे और तुम्हारी क्या अवस्था थी, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ।"

"उन दिनों का जिक्र मत करो।" श्रीधर ने त्वेषपूर्वक कहा। "वह मूर्ख श्रीधर था। मैं अब वह नहीं हूँ। बहुत अक़्लमन्द हो गया हूँ। और फिर तुम्हारी तरह जो सामने आये, उस बाबा के चरणों में लेटने का पागलपन मुझ में तब भी नहीं था...।"

"अरे लेकिन अब मैं भी कहाँ किसके पीछे भागता हूँ। मेरा तो सभी से विश्वास उठ चला है।" वर्मा ने हताश स्वर में कहा, "कहीं कोई अव्वल बन्दा क्यों नहीं नज़र आता ? किसी के पास जवाब नहीं है। कोई जीये तो जीये कैसे ? पैसा-पैसा करके भी क्या करना है ? उसे चाटना थोड़े ही है ? मुझे अगर कहीं पूर्ण सन्तोष मिलता है तो इन सबको मैं लात मारकर उड़ा दूँगा। लेकिन ऐसा असली, सच्चा सन्तोष कहीं नहीं मिलता। ऐसा सन्तोष शायद सिर्फ़ मृत्यु के बाद ही मिल सकता है। लेकिन मान लो, अगर मृत्यु के बाद भी वह न मिला तो ? क्योंकि वह तो आखिरी प्रयोग होगा, उसके बाद प्रयोग करने का मौक़ा नहीं मिलेगा। इसीलिए वह खतरा उठाने में हिचकिचाता हूँ, बस यही...।"

कुछ सोचकर श्रीधर ने शशी की मुस्कुराती छवि को देखकर पूछा, "तुमने इस बीच शशी की तस्वीर नहीं तोड़ डाली ?"

वर्मा की निस्तेज, आशाहीन आँखों में चेतना की चिनगारी जागी। "ना, मैं उनकी तस्वीर कभी नहीं तोड़ूँगा। वह कोई तत्त्वज्ञान नहीं बतातीं, न कोई मन्त्र देती

हैं। वह न कोई मठ चलाती हैं। उनके सान्निध्य में सन्तोष, शान्ति मिलती है यद्यपि वह चिरन्तन समाधान नहीं है। उनके सान्निध्य की परिधि से बाहर होते ही फिर वहीं बेचैनी का तूफ़ान मँडराने लगता है। क्या किया जाए श्रीधर, इस हालत में ?"

श्रीधर ने फिर कुछ नहीं कहा।

बासठ

वर्मा के प्रबन्धक की सहायता से श्रीधर खन्ना के बारे में गोपनीय काग़ज़ात बनाने में व्यस्त था। अन्य लोगों से भी काफ़ी जानकारी मिल रही थी। उन काग़ज़ों से खन्ना की चालाकी और कम्पनी और देश की सुरक्षा के प्रति जो लापरवाही ज़ाहिर हो रही थी, उससे वह चकरा गया था। यह सब बातें दबायी भी जा सकती थीं लेकिन अगर किसी वक़्त वह खुल जातीं तो केवल कम्पनी की बदनामी तक बात नहीं रुकती। कम्पनी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता था।

उस वक़्त इसी के साथ अन्य कई मसलों में श्रीधर पूरी तरह डूब चुका था। एक जापानी उद्योग समूह के सहकार्य में एक इकरारनामा बनाना था। वह श्रीधर की ही जिम्मेवारी थी। बिहार और ओड़िसा के बीमार कारखानों को बन्द करने का निर्णय लेकर उसकी कार्रवाई करनी थी। इन सब उलझनों में वह पूरी तरह फँसा हुआ था। इसीलिए वर्मा के बारे में वह सोच तक नहीं रहा था। शशी ने जब फ़ोन किया तो उसे वर्मा का स्मरण हुआ और शशी ने यह सम्पर्क न जाने कितने दिनों बाद किया था।

अनावश्यक औपचारिक पूछताछ न करते हुए शशी ने सीधे मुद्दे की बात की। उन दोनों में किसी उपचार की आवश्यकता भी नहीं थी।

"श्रीधर, तुम वर्मा को जानते हो न ? अतुल वर्मा।" शशी पुणे से बोल रही थी।

"हाँ, क्या हुआ ?"

"वह इन दिनों हमारी संस्था के अतिथि-गृह में ठहरा हुआ है और खाना-पीना छोड़ दिया है। तुम्हें उसे बम्बई वापस ले जाने के लिए फ़ोन कर रही हूँ।"

"खाना-पीना छोड़ दिया है ? वह भला क्यों ?"

शशी हँस पड़ी और उसने कहा, "वह मुझसे विवाह करना चाहता है। तुम

जानते हो कि यह सम्भव नहीं है।"

श्रीधर दंग रह गया। शशी ने आगे कहा, "यह मुझे उसने नहीं बताया। मुझसे सुलभा ने कहा। वह सुलभा से ही बोलता है। सुलभा ने ही कहा कि तुम उसे ठिकाने ला सकते हो। कब आओगे ?"

"आज ही शाम को।"

उसने शशी में कोई परिवर्तन नहीं देखा। लेकिन उसे देखकर श्रीधर को लगा कि उसके अपने चेहरे पर भ्रष्टाचार, अधःपतन और विकृति की गहरी रेखाएँ उभर आयी हैं और वह बेचैन हो गया। वर्मा से मिलने के बाद ऐसा ही हो रहा था।

शशी से वह कितने दिनों बाद मिल रहा था। चार या पाँच साल ? शशी उसकी तरफ देखकर तटस्थता से मुस्कुरायी और उसे चाय के लिए अपने कमरे में ले गयी।

"कैसी हो ?"

शशी ने केवल मुस्कुराकर प्रत्युत्तर किया। क्या उसकी हँसी में उलाहना थी ? श्रीधर की बेचैनी और भी तीव्र हो गयी। शशी का तटस्थ रहना ही ठीक था। कुछ ही क्षणों में चाय की ट्रे लेकर सुलभा अन्दर आयी तो तनाव ढीला पड़ गया।

"कैसी हो ?" शशी द्वारा अनुत्तरित प्रश्न श्रीधर ने अब सुलभा से किया।

सुलभा अब भी अविवाहित थी। उसने अपने आपको शशी की संस्था से पूर्ण रूप से जोड़ लिया था। सुषमा का विवाह हो चुका था और चाचा-चाची के निर्वाह के लिए सुलभा की कमाई काफ़ी थी। शशी की संस्था में बच्चों के साथ रहकर, सैकड़ों लोगों के बीच काम कर वह खुल गयी थी और स्पष्ट रूप से बातें कर रही थी। यशोधरा और धनंजय के विवाह का समाचार उसी ने श्रीधर को सुनाया। श्रीधर को आश्चर्य तो नहीं हुआ लेकिन उसका चेहरा उतर गया। उसे इस बात का निःसन्देह बुरा लगा कि उन दोनों ने उसे खबर तक करना आवश्यक नहीं समझा।

"अच्छा ?" उसने ऊपर से कहा, "कब ?" लेकिन उसके सुर में जो जख्म था, शशी से छिपा नहीं, उसने उत्तर में कहा, "एक महीना हो गया उन्होंने किसी को भी नहीं बताया। विश्वम्भर तक को नहीं। सब कुछ बहुत जल्दी हो गया।"

"बुलाने की बात नहीं लेकिन खबर तो कर सकते थे ?"

"वैसे खबर तो सबको की थी, तुम्हें भी की होगी। लेकिन बुलाया किसी को भी नहीं।"

"रजिस्टर्ड ?"

"नहीं, वह भी मज़ेदार बात हुई।" सुलभा कहने लगी, "तुम तो उन दोनों को जानते ही हो। यशोधरा सादे सिविल मैरेज के हक में थी और धनंजय वैदिक पद्धति से विवाह करना चाहता था। दोनों में जमकर लड़ाई हुई और अन्त में सुलह के रूप

में दोनों ने बाबा रामानन्द के आश्रम में एक-दूसरे को मालाएँ पहना दीं।"

धनंजय अब भी अपनी नौकरी के शहर में था और यशोधरा बम्बई में। हफ्ते में एक बार वह एक-दूसरे से मिलने जाते थे। यशोधरा और धनंजय को अलग-अलग रूप से शुभकामनाएँ भेजने का निर्णय श्रीधर ने मन-ही-मन कर डाला। लेकिन फिर भी उन दोनों ने उसे बताया तक नहीं, यह बात उसे चुभती रही। बात वर्मा पर आ गयी तब सुलभा हँसने लगी।

"हँसो मत सुलभा।" शशी ने गम्भीरता से कहा, "यह हँसनेवाली बात नहीं है। वर्मा असल में अत्यन्त बेचैन और संवेदनशील इन्सान है। इसलिए वह जो भी कहेगा, कर दिखाएगा। मुझे तो उसकी बहुत फिक्र होने लगी है।"

वर्मा से मिलने श्रीधर अकेला ही गया। शशी ने दादा जी के विशाल बँगले में मूक-बधिरों के लिए विद्यालय खोला था। ऊपर की मंज़िल पर उसने अपने निवास के लिए कमरे रख लिये थे। उसी में एक बड़ा-सा शयनगृह उसने अतिथियों के लिए रख छोड़ा था। वर्मा बिस्तरे पर आँखें बन्द कर लेटा था। उसके पास एक छोटी-सी टेबल पर सन्तरे, आम, सेब, केले आदि फल अच्छी तरह सजाकर रखे थे। वर्मा के सिरहाने के पास शशी की तस्वीर रखी थी। श्रीधर की आहट पाकर उसने आँखें खोलीं और वह क्षीण हँसा। श्रीधर उसके क़रीब जाकर बैठता हुआ बोला, "यह क्या पागलपन है अतुल ?"

"यह पागलपन नहीं, सत्याग्रह है।"

वर्मा को खाना-पीना छोड़े दो दिन हो चुके थे लेकिन उस हिसाब से उसकी आवाज़ ठीक-ठाक थी। श्रीधर की आँखों में आश्चर्य देखते हुए वर्मा फिर क्षीण मुस्कुराया।

"शायद तुम ठीक से समझे नहीं हो।" उसने कहा, "शशी दीदी को लेकर मेरे मन में कोई अभिलाषा नहीं है। मैं तो उन्हें देवता मानता हूँ। मैं अपनी सम्पत्ति, धन-दौलत सब कुछ उनके काम को अर्पण कर देना चाहता हूँ। लेकिन तुम तो जानते हो, वह दान लेती नहीं हैं। इसलिए एक ही उपाय बचता है, वह है शशी दीदी से विवाह। उसके फलस्वरूप मेरी सारी जायदाद उनकी हो जाएगी। आगे की आगे देखी जाएगी।"

उसका अजीब तर्क सुनकर श्रीधर दंग रह गया। वर्मा की आँखों में उसे पागलपन की छाया नज़र आने लगी।

"लेकिन अगर शशी तुम्हारी धन-दौलत नहीं चाहती, तो तुम यह ज़बरदस्ती क्यों कर रहे हो ?" श्रीधर ने अपना ग़ुस्सा जब्त करके समझाने के अन्दाज़ से कहा।

अतुल वर्मा ने क्षणभर आँखें बन्द कीं। वह भाँप गया था कि श्रीधर की नज़र

में उसका यह काम केवल मूर्खता है। वह क्षमाशीलता से मुस्कुराया और फिर आँखें खोलकर उसने कहा, "तुम अगर मुझे मूर्ख समझते हो तो अवश्य समझो। लेकिन मुझे हमेशा यही लगता आया है कि मेरे जीवन का और धन का कोई अर्थ नहीं रहा। जीवन तो मैं कभी भी खत्म कर सकता हूँ लेकिन इस जायदाद का क्या करूँ? धन्धे को कितना भी उपेक्षित करने के वावजूद मेरा कारोवार और नफ़ा बढ़ता ही जा रहा है।"

वर्मा थोड़ी देर स्तव्ध रहा। उसने श्रीधर की आँखों में आँखें डालकर देखा। श्रीधर चौंका लेकिन उसने अपनी नज़र हटा ली। वर्मा से नज़र न मिला सकने पर उसे अटपटा-सा लगा। वर्मा फिर किंचित् मुस्कुराकर वोला, "तुम आँखें क्यों फेर रहे हो श्रीधर ? इस वक़्त मेरी नज़र से नज़र मिलाने का साहस तुममें क्यों नहीं है ? क्या तुम भी ऐसा ही सोचने लगे हो ? खैर, उसमें भी कोई बुराई नहीं है। तुमने अपने जीवन के साथ क्या कर रखा है ? है इसका कोई मतलव ? सत्ता, दौलत, लालसा—खुद की तरफ मुड़ के देखने तक की फुर्सत नहीं है। यह सव किसलिए कर रहे हो ? क्या करना चाहते हो ? क्या पाना चाहते हो ? मुझे रह-रहकर तुमसे हैरत होती है और वही बचपन का श्रीधर याद आता है ? तुम्हें भी अपना वचपन याद है ? जव हम हिमालय में थे...कहीं से भी देखो तो दूर तक हिमशिखर नज़र आते थे। स्कूल आते-जाते हम लोग खेल खेला करते थे। सीधे-सादे खेल। तुम छोटे थे, मुझसे हर वार न जाने कितने प्रश्न करते रहते थे और मैं उनके यथासम्भव उत्तर दिया करता था। गहन से गहन प्रश्न उठाते थे तुम। जीवन क्या है ...मृत्यु क्या है जैसे कई प्रश्न। बचपन में मूलभूत चीज़ों के वारे में हमारी समझ अधिक गहन होती है, ऐसा मुझे अव लगने लगा है। उस वक़्त हम उसे बचकानापन की संज्ञा देकर टाल देते हैं। लेकिन उस वक़्त के हमारे प्रश्न प्रामाणिक होते हैं—उनके उत्तरों में भी सत्यांश होता है। लेकिन क्या करूँ श्रीधर, मुझे अव उत्तर याद नहीं आते। क्या तुम्हें अव भी वे उत्तर याद हैं जो मैंने तुम्हें दिये थे ? मुझे सिर्फ़ तुम्हारे प्रश्न याद हैं, जीवन-मृत्यु को लेकर उठाये हुए। अब, जब ज़रूरत है तो मैं उनके उत्तर ही भूल चुका हूँ...।"

वर्मा काफ़ी देर तक बोलता रहा। वाद में शशी भी आयी, वोल-वोलकर शायद वर्मा थक गया था और उसे कुछ हल्का भी लग रहा था। शशी का दिया हुआ नीवू-पानी उसने चुपचाप पी लिया और वह निःशब्द हो गया। कुछ देर बाद उसकी आँख लग गयी। शशी वर्मा के सिरहाने वैठी थी और क़दमों के पास श्रीधर। दोनों वर्मा के निष्पाप चेहरे को देखते चुपचाप बैठे रहे। श्रीधर के दिमाग़ में तूफ़ान गरजने लगा था, उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। शाम हुई, धीरे-धीरे कमरे की रोशनी धीमी होने लगी और कुछ देर वाद घना अँधेरा हो गया।

"तुमने क्या सोचा है श्रीधर ?" शशी का उस गाढ़े अन्धकार से उठता प्रश्न।

उस अँधेरे में श्रीधर को उस प्रश्न की हज़ारों प्रतिध्वनियाँ सुनाई दीं। वह उन्हीं को सुनता चुपचाप बैठा रहा। सुलभा ने जब बत्ती जलायी तब कहीं यह कल्लोल रुका। श्रीधर ने देखा तो शशी चली गयी थी। वर्मा ने आँखें खोली थीं। उस रात श्रीधर वर्मा को अपनी गाड़ी में डालकर वम्बई ले आया। रास्ते भर दोनों ने एक-दूसरे से कुछ भी नहीं कहा।

तिरसठ

वेग, भयानक गोलमोल घुमानेवाला चक्राकार वेग। श्रीधर यही चाहता था, पिछले आठ-दस वर्ष मन की तह में जो सनातन प्रश्न गाड़ रखे थे, वे अव अंकुरित होकर वाहर निकलने के लिए छटपटा रहे थे। श्रीधर द्वारा अपने मन पर पहनाये गये मोटे फौलादी कवच को स्वयंप्रेरणा से भेद कर वे बाहर निकलने का प्रयास कर रहे थे। उन्हें उखाड़कर फेंकने का एक मात्र मार्ग था—वेग, प्रचण्ड वेग। लेकिन इस झंझावत में क्या यह साध्य हो सकेगा ? शशी का निःशब्द अस्तित्व उससे यह प्रश्न पूछ रहा था। वर्मा की असहायता एक प्रश्नचिह्न बनकर उसके सामने खड़ी थी और लोर्ना मूक रहकर पूछ रही थी—यह नाटक कितने दिन तक चलेगा ? जैसे सुबह सोकर उठने के बाद सिर भारी-सा लगता है और दिन-भर के काम के तूफ़ानी गति में उसका शाम तक जबरदस्त मस्तकशूल में रूपान्तर होता है, वही श्रीधर के साथ हो रहा था। उसे अब यह मस्तकशूल असहनीय लगने लगा था। श्रीधर को बात-बात पर क्रोध आने लगा। वह छोटी-छोटी बात को लेकर लोर्ना से उलझने लगा। भस्म का टीका लगाकर आनेवाले वेंकटेश्वरन को देखते ही उसका माथा ठनकने लगा। भूखे शेर की तरह वह काम के पीछे पड़ गया। सफलता, अधिकाधिक यश, पैसा और सत्ता, लोगों पर सत्ता—यही उसके जीवन का प्रयोजन बन गया था। एक तरफ मस्तिष्क में इन प्रश्नों के आघात हो रहे थे और दूसरी तरफ जानबूझकर श्रीधर पागल होकर लौकिक सफलता के पीछे दौड़ रहा था। एक महात्त्वाकांक्षी, कठोर, मिलनसार, बुद्धिमान् और यशस्वी व्यवस्थापक के रूप में तेजी से नाम कमा रहा था। वह सफलता या सत्ता के पीछे क्यों पड़ा है, श्रीधर खुद भी नहीं जानता था। बल्कि सफलता-असफलता, सत्ता, समृद्धता, दरिद्रता, सुख-दुख, न्याय-अन्याय,

अच्छा-बुरा उनके बीच की सीमा रेखाओं का विवेक भी वह खो बैठा था। पीछे आग का तूफ़ान छोड़नेवाले अत्यन्त गतिमान और निरपेक्ष महान् शक्तिशाली क्षेपणास्त्र की तरह वह आगे बढ़ता जा रहा था।

इसी के साथ-साथ उसकी समान्तर संवेदनाओं में बेचैनी की ज्वाला धधक उठी थी। लोर्ना जो कह रही थी, क्या वह सच है ? यह सब क्या केवल स्वांग या नाटक है ? या फिर केवल मुखौटा ? क्या वह पुराना श्रीधर अभी मरा नहीं ? लोर्ना ने उसे फिर जीवित कर दिया है। वर्मा ने उसे बढ़ाया है और शशी ने तो केवल अपने अस्तित्व द्वारा उसे ज़िन्दा रखा है। वह श्रीधर विनू जुत्शी की आत्महत्या का पाप सहजता से स्वीकारने जितना बेशर्म नहीं था। वह श्रीधर व्यावसायिक आकांक्षाओं को तुच्छ समझनेवाला श्रीधर था, इस कैरियर और कारनामों की भर्त्सना करनेवाला था। वह श्रीधर अपने सैकड़ों टूटते परिवार देखकर विषण्ण होनेवाला था। वह सन्तप्त हो रहा था। इसके व्यवसाय का अभिन्न अंग बना झूठ भ्रष्टाचार और अधःपात उस श्रीधर को असहनीय लग रहा था। वह श्रीधर लोर्ना का तड़पना और वर्मा का तिलमिलाना तटस्थ भाव से देख नहीं पा रहा था। उन क्षणों में पूछे गये प्रश्नों से वह घायल हो सकता था, बेचैन हो सकता था। सच, कब तक इन दो श्रीधरों का स्वतन्त्र और अलग अस्तित्व साथ-साथ रह सकता था ? एक बड़ा विस्फोट होकर इन दोनों परस्पर विरुद्ध प्रतिमाओं का एक-दूसरे में समा जाना आवश्यक था। कभी-न-कभी यह विस्फोट होने ही वाला था। पिछले दस साल इसी घटना की तैयारी में गुजरे थे। हर क्षण, हर व्यक्ति उसकी तीव्रता को बढ़ा रहा था। चिनगारी कैसे गिरी और किसने गिरायी, यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। शशी, लोर्ना, वर्मा, सुलभा, वेंकटेश्वरन, खन्ना, श्रीमती खन्ना, धनंजय, यशोधरा, विश्वम्भर, चेयरमैन या स्वयं श्रीधर—किसी ने भी चिनगारी डाली होगी।

अन्त में वह भयानक विस्फोट हुआ और श्रीधर जैसे हड़बड़ाकर नींद से जागा। अपने निर्णय के बारे में कुछ विशेष न सोचकर जब वह अपने दफ्तर से बाहर निकला, तब अरबियन महासमुद्र से आनेवाली तेज हवा सीधे उसके सीने में घुस गयी। यह निर्णय लेते हुए श्रीधर ने कुछ भी सोचा नहीं था।। आगे क्या होगा, दफ्तर, कम्पनी, लोर्ना, करोड़ों के प्रकल्प, खन्ना, चेयरमैन, धन, सत्ता, सामाजिक प्रतिष्ठा—इन सबका क्या होगा-जैसे विचारों का उसे स्पर्श तक नहीं हुआ था, बल्कि श्रीधर ने यह निर्णय पूरे होशोहवास में लिया ही नहीं था। अचानक मेघ-गर्जना होकर कड़कती बिजली गिरने-जैसी बात हुई और श्रीधर संवेदनाहीन होकर बाहर निकला, कुछ इस तरह जैसे किसी ने खींचकर उसे बाहर निकाला हो। जब बाहर की खुली, शुद्ध हवा उसके फेफड़ों में उतर गयी तो उसने हैरान होकर अपने आप से पूछा—मैं इतनी देर इस पिंजरे में कैसे क़ैद रहा।

कदाचित् इस मेघ-गर्जना और विद्युत्पात की तैयारी सारे जीवनभर चली थी। वातावरण में गर्मी वढ़ रही थी। दवाव वढ़ रहा था और श्रीधर का दम घुट रहा था। वादल इकट्ठे हो रहे थे और तूफ़ान उठ रहा था, श्रीधर का हर एक क्षण कदाचित् इसी तरह अपने आपसे टकराने में बीत रहा था। आत्मविश्वास की चोटी पर होते हुए भी यह अपराधीपन की भावना उसके मन को कुरेद रही थी। शशी का मौन, यशोधरा और विश्वम्भर की मूक प्रताड़ना, धनंजय का स्खलन—इन सबसे वह व्यथित हो ही रहा था। और पुराने वन्धन ? नाते-सम्वन्ध ? सुलभा, सुषमा और चाची ? इन सवका क्या किया जाए ? व्यवसाय की सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर जाते हुए कहीं सर्वोच्च शिखर तो आनेवाला ही था। उससे वह क्या हासिल कर सकता था ?··· शिखर से अधःपतन ? यह सव वह किसलिए कर रहा था ? क्या रखा था इन प्रयासों में ? उसके जीवन का फलित क्या यही था ?

उस दिन जव मस्तिष्क में उठा तूफ़ान सँभालने के लिए श्रीधर वाहर निकला तो वह यह नहीं जानता था कि वाहर भी तूफ़ान उमड़ रहा है। उसने हमेशा की तरह काम की शुरुआत की थी। अन्दरूनी वेचैनी से जी घवरा रहा था। लेकिन उसकी ओर ध्यान न देकर दैनिक व्यवहार शुरू किये। सुबह के हर रोज़ के फ़ोन्स, लोर्ना का कॉल, दिन भर के महत्त्वपूर्ण कामों की तैयारी, चेयरमैन से सम्भाषण, ग्रोवर के साथ मीटिंग, खन्ना का फ़ोन और फ़ोन सब उसने ठीक-ठाक निभाया, स्थितप्रज्ञ की शान्त मुद्रा से। पता नहीं लोर्ना उसकी इस अन्दरूनी भयानक बेचैनी को समझ पायी या नहीं।

खन्ना ने फ़ोन किया। उसकी पत्नी ने भी फ़ोन किया। "श्रीधर कुछ भी करो लेकिन मेरे पति को वचा लो" वह कह रही थी। हाथ-पैर जोड़कर रो-रोकर उससे दया की भीख माँग रही थी।

यह क्या हो रहा है ? श्रीधर हतबुद्धि होकर काफ़ी देर तक बैठा रहा था। उसने शशी को फ़ोन तक नहीं किया था।

अव उससे इस तरह बैठा नहीं जा रहा था।

यह क्या हो रहा है ? मैं कौन था और क्या बन गया हूँ ? यह मैं क्या कर रहा हूँ ? क्या हैं मेरे सपने ? मैं क्या कमाना चाहता हूँ ? जो भी चल रहा है क्या मेरे जीवन का यही प्रयोजन है ? छीः छीः···।

ज्वार में आयी समुन्दर की विशालकाय लहर की तरह सहस्र फनोंवाली प्रश्नों की अजस्र लहर श्रीधर पर चढ़कर आ गयी। सारा जीवन उसकी नज़र से उस लहर की तरह उठकर गिर गया। जीवन में पढ़े वह ग्रन्थ उसकी आँखों के सामने तैरने लगे।

मैं कौन हूँ ? क्या हूँ ? मेरे जीवन का क्या अर्थ है ? यह जो कुर्सी में बैठा

पाषाणहृदय व्यवसायी है, जिसके ध्येयों की और सपनों की लौकिक क़ीमत शून्य है, क्या यह वही श्रीधर है ?

श्रीधर का रोम-रोम सिहर गया। उसका शरीर काँप गया। अस्वस्थ होकर वह कुर्सी से उठकर खड़ा हुआ। सिगरेट जलाकर वह अपने केबिन में चहलक़दमी करने लगा। काफ़ी देर बाद जब सिगरेट से उसका हाथ जला तो वह चौंककर होश में आया। अब उसका निर्णय हो चुका था।

वह अपने कमरे के दरवाज़े तक आ गया। सिर्फ़ एक बार उसने पूरे कक्ष में नज़र दौड़ायी और फिर झटके से दरवाज़ा खोलकर वह बाहर निकला। इमारत के बाहर के पद-पथ पर अरबी समुद्र से सैकड़ों मीलों की दूरी से आने वाली मुक्त ताज़ा हवा झिरझिरा रही थी।

चौंसठ

पहाड़ की दो पंक्तियाँ लाँघकर अब रास्ता एक कठिन मोड़ से गुज़र रहा था। सीधी चढ़ाई थी। चालक को सड़क और वाहन पर ध्यान केन्द्रित करना अत्यावश्यक था। जगत मौन था। चढ़ते गिअर में जीप की घिरघिराहट कानों में आघात कर रही थी।

घाटी चढ़कर पहाड़ी के सपाट मैदान पर जीप आ गयी और सूरज की तिरछी किरणें और लहराती हरी वनश्री ने उनका स्वागत किया। अब सड़क और भी साफ़-सुथरी हो चुकी थी। दोनों तरफ़ लाल मिट्टी के फट्टे और किनारियों में लगे तरह-तरह के शानदार पौधे। बीच में ही कहीं झाड़ी से झाँकता लाल छतोंवाला बँगला, रंग-बिरंगे फूलों से सुशोभित उसका बगीचा, रास्ते पर चलनेवाला इक्का-दुक्का युवा जोड़ा, ऊपर नीला आकाश और एक तरफ़ सफ़ेद बर्फ़ीली पहाड़ियाँ।

अभ्यस्त कुशलता से गाड़ी मोड़कर जगत ने अपने बँगले के पोर्च में दाखिल की। उसकी आवाज़ सुनकर अन्दर से कोई अर्दली भागा-भागा बाहर आया, और जगत के गाड़ी के बाहर कदम रखने से पहले ही उसने उनके हाथ से फ़ाइलें ले लीं।

"सुन्दर है।" श्रीधर ने कहा।

वह लश्करी बँगला जगत के ओहदे लायक सुन्दर और प्रशस्त था। बड़ा पोर्च,

चारों तरफ खुला बरामदा, बड़ी-बड़ी हवादार खिड़कियाँ, लाल-लाल छत, चारों ओर सुन्दर बगीचा। नौकर-चाकर, बड़ी-सी रसोई और मद्यशाला। लेकिन घर में गहरी उदास शान्तता थी। शायद इसलिए कि सूर्यास्त होने जा रहा था, लेकिन फिर भी श्रीधर को लगा कि कहीं कुछ अधूरापन है। फर्नीचर, कालीन, पर्दे आदि से भरपूर सजा-सँवरा होने के बावजूद बँगला खाली-खाली-सा लग रहा था।

"क्या घर में कोई नहीं है ?" जगत के घूमकर बँगला दिखाने पर श्रीधर ने पूछा। पिछले कुछ वर्षों में उन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार न होने की वजह से श्रीधर यह नहीं जानता था कि जगत ने विवाह किया है या नहीं। उसकी माँ कहाँ है ? उसके सौतेले पिता जी कैसे होंगे ? कई प्रश्न श्रीधर के सामने खड़े हो गये।

जगत के चेहरे पर कड़वाहट भरी उदासी फैल गयी। उसने सवाल का कोई जवाब नहीं दिया और अपने नौकर को पुकारकर शराब और सोड़ा लाने का आदेश दिया। फिर अपने बार से क़ीमती शराब की बोतल निकालकर वह बोला, "पहले तुम आराम से बैठ जाओ, तुम्हें बहुत बुरे दौर से गुज़रना पड़ा यार। लेकिन मान गये तुमको ! यू हैव मेड इट इन लाइफ। हमारा पत्र-व्यवहार कम हुआ था। पिछले चार-पाँच वर्षों में नहीं के बराबर था। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं से तुम्हारे बिग बॉस होने का पता चला लेकिन बाई गॉड, क्या तुम सच कह रहे हो ? वह सब छोड़-छाड़ कर तुम वैसे ही बाहर निकल पड़े ? जस्ट लाइक दैट ? भक्त ध्रुव की तरह ?"

"फ़र्क़ इतना ही था कि तब मैं निष्पाप था—भगवान् पर भरोसा।"

नौकर ने सोडा लाकर रख दिया। एक बड़ी ट्रे में काँच के दो प्याले, नमकीन और काजू एक प्लेट में डालकर सामने रखे। उसने सोड़े की दो बोतलें खोलकर उस ट्रे के पास रख दीं और वह चला गया।

प्याले में शराब डालते-डालते जगत बीच में ही रुक गया। फिर मज़ाक़िया अन्दाज़ में श्रीधर को देखकर बोला, "अरे···अरे···यह मैं क्या कर रहा हूँ ? तुम्हारे अध्यात्म मार्ग में क्या मद्यपान की छूट है ?"

श्रीधर केवल मुस्कुराया।

"व्हेरी गुड···" जगत ने हँसकर दोनों प्यालों में शराब डालते हुए कहा।

"लेकिन तुमने अपने बारे में तो कुछ बताया नहीं।" श्रीधर ने कहा, "तुम्हारे माँ-बाप कहाँ हैं ? तुमने अपनी शादी-वादी की या नहीं ? या अभी वैसे ही बैठे हो ?"

"जाने दे यार"—हाथ झटककर जगत बोला। उसके चेहरे पर विषाद की छाया फैल गयी। फिर अपना प्याला ऊपर उठाकर उसने कहा, "वह सब बातें हम बाद में करेंगे। पहले चीअर्स ! हम न जाने कितने वर्षों बाद मिल रहे हैं और वह भी किस हालत में।"

शराब का कड़ा घूँट लेकर, थोड़ा-सा नमकीन मुँह में डालकर उसने सिगरेट जलायी और फिर असहजता से हँसकर जगत बोला, "ज़िन्दगी भी बड़ी अजीब है। है न ? इस तरह यह हमारा मिलना। हम जो हिमालय के उस दूसरे छोर पर बिछुड़ गये थे, यहाँ इस छोर पर मिल रहे हैं, बीस साल बाद, ओफ़्फ़ ! व्हाट ए लाइफ़ ! बताओ श्रीधर, तुमने तो काफ़ी मौज़मस्ती की होगी। तुम्हारे बारे में एक लेख मैंने किसी व्यापारी पत्रिका में पढ़ा था, तब तुम्हें पत्र लिखने का मन हुआ था, लेकिन फिर रह गया । मैं जानना चाहता था कि तुम्हारी उस महान् खोज का क्या हुआ ? लेकिन सोचा, अब तुम बहुत बड़े अफ़सर बन गये हो। बचपन की उन नादान हरक़तों की क्या याद दिलाना। अब देखता हूँ कि तुम फिर से हिमालय में··· । अब मुझे बताओ श्रीधर, तुम्हारी उस खोज का क्या हुआ ? वही पुरानी खोज ? भगवान को ढूँढ़ निकालने की, सत्य की शोध, उसका क्या हुआ ? कुछ हाथ लगा ? तुमने बचपन में मुझे वचन दिया था कि अगर कुछ मिला तो सबसे पहले मुझे बताओगे, इसलिए मैं जानना चाहता हूँ···"

श्रीधर मौन रहा। वह स्थिर दृष्टि से जगत की बेचैनी को देख रहा था। उसने देखा कि जगत उसकी नज़र से नज़र मिलाने के लिए कतरा रहा है, वह उसकी तरफ़ देख भी कम रहा है। जगत ने एक के बाद एक तीन घूँट भरे और तीन-चार लम्बे कश लेकर अपनी सिगरेट रक्षापात्र में बुझा दी। उसके फ़ौरन बाद उसने दूसरी सिगरेट जलायी। उसका हाथ थरथर काँप रहा था। उसकी यह बेचैनी उसके चौड़ी-चकली बलशाली लश्करी देहयष्टि से बेजोड़ लग रही थी। कुशलता से श्रीधर से नज़र बचाकर उसने कहा, "आई मीन, तुम इतने घूमे-फिरे हो, सारी दुनिया को उलट-पुलट कर देखा है, विद्वान् भी बन गये हो। तुम्हारा वाचन है, अभ्यास है, तुमने आर्थिक सत्ता का अनुभव किया है। लोगों के साथ काम किया है, हज़ारों से मिले हो, बातें कर चुके हो, यात्रा-स्थल घूम आये हो। अब मुझे बताओ सच तुम्हें कुछ मिला ? कुछ समझ में आया, जो तर्क पर पूरा उतरता हो ?···तुमने मुझे वचन दिया था कि मुझे अवश्य बताओगे।"

श्रीधर ने देखा कि जगत के पूछने में न उपहास था न मज़ाक़। शुरू में हल्के मज़ाक़ का मूड अवश्य था लेकिन जल्दी ही पता नहीं वह कहाँ काफ़ूर हो गया। उल्टा धीरे-धीरे श्रीधर को लगने लगा कि उसके बोलने में आवेश है, उत्कण्ठा है और जानने की तीव्र इच्छा भी है। जगत अस्वस्थ है और बेचैन भी। शायद उसके सामने कई बड़ी समस्याएँ होंगी। श्रीधर काफ़ी देर तक चुप रहा। जगत की आँखें पैनी हो गयी थीं। माथे पर बल चढ़ गये थे। फिर सिगरेट के गहरे कश लेकर वह अपने ही विचारों में खोया-खोया-सा लग रहा था।

उसे ग़ौर से देखते हुए श्रीधर ने दबी आवाज़ में पूछा, "तुमने भी मृत्यु को

देखा है। लड़ाइयाँ की हैं, रक्तपात देखा है···शायद लड़ाई में कई लोगों को जान से मारा भी है, तुम स्वयं मौत के शिकंजे से छूट निकलकर आये हो··· "

"मैं कहता हूँ···" श्रीधर की वात पर ध्यान न देते हुए जगत ने आवेशपूर्ण अन्दाज़ से कहा, "इस दुनिया में भगवान नहीं···न्याय नहीं। तुम्हारी खोज व्यर्थ है। अगर भगवान होता, इस जग का मार्गदर्शन करनेवाली कोई शक्ति होती या न्याय होता तो इस जग का ऐसा अधःपतन न होता। लोग ऐसा व्यवहार न करते। इस दुनिया में भगवान है ही नहीं। पहले मैं सश्रद्ध था, तुम नहीं थे। मेरी वचपन से भगवान पर निष्ठा थी। मैंने गण्डे तावीज भी किये हैं, किन्तु अव लगता है वह निरी मूर्खता थी, पागलपन था। भगवान जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। जिसके हाथ में सत्ता है, पैसा है और ताक़त है वह इस दुनिया में कुछ भी कर सकता है। छोटे कुछ नहीं कर सकते। अगर भगवान है भी तो वह सिर्फ़ इन वड़े लोगों का है। अमीरों का है। स्वार्थी लोगों का है। अच्छे लोगों के लिए कोई भगवान नहीं है। क्योंकि अच्छाई से पेश आकर इस दुनिया में कोई लाभ नहीं। हाँ, दुख और अन्याय अवश्य मिलता है। मैंने तो तय किया है··· ···अरे माफ करना यार। मैं अकेला ही कव से न जाने क्या-क्या कहता जा रहा हूँ। मुझे नशा नहीं चढ़ा है, मेरा बहुत वातें करने का मन हो रहा है। सच वताऊँ श्रीधर, यहाँ मेरे काफ़ी दोस्त हैं। लेकिन किसी से इस तरह खुलकर वातें करने का मन नहीं होता। इससे मैं बेचैन हो जाता हूँ। परेशान होता हूँ। ऐसा होने पर मैं यहाँ के एक वावा के मठ में जाया करता था। उनका प्रवचन सुनने के बाद वेचैनी के कम होने का आभास होता था लेकिन फिर उससे भी जी भर गया। मुझे मालूम हुआ कि वह वावा भी मेरे-तुम्हारे जैसा ही सामान्य आदमी हैं। केवल अपना पेट पालने के लिए वह प्रवचन करता है। मीठे-मीठे शब्दों का जाल वुनता है। दो घण्टों के मनोरंजन से उससे अधिक कुछ प्राप्त हो नहीं सकता। अब उसके पास भी वताने के लिए नया कुछ नहीं वचा। उल्टा उसकी वातें सुनकर विफलता ज़रूर आ सकती है। फिर मैंने वह गण्डा फेंक दिया, अव यह वेचैनी दारू में डुबो देता हूँ···अरे लेकिन यह क्या है ? तुमने अपना गिलास छुआ तक नहीं है ? क्या तुम शराव नहीं पीते ?"

श्रीधर ने अपना प्याला उठाकर मुँह से लगाया। एक छोटी-सी चुस्की मुँह में भर ली। उसे उस कड़वे द्रव से न घृणा हुई और न पीने की लालसा जाग उठी। उसे लगा, अव उसे उसकी कोई ज़रूरत नहीं रही थी। और उसने प्याला नीचे रख दिया। तव तक जगत ने अपना दूसरा प्याला भर लिया था।

"लेकिन तुम्हें कौन-सी वेचैनी है जगत ?" श्रीधर ने पूछा, "यह कैसी बेचैनी है ? मैं तो सोच रहा था कि तुम अपने काम में मगन हो। इन सव वातों के वारे में सोचने का तुम्हारे पास समय ही कहाँ होगा ? शुरू-शुरू में तुम लिखा करते थे

कि इस सेना के काम की गतिशील हड़बड़ाधबड़ी में तुमने अपने आपको पूरी तरह भुला दिया है। तुम सन्तुष्ट हो। लेकिन अब यह क्या है ?"

जगत ने एक घूँट भरकर सिगरेट जलायी और अस्वस्थता से कश लेता हुआ वह बोला, "काम ? हम फ़ौजियों का क्या काम होता है ? तुम्हारी कुछ ग़लतफ़हमी है। लड़ाई की तैयारी में रहना यही हमारा एकमेव काम होता है और जब लड़ाई नहीं होती या उसकी सम्भावना भी नहीं होती तब नये-नये काम ढूँढ़ निकालना, यही एकमात्र तरीक़ा होता है। उसकी वजह से सोचने के लिए बहुत समय होता है। श्रीधर, और एक बार अगर तुम युद्ध देखते। कीटाणुओं की तरह लोगों को फटाफट मरते या मारते देखते, तो फिर विचार ही विचार…भयंकर विचार…"

जगत ने अपनी नज़र खिड़की के बाहर से अन्दर घुमायी और श्रीधर की तरफ देखकर किंचित् उदासी से हँसता बोला, "ख़ैर, वह सब रहने दो…तुम्हारे प्रश्न का अगर उत्तर देना है तो कुछ भी नहीं। बेचैनी का कोई कारण तो नहीं है। मैं मज़े में हूँ। वैसे देखा जाय तो चारों तरफ प्रॉब्लेम्स ही प्रॉब्लेम्स हैं—युद्ध के साये मँडरा रहे हैं, हाथ खून से सने हुए हैं, कानों में तोपें, मरणान्त चीखें गूँज रही हैं। महत्त्वाकांक्षाएँ, असूया, मत्सर, लालच, झगड़े, कपट-कारनामे—इन सबमें मैं अच्छी तरह भुना जा रहा हूँ। लेकिन यही सब कुछ नहीं है, यह तो हर एक के साथ होता है। एक और अजीब-सा चक्कर, एक लड़की से मैंने जी-जान से प्यार किया। मैं उसके प्रेम में सम्मोहित हो गया था। माँ-बाप की मर्जी के खिलाफ़ मैंने उससे विवाह किया और अब वह मुझे छोड़कर चली गयी है।"

जगत विषादपूर्वक मुस्कराया। फिर उसने सिगरेट के कश लिये। बाहर छाये घने अँधेरे में विमनस्कता से नज़र गड़ायी और कुछ देर बाद उदासी से हँसकर श्रीधर की तरफ देखते हुए उसने कहा, "और सच्चाई तो यह है कि अब भी मैं जी-जान से प्रेम करता हूँ और वह भी मुझसे प्रेम करती है, यह मैं जानता हूँ—यह वह भी जानती है। दोष शायद मेरा ही है लेकिन कुछ उसका भी तो होगा। फिर भी, ऐसा क्यों हुआ ? उधर माँ-बाप से बिगाड़ ली और उनके प्रेम से वंचित हुआ और यहाँ यह हाल है। मुझे इस तरह तड़पना अच्छा नहीं लगता, लेकिन यह तड़पना रुकता भी नहीं है। हज़ार कोशिशों के बावजूद मैं उसे भुला नहीं सकता। उससे माफ़ी भी नहीं माँग सकता क्योंकि स्वाभिमान बीच में आता है। अजीब-सी उलझन में फँसा हूँ। इससे बचने का कोई रास्ता भी नज़र नहीं आता।"

जगत ने आह भरी। श्रीधर को उस पर तरस आ गया और हँसी भी।

"कितने दिन हुए हैं उसे तुम्हें छोड़े ?" श्रीधर ने पूछा।

"पूरे छह महीने।"

जगत के भोलेपन पर श्रीधर को प्यार आ गया और हँसी भी।

"तो फिर कोई चिन्ता की बात नहीं। सब ठीक हो जाएगा। इससे तुम आराम से बाहर निकल जाओगे।"

"मुझे ऐसा नहीं लगता। लेकिन तुम हँसो मत। तुम नहीं जानते, मैं उससे कितना प्रेम करता हूँ। या तो मैं अपनी जान दे दूँगा या बहुत सख्त बनकर अपनी मानवता खो बैठूँगा। इस तरह सख्त बनकर क्रूर बने न जाने कितने फौजी हैं हम: लोगों के बीच। इसीलिए तुमसे पूछ रहा हूँ, क्या दुनिया में सचमुच भगवान हैं ? प्रेम में धोखा खाया, पत्नी छोड़कर चली गयी इसलिए मैं तहस-नहस होकर तुमसे पूछ रहा हूँ, ऐसा मत समझना। मैं युद्ध से तपकर निकला हूँ। मरणोन्मुख जख्मी अवस्था से बाहर निकला हुआ इन्सान, जिसने लोगों की जानें ली हैं, खून देखा है, असंख्य मुर्दों के बीच रहा हैं, ऐसा एक प्राणी तुमसे यह सवाल पूछ रहा है। सचमुच, तहेदिल से तुम्हें यह पूछ रहा है। भगवान् है या नहीं, इसमें मेरी बहुत जिज्ञासा है, जान लेने की जबरदस्त लालसा है इसलिए पूछ रहा हूँ। प्लीज़ मुझे बता दो…"

जगत अत्यन्त आवेग से बोल रहा था। श्रीधर को उस पर तरस आ रहा था। सिर्फ़ उसे यह पता नहीं चल रहा था कि वह जगत के प्रश्न का उत्तर कैसे दे ? एक बात सच थी कि उसकी चित्तवृत्ति पर एक मन्द उल्लास और मनःशान्ति फैली हुई थी। वह प्रश्न का उत्तर भले ही ने दे पाये लेकिन वह उसे मन-ही-मन जान गया था, ऐसा उसे विश्वास था। बल्कि अब यह प्रश्न ही अर्थहीन है, ऐसा उसे लगने लगा था। जीवन भर वह स्वयं से यह प्रश्न पूछता आया था लेकिन अब जैसे यह प्रश्न खत्म हो चुका था।

जगत के बँगले के हॉल में एक खिड़की के पास श्रीधर खड़ा था। शाम ढल रही थी। बाहर प्रकृति का जो दृश्य था वह सृष्टि के सामने नतमस्तक बनानेवाला था। जगत का बँगला एक ऊँची पहाड़ी की छोर पर बसा हुआ था। उसकी एक तरफ गहरी खाई और दूसरी तरफ पर्वतमालिका थी। सबसे पीछे जो शिखर थे, वह शुभ्रतम थे और सोने की तरह चमक रहे थे। घाटी में अँधेरा गहरा होता जा रहा था। आसमान भी श्यामल होता जा रहा था। गहरे नीले आसमान में कहीं एक-दो तारे निकलकर चमकने लगे थे। बँगले के बगीचे में रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे।

वह दृश्य देखकर श्रीधर रोमांचित हुआ। उसने कहा, "चलो, बाहर चलते हैं।"

दोनों गर्म शालें ओढ़कर लान पर आ गये।

हवा में अब चुभनेवाली ठण्ड महसूस होने लगी थी। हिमालय की गोद में बसे उस लश्करी तल पर अब घना सन्नाटा फैला हुआ था। अधिकारियों के बँगले दूर-दूर बसे हुए थे और झाड़ियों, ऊपर-नीचे के चढ़ाव-उतार आदि से एक-दूसरे से छिपे हुए थे। सामने नज़र आ रही थी तेजी से अन्धकार में अदृश्य होतीं वह घाटी और धीरे-धीरे छुपते हिमशिखर। दूर से कहीं जवानों के कैम्प से बिगुल पर शाम के

आखिरी सुर अस्पष्ट रूप से सुनाई दिये और फिर से सारी सृष्टि स्तब्ध हो गयी।

काफ़ी देर तक वह दोनों सामने जो घना अँधेरा था, उसे निहारते रहे। उन्होंने क्षितिज पर एक-एक कर दाखिल होनेवाले सितारे देखे। फिर श्रीधर ने हल्की आवाज़ में कहा, "तुम्हारा समाधान होगा, ऐसे उत्तर की तुम मुझसे अपेक्षा न रखो, जगत। सच तो यह है कि जिनके जहन में यह प्रश्न उठते हैं, उनमें से हर एक को उसका उत्तर स्वयं ढूँढ़ना पड़ता है। ज्ञानीजनों से रास्ता पूछते हुए यह आवश्यक नहीं है कि उत्तर मिलेंगे। लेकिन ज्ञान अवश्य होगा, एक समझ आ जाएगी जो अपने लिए पर्याप्त होगी। औरों को यह समझाना बहुत कठिन है ..."

श्रीधर उस शीतल अन्धकार में कन्धे पर शाल ओढ़े बोल रहा था। बोलते समय उसे अपने हृदय में खिलता सन्तुष्ट भाव भी महसूस हो रहा था, वही सन्तोष जीवन का ऊर्जास्रोत देनेवाला था। उसने आगे कहा, "बहुत लोग कच्ची उम्र में पाली अपनी परमेश्वर की कल्पना जीवन भर सीने से लगाये बैठते हैं। पुराण-कथाएँ उनकी पुष्टि करती हैं। यह मेरा भाग्य है कि इस तरह की परमेश्वर की कल्पना से मेरा विश्वास बचपन में ही उठ चुका था, भक्त ध्रुव की तरह तपश्चर्या करने के लिए जाने से पहले। असली बेचैनी तो उसके बाद शुरू होती है। अगर परमेश्वर नहीं है, तो अन्य किसी शक्ति को मानना पड़ता है जो इस सृष्टि का क्रम चलाती है। उस शक्ति की कल्पना करना बहुत कठिन है। यह कल्पना इतनी विशाल और विराट् है कि वह प्रयास असह्य हो जाता है और फिर हम छोटी-मोटी संकल्पनाओं के पीछे लग जाते हैं। सांसारिक खिटपिट से तंग आकर इन गुरु या महाराजों के चंगुल में आ फँसते हैं। अपनी तर्कबुद्धि छोड़ देते हैं, इसमें खतरा है।"

"बुलशिट...बकवास" दाँत भींचकर खिसियाता जगत तीव्रता से बोला, "तुम तो बस वही हमारे गण्डेवाले बाबा की तरह बकवास करने लगे हो। वह पाजी बाबा ऐसे ही बताता था और फिर दक्षिणा लेकर गण्डे बेचता था।"

श्रीधर हँस पड़ा। उसे पहले लगा कि जगत को शराब का नशा चढ़ गया है लेकिन जल्द ही उसका यह सन्देह ग़लत निकला। जगत अगतिक था। उसके मन में तूफ़ान उठा था। चेहरे पर प्रश्नचिह्न थे और आँखों में आँसू। शायद अपने प्रश्न का उत्तर न पाने की वजह से, उसे गुस्सा भी आया था।

"मुझे माफ करना...मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। मुझे गुस्सा आया और मैं कुछ अनाप-शनाप बक गया। लेकिन तुम बोलो, सुन्दर बोलते हो और मुझे कुछ-कुछ समझ भी आने लगा है।"

श्रीधर का मन करुणा से भर आया। उसने शान्तिपूर्वक कहा, "मुझे तुम्हारे उस बाबा पर तरस आता है। लेकिन मैं भी तुम्हारा समाधान कर नहीं पाऊँगा। कारण मैंने जो कहा था वही है, उपनिषद् भी यही कहते हैं कि अभ्यास से, विद्वत्ता

से या गुरुजनों के कहने से यह समझ में नहीं आता। खुद को ध्यान केन्द्रित कर जानना पड़ता है। मुझे कोई साक्षात्कार तो नहीं हुआ लेकिन पूर्ण आकलन हुआ है, यह भी कह नहीं सकता। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मुझे शान्ति और सन्तोष मिला है, जीवन का अर्थ समझ में आया है। हम और यह जग एक ही हैं। यह जग, ये प्राणी, सृष्टि और हम—ये सब उस परम अस्तित्व के अंश हैं—यह सोच-समझ कर हमें रहना होगा। अच्छी तरह जीने के लिए कोशिश करनी होगी। लोग और सृष्टि—यही परमेश्वर मानकर चलना होगा। हम लोग जग, जनता, जनार्दन कहते हैं न, उसमें यही अर्थ छिपा है।''

आधुनिक खगोल एवं भौतिक शास्त्रों के अनुसार इस विश्व के विकास के पीछे एकमेव आदितत्त्व है —वह तत्त्व जो विराट् खालीपन में ठँसाठँस भरा है। कल्पना करो कि यह सृष्टि है यानी तारका-मण्डल, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र हैं लेकिन यह देखने के लिए, उसका उपभोग लेने के लिए सजीव सृष्टि नहीं है। तो क्या होगा ? कितनी वीरान होगी ? इसलिए मुझे लगता है कि उस परमतत्त्व का इस वैविध्यपूर्ण प्रकारों से विकास होता है, अपने आपको देखने के लिए, अपने आपको अच्छी तरह समझने के लिए। बुद्धि से विचार करनेवाला मनुष्य प्राणी विकसित होता है, क्या यह तुम्हें रोचक बात नहीं लगती ?''

जगत ध्यानपूर्वक सुन रहा था। ऊपर आकाश अँधेरे से भर गया था, चाँदनी निकल आयी थी। जगत ने विचारपूर्वक कहा, "कहा सब तो समझ में नहीं आता लेकिन तुम जो कह रहे हो वह अच्छा है। इसका अर्थ हुआ कि यह विश्व उस परम शक्ति का आत्मगुंजन ही है…''

"लेकिन कितना भव्य-दिव्य आत्मगुंजन ! इसी को कहते हैं ब्रह्मदेव का देखा सपना …''

"तो फिर यह दुख, क्रूरता, विषमता, शोषक और शोषित, कुछ लोगों के हिस्से कितना दुख और कुछ के हिस्से कुछ भी नहीं…ऐसा क्यों ? क्या इसे ऐसा ही रहने देना चाहिए ? मुझे नहीं चाहिए यह दुखभरी ज़िन्दगी। मुझे उस भव्य आत्मगुंजन से कोई लेना-देना नहीं है …''

"अरे भाई, हमारा जीवन और जीना यही कितनी महत्त्वपूर्ण और अनमोल बात है ! क्या इस मौक़े को यूँ ही बरबाद करना है ? विश्व की निर्मिति भी उस आदि हिंसा से ही तो होती है। घर्षण के बिना हलचल सम्भव नहीं है। इस सृष्टिक्रम को ज़ारी रखने के लिए काम, क्रोध, हिंसा, दुख जैसे भावों का होना भी आवश्यक है। जिस दिन इन भावों का विलय हो जाएगा उस दिन सृष्टि का भी विलय हो जाएगा। यह होते हुए भी, ज़्यादा से ज़्यादा लोगों के दुख दूर कर उन्हें सुखी करना—यही हमारा भी सुखी होना है। वही सच्चा सुख है। श्रेष्ठ सुख। जग को सुखी और सुन्दर

करने का अर्थ है स्वयं भी सुखी और सुन्दर होना। उस अर्थ में परमार्थ भी श्रेष्ठ स्वार्थ ही तो हुआ···"

श्रीधर मन-ही-मन मुस्कराया और उसने जगत की ओर देखा।

जगत दोनों हाथ ठण्डे रेलिंग पर रखकर आँखें मूँदकर शान्ति से सुन रहा था।

अव आसमान चाँदनी से खचाखच भरा पड़ा था और चारों ओर नीरव शान्तता थी।

श्रीधर ने कहा, "सच वताऊँ, जगत ? मैं जो अन्दर से अनुभव कर रहा हूँ, वह मैं वता नहीं सकता। आज मैं यह पहली वार व्यक्त कर रहा हूँ। मेरा यह विश्वास है कि वहुतांश लोगों को, प्राणीमात्र को इस सत्य के वारे में अपने अन्तर्मन में पूर्ण ज्ञान होता है। लेकिन वह अव्यक्त रहता है। इसीलिए सब लोग जीवन से प्रेम करते हैं और वड़ी निष्ठा के साथ जीते हैं। तमाम दुख-सुख के साथ। वह दुखों पर मात देने के लिए लड़ते रहते हैं। यह दृढ़ जीवनाकांक्षा न होती तो मनुष्य पैदा ही नहीं हुआ होता। यह जीवनेच्छा जव विलीन होगी तब सारी मानव-जाति एक ही क्षण में आत्मनाश कर लेगी। इसलिए इस प्रेरक जीवन शक्ति के सामने नतमस्तक होकर सवका जीवन सुसह्य होने के लिए अपनी-अपनी तरफ से प्रयास करना यही···"

ठण्ड से शरीर काँपने लगे, इसलिए दोनों मित्र वँगले के अन्दर आ गये। अन्दर हॉल के एक कोने में संगमरमर के कुण्ड में आग जलायी हुई थी। उसकी सुनहरी लपटें ऊपर की तरफ दौड़ रही थीं।

जगत विचारमग्न था। ज्वालाओं के लहलहाने से उसके चेहरे पर लाल प्रकाश और साये एक साथ लहरा रहे थे। काफ़ी देर बाद शब्द खोजते हुए धीरे-धीरे···हकलाते हुए उसने कहा, "यह···यह सब···जो तुमने कहा है···वह अच्छा है ···शायद पूरा सच नहीं···फिर भी अच्छा है···लेकिन इससे मूल मुद्दे का समाधान नहीं मिलता। अगर कोई विधाता या परमेश्वर नहीं है तो किसका आधार है ? ··· दरअसल, मुझे लगता है मैं भी अन्दर से नास्तिक ही हूँ···लेकिन मुझे इस नास्तिकता से डर लगता है—सच यह कितनी भयानक वात है। क्या तुम्हें भयानकता और अकेलापन नहीं सालता ? शरण में जाने के लिए भी किसी सहारे की ज़रूरत है क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता ?"

"यही तो वह कमज़ोरी है जो मुझे तितर-वितर कर देती थी। हमें ऐसा आधार चाहिए इसलिए हम ईश्वर का निर्माण करते हैं। हम कहाँ से आये हैं यह हम नहीं जानते, हम कहाँ जा रहे हैं यह भी नहीं जानते। इस विश्व का और हमारे जीवन का प्रयोजन अज्ञात है। विश्व-शक्ति के अन्धे खेल में जीवन-मरण के पासे कैसे पड़ेंगे, यह हम नहीं ज़ानते। तर-तम भाव का रहस्य समझ में नहीं आता। यह विश्व-शक्ति अगर न्यायी है तो दुःख, दरिद्रता, अन्याय, विषमता, अत्याचार, क्रूरता

और विकृति का समर्थन आप कैसे करेंगे ? डरे-सहमे, कमज़ोर व्यक्ति को क्या करना चाहिए ? ईश्वर की शरण में जाना चाहिए ? और उस ईश्वर का भी निर्माण स्वयं ही करना चाहिए ? वुद्धिजन्य नास्तिकता वहुत कठोर वात है, जगत। कई वार हम अपनी कमज़ोरी के आगे हार मान लेते हैं और इस काल्पनिक ईश्वर की शरण में जाने का मोह होता है क्योंकि वह सबसे आसान तरीक़ा है। सव समस्याओं को भगवान् के हवाले कर दो फिर आपको सोचने की, हाथ-पैर हिलाने की आवश्यकता ही नहीं है। बर्टेण्ड रसेल भी नास्तिक थे, जानते हो वह क्या कहते थे ? उनका कहना था कि काल्पनिक ईश्वर की शरण में जाने में कोई पुरुषार्थ नहीं है। विश्वव्यापी शक्ति के सामने हम क्षुद्र और असहाय हैं, यह जानते हुए भी अपना मानसिक धैर्य क़ायम रखने में ही सच्चा पुरुषार्थ है। ईश्वर पर श्रद्धा न होते हुए भी जीवन-मांगल्य से श्रद्धा उठने न देना और उस मांगल्य को अधिक प्रभावी वनाने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रयास करना, यही असली मानव-पुरुषार्थ है। अपने व्यक्तिगत सुख के लिए लालायित न होकर, क्षणिक आशा आकांक्षाएँ और लालसा के दबाव में न आकर, मानव-जीवन के भव्य दिव्य आदर्शों के खिंचाव से अन्तःकरण निरन्तर प्रज्वलित रखना, यही नास्तिक की सच्ची मुक्ति-साधना है क्योंकि इसी में उसकी मुक्ति समायी हुई है...''

दोनों काफ़ी देर तक स्तब्ध बैठे रहे। नौकर ने जव भोजन तैयार होने की सूचना दी तो उनके ख्यालों का ताँता टूटा। खाने की मेज़ पर वह दोनों ही थे। नौकर खाना परोस रहा था। जगत चुप था और खाना खाने का दिखावा कर रहा था। लेकिन वह खाना उसके गले से नीचे उतर नहीं रहा था, यह वात साफ़ ज़ाहिर थी। श्रीधर ने कुछ कहा नहीं। कुछ देर वाद जगत ने स्वयं अपराधी स्वर में कहा, "सॉरी, तुम्हें यह बेढंगा खाना खाना पड़ रहा है... मोना के हाथ में क्या जादू है, क्या वताऊँ ? एक वार अगर तुम उसकी बनायी विर्यानी खाओगे तो...''

अपना वाक्य अधूरा छोड़कर और हाथ में पकड़ा हड्डी का टुकड़ा प्लेट में फेंककर उत्तेजित स्वर में उसने कहा, "व्हाट द हेल... मैं यह सह नहीं सकता...मैं कल ही जा रहा हूँ, मोना को लेने...।''

श्रीधर की हँसी छूट गयी। जगत की भी हँसी निकल गयी, ज़ोर-ज़ोर से हँसकर वह बोला, "मैं पागल तो नहीं हूँ ? सिली...कल ही जाकर मैं उसे ले आऊँगा। मैं जानता हूँ वह भी मेरा ही इन्तज़ार कर रही होगी...मैं भी कितना पागल हूँ !''

अव जगत की जैसे रुकी साँस खुल गयी थी, वह ठीक से खाना खाने लगा। उसका चेहरा खिल उठा। पाँच मिनट पहले घर पर उदासी की छाया थी और अव एक भी ज़्यादा दीया जलाये बिना सारा वँगला मानो जगमगा उठा था।

"तुम नहीं जानते, मोना कितनी प्यारी और समझदार लड़की है। मैंने तुम्हें

उसकी तस्वीर दिखायी है ? नहीं ? माई गॉड··· मैं भी कितना पागल हूँ··· चल··· रुको मैं खाने के बाद तुम्हें पूरी अल्वम दिखाऊँगा। सच कहता हूँ, मोना का कितना सहारा होता है ! वह जव आसपास होती है न, तो मैंने कुछ देर पहले जो पूछे थे, उस तरह के प्रश्न कभी जहन में आते ही नहीं। अपने नास्तिक होने का, निराधार होने का डर नहीं लगता क्योंकि उसके पास होने में ही सब प्रश्न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं, उसका अस्तित्व बड़ा सर्वव्यापी और आत्मपूरक होता है। क्या मैं पागलों की तरह बड़बड़ा रहा हूँ ?···हो भी सकता है···तो क्या हुआ ! यह तो यथार्थ है। आह्···मैं अव रुक नहीं सकता। मुझे उसके पास जाना है ···।"

फिर काफ़ी देर तक जगत श्रीधर को अपनी पत्नी के वारे में वताता रहा। वह जैसे पूरी तरह वदल गया था। उसने श्रीधर को मोना की तस्वीरें भी दिखायीं। रात काफ़ी हो चुकी थी। लकड़ी की आग वार-वार बुझ रही थी। खिड़कियों के शीशों पर सफ़ेद कोहरा जैसे जम गया था। सारे वातावरण को ठण्ड ने आगोश में ले लिया था।

अपने कमरे की बन्द खिड़की के पास खड़े रहकर उस धुएँ से बाहर के ठण्डे अँधेरे में श्रीधर झाँक रहा था, तभी दरवाज़े पर दस्तक हुई। रात्रि के वेश में जगत दरवाज़े पर खड़ा था, उसकी आँखों में चंचल चमक थी···।

"सॉरी दोस्त।" उसने कहा, "मैं तुम्हें एक बात वताना तो भूल ही गया। दोस्त होने के अधिकार से मैंने वह वात तुमसे बिना पूछे ही कर डाली—वैसे तुम उस वक़्त कुछ पूछने की स्थिति में थे भी नहीं···"

श्रीधर ने केवल प्रश्नार्थक मुद्रा की।

"तुम्हारी पूरी जानकारी इकट्ठी करते समय शशी से मिला था। तुमने उसकी पूछताछ तक नहीं की···?"

श्रीधर प्रत्युत्तर में सिर्फ़ समझदारी से हल्का-सा मुस्कुराया था।

"वेल, तुम्हें उस अवस्था में अस्पताल से वह लेने न आये, ऐसी सलाह मैंने दी थी। लेकिन अब वह यहाँ आ रही है तुम्हें ले जाने के लिए। वह कल सुवह ही आ रही है।"

श्रीधर के चेहरे पर पूर्ण सन्तोष की मुस्कुराहट फैल गयी और अनायास ही उसके मुँह से शब्द निकले, "मैं उसी की प्रतीक्षा कर रहा था···।"